

गोस्वामि-श्रीगुरुयोत्तम-विरचित-ग्रन्थमालायाः-प्रथमं-प्रसूनं

वेदान्ताधिकरणमाला

भावप्रकाशिका
(सूत्रवृत्तिरूपा)

चेति ग्रन्थद्वयात्मकम्



पुष्पि-प्रकाशन

वि. सं. : २०२८

श्रीचलमास्य : ५०३

प्रकाशक :

पुष्टि प्रकाशन

अडेल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग,
नया शहर, किशनगढ़, राजस्थान,
३०५ ८०२, भारत ।

प्रथम संस्करण : सं. १९७९-१९८२
द्वितीय संस्करण : सं. २०३८
प्रति : १००० ।

मुद्रक :

वी. वरदराजन
एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एंड प्रिंटेर्स
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,
बम्बई, ४०००३४.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्राक्कथन

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित अणुभाष्यके तात्पर्यको हृदयंगत करना ही तो सरल तथा सुनिश्चित उपाय है : सर्वप्रथम वेदान्ताधि-करणमाला पढ़नी चाहिये । तदनन्तर भावप्रकाशिका पढ़नी चाहिये । और सर्वान्तिमें भाष्यप्रकाशके साथ अणुभाष्य पढ़ने पर प्रायः सभी ग्रन्थग्रन्थियाँ गुलझ जाती हैं ।

अणुभाष्यको यदि गायत्रीरूप माना जाये तो ये तीन ग्रन्थ व्याहृतीरूप हैं-
“भूः भुवः स्वः” के जैसे !

इनमें वेदान्ताधिकरणमाला और भाष्यप्रकाश को तो निविवाद रूपमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके द्वारा विरचित माना जाता है । भावप्रकाशिका के बारेमें किन्तु सम्प्रदायके विद्वानोंमें कुछ विसंमति दिखलायी पड़ती है । कुछ लोग इसे श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति न मान कर इनके गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृति मानते हैं ।

यह तो स्पष्ट ही है कि यदि यह स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीकृत भी हो तो उन्होंने भी लिखी तो है अपने गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजीके नामसे ही । वाल्लभ सम्प्रदायकी साहित्यसेवा करनेवाले अपरपुरुषोत्तम श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाको भी जो आदर्श पाण्डुलिपि मिली थी, वह ग्रन्थकारके निजहस्ताक्षरोंमें लिखित थी । और आज भी इस मूद्रित प्रतिमें प्रथमाध्यायके प्रथम और द्वितीय पादोंकी पुष्पिकाओं हमें अधोनिर्दिष्ट शब्दावली मिलती है :

(क) “ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणखचन्द्रकिरणमुधासंलिखतहृदय-श्रीव्रजनायात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां तच्छिष्यपुरुषोत्तमसंप्रहोतायां भाव प्रकाशिकायां... ”

(ख) “...श्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां तच्छिष्यपुरुषोत्तमलिखितायां भाव-प्रकाशिकाभिधायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ... ”

भावप्रकाशिकाको श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृति माननेमें एकमात्र आधारभूत सूचना इतनी सी ही है, परन्तु यह स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा निजहस्ताक्षरोंमें लिखित होनेपर भी कितनी अनिश्चयप्रद सूचना है, यह श्रीपुरुषोत्तमजीके लेखनसे परिचित एक साधारण विद्यार्थी भी समझ सकता है।

फिर भी युगोचित मांगके अनुरूप, सम्प्रदायमें अनेक विद्वान् और लेखकोंको खोज निकालनेकी लालसाके विवश तेजीवाला जैसे महान् शोधकर्तव्योंकी अनिश्चयात्मिका मनोवृत्तिने अनेक विद्वानोंको सन्देहग्रस्त कर रखा है। परिणामस्वरूप आज भी कई विद्वान् इस 'भावप्रकाशिका' ग्रन्थको श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति माननेको उद्यत नहीं हैं। अतएव इस प्राक्कथन द्वारा कुछ ठोस हेतुओंपर हम विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। हमारी सुदृढ़ धारणा है कि यह कृति श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही है और इसके समर्थनमें ये अधोनिर्दिष्ट हेतु हमारी समझमें आते हैं :

(१) केवल भावप्रकाशिका ही नहीं अपितु अन्य भी अनेक स्वरचित ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीने अपने संमान्य गुरुजनोंके नामसे लिखे हैं :

उदाहरणतया—

दशमस्कन्ध-सुबोधिनी-प्रकाश
तत्त्वार्थदीपनिबन्धपर आवरणभंग व्याख्या
पुष्टिप्रथाहमयदाविबरण

ये ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीने अपने जनकपिता श्रीपीताम्बरजीके नामसे लिखे हैं।

भावार्यपादभाष्यविबरण

यह ग्रन्थ अपने पितामह श्रीयदुनाथजीके नामसे लिखा है।

विवेकधर्मश्रयविवृति
कृष्णाश्रयविवृति

ये दोनों ग्रन्थ अपने धर्मपिता श्रीब्रजरायजीके नामसे लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

एक रोचक तथ्य यह भी है कि कभी-कभी श्रीपुरुषोत्तमजी ग्रन्थोंमें अपनी स्वीकारोक्ति भी लिख देते हैं कि पुष्पिकामें दिये गये नामके विपरीत ये कृतियाँ स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही हैं। उदाहरणतया प्रहस्तवादके उपसंहारमें श्रीपुरुषोत्तमजीने स्वीकारा है कि—

“इत्येवं श्रीमत्तत्त्वार्थचरणाल्जप्रसावतः।

आद्यं वाद्यं निजकृतौ व्याख्यान्युत्तमः ॥”

इसके बावजूद तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी व्याख्या आवरणभंग, जो आपने अपने जनकपिताके नामसे* लिखी है, में पुनः यह भी स्वीकार लेते हैं कि “इदं यथा तथोपपादितं मया विद्वत्करभिव्दिपाले प्रहस्ते च”।

प्राचीन कालमें राजाश्रित पण्डित बहुधा निज आश्रयदाता राजाको प्रसन्न करने के लिए स्वनामके वजाय अपने आश्रयदाताके नामसे ग्रन्थप्रणयन करते थे। यह सहज ही किसीको चाटुकारिताकी मनोवृत्ति खग सकती है। परन्तु श्रीपुरुषोत्तमजीका स्वनामके वजाय अपने जनकपिता, पितामह, धर्मपिता या गुरु के नामसे ग्रन्थप्रणयन चाटुकारिता नहीं है। यह तो गुरुजनोंके प्रति आदर और समर्पण का ही भाव है।

निष्कर्षरूपेण भावप्रकाशिका सूत्रवृत्ति भी यदि श्रीपुरुषोत्तमजीने स्वगुरुके नामसे लिखी हो तो कोई अनहोनी बात नहीं है।

(२) दूसरी बात लक्ष्यमें रखने लायक यह है कि इस सूत्रवृत्तिके कर्ता यदि सचमुचमें श्रीकृष्णचन्द्रजी होते, अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमजी केवल संहकार या लिपिकार मात्र होते, तो ग्रन्थकी पुष्पिकामें अपना नाम देनेके बजाय, प्रचलित परिपाटीके अनुसार, ग्रन्थके अन्तिम पृष्ठपर इस बातका उल्लेख करना उचित था। ग्रन्थके मध्यमें (प्रथमाध्याय प्रथमपाद तथा प्रथमाध्याय द्वितीयपाद की पुष्पिकामें) स्वनामका उल्लेख, केवल लिपिकार होनेसे कुछ अधिकताकी ओर संकेत है।

* “इति श्रीमद् बल्लभाचार्यचरणलखचन्द्रचन्द्रिकानिरस्तहादंतमसः तद्दासस्य गोस्वामि-श्रीयदुपतिसुतस्य श्रीपीताम्बरस्य कृतौ तत्त्वदीप-प्रकाशावरणभंगे शास्त्रार्थप्रकरणं प्रथमं सम्पूर्णम्”।

इससे भी सिद्ध होता है कि भावप्रकाशिका श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही कृति है।

(३) सरल-शब्दाडम्बररहित, स्फुट-नपेतुले शब्द प्रयोग, प्रौढ़-विचारगंभीर तथा नातिसंक्षिप्त-नातिविस्तृत शैलीमें लेखन श्रीपुरुषोत्तमजीकी विशेषता है। ये गुण भाष्यप्रकाश और भावप्रकाशिका में समानरूपमें उपलब्ध होते हैं। दोनों ग्रन्थोंमें प्रतिपाद्य विषयक्रमकी एकरूपताके अलावा पूर्वोत्तरभावसे परिमार्जित रूप भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। अतः अन्याय्य विद्वानोंकी धारणाके विपरीत हमें यह कहनेको बाधित होना पड़ता है कि पहले भाव-प्रकाशिका नहीं लिखी गयी किन्तु पहले भाष्यप्रकाश लिखा गया है। अतएव भावप्रकाशिकाकी भाषा तथा निरूपणशैली कुछ अधिक परिमार्जित सी दिखलायी देती है।

उदाहरणतया:-

भाष्यप्रकाशः "प्रकाशाश्रयवदिति। प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयास्ते-
स्तुल्यम्। प्रथमार्थे वति। सूत्रं व्याकुर्वन्ति 'वा शब्द' इत्यादि। पूर्वाधिकरणे
अहिकुण्डलदृष्टान्तेन एकस्य ब्रह्मणः सधर्मकत्वनिर्घर्मकत्वसिद्ध्या धर्माणामपि
ब्रह्मरूपत्वमेव सिद्धम्, अत्र तु धर्मधर्मिणोभेदाभेदः साध्यते। अन्यथा एत-
त्सूत्रवैयर्थ्यमेव स्यात्। भिन्नाभिन्नत्वं कार्यकारणभावेन पटतद्रूपयोः, धर्मधर्मि-
भावेन जातिव्यक्तयोः दृष्टम्. . ब्रह्मतत्त्वधर्मौ कार्यकारणभावेन एकरूपो न भवतः,
किन्तु यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशेन सह न भिन्नाः, न विनाभूताः,
नित्यसहचारिण इति यावत्. . प्रकाशरूपं वस्तु मूलाद् भिन्नमप्यभिन्नमेव उत्पत्ति-
सिद्धमिति मन्तव्यम्। युक्तिभिरनुचिन्तनीयम्। यथा अमित्रो न मित्रं, न मित्रा-
भावः, किन्तु मित्रविरुद्धसम्पत्। यथा च अविद्या न विद्या, न विद्याभावः,
किन्तु विद्याविरुद्धं भावरूपम् अज्ञानम्। एवं प्रकाशतदाश्रययोरभेदोपि न भेदः
न भेदाभावः, किन्तु भेदविरुद्धसम्पदेव भावरूपः इति विभावनीयम्। सा च
सम्पत् भावरूपत्वे सति स्वाश्रयाविनाभूतत्वं तद्विहाय अवर्तमानत्वमिति यावत्"
(३-२-२८)।

भावप्रकाशिकाः "प्रकाशाश्रयवत्। प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयाः सूर्या-
दयः तद्वत्। ते यथा प्रकाशेन विनाभूताः कदापि न सन्ति, प्रकाशस्य ततः

पृथक्स्थित्यभावात्, तत्स्वाभाविकधर्मत्वात्। तदविभक्तरूपेण तदाधारतया
स्थितत्वाच्च। नापि स सूर्य एव भिन्नप्रतीतेर्विद्यमानत्वाच्च। अतः प्रकाशरूपं
वस्तु स्वाश्रयाद् भिन्नाभिन्नमेव निसर्गसिद्धम्। एवं ब्रह्मधर्मा अपि ब्रह्मणः
सकाशाद् भिन्नाभिन्ना इति मन्तव्यम्। तथा च यथा अमित्रो न मित्रं, न मित्रा-
भावः, किन्तु मित्रविरुद्धसम्पत्। एवमत्राप्येतयोरभेदो न भेदः, न भेदाभावः,
किन्तु भेदविरुद्धसम्पदिति धर्मिणां न कार्यत्वं, नापि ब्रह्मत्वं, किन्त्वेवं ब्रह्मा-
भिन्नत्वम् इत्यर्थः, अस्मिन्नभेदे भेदविरुद्धा सम्पत्, भावरूपत्वे सति आश्रया-
विनाभूतत्वं, तद्विहाय अवर्तमानत्वमिति यावत्, तादृशी बोध्या" (३।२।२८)।

इन उदाहरणोंके अध्ययन करनेसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि
पहले भाष्यप्रकाश लिखा गया है और बादमें अनपेक्षित विस्तारकी कट-छांट
करके, अस्पष्ट वाक्योंको अधिक चुस्त कसीली तथा स्पष्ट भाषामें परिमार्जित
करके भावप्रकाशिका वृत्ति संकलित की गयी है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति है।

(४) चौथी एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि भावप्रकाशिकामें-
"शंकराचार्यमते जन्माद्यधिकरणं दशसूत्रम्। तत्र सूत्रद्वये पृथक्नामरूपकर्तृत्व-
प्रतिज्ञा शोषेष्वष्टसु हेतुवितरिति" यह एक दृष्टिपूर्ण विधान उपलब्ध होता है।
क्योंकि शांकर भाष्यके अवलोकन करनेपर यह बात बिलकुल निराधार सिद्ध
होती है।

अब मान लिया जाये कि यह अपवादार्थ इदं प्रथमतया श्रीकृष्णचन्द्रजीकी
असावधानिका दुष्परिणाम है। साथ ही साथ यह भी मान लिया जाये कि
श्रीपुरुषोत्तमजीने भाष्यप्रकाश, श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारा विरचित इस भाव-
प्रकाशिकामें ही थोड़ेसे हेरफेरके साथ, कुछ विस्तारपूर्वक लिखा है। फिर
भी इतनी बड़ी असावधानि श्रीपुरुषोत्तमजीके कोटीके विद्वान्में सहसा दृष्टिगत
हो नहीं सकती। यदि यह श्रीकृष्णचन्द्रजीकी गलती होती तो श्रीपुरुषोत्तम-
जीने उसका बचाव या परिहार किया ही होता। प्रतीत होता है कि किसी
कारणवश, पूर्वपक्षीके मतको उद्धृत करनेमें सदैव सावधान श्रीपुरुषोत्तमजी ही
इस प्रसंगमें मूलग्रन्थके बजाय स्वयंकी स्मृतिपर ही निर्भर होकर यह निरनुयो-

ज्यानुयोग कर बैठे हैं भाष्यप्रकाशक। अब भावप्रकाशिका, क्योंकि पश्चात्कालमें भाष्यप्रकाशको ही आधार मान कर संकलित की गयी है, परिणामतः भाष्य-प्रकाशगत द्रुटियोंका पुनरावर्तन भी सहज ही सम्भव बन गया है।

इससे भी सिद्ध होता है कि भावप्रकाशिका श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृति नहीं है किन्तु श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही कृति है।

(५) भावप्रकाशिकाके मुद्रित संस्करणके प्रथम सम्पादक तेलीवाला अपने प्रास्ताविकम्में एक-दो महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं :

“अस्य पाठादि श्रीपुरयोत्तमानां श्रीहस्ताक्षरलिखितपुस्तकाधारेण योजितम् अस्मिन्नेव पुस्तके अन्तिमं पत्रं केनचित् कृष्णदत्तेन सं. १८५० वर्षे लिखितम् । तत्पत्रस्योपरि—इयं दृष्टिः गोस्वामिपुरुषोत्तमैः स्वगुरुनाम्ना कृतैति श्रुतम्’ इति कस्यचित् टिप्पणम् ।”

इसमें दो-तीन बातोंपर लक्ष्य देना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह कि जो पांडुलिपि तेलीवालाको मिली थी वह श्रीपुरुषोत्तमजीके निज हस्ताक्षरोंमें लिखित थी। दूसरी बात यह कि पुरुषोत्तमजीके सं. १८२० में नन्दयलीला-प्रवेशके ३० वर्षों के भीतर ही अर्थात् सं. १८५० में यह अनुश्रुति लिखी गयी है कि भावप्रकाशिका श्रीपुरुषोत्तमजीने निजगुरुके नामसे लिखी है। तीसरी बात “कृष्णदत्त” नाम तथा इस कृष्णदत्तकी भाषाके प्रयोग पर ध्यान देनेसे यह प्रतीत होता है कि यह कृष्णदत्त श्रीपुरुषोत्तमजीको आदरकी दृष्टिसे देखने-वाला कोई व्यक्तित्व है तथा किसी दूसरे ऐसे व्यक्तिके साथ इसका सम्पर्क है, जो सम्भवतः श्रीपुरुषोत्तमजीके निकट सम्पर्कमें रहा हुआ हो।

श्रीहरशंकर आंकारजी शास्त्री, पंचमपीठ विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित अवतारवादावलीकी भूमिकाके पृष्ठ ८ पर, इस विषयपर प्रकाशपात करने-वाली एक महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं। उनके अनुसार प्रसिद्ध शुक्लयजुर्वेद-भाष्यकार महीधरके वंशज काशीनिवासी तर्कपंचानन वेणीदत्त शास्त्री श्री-पुरुषोत्तमजीके शिष्य थे। श्रीपुरुषोत्तमजीने निज हस्ताक्षरोंसे लिखकर अपने अनेक ग्रन्थ इन वेणीदत्तजीको भेजे थे। जिनमेंका कुछ संग्रह (नामतः प्रहस्तवादा सुवर्णमूल प्रस्थानरत्नाकर आदिकी पांडुलिपियों) का श्रीहरशंकर आंकारजी

शास्त्रीजीने स्वयं काशीके सरस्वतीभवनके ग्रन्थागारमें निरीक्षण किया था। इसी संग्रहमें श्रीपुरुषोत्तमजी तथा वेणीदत्तजी के बीच हुए पत्रव्यवहारका भी संग्रह विद्यमान था। श्री ह. ओ. शास्त्रीजी द्वारा उद्धृत पत्रांशमें : “श्रीज्ञाना-वताराणां गुरुवर श्रीपुरुषोत्तम गोस्वामिनां चरणेषु वेणीदत्तस्य कोटिशः प्रण-तयः” उल्लेख मिलता है।

इन सभी बातोंपर लक्ष्य देनेसे यह सम्भावना प्रकट होती है कि पूर्वोक्त ‘कृष्णदत्त’ वेणीदत्तके ही वंशज हों और उन्होंने मुखसे कृष्णदत्तने सुना हो कि यह भावप्रकाशिका गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने निजगुरुके नामसे लिखी है।

(६) अन्तमें एक प्रश्न यह भी उठता है कि श्रीपुरुषोत्तमजी जब अपनेको श्रीकृष्णचन्द्रजीका शिष्य बताते हैं तो यह श्रीकृष्णचन्द्रजीका गुरु होना साम्प्रदायिक दीक्षादानके अर्थमें है या विद्यादानके अर्थमें ?

तेलीवाला प्रभूती अनेक विद्वानोंकी धारणा है कि तुलनात्मक—आलोचना-त्मक अध्ययन—व्याख्यानशैलीका सूत्रपात श्रीकृष्णचन्द्रजीने ही किया था, जिसे परवर्ती कालमें उनके शिष्य श्रीपुरुषोत्तमजीने आगे बढ़ायी थी। परन्तु स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीके ग्रन्थोंमें मिलते उद्गारोंके अन्तःसाक्ष्यसे ये धारणायें सर्वथा विपरीत हैं। भाष्यप्रकाशकमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी यह स्वीकारोक्ति इस सन्दर्भमें नितान्त अवधेय है :

**क्रोडन् श्रीबालकृष्णः परमकरुणया मन्मनः प्रेरयित्वा
भाष्यार्थं योतिगूढं प्रकटितमकरोत् सम्प्रदाये निवृत्ते ।
तं नित्याङ्गुष्ठशक्तिं दूतनिखिलनिजाज्ञानसंसारहारं
स्मृत्वा स्मृत्बोधकारं प्रमुदितमुदितः स्वप्रभुं संनमामि ॥**

यदि भावप्रकाशिका जैसा प्रोड् ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको अपने गुरुसे विरासतमें मिला होता तो “मन्मनः प्रेरयित्वा भाष्यार्थं योतिगूढं प्रकटितम-करोत्सम्प्रदाये निवृत्ते” कहना श्रीपुरुषोत्तमजीकी एक कृतघ्नता ही कहलायेगी ! क्योंकि भाष्यप्रकाशकमेंसे भावप्रकाशिका द्वारा प्रतिपादित विषय अलग छोट लेनेपर ऐसी कोई विशेष महत्ता शेष नहीं बच जाती कि जिसे परमात्मा द्वारा प्रेरित मनकी सूझ मानी जा सके। श्रीकृष्णचन्द्रजी यदि

विद्यागुरु होते तो उनका उपकार न मान कर "सम्प्रदाये निवृत्ते" कहना, "मन्मनः प्रेरित्वा भाष्यार्थं योतिगुढं प्रकटितमकरोत्" कहना स्पष्ट ही इसकी गवाही देता है कि न तो भावप्रकाशिका और न अन्य ही कोई ऐसा ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको मिल पाया था।

प्रहस्तवादके मंगलाचरणमें स्पष्ट शब्दोंमें श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीकृष्णचन्द्रजीको स्वमार्गीय दीक्षादाता गुरुके रूपमें मान्य करते हैं। तथा अपने ज्ञानार्जनमें निज परिश्रमकी ही केवल लोकदृष्टिसे कारण मानते हैं। अलौकिक दृष्टिसे तो उनके सेव्य परब्रह्म परमात्मा यशोदोत्संगलालित श्रीबालकृष्ण भगवान् ही एकमात्र कारण है :

"मार्गप्रवर्तकान् गुडादिन् नमस्कृवंन् लोकदृष्ट्यापि स्वस्य ज्ञानप्रकारस्य बोधनपूर्वकं ग्रन्थकरणं प्रतिजानीते-तत्पुत्रागस्तह सूतभिः निजगुरुन् श्रीकृष्ण-चन्द्राह्वयान्, भक्त्यानम्य पितामहं यदुपति तातं च पीताम्बरम्। संवीक्ष्योप-निषङ्गुतिस्मृतिगणं भाष्याणि सूत्राण्यपि प्रस्थानैर्विधिघ्नैस्तान्यथ मया वादावली तन्वते।"

श्रीकृष्णचन्द्रजी (जन्म संवत्: १६५६) श्रीपुरुषोत्तमजीके जन्मके समय ६८ वर्षके वृद्ध थे। और यह भी प्रसिद्ध ही है कि संवत् १७३४ वर्षके आसपास दस वर्षकी वयमें श्रीपुरुषोत्तमजी अपने धर्मपिता श्यामलसुत ब्रजरायजीके साथ गोकुलसे सूरत आ गये थे। ऐसी स्थितिमें कब वे श्रीकृष्णचन्द्रजीसे विद्याध्ययन कर पाये होंगे और कितना ?

इन सभी हेतुओंपर लक्ष्यपाल करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभ सम्प्रदायमें स्वसमानशील व्याख्याकार विद्वानोंमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी पुरुषोत्तमता श्रीकृष्णचन्द्र नहीं किन्तु श्रीबालकृष्ण की ही कृपाका फल था ! निष्कर्षरूपेण यह कहनेमें हम समर्थ हैं कि भावप्रकाशिका भी वेदान्ताधिकरणमाला और भाष्यप्रकाश की तरह श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही कृति है। तुलनात्मक-आलोचनात्मक अध्ययन-व्याख्यानशैलीको इन्द्रप्रथमतया अपनातेका श्रेय भी अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीको ही जाता है।

शांकर वेदान्तमें जो स्थान श्रीवाचस्पति मिश्रका है, रामानुज वेदान्तमें

जो स्थान श्रीवेदान्त देशिकका है अथवा माधव वेदान्तमें जो स्थान श्रीजयतीर्थ-मुनिका है, वाल्लभ वेदान्तमें वही स्थान गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीका है। इनके द्वारा प्रकटित साहित्यकी विपुलताका अन्दाज इस बातसे लगाया जा सकता है कि इनका साहित्य "नवलक्ष श्लोक परिमित" माना जाता है। एक श्लोक बराबर ३२ अक्षर, ऐसे नौ लाख श्लोक (!) जितना लेखन इन्होंने किया था।

इनकी लेखनशैलीकी विशेषता यह है कि विभिन्न दार्शनिक समस्याओं अथवा शास्त्रवचनों पर वाल्लभ वेदान्तके समाधान या व्याख्यान को ये सर्वदा अन्य सम्प्रदायोंके समाधान एवं व्याख्यान के तुलनात्मक विश्लेषणके साथ प्रस्तुत करते हैं। भाषामें कभी शब्दाडम्बर प्रकट नहीं करते। स्पष्ट सुलक्ष्मी हुयी नपी-सुली शब्दावलीमें गंभीर विचारोंको प्रस्तुत करना इनकी एक अपनी ही विशेषता है। साम्प्रदायिक पुष्टिभक्तिमार्गीय सिद्धान्त या उपदेशपरक, आचार्यचरण अथवा प्रभुचरण के, ग्रन्थोंकी व्याख्याके हेतु जब ये प्रवृत्त होते हैं तो इनके पूर्ववर्ती एवं समकालिक साम्प्रदायिक व्याख्याकारों के अभिप्रायोंका भी तुलनात्मक विश्लेषण करते ही रहते हैं। कभी मतभेद होनेपर उनके दोषोद्घाटनके बजाय अपनी मान्यताके आधारभूत हेतुओंके निरूपणपर इनका ध्यान अधिक रहता है: "मम तु एवं प्रतिभाति" कह कर अपना विनम्र मतभेद प्रस्तुत करते हैं।

इनके अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं फिरभी उपलब्ध ग्रन्थोंकी सूचि यों है :

व्याख्याग्रन्थ	स्वतन्त्रग्रन्थ
(१) भाष्यप्रकाश	(१) वेदान्ताधिकरणमाला
(२) भावार्थपादभाष्यविवरण	(२) भावप्रकाशिका
(३) तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशपर आवरणभंग व्याख्या तथा योजना	(३) अवतारवादावली+
(४) सुबोधिनीप्रकाश	(४) प्रस्थानरत्नाकर

+ अवतारवादावलीके अन्तर्गत कुछ वाद मिलते हैं और कुछ अब नहीं

मिलते 'अवतार'का अर्थ २४ संख्या है, तदनुसार २४ वाद अधोनिदिष्ट कहे जाते हैं :

(१) प्रहस्तवाद स्वरचित्तव्याख्योपेत	(प्रकाशित)
(२) पण्डितकरभिन्दिपालवाद	"
(३) आविर्भावितरोभाववाद	"
(४) ख्यातिवाद	"
(५) सृष्टिभेदवाद	"
(६) भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवाद	"
(७) अभाववाद	(अनुपलब्ध)
(८) प्रतिबिम्बवाद	(प्रकाशित)
(९) अन्धकारवाद	"
(१०) ब्राह्मणवादिदेवतावाद	"
(११) जीवव्यापकत्वखण्डनवादः/जीवाणुत्ववाद	(अप्रकाशित)
(१२) जीवप्रतिबिम्बरखण्डनवाद	(प्रकाशित)
(१३) भागवतस्वरूपविषयकशंका निरासवाद	"
(१४) स्ववृत्तिवाद	"
(१५) भगवत्प्रतिकृतिपूजनवाद	"
(१६) नामफलादिप्रकारवाद	"
(१७) तुलसीमालाधारणवाद	"
(१८) शंखचक्रधारणवाद	"
(१९) ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवाद	"
(२०) जयश्रीकृष्णोच्चारणवाद	(अप्रकाशित)
(२१) उपदेशविषयशंका निरासवाद	(प्रकाशित)
(२२) वस्त्रसेवावाद	(अप्रकाशित)
(२३) भक्त्युत्कर्षवाद	(प्रकाशित)
(२४) भक्तिरसत्ववाद	"

व्याख्याग्रन्थ	स्वतन्त्रग्रन्थ
(५) षोडशग्रन्थान्तर्गत १५ ग्रन्थोपर विवृत्तियाँ	(५) उपनिषदर्थसंग्रहः ४
(६) मीमांसाकारिका विवृत्ति	(६) माण्डूक्योपनिषद्दीपिका Δ
(७) पद्मावलम्बन विवरण	(७) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्दीपिका ।
(८) विद्वन्मण्डनमुबर्णसूत्रम्	(८) मूर्तिपूजनवादः
(९) भक्तिहंसतीर्थतरंगिणी	(९) उत्सवप्रतान (स्वतन्त्र)
(१०) भक्तिहंसत्रिवेकः	(१०) षोडशग्रन्थानां प्रकरण संगतिः
(११) उत्सवप्रतान (व्याख्या)	(११) गीतामृततरंगिणी ७
(१२) गायत्र्यर्थकारिकाविवरण	(१२) खलालपनविध्वंसवाद
(१३) न्यासादेशविवरणव्याख्या	(१३) द्वात्रिंशदपराधक्षमापनटीका
(१४) वृत्तासुरचतुस्तोकीविवृति प्रकाश	(१४) द्रव्यशुद्धि
(१५) श्रीबल्लभाष्टकविवरण	

इस तरह हम देख सकते हैं कि गुण एवं अनुपात उभय दृष्टिसे श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा वाल्लभ वेदान्त तथा पुष्टिभक्तिके सिद्धान्त की जो असाधारण सेवा हुई है वह एक अपने-आपमें अनुपम बात है ।

७ इसी तरह उपनिषदर्थसंग्रहमें अब यद्यपि केवल दो ही उपनिषदोंपर अर्थसंग्रह उपलब्ध है । (१) ब्रह्मोपनिषद (२) कैवल्योपनिषद । अन्यथा कुछ विद्वानोंकी धारणा है ५२ उपनिषदोंपर श्रीपुरुषोत्तमजीने अर्थसंग्रह लिखा था ।

Δ इसी तरह प्रमुख दस-ग्यारह उपनिषदोंपर 'दीपिका' नामसे व्याख्या लिखी थी परन्तु अब केवल पूर्वोक्त दो उपनिषदोंपर ही उपलब्ध होती है ।

७ गीतामृततरंगिणीके भी श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति होनेमें कई लोग सन्देह करते हैं ।

अब प्रस्तुत ग्रन्थोंके कुछ अल्प सारांशको देकर इस प्राक्कथनका समापन करना है :

ब्रह्मसूत्रोपर श्रीमहाप्रभुकृत अणुभाष्यका सार यदि भाष्यप्रकाश (अथवा भावप्रकाशिका)के आधारपर समझना हो तो वह श्रमसाध्य तथा समयसाध्य बात है। न्यायमालाके अवलोकन करनेपर अल्प समय और अल्प श्रम से ही उसका थोड़ा-बहुत परिचय तो मिल ही जाता है।

ब्रह्मसूत्रका प्रणयन महर्षि वेदव्यासने वेदके तात्पर्य न जाननेवाले पुरुषोंके लिये किया है, जिसमें यह समझाया गया है कि वेदका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है। इस ब्रह्मके विविध स्वरूप, उसके बारेमें विभिन्न ऋषियोंके मत-मतान्तरका निराकरण, ब्रह्मज्ञानके विभिन्न साधन तथा ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके विविध प्रकारोंकी विवेचना के लिये ब्रह्मसूत्रोंको चार अध्यायोंमें विभक्त कर के उपदेश दिया गया है। "समग्र वेदका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है" यह दिखलाना ब्रह्मसूत्रका प्रमुख प्रयोजन है। अतः न केवल ब्रह्ममात्रका अपितु ब्रह्मसे सम्बन्धित अन्य भी अनेक गौण-मुख्य विषयोंकी चर्चा ब्रह्मसूत्रमें समाविष्ट की गयी है।

तदन्तर्गत प्रथमाध्यायमें सभी उपनिषदोंका एक ऋह्यरूप प्रतिपाद्य-विषयके निरूपणमें समन्वय सिद्ध किया गया है। वेदोंके अर्थ या तात्पर्य का निर्णय वेदान्त विचारके बिना शक्य नहीं है। अतः सभी वेदोंको एकवाक्यता-“वे ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादानार्थ प्रवृत्त प्रमाण हैं” इस आधारभूत धारणापर अवलंबित है। अन्यथा परस्पर असमन्वित वेदवचनोंकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो जायेगी। एतदर्थ प्रथमाध्यायको 'प्रमाणप्रकरण' या 'समन्वयाध्याय' कहा गया है।

द्वितीयाध्यायमें उपनिषदोंके परस्पर विरोधाभासी वचनोंमें विरोध-परिहारकी विचाररीति समझायी गयी है। जैसे श्रुतियोंमें अर्थात् वेदवचनोंमें परस्पर विरोधाभासका परिहार आवश्यक है, इसी तरह स्मृतियों (अर्थात् विभिन्न ऋषि-महर्षियोंके वचनों) के साथ भी वेदवचनोंके विरोधाभासका परिहार अभीष्ट माना गया है। द्वितीयाध्यायमें वेदविरोधी उत्प्रेक्षामूलक स्मृतिवचनोंका खण्डन करके वेदके एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मको सभी

सत्प्रमाणोंसे अविच्छेद प्रामाणिक प्रमेय सिद्ध किया गया है। अतः द्वितीयाध्यायको 'प्रमेयप्रकरण', अथवा 'अविरोधाध्याय' भी कहा जाता है।

तृतीयाध्यायमें उक्त ब्रह्मके ज्ञान एवं प्राप्ति के अन्तरंग एवं बहिरंग साधनोंका उनके अनेकविध उपकरणोंके साथ विचार किया गया है। अतः इस अध्यायको 'साधनप्रकरण' अथवा 'साधनाध्याय' भी कहा जाता है।

चतुर्थ्याध्यायमें फलप्राप्तिके अनेक प्रकार, फलानुभूतिके अनेक प्रकार तथा फल तो केवल ब्रह्म ही है यह समझाया गया है।

संक्षेपमें समग्र शास्त्रका सार यही है। अब इन एक-एक अध्यायोंको पुनः चार-चार पादोंमें विभक्त किया गया है।

प्रथमाध्यायमें : चारों पादोंमें उपनिषदोंके अनेकविध वचन ब्रह्मके प्रतिपादनमें परस्पर समन्वित है यह दिखलाना अभीष्ट है। जिन उपनिषद्वचनोंमें ब्रह्मका निःसन्दिग्ध प्रतिपादन उपलब्ध होता है उनके बारेमें चर्चा तो अनावश्यक ही है। परन्तु कई उपनिषदोंमें ऐसे वचन भी दृष्टिगत होते हैं कि जिनमें निःसन्देह यह कहा नहीं जा सकता कि उनका तात्पर्य क्या है। तदन्तर्गत अतः चार पादोंमें चार प्रकारके सन्दिग्ध वाक्योंपर विचार-विमर्श किया गया है।

प्रथमपादमें कार्यप्रतिपादक वचनोंका विचार करके यह समझाया गया है कि उपनिषदोंमें जहाँ-जहाँ इस सृष्टिके अनेकविध कार्योंका निरूपण किया गया है, वे सभी वचन ब्रह्मसे समन्वित हैं। द्वितीयपादमें अन्तर्यामीके रूपमें परमात्माके अनेकविध रूपोंका निरूपण करनेवाले सभी सन्दिग्ध वचन ब्रह्मसे समन्वित हैं यह दिखलाया गया है। तृतीयपादमें परमात्माके अनेकविध उपास्यरूपोंका निरूपण करनेवाले श्रुतिवचनोंका ब्रह्मसे समन्वय समझाया गया है। चतुर्थपादमें प्रकीर्ण वचनोंका ब्रह्मसे कैसे समन्वय है यह समझाया गया है।

द्वितीयाध्यायमें : श्रुतिवचनोंमें परस्पर विरोधाभासकी आपत्तिका निवारण किया गया है। क्योंकि यदि दो श्रुतियोंके बीच दिखलायी देते विरोधाभासका परिहार न किया जाये तो एक प्रतिपाद्य-विषयरूप ब्रह्ममें दोनों श्रुतियोंका साधित समन्वय भी अर्थहीन ही रहेगा। श्रुतियोंमें परस्पर विरोधाभासके

परिहासकी तरह भूति और स्मृति के बीच भी दिखलाई देते विरोधाभासका परिहार आवश्यक है। इसी तरह वेदविरोधी वाह्य मान्यताओंके साथ विरोधाभासका भी खण्डनके द्वारा परिहार अभिलषित है।

तदन्तर्गत प्रथमपादमें युक्तिद्वारा श्रुतियोंमें दृष्टिगत होते विरोधाभासका परिहार किया गया है। इसी तरह द्वितीयपादमें अवेदमूलक स्मृति तथा वेद-विरोधी स्मृतियोंमें निरूपित सिद्धान्तोंका निरसन किया गया है। तृतीयपादमें पहले जड़ भूतोंकी उत्पत्तिके स्वरूप एवं क्रम के विचारके बाद जीवात्माके स्वरूप एवं धर्मों का विचार किया गया है। चतुर्थपादमें इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका क्रम तथा स्वरूप आदिकें बारेमें विचार किया गया है।

तृतीयाध्यायमें: यह समझाया गया है कि निम्नकोटीके और मध्यम कोटीके अधिकारी यदि आध्यात्मिक साधनोंसे सम्पन्न होते हैं तब तो औपनिषद ज्ञान उन्हें फलप्रद होता है, अन्यथा सत्संप्रदायानुवर्ती होनेपर भी उपनिषदोंसे केवल परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है।

अतः प्रथमपादमें पहले अधिकारीकी विभिन्न कोटियोंके निर्धारणके लिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने योग्य अधिकारीके देहग्रहणकी रीतिका वर्णन किया गया है। द्वितीयपादमें जीवोंकी, स्वरूपदृष्टिके विचारसे, मुक्तिलाभ कर पानेकी योग्यताके बारेमें विचार किया गया है। प्रथमपादमें निरूपित योग्यता ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके बारेमें विचारी गयी थी, किन्तु द्वितीयपाद मुक्तिकी प्राप्तिके बारेमें योग्यताका विमर्श करना चाहता है। तृतीयपादमें ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी उपासनारूप साधनोंका विचार अभीष्ट है। उपासना करनेपर धारणा सिद्ध होती है। धारणा सिद्ध होनेपर मानसी मूर्ति अभिव्यक्त होती है। और इस तरह उपासना सम्पन्न होनेपर साक्षात्कार होता है। एतदर्थ इस तृतीयपादमें ब्रह्मसाक्षात्कारके हेतु ज्ञान एवं भक्ति को अन्तरंग उपाय दिखलाया गया है। कर्मको बहिरंग उपाय ब्रह्मसाक्षात्कारके हेतु माना गया है। चतुर्थपादमें यह दिखलाया गया है कि वेदके पूर्वोत्तर काण्ड मिल कर एकशास्त्र्य है। अतः ज्ञानके कर्मांगभूत न होनेपर भी ज्ञानमें भी कर्मपिशा तो रहती ही है, यह दिखलाया गया है।

चतुर्थाध्यायमें: फल सम्बन्धी विचार किया गया है। ब्रह्मवेत्ताको फलानुभूति होती है, अतः प्रथमपादमें जीवित ब्रह्मवेत्ताकी फलानुभूतिका स्वरूप विचारा गया है। द्वितीयपादमें त्रियमाण (मरणासन्न) ब्रह्मवेत्ताकी फलानुभूतिका विचार किया गया है। तृतीयपादमें दिव्य परलोकोंमें जाते हुए ब्रह्मवेत्ताकी फलानुभूति का विचार किया गया है। चतुर्थपादमें फलप्राप्तिके बाद ब्रह्मवेत्ताके स्वरूप एवं अनुभव आदिका विचार किया गया है।

संक्षेप में यही विषय है वेदान्ताधिकरणमालाका और भावप्रकाशिकाका भी।

इस ग्रन्थद्वयोंमें वेदान्ताधिकरणमाला वि. सं. १९७६ में प्रकाशित हुई थी। भावप्रकाशिकाके चार अध्याय क्रमशः वि. सं. १९७९-१९८०-१९८२ और पुनः १९८२ में ही प्रकाशित हुए थे। इन सभीका सम्पादन श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल सांकलिया ने किया था। तबसे लेकर अबतक ये अपुमाध्यके अध्येताओंके लिये पर्याप्त उपकारक सिद्ध होते रहे हैं। इधर कुछ वर्षोंसे ये दोनों ही ग्रन्थ बिलकुल अप्राप्य हो गये हैं। भाष्यप्रकाशके साथ इन्हें पुनः प्रकाशित करनेका मनोरथ था। परन्तु उस महाकाय ग्रन्थके पुनर्मुद्रणकी भागीरथी जबतक भूतलपर अवतीर्ण हो तब तक इन्हें रोके रखनेकी कोई तुक दिखलाई नहीं देती। अतः ऑफ सेट प्रोसेस द्वारा "शोस्वामी श्री-पुरुषोत्तम ग्रन्थमाला" के प्रथम प्रसूतके रूपमें इन्हें पुनर्मुद्रित करते हुवे हमें अपार हर्षकी अनुभूति होती है! इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत गो. श्रीपुरुषोत्तमजी के सभी स्वतन्त्र ग्रन्थोंको पुनर्मुद्रित करानेका हमारा हादिक मनोरथ है। हमें विश्वास है कि महाप्रभु श्रीबल्लभाचार्यचरण उसे पूर्ण करेंगे!

इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर प्रथम संस्करणके सम्पादक-प्रकाशक-सहयोगी महानुभावोंके प्रति हम अपनी हादिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

मांगंशीषे शुक्ला सप्तमी,
श्रीगोकुलनाथोत्सवः २०३८
ब्रजकमल, बम्बई

गोस्वामी श्याम मनोहर

EDITORS' NOTE.

The *Vedāntādhikaraṇa-Mālā* has been published from funds supplied to us by *Seth Tribhuvandās Varjivandās of Madhav Baug* in order to perpetuate the memory of his youngest and most beloved son *Iswardās* who died prematurely in May 1919 and who was known for his amiable nature and religious tendencies.

Seth Tribhuvandās has set apart a good sum for the memory of his deceased son *Iswardās*, and he has decided to devote a portion of the annual interest of this sum to the publication of the works of the Vallabhāchāryan literature according to the sentiments expressed by his deceased son during his life-time. All the publications from these funds will be included in the series to be named after his son *Iswardās*. For this act of judicious charity the literary world in general, and the Sampradāya in particular, will be very grateful to him.

Our obligations are also due to *Pandit Gaṭṭulālā's* library, and the *Bhāṅḍārkar Oriental Research Institute* for the loan of MSS. of the present work. Our best thanks are due to *Bāla Shāstri of Kotah* who very kindly sent to us his copy of this work, mostly copied and corrected by himself from the MSS. of the *Nāthadvāra* library.

Purushottamaji.

Purushottamaji, the author of this work, was born at *Gokula* in *Muttra* district on *Bhadrapada Sūkṭa 11th, 1724 Samvat*. He was 7th in descent from *S'ree Vallabhacharya*. He has written numerous works the bulk of which is said to equal nine *Mahabharatas*. They all bear the stamp of his masterly genius. *Purushottamaji* lived up to a very advanced age. In *Samvat 1820* he is said to have had a religious discussion with one *Venibhatta* of *Benaras*. Serving his God *S'ree Bāla-Krishṇaji* he lived at *Surat* in *Gujarat*, where he had come with his uncle *Vrajarājaji*.

Vedāntādhikaraṇamālā.

The text of this work is based on four MSS., two from the late *Pandit Gaṭṭulālā's* library, one from the government collection now placed in the charge of the *Bhāṅḍārkar Oriental Research Institute*, and one kindly sent to us by *BālaShāstri of Kotah* from *Sri Nāthadvāra*. The MSS. from the *Bhāṅḍārkar Institute* contained the 3rd and 4th *Adhyāyas* only, while the rest did not contain the 4th

Adhyāya. The 4th *Adhyāya* of this work seems to have been an extremely rare work. *Yogi S'ree Gopes'warji* did not get it and hence he wrote out the *Adhikaraṇamālā* of the fourth *Adhyāya* himself, as he says at the end of the appendix printed here. During our tour at *Kotah*, *Kankaroli*, *Nāthadvāra*, and *Junāgaḍha* we did not find the 4th *Adhyāya* in the libraries there. So it is a great satisfaction to us that we are able to publish the complete work here. *Gopes'warji's Adhikaraṇamālā* of the 4th *Adhyāya* has been therefore published here as an appendix. *Gopes'warji* is also a great master like *Purushottamaji*, but his style is not as vigorous and concise as that of *Purushottamaji*.

The object of this work as stated by *Purushottamaji* himself is to summarise the teaching of the sūtras according to the *Anu-Bhāshya*, and facilitate the understanding of the same by those who are unable to go through his *Bhāshya-Prakāśa*. It seems to have been composed by him at a very advanced age—after he had finished his magnum opus—*Bhāshya Prakāśa*, and the *śāstraśikṣā* perhaps. These three works viz. *śāstraśikṣā*, *śāstraśikṣā*, and *vedāntādhikaraṇamālā* deal directly with the *Brahma-Sūtras*. Of these we are concerned here chiefly with the *vedāntādhikaraṇamālā*. It contains the last word of *Purushottamaji* on the *Brahma-Sūtras*. *Purushottamaji* himself styles this work as *śāstraśikṣā* in the beginning and at the end; and there is some meaning in it. In an ordinary *śāstraśikṣā* we should have found at best the purport of each *śikṣā* with its so called five śāntas, viz. *śikṣā*, *śānta*, *śānta*, *śānta*, and *śānta*. *Purushottamaji* in addition to these gives also the purport of all the *Sūtras* except in the 3rd and 4th *pādas* of the third *śikṣā*. In the beginning, he gives the purport of the whole *śāstra*, then he sets out the purport of the four *pādas* of each *śikṣā* at its beginning. At the beginning of the *śikṣā* he gives in brief the purport of the same. In the beginning of the *śikṣā* he states the object of the *śikṣā*, and then mentions the *śikṣā*, *śānta*, *śānta*, *śānta* and at the end the *śānta*—that is, shows the relation of the *śikṣā* with what precedes and follows. The style here adopted throughout is explanatory, and not argumentative as in the *śāstraśikṣā*. The perusal of this will be very instructive and delightful.

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the lotus-feet of Lord *S'ree Krishna*.

M. T. TELIYALA.

D. V. SANKALIA.

श्रीकृष्णाय नमः ।

वेदान्ताधिकरणमाला ।

श्रीपुरुषोत्तमविरचिता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

श्रीपालकृष्णमाचार्यान् प्रकृम् श्रीपिङ्गलेश्वरान् । व्यासाचार्यास्तद्वाचांसि प्रणयामि पुनः पुनः
भाष्यप्रकाशे विस्तीर्णार्थोपगन्तुं न शक्यते । सर्वैरुत्तैर्षु सङ्गृह्य न्यायमाला वितन्व्यते ॥२॥

तत्र तावद् व्यास चरणैरञ्जनानुग्रहाय सर्ववेदार्थरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपसाधनफलमतान्तर-
निराकरणभेदेन चतुर्था विचारोप शान्ने क्रियते । तत्र सर्ववेदार्थरूपं ब्रह्मैवेति ज्ञापयितुं
चतुर्लक्षण्यां तत्सम्बन्धि सर्वं विचारितम् । तत्र प्रथमोऽध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मण्येव
समन्वयः, वेदार्थनिश्चयश्च वेदान्तविचाराधीन इति सर्वोपि वेदो ब्रह्मण्येव प्रमाणमित्युक्तम् ।
द्वितीये च श्रुतीनां परस्परविरोधपरिहारेण विरुद्धस्मृतीनां दूषणेन च ब्रह्मैव प्रमेयमिति
निर्णीतम् । ततस्तृतीयेन्तरङ्गं बहिरङ्गं च साधनं सोपकरणं विचारितम् । ततश्चतुर्थे
फलप्राप्तिसंस्कारखट्वाभ्रप्रकारो ब्रह्मैव च फलमिति निर्णीतमिति शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ।

तत्र प्रथमोऽध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि सयन्वयश्चतुर्भिः पादैर्वक्तव्यः । तत्रास-
न्दिग्धेषु वेदान्तवाक्येषु विचारासम्भारत्सन्दिग्धान्येव निर्णेतव्यानि । तानि चतुर्षु,
कार्यप्रतिपादकानि, अन्तर्बोधिप्रतिपादकानि, उपास्यरूपप्रतिपादकानि प्रकीर्णकानि
चेत्यतश्चत्वारः पादाः ।

तत्र प्रथमपादे ब्रह्मसम्बन्धिविचारं प्रतिज्ञाय ब्रह्म लक्षयित्वा ततः कार्यवाक्यानि
विचारितानि ।

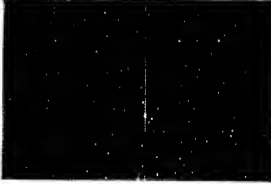
तत्र प्रथमे एकसूत्रे जिज्ञासाधिकरणे षडङ्गैरेव वेदार्थनिश्चयस्य सम्भवा-
दत्यन्तनिश्चयस्य तपःप्रभृतिभिरेव सम्भवात्तदर्थं किं वेदान्तविचारेणेत्याशङ्क्य, ऋषिभि-
र्नानाशास्त्राणां कृतत्वात्सङ्गवणेन बुद्धिदोषान्मन्दानां सन्देहसम्भवे तन्निवारणार्थं विचा-
रशास्त्रं कर्तव्यम् । तत्र यद्यपि 'सर्वं वेदा यत्सदमामनन्ती'ति 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य'
इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मैव सर्ववेदार्थः, तथापिदं वाक्यं वेदान्ते श्रुतं 'तं त्वीपनिषदं पुरुषं
पृच्छामी'ति, पुरुषरूपता च तत्रैव श्रुता, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितायो' इतिवाक्येन
वेदान्तानामर्थनिश्चयकत्वं च तत्रैव श्रुतम्, अत इदानीं तपःप्रभृतीनामसम्भवाद्देदान्तविचा-
रेणैव वेदार्थरूपब्रह्मस्वरूपनिश्चय इत्यभिसन्धाय ब्रह्मसम्बन्धिविचारः श्रीभारदायणाचार्यैः
प्रस्तुत इत्युक्तम् । अतोऽस्मिमाणि यान्यधिकरणानि शास्त्रसमाप्तिपर्यन्तं तानि सर्वोपयस्यैव
विषय इति तेषामस्य च विषयविषयिभावः सङ्गतिरित्यपि बोधितम् ॥ १ ॥

पुरुषेष्टुर्ब्रह्मदोस्तामिर्बोधोऽन्तरङ्गः ।



प्रशुभांसिः संवत् १८२५ ज्येष्ठ शुद्ध षष्ठी ।

दशदिग्वादिजयिषीर्ब्रह्मदोस्तामि-
र्बोधोऽन्तरङ्गः ।



प्रशुभांसिः संवत् १८२५ माघशुद्ध शुद्ध द्विती ।

ततो द्वितीये एकसूत्रे जन्मवाचिकरणे ऋषिः किञ्चक्षणं किंप्रमाणं चेत्वा-
काङ्क्षायां जगदुत्पत्तिवित्तिकरणं ऋषेति सूत्राग्नेन लक्षितम् । ततोऽन्तरेण वेदरू-
पशास्त्रप्रमाणं ऋषेत्युक्तम् । तेन कर्तृरूपं निमित्ततया सिध्यति ॥ २ ॥

ततस्तृतीये एकसूत्रे समन्वयाधिकरणे ऋष जगतः कर्तुं निमित्तं चेति चेत्,
किं जगतः समवायीत्याशङ्क्यायामनारोपितानानुत्कुरूपेण समनुगमाद्ब्रह्मैव जगतः समवायीति
निर्णीतम् । तेनाभिन्ननिमित्तोपादानवादेऽपि न शक्य इति बोधितम् ॥ ३ ॥

एवं त्रिसूत्र्या ऋषो जिज्ञासा ऋषलक्षणं तद्विचारस्य कर्तव्यता च सापिप्ता ।
ये पुनः कर्तृत्वे वैषम्यादयो दोषाः, समवायित्वे च विकृतत्वाद्यः, ते सर्वेऽभिप्राय्याये परि-
हृतव्याः, विचारकर्तव्यतायाः प्रतिज्ञातत्वात् । तत्र संबिदानन्तरूपत्वस्य ऋषणः स्वरूप-
लक्षणत्वात्पूर्वोक्तं कार्यलक्षणं त्रिव्यव्युत्गतं वक्तव्यम्, अन्यथा लक्षणेऽप्याधिप्रसङ्गात् ।
अन्यतश्च निवारणीयम्, अन्यथातिव्याधिप्रसङ्गात् । असम्भवश्च निवारणीयः ।

तत्र द्वायमाधिकरणायाम्यां सद्गुणे तदलक्षणं बोधितम् । अतःपरं चिद्रूपेऽप्यासिनिवारणाय
प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्यासिनिवारणाय च ऋतुर्थं सससूत्रमधीश्वर्याधिकरणमारभ्यते ।
तत्र प्रथमसूत्रे 'यतो वाचो निवर्तते' इत्यादिश्रुत्या ऋषणः सर्वव्यवहारातीतत्वेन सर्व-
प्रमाणगोचरतया तज्ज्ञानासम्भवाद्दिचारो व्यर्थ इत्याशङ्क्य, ऋष सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यम्,
'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दित्युपक्रम्य 'तदैक्षत' 'बहु सां प्रजायेये'त्यनेनेक्षणस्य बहुगु-
बन्धस्य च श्रावणात् । अतः सृष्टेः पूर्वमव्यवहारेणैव तदनन्तरं तत्कर्तृत्वेन तदुपादान-
त्वेन च व्यवहारेणैव श्रुत्येव इति तथा तज्ज्ञानस्य सम्भवाद्दिचारो न व्यर्थ इति
बोधितम् । ईक्षणकर्तृत्वेन चैतेन तस्मिन्, पूर्वोक्तलक्षणसमन्वयादिबद्धे लक्षणाव्याप्तिरपि
परिहृता । तेनैव प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्याप्तिरपि निवारिता, असम्भवश्च निवारितः ।
ततो द्वितीयसूत्रे तत्सेक्षणकर्तृत्वस्य तदव्यवहारात्प्राकृतपुणवत्त्वं निवारितम् । तत-
स्तृतीये तदुपासकस्य मोक्षरूपफललक्षणादपि तद्विचारितम् । ततश्चतुर्थे अगददेव-
त्वसाकधनादपि तद्विचारितम् । एवं ऋतुःसूत्र्यां कार्यविधियुत्वेन तद्विचार उक्तः ।
ततोऽपि त्रिसूत्र्यां कार्यनिषेधयुत्वेन तद्विचारयते, निषेधश्च प्रत्यासक्तः । तत्र पञ्चमे
साध्ययसूत्रे जीवसुष्टुतिर्ब्रह्मसम्बन्धेनोच्यते । सा च मोक्षमिच्छति जाग्रदादित्युत्कर्मसम्ब-
न्धरहितेति प्रत्युत्तुल्या । सा च स्वसम्बन्धेनैव जायत इति भगवतस्तत्कर्तृत्वम् । ततः
षष्ठे मोक्षदशार्था जीवस्य भगवत्सुत्पत्त्यं श्रुत्योक्तम् । तत्र सैश्वरीशास्त्रण आदिमव्यावसा-
नेषु ऋषण एव बोधनात् तदाहृतं ऋषण एवेति बोधितम् । ततः ससूत्रे सर्वप्रकृते
ऋषैवावशिष्यत इति श्रुत्या बोधयेत् । अतः प्रकृतो ऋषाकर्तृक एवेति बोधितम् । एवंने-
नाधिकरणेन चित्स्वरूपे कार्यलक्षणयोजनादव्याप्तिः परिहृता । चित्स्वरूपत्वबोधनात्र-
कृत्यादावतिव्याप्तिरपि परिहृता ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमेऽसूत्रे आनन्दमयाधिकरणे आनन्दे लक्षणबोधनेन तत्राव्याप्तिः
परिह्रियते । तत्र प्रथमसूत्रेऽपि विशेषेण पुनःकथनरूपादव्यासानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं स्थापि-
तम् । तत्र प्रथमवर्णके आनन्दस्याधैतोऽस्यासः शब्दतश्च । द्वितीयवर्णके तु 'तस्यैव एव
शारिरी आत्मा यः पूर्वसे'तिवाक्याभ्यास उक्तः । एवमभ्यासेन मयद्वयादाद्वेदे साधिते
आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वम् । यथा पूर्वतन्त्रे बजलम्यासाल्कर्मणस्तद्वत् । ततो द्वितीयसूत्रे
मयदो विकारार्थत्वादानन्दमयस्य न ब्रह्मत्वमिति सूत्रशेनाशङ्क्य, मयदः प्राशुपार्थक्यत्वात्
मयद्व्यव्ययेनाशङ्क्यत्वं वक्तुं शक्यत इत्यंशान्तरेण समाहितम् । ततस्तृतीये सूत्रे आनन्द-
जनकत्वेन तत्कारणत्वान्मयदो विकारार्थत्वं निवारितम् । ततश्चतुर्थे सूत्रे 'सत्त्वं ज्ञान'-
मितिमन्धे बोधे उक्तः स एव सम्पूर्णं प्रपाठके प्रपञ्च गीयते, अत आनन्दमयो ऋषैवेति
निर्णीतम् । ततः पुनरभिप्राया ऋतुःसूत्र्याप्येवमार्थो निषेधयुत्वेन निर्णीयते । तत्र प्रथ-
मेन जीवस्यानन्दमयत्वं निराकियते, जीवे निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वादिपक्षस्य माहात्म्यस्यानु-
पपद्यमानत्वात् । द्वितीये 'चानन्दीभवती'त्यादिना जीवस्यानन्दीयत्वयुत्वेन, न त्वान-
न्दत्वम्, अतो भेदव्यपदेशादपि जीवस्य नानन्दमयत्वमित्युक्तम् । ततस्तृतीये 'सोकाप-
यते'तिचेतनधर्मस्य कामस्य जडार्थां प्रकृतावतुपपद्यमानत्वात्पि नानन्दमयीत्युच्यते ।
ततश्चतुर्थेऽपि जीवस्यानन्दमये ब्रह्मणि योग्युपसङ्गमरूपं फलत्वेन कथयति श्रुतिः, तेन
जीवोभिधया उक्तञ्च एवानन्दमयो, न तु जीवादेवकृष्टः । तस्मादानन्दमयो ऋषैवेति नि-
रूपितम् । एवं ऋतुःसूत्र्यां जीवजडनिषेधयुत्वेनानन्दमयो विचारितः । एवमष्टसूत्र्या-
नन्दमयस्य ब्रह्मत्वे साधिते निरङ्कुशजगत्कारणत्वं तत्रैव पूर्ववसतीत्यानन्देऽपि लक्षणसम-
न्वयात्तत्राव्याप्तिः परिहृता । जीवजडोर्निवारणादतिव्याप्तिश्च । एवमधिकरणेऽनुष्ट-
मेन संबिदानन्देऽपि लक्षणसमन्वयादसम्भवोपार्थदेव परिहृतः । तेन जन्माधिकरणस्य
शेषभूतमधिकरणत्रयमिति शेषशेषिभावः सङ्गतः ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे त्रिसूत्रेनस्तद्धर्माधिकरणे आदित्यान्तरह्यन्तश्च विषयमानो हिर-
ण्यः पुरुष उदित्यादिब्रह्मर्षोऽपदेशाद्ब्रह्मैवेत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'यमादित्यो
वेदे'तिश्रुत्यादित्याद्वेदिर्देवेनापि तस्य ब्रह्मत्वं स्थापितम् । तदज्ञाने सति, यदि तस्य
ब्रह्मत्वं न विचार्यते तदा, तदज्ञाने सति, 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स
य एवंविदि'त्युक्तस्यां 'एतमानन्दमयत्वादानन्दमयस्यसङ्कमती'त्यनेन श्रावितं तदिदोऽप्यवसा-
युच्यं परब्रह्मप्राप्तिश्च नोपपद्येत । तस्माद्देवतुतागर्भया प्रसङ्गसङ्गलैतद्विचारितम् ।

किञ्च, अयं जन्मादिसूत्रस्यविचारः सर्वस्याग्निविचारस्य मूलम् । तत्राग्रे 'फलमत
उपपत्ते'रित्यनेन सर्वेऽकलदाता भगवानेवेति वक्तव्यम् । ततोऽपि चतुर्थेऽप्याये निषेधयुत्वेन
प्रतीकोपासना, विधियुत्वेनाज्ञोपासनाश्चादित्यादिमत्तिसूत्रे वक्तव्याः । तत्र मतान्तरोक्त-
रित्या प्रतीकोपासनानामब्रह्मपरत्वेऽपि तद्व्यपार्थक्यसिद्धिसत्तदन्तःस्वाद्ब्रह्मण एवेतिज्ञाप-

नायाज्ञोपासनानां ब्रह्मपरत्वे तदुक्तमवान्तरफलं तत्कृतुत्वरूपं मुख्यं फलं च भगवत एवेतिज्ञापनाय चाप्येतद् बोध्यम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तम एकसूत्रे तद्विज्ञानाधिकरणे, अष्टम एकसूत्रेनिवेशाधिकरणे च ब्रह्मप्रकरणे आकाशप्राणादिशब्दैः ब्रह्मैवोच्यते, निरुद्धशुक्लाकारणलक्षणरूपब्रह्मल्लिङ्गिति विचारितम् । तेन पूर्वोक्तलक्षणेतिव्याप्तिदोषः परिहृत्य एते पूर्वोक्तशेषभूतमिदमधिकरण-द्वयम् । पञ्चमाद्यधिकरणद्वये प्रत्ययकृतसन्देहनिवारणं, सप्तमाद्यधिकरणेषु तु प्रकृतिकृतसन्देह-निवारण इति विशेषः, प्रकृतिप्रत्ययभेदेन शब्दस्य द्विविधत्वादिति । षष्ठाद्यधिकरणप्रत्यय विषयवाक्यान्युदीयविद्यास्थान्युक्तानि । तेन कर्माज्ञोपासनमाख्यं ब्रह्मैव फलदम्, तज्ज्ञाने-नैव च कर्मणो वीर्यवत्तरत्वमित्यपि बोधितम् । तेन प्रसङ्गोपि सङ्गतिः ॥ ७ ॥ ८ ॥

ततो नवमे ऋतुःसूत्रे ज्योतिःशरणाधिकरणे 'अथ यदितः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत' इतिवाक्ये ज्योतिःशब्देन ब्रह्मैवोच्यत इति निर्णीतम् । तत्र प्रथमसूत्रे 'एतावानस्य महिम्'तिमेषे भूतात्मकानां चरणानां ब्रह्मवर्षत्वाज्योतिःशब्देन ब्रह्मैवोच्यत इति निर्णीतम् । ततो द्वितीयसूत्रम् एतत्सन्दर्भारम्भे गायत्रीशब्द एवोच्यत इति न चर-पानां ब्रह्मवर्षत्वमिति सूत्रशेषेनाशङ्कान्तरेण समाहितम् । भगवति चेतोर्पैणार्थं सन्द-र्भादौ गायत्री प्रस्तुता, तयोपासने ब्रह्मदर्शनं भवतीति । तस्माद्ब्रह्मण एव पादाः, न गायत्र्या इत्युक्तम् । ततस्तृतीये गायत्रीशब्दो हि शब्दरूपम्, सूतपृथिवीशरीरद्वयान्यर्थरूपाणि । तेषां शब्दरूपशब्दःपादत्वं न सङ्गच्छते । अतो ब्रह्मण एव पादाः इत्यु-क्तम् । ततश्चतुर्थसूत्रे यद्यप्येवं पादानां ब्रह्मवर्षत्वमायाति, तथापि 'एतावानि'तिमेषे 'दिवी'तिसमस्या पादानां शुद्धोकापारत्वकथनेन विवक्षितस्य ज्योतिषस्तदापारत्वमुक्तम् । 'अथ यदतः परो दिव' इतिप्रश्नानुवाचपारत्वमुच्यत इत्युपदेशभेदाज्योतिर्न ब्रह्मेशशङ्क्य, यथा 'शुद्धे स्थेनो वृक्षाप्रात्यतरः स्थेन' इतिविभक्तिभेदपि यत्रैकार्थ्यप्रत्यभिज्ञा न विरुध्यते, तथात्रापि तिन दोष इति समाहितम् । तस्मादत्र ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्मैवेति निर्णीतम् । यद्यपि पूर्वोक्तधिकरणन्यायेन ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वमायाति, तथाप्यत्र प्रकरणस्य लिङ्गस्य च सन्दिग्धत्वात्पुनर्विचारितम् । तेन सामान्यविशेषभावः पूर्वोक्तिकरणसङ्गतिः । एतेनान्या अपि पादसम्बन्धाः प्रणयादिति विधा अपि ब्रह्मण इत्यपि बोधितम् ॥ ९ ॥

ततो दशमे ऋतुःसूत्रेनुगमाधिकरणे कौशीतकिब्राह्मणस्य इन्द्रप्रतर्दनसंवादे 'प्राणोहमसि प्रज्ञात्वे'त्यादिनोक्तमानः प्राणो ब्रह्मैव, नासन्यो, नापि जीवः, तस्य ब्रह्म-त्वाङ्गीकार एव वाक्योक्तपदार्थसङ्केतरित्युक्तम् । तदुपपादितं च 'आप्ये' । ततो द्वितीय-सूत्रे वक्त्रेण्येण प्रतर्दनं प्रति खरस्यैव प्राणत्वेनोपदिश्यत इति न तस्य ब्रह्मवोचकत्व-मिति सूत्रशेषेनाशङ्क्य, ततोशान्तरेण ऋषाधानायासिन् प्रकरणे ब्रह्मसम्बन्ध एव युवानु-पलभ्यते, तस्मादत्र प्रतिपाद्यः प्राणः परमात्मत्वेलेवं प्रतिपादितम् । तस्तस्मृतीये यदि

ब्रह्मैवात्र प्रतिपाद्यं तदा 'मायेव विजानीही'तिस्यात्वोपदेशस्य का यतिरित्याद्युक्त्याप्यभ्यु-पदेशः शास्त्रदृष्ट्या, न तु लोकदृष्ट्या । शास्त्रे च ब्रह्मज्ञाने सति ज्ञातुर्ब्रह्माभेदेन सर्वेषां उच्यते । यथा श्रुत्वन्तरे वाग्देवस्य सर्वोत्पत्त्यय उच्यते, 'तद्वैतत्ययद्युचित्वमायेव' इत्यादिना, तद्वदत्रापि ज्ञानेन ब्रह्मात्मवावात्सल्योपासनेनोपदेश इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे नवमित्यत्रकरणे जीववर्गो मुख्यप्राणवर्गमात्रं मूयांस उपदिश्यत इति नास्य ब्रह्मवक्त्र-त्वमिति सूत्रशेषेनाशङ्कान्तरेण समाधानमाह । यदि जीवप्राणब्रह्मणां धर्मदक्षेणप्रत्ययानां मुख्यत्वं स्वीक्रियेत, तथा सत्युपासनान्यत्रसङ्गद्वाक्यभेदे आपद्येत । स तु दुष्ट इति न युक्तः । तथा सति योत्र जीवधर्मोपां प्राणधर्मोपां चोपदेशः, सोत्र जीवस्य ब्रह्माश्रित-त्वात्, प्राणस्य तु तद्योगात् । तस्मात्ते सर्वे ब्रह्मवर्मा एवेति प्राणो ब्रह्मैवेति प्रतिपादितम् । इदं चाधिकरणं पूर्वोक्तसर्वनिगमनार्थम् । इदं यथा तथा 'आप्यप्रकाशादवगतव्यस्य । आप्ये तु चिद्विच्छित्संश्लेषनिवारणार्थमित्युक्तम् । ब्रह्मवादे केवलस्यैव ब्रह्मणो जग-त्कारणत्वेन विदविच्छरीरपेक्षाराहित्यादिति । तेन न पुनश्चिदोषः । कार्यप्रतिपादन-द्वारा शाक्यानां स्वरूपपरत्वं नवस्यप्यधिकरणेषु स्पष्टम् ॥ १० ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमाळार्यां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

एवं प्रथमपादे कार्यप्रतिपादकानां वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयो विचारितः । प्रकृतिप्रत्ययभेदेन शब्दस्यान्यपरत्वसन्देहे तद्विचारणं च कृतम् । अतःपरं द्वितीयादिष्व-र्थसन्देहो निवारणीयः । जीवजडत्वसमुदायभेदानर्थस्य त्रैविध्यात् । तत्र द्वितीयपादे जीवपुरःसेषार्थसन्देहो निवारणीयः । अन्त्योमिप्रतिपादकानां वाक्यानां ब्रह्मणि सम-न्वयो वक्तव्यः । तेन पादानामेककार्यत्वं सङ्गतिः ।

तत्र प्रथमे ऋतुःसूत्रे सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशाधिकरणे आन्दोग्यस्या शण्डि-त्वविधा विचार्यते । तत्रास्यां विधायां 'मनोमयः प्राणशरीर'इत्यनेन विज्ञानमयस्य जीवस्य मनोमयत्वादिधर्मवैशिष्ट्ये तैरेव च धर्मैः कर्तृत्वनिर्वाहब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वमपि नोपपद्यत इत्याशङ्क्यां, जीवस्य ब्रह्मत्वेनोपासनं निवार्यं, सर्ववेदान्तप्रसिद्धस्य ब्रह्मण एवोपदेश-ब्रह्मैवात्रोच्यत इति प्रथमसूत्रे आक्षेपनिवारणादाक्षेपोधिकरणसङ्केतरित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रेस्यां विधायां फलत्वेन विवक्षिता ये गुणास्तेषां प्राप्तिर्भगवत्स्वरूपलामात् तत्सारूप्यलामाद्गोपयन्ते, अतोपि तथेत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे तिररोहितानन्वत्वेन निराकारत्वादपि नात्र जीव उच्यते, किन्तु ब्रह्मैवेत्युक्तम् । ततस्तृतीये ब्रह्मात्र व्ययेत्यनेन प्राप्तत्वेन च व्यपदिश्यते, जीवस्तु प्राप्तत्वेन ध्यातृत्वेन च व्यपदिश्यत इत्युक्तम् । तेनानान्यार्थमित्युतं ब्रह्मैवोच्यत इति साधितम् ॥ १ ॥

ततो द्वितीये षण्डः शब्दविशेषाधिकरणे वाचिशाखासं 'यथा श्रीदिवीं यतो वे'त्यादिविषयवाक्ययुगपत्स्य, तन्नातरालमन्युक्तो हिरण्यः पुरुषो न जीवः, किन्तु ब्रह्मैव, शब्देनोकादिरण्यत्वस्वरूपाद्विशेषादित्युक्तम् । ततो द्वितीये षण्डे ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेर्द्धनं तिष्ठती'तिगीतासूत्रेण हृदये वर्तमानस्य ब्रह्मत्वमित्युक्तम् । ततस्तृतीयषण्डे व्यापकत्वेऽशरत्वात्वे हृदयस्थाने स्थितेरयुक्तत्वाच्छ्रुती श्रीह्यादित्युक्तत्वात्प्रापञ्च तस्य ब्रह्मत्वं न युक्तमिति सूत्राशेनाशङ्कांशान्तरेण समाहितम् । हृदये निदिध्यासने कृते ब्रह्म ज्ञातुं शक्यते, तत्रैव साक्षात्कारात् । तस्माद् हृदयस्य स्थानत्वमुच्यते । अन्ये त्वत्र घटान्तमप्याहुर्नया सर्वलोकप्रतिरूप्योव्यापितिरिति । तस्माच्च व्यापकत्वद्वानिः । यस्तुतमीश्यादित्युक्तकथनं तद्यु षण्डेऽन्तर्विषयान्तरवर्तित्वज्ञापनार्थम् । अतो व्योमवत्सर्वत्र स्थितिर्बोध्यते । तस्माच्च दोष इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थषण्डे तस्य हृदये वर्तमानत्वे जीववत्सुखदुःखमोगोपि सम्भवतीति सूत्राशेनाशङ्कांशान्तरेण समाहितम् । तस्य स भोगो न सम्भवति, तस्य सर्वरूपत्वान्तररूपत्वादिरूपाणां विशेषाणां विद्यमानत्वादिति । तस्माद्ब्रह्मत्वमोच्यते । इदं चाधिकरणमन्तर्यामिणो रूपनिश्चयवार्थं हिरण्यपुरषरूपत्वेनान्तस्तदभौतिकरणविषयवाक्योक्ताकारस्य मायासिद्धौने नित्यासिद्धौप्रथमैवदंष्टुं शक्यत्वादिति मम प्रतिभाति । सङ्गतिरत्र प्रज्ञातो बोध्यः ॥ २ ॥

ततस्तृतीये द्विषण्डे अत्ता चराचरैरव्यधिकरणे 'यस्य ब्रह्म च श्वरं चे'तिकोटकाक्योक्तं ब्रह्मश्वरातुलं न जीवस्य, किन्तु ब्रह्मण एवेति निर्धारितम् । तत्र प्रथमषण्डे चराचरप्रदं हेतुः, चरो मृदुचरं कलायुचात्पथ्य, ब्रह्मश्वराणां संप्रथमानां भोगः साधितः, सर्वरूपत्वात्मकं वैशेष्यं च । द्वितीयषण्डे च प्रकरणं हेतुः । तथा च जीवाशयभोगस्य चराचरस्य अष्टरूपशङ्खिज्ञास्य वाक्यस्य ब्रह्मप्रकरणपठितत्वात्प्राज्ञासोक्तं ब्रह्मैवेति सिध्यति । मोक्षापेक्षितब्रह्मश्वराणांमनुक्रमणामावेनान्तःप्रकटे भगवत्त्वेव लयादन्तर्यामित्वमपि सिद्धम् । पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणो जीवविलक्षणस्य भोगस्योक्तात्तत्साधनाचार्योपेक्षातेनानन्तररूपाद्वैशेष्यात्म्यञ्चजीवसाहाय्येन भोगो विचारितः, अन्तर्यामिणमैव विचारत्वेन प्रकृतत्वादिति ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे द्विषण्डे शुद्धां प्रविष्टावित्यधिकरणे 'ऋतं पिबन्ता'वितिकाठकाक्यं विषयत्वेनोपन्यसात्र जीवद्वयं नोच्यते, किन्तु जीवब्रह्मणो उच्येते । अत्र जीवब्रह्मणोरेव प्रतिपाद्यत्वदर्शनात् । इतः पूर्वं 'येयं प्रेते विचिकित्से'ति 'अन्यत्र धर्मो'दिति वाक्यद्वयेन तयोरेव श्रुत्यादिति पूर्वषण्डे उक्तम् । ततो द्वितीयषण्डे पूर्वप्रकरणोक्तविशेषणबलादप्यत्र जीवब्रह्मणो एवोच्येते इति साधितम् । पूर्वाधिकरणोक्तब्रह्मश्वरमोगोपेक्षितज्ञापनार्थम् । तेनानुप्रसङ्गः सङ्गतिः ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे षण्डे अन्तर लघपत्तेरित्यधिकरणे आन्दोग्ये उपकोसठ-

विधासं 'य एषोऽग्निं पुरुषो हृद्यत'इतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य ब्रह्मिपुरुषस्य ब्रह्मत्वं निर्धारितम् । तत्र प्रथमषण्डे आर्षदर्शनस्योपपद्यमानत्वात् तत्र प्रतिबिम्बस्य ब्रह्मत्वेनोपासना विधीयते, किन्तु ब्रह्मैवेत्युक्तम् । ततो द्वितीयषण्डे सर्वलोकस्य साक्षात्मानवन् रूपस्थानादिव्यपदेशात्त्वेव साधितम् । ततस्तृतीयेऽनुतादिपदकथनादपि तस्यापितम् । ततश्चतुर्थषण्डे तदुपासकस्य ब्रह्मविरक्तकथनादपि तस्यापितम् । ततः पञ्चमषण्डे जीवो निर्धारितः । एवं चात्र पञ्चषण्ड्यां स्थाननाहात्स्यादिरूपं वैशेष्यं बोधितम् । अक्षिप्तितस्य भोगस्तु वाजिनां मण्डलब्रह्मणे प्रसिद्धः । एवमधिकरणत्रयेण भोगदोषासंगहेतुसूतं वैशेष्यस्योक्तितस्य पुरुषस्थान्त्यामितं च विचारितम् ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे त्रिषण्डे अन्तर्याम्यधिकरणे शुद्धारण्यकस्यमन्तर्यामिब्राह्मणं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्यम् । अन्तर्यामी सर्ववैकः, अथवापिदेवादिशब्दभेदाद्विज्ञः, तत्तद्विमानो जीवो वेलाशङ्क्य प्रथमषण्डे पृथिव्यादीनां तद्विमानिनां च ये धर्मास्तोषाः भगवत्पुरुषत्वोपादानन्तर्यामी सर्वत्र भगवानेवेति निर्णीतम् । आपिदेवादिस्त्रोपि स एवेति च । ततो द्वितीयषण्डेऽन्तर्यामी ब्रह्मवादे न प्रसिद्धः, जीवब्रह्मणवानामेव प्रसिद्धत्वात् । ततोऽन्तर्यामी साहस्यपरिकल्पितः कश्चिद्भवित्यतीत्याशङ्क्य, नात्र साहस्यमतम्, तदभोगासनभिलाषात्, अतोऽन्तर्यामी भगवानेवेति ब्रह्मवादसिद्ध इत्युक्तम् । ततस्तृतीयषण्डेऽन्तर्यामी जीवो न सम्भवति, काण्वशाखायां 'यो विज्ञाने तिष्ठ'न्निति माध्यन्दिनिशाखायां च 'य आत्मानं तिष्ठ'न्नितिवाक्याभ्यां जीवावेति निर्णीतम् । अस्मिन्नधिकरणे स्थितिकर्तृत्वनिर्वाहकतयोपेक्षातेन सर्वनियमनं विचारितम् । शुद्धाप्रविष्टावित्यधिकरणे प्रतिशुद्धं भिन्नतया प्रवेशादन्तर्यामिणां भेदे प्राप्ते तदभावात् तस्यैवपथ्यत्र साधितम् । तेन रूपभेदाद्विज्ञोपेक्षे एवान्तर्यामी नामेत्युक्तं भवति ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे द्विषण्डे अहृदयत्वाधिकरणे 'अथ परा यया तदब्रह्मभविगम्यत' इति शुण्डकस्य वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्येयुगपत्तु साहस्यविधा ब्रह्मविधा वेलाशङ्कयेयं ब्रह्मविधैव । ययन्नाश्वरं पुरुषश्चेत्युच्यते, पुरुषस्याश्वरात्परत्वं चोच्यते, एवं परापरभावेयश्वरं परमात्मैवेति निर्णीतम् । तत्र प्रथमषण्डे अहृदयत्वादिशुण्डकोऽश्वरत्वेनोक्तः परमात्मैव, विभजनकत्वरूपस्य ब्रह्मभूयस्य तत्रोत्तेरित्युक्तम् । ततो द्वितीयषण्डे अत्राश्वरपुरुषो साहस्यविधासिद्धप्रकृतिपुरुषावेवेत्याशङ्क्य, तो नाम सम्भवतः, अश्वरस्य सर्वज्ञत्वादिना पुरुषत्वेन च विशेषणात्, पुरुषस्य च दिव्यत्वादिना प्राणाद्विजनकत्वेन च विशेषणात् । न हीदं साहस्ये सिध्यति । किम्, अत्र हि समासावादी मध्ये च ब्रह्मविधा इति विधाविशेषणमुक्तम् । तस्मादपि नाम साहस्यसिद्धौ प्रकृतिपुरुषावित्युक्तम् । ततस्तृतीयषण्डे 'अग्निर्मयं'त्यादिना यद्रमुक्तं तद्विषयकायस्य ब्रह्मण एव सङ्गच्छते, न तु साहस्यसिद्धस्येत्युक्तम् । तेन सृष्टिपूर्वदशाभ्यामयश्वरनिर्यामकत्वान्नगतोऽन्तर्यामितं नित्यमित्युपोद्घातेन बोधितम् ॥ ७ ॥

जोऽष्टमे ऋष्यसूत्रे वैश्वानराधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तं रूपं साहस्यसिद्धस्य कार्यद्वारका कृतो न । अथारपरमपुरुषवर्णोर्मेदायेदौ च क्रयमित्यकाङ्क्षायां, जन्मोद्गमसां वैश्वानराधिष्ठां विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य, रूपस्य नित्यत्वं विरुद्धधर्मश्रयत्वं च तत्रोपो-
 द्यातेन विचारितम् । तत्र प्रथमसूत्रे वैश्वानरशब्दवाच्यो हिरण्यगर्भादिः परमात्मा
 भेति संक्षेपे, हिरण्यगर्भादिबोधकसाधारणशब्दाद्यो विशेषः प्रादेशमात्रसैवाभितो विगत-
 मानत्वरूपः, तस्मादित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'केचित्स्वेदेहान्तर्देहवाक्यश' इत्या-
 दिवस्त्युक्तस्यानुभाषकत्वम् । अतः प्रादेशमानो धुमूर्धत्वादिविशिष्टः परमात्मैवेत्युक्तम् ।
 ततस्तृतीयसूत्रे नतु प्रादेशमात्रस्या वैश्वानरस्यत्वं भगवत्परत्वं निर्णेतुं न शक्यम्,
 'अहं वैश्वानरो भूत्वे'ति जाड्राग्निरत्नत्वापि स्मरणात्, समानप्रकरण 'एष वा अग्नि-
 वैश्वानर' इत्यभिप्रेतमित्याहारेण श्रावणाद् अगवद्भिर्मुतित्वात् । अत्राप्येतेः 'हृदयं गार्ह-
 पत्य' इत्यादिना त्रेतामिकल्पनश्रावणात् पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वश्रावणात् न भगवत्परत्वं
 शक्यवचनमिति सूत्रायेनाशङ्क्य, नाम भगवत्परत्वं निषेधो शक्यम्, भगवतो भोक्तृत्वं
 कर्तुं श्रुतावगिदृष्ट्युपदेशाङ्गात्ते धुमूर्धत्वादिधर्मोपानसम्भवात् । न च तदुपासनायमिति
 शङ्क्यम्, वाजसनेयिभिः पुरुषत्वस्य श्रावणादित्येवमशान्तरेण समाहितम् । तस्माद्वैश्वानरः
 परमात्मैव । ततश्चतुर्थे उक्तदेहेत्यु एव जाडरोऽभिदेवतारूपोभिश्च न सम्भवतीत्युक्तम् ।
 एवं चतुर्भिः सूत्रैर्वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वं निर्णीतम् । ततोधिगेः पञ्चभिः सूत्रैस्त्वस्य परि-
 भाषं विचार्यते, ग्रहिलवादिनिवृत्त्यर्थम् । तत्र पञ्चमे जैमिनिमतेन परिमाणविरोधपरिहा-
 र्त्वाद्, व्यापकस्य प्रादेशमात्रत्वं कल्पनां विना साक्षादपि सम्भवति, यथाकाशस्य । तथा
 च 'प्रादेशमात्रमभिमिवान'मित्यत्र शाब्दकमार्थकयो भेदोऽस्ति इति जैमिनेराशयो बोधितः ।
 ततः षष्ठे निराकारमेव ब्रह्म मायाजवनिकाकञ्चन विष्यवादिदेवतापिष्ठितेन पुरुषाकरेणा-
 भिम्यक्तः पुरुषविजोऽन्तर्धीमी, न तु खामाविकत्ससाकार इत्यापरत्यस्य मतमुक्तम् ।
 ततः सप्तमेऽनुसृष्टिवशात्पुरुषाकारो 'यद्यद्विधा त उरुणाय विभावयन्ति तत्तद्गुः प्रण-
 यसे सतनुप्रदाये'तिस्मृतौः साधकात्पुद्गाद्यर्थमिति वादरितमुक्तम् । ततोष्टमे पूर्वोक्तं
 नियतपरिमाणवाद्बोधकं जैमिनिमतं तदेकदेशिनो, न तस्येतिबोधनार्थं पुनर्जैमिनिमत-
 साह । श्रुतौ 'प्रादेशमात्रमिह वै तेषा' इत्याख्यम् 'अभिसम्प्रादग्न्यामी'तिकथनासम्पत्ति-
 निमित्तं प्रादेशमात्रत्वम्, न तु बालवमिति तदाशयः उक्तः । ततो नवमे 'आगमन्ति
 चैनमसि'न्नितिसूत्रं 'एनं वैश्वानरमस्मिन्धुर्ध्वचिबुक्कान्तराले जावालाः समामनन्ति 'एषो-
 व्यक्त' इत्यादिना । तस्मात्प्रादेशमात्र एव व्यापकः, अतो वस्तुभावादेव विरुद्धधर्मोऽथ
 इति वैश्वानरो भगवानेवेति स्वसिद्धात् उक्तः । एवमस्मिन्यादे स्थितिरूपकार्यनिर्वाहार्थ-
 भन्तर्वाभिप्रतिपादकानि वाक्यानि विचारितानि ॥ ८ ॥
 इति श्रीबल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ
 वेदान्ताधिकरणमालायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अतः पूर्व मोक्षदातृत्वार्थमुपास्यरूपप्रतिपादकानि वाक्यान्वयस्मिन्यादे विचार्यते, सा-
 धनाध्यये उपोपसंहाप्रादे तत्तन्मार्गभेदेनोपासनाया एव साधनत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तत्र प्रथमे सप्तसूत्रे शुभ्वाधिकरणे 'यस्मिन् धौः पृथिवी'तिमुण्डकवाक्यं विष-
 यत्वेनोपन्यस्य, तत्र किं साहस्यसिद्धं प्रधानमुच्यते, ब्रह्म वेति संशये, प्रधानं निरस्य
 ब्रह्मैवेति साध्यते । तत्र प्रथमसूत्रे स्वशब्दो हेतुत्वेन, स च श्रुतिस्य 'स्यात्मान'मित्या-
 त्मशब्दस्य वाचकः । तथा च शुभ्वादीनां भारतं तदा साद्यदि तेषां सूत्रे मणियगवत्
 प्रतत्वं स्यात्, न तु तथा, तेषां कार्यतयैतादात्मकत्वेनैतत्त्वकल्पान्तःपातित्वात् । न च
 सेतुत्वेन साधनत्वबोधनात्फलरूपत्वाभावे सति न ब्रह्मत्वमिति शङ्क्यम् । 'अस्तस्य से-
 तु'रित्यत्र पठ्याऽभेदबोधकत्वेन फलरूपत्वानुपायात् । तस्माद् शुभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव ।
 ब्रह्मणो व्यापकत्वव्युत्पादनं तु पूर्वमन्त्रे 'लक्ष्यं सर्वगतं चैवे'त्यनेन ब्रह्मणः सर्वगतत्वक-
 यनात् तद्बोधनार्थमित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे नतु भवतु ब्रह्मत्वं तथापि तज्ज्ञानेन
 सर्वविज्ञानस्योपकान्तत्वादन्यवागिवमोक्तः कथं स्रष्ट इत्याशङ्क्य, ब्रह्मणि मुक्तोपश्रयत्वं
 वक्तुं शररूपस्य जीवस्य पूर्वमन्त्रे ब्रह्मणि योजनस्योक्तत्वात् तस्य निरप्यस्तत्वरूपं मुक्त-
 त्वमन्यवाग्विमोकेन बोध्यत इति तदपि सङ्गच्छत इत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे एतत्प्र-
 करणे जडधर्मबाहुल्यस्य जडदृष्टान्तस्य चोक्तत्वाद् प्रधानमेवाङ्गीकार्यमित्याशङ्क्य, तद्बो-
 धकानां निःसन्दिग्धानां धर्माणामदर्शनाद्ब्रह्मबोधकानामात्मसर्वज्ञानन्दरूपादिशब्दानां
 निःसन्दिग्धानां दर्शनात् प्रधानमङ्गीकर्तुं शक्यम्, किन्तु परमात्मैवेत्युक्तम् । ततश्चतु-
 र्थसूत्रे तर्हि जडजीवविशिष्टः साहस्यवादोऽत्रास्मिन्त्वाशङ्क्य, तदाचकनिःसन्दिग्धशब्दा-
 भावात् न जीवो, नापि प्रधानम्, किन्तु सर्वज्ञत्वादीनां ब्रह्मधर्माणां निःसन्दिग्धानां
 दर्शनाद्ब्रह्मैव । ततः पञ्चमसूत्रे 'तत्रैवैकं जानयामान'मिति ब्रह्मणि ज्ञानकर्मत्वस्य जीवे
 ज्ञानकर्तृत्वस्य बोधनेन भेदव्यपदेशात् न जीवपरत्वं तस्येत्युक्तम् । ततः षष्ठे सूत्रे अथ
 वाक्यस्य ब्रह्मप्रकरणपठितत्वादिपि न जीवपरत्वमित्युक्तम् । ततः सप्तमे सूत्रे 'द्रा
 सुपर्णा'नितिश्रुतौ परमात्मनः शरीरे स्थितिमात्रं प्रकाशकत्वं च श्राव्यते, जीवस्य तु कर्म-
 फलभोगोपीति स्थित्यदनाम्नां ब्रह्मजीवो धृद्येव निर्णीयते । तस्मादपीदं ब्रह्मवाक्यमेव, न
 तु प्रधानजीवसन्देहात् साहस्यपरमिति निर्णीतम् । तेन पूर्वपादोक्तमन्तर्यामिर्रूपमपि
 व्यापकत्वसर्वात्मकत्वादिगुणविशिष्टमेवोपासनीयमिति साधितम् । अत्र शरधनुर्वायश्राव-
 णात्पुरुषोपासनं ज्ञानमार्गीयाणामपि कर्तव्यत्वेन बोधितम् ॥ १ ॥

ततो द्वितीये द्विसूत्रे शुभ्वाधिकरणे 'यो वै भूमा तस्युष'मिति आन्दोग्यसत्तन्तु-
 मात्तान्तासंवादगतं वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र बाहुल्यं सुषुप्तिश्च नोप्यते, किन्तु ब्रह्मै-
 वेति साधितम् । तत्र प्रथमसूत्रे सुषुप्तेः सकाशादाधिक्यस्य 'स एषाचखादि'त्यादिवा
 बोधनात् मुख्यवृत्त्यात्मशब्दपरिग्रहसम्भवाद् ब्रह्मणः सर्वशब्दवाचकत्वेन भाववाचक-
 वेत्ता

शब्दानामपि ब्रह्मपरत्वसम्भवाच्च सूत्रा भगवानेवेत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'नान्यत्व-
श्यती'त्यादिनोक्ता अन्यादशेनादयो धर्मो अन्याविर्भूते परस्मिन् भगवति तद्वर्षेनेन तदे-
कयात्तदविभागाद् तदेकतानतायां सम्भवन्तीति सूत्रा ब्रह्मेवेति साधितम् । तेन नित्यनि-
रवस्थानन्दरूप पदान्तायाम्युपास्य इति प्रथमपि भक्तिमार्गीयैकात्म्य इति बुद्धिस्थं प्रस-
ङ्गाद्बोधितम् ॥ २ ॥

ततस्तृतीये सूत्रस्य अक्षरार्थिकरणे बृहदारण्यकस्य 'भेदौ तदक्षरं गार्गी' ति-
वाक्यं विषयलेनोपन्यस्य, सूत्रप्रथयेनाज्ञया प्रथिव्याद्यन्तारान्तधारकत्वेनाक्षरस्य ब्रह्मत्वं
साधितम् । ततस्तृतीये सूत्रे प्रशासनस्य जीवधर्मत्वव्यावृत्त्याक्षरज्ञानफलबोध-
नेन च ब्रह्मत्वम् । अत्र च पूर्वपादेऽहदवस्थाधिकरणेन विचारितयाक्षरस्य विरुद्धधर्मत्व-
बोधनमिति बुद्धिस्योपोदात्तः सङ्गतः । अक्षरोपासनं च ज्ञानमार्गीयाणां केषाचिन्मुख्यम्,
'ये त्वक्षरमनिर्देश्य'मित्यादिगीतावाक्यात् । भक्तिमार्गीयाणां त्वक्षरज्ञानमङ्गत्वेन प्रवि-
शतीत्यग्रे 'अक्षरधिया'मित्यत्र वाच्यम् । तेनेदं मार्गद्वयोपयोगीति तदुभयोरन्तरं प्रसङ्गत
उक्तम् । तेनात्र क्रमनियामिका प्रसङ्गः सङ्गतिः ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे ईश्वरार्थिकरणे प्रशोपनिपत्यत्रयप्रशस्य 'भेदौ सत्य-
काम परं चापरं च ब्रह्म यदोद्धार' इतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, अत्र ध्येयः परमात्मैव, न
तु विराट्, ब्रह्मा वा । 'परालपरं पुरिश्चं पुरुषमीश्वर' इतिवाक्ययुगे ईश्वरार्थिकत्वेन जी-
वधनादक्षरात्परत्वेवोक्तत्वात् । अत्र ध्यानविषयत्वैश्वर्यार्थिकत्वं प्रतिपादनेनोपासनानां फलं
साक्षात्कार इत्यन्येनेन साधितम् । तेन प्रसङ्गः सङ्गतिरिति बोधितम् ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे अष्टसूत्रे दहराधिकरणे 'अय यदिदमसिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं
वेदो'त्यादि छान्दोग्यस्थं वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र दहरशब्दवाच्य आकाशः परमा-
त्मैव, न जीव इति निर्णीयते । तत्र प्रथमसूत्रे उक्तछान्दोग्यवाक्ये बक्ष्यमाणेभ्यो
हेतुभ्यो दहरः परमात्मैवेत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'यथा सुवर्णमिति निर्दिष्टमग्रे-
ब्रह्मा उपसृष्टिपरि सम्बन्तोपि न विदुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरद्वर्ग्येच्छस्य एतं ब्रह्म-
लोके न विन्दन्ती'त्यनेनोक्तं प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानां बद् ब्रह्मलोके गमनं सा गतिः
'एष आत्मापहतपाप्मा सत्यसङ्गः' इत्यपहतपाप्मात्वादिबिषिष्ट आत्मशब्दः पूर्वोक्तो
ब्रह्मलोकशब्दश्च ताभ्यां हेतुभ्यां दहरः परमात्मैव । न च जीवपरमात्मनोस्त्वतो भेदाभा-
वात्सद्ब्रह्मायामज्ञानकल्पितानामेव ब्रह्मलोकगमनमात्मशब्दश्च जीवसाधारण इति न
ताभ्यां परमात्मसिद्धिरिति शङ्क्यम् । अत्र हि प्रजानां ब्रह्मलोके गन्तव्यतां 'अच्युतेन
प्रत्यदा' इति विज्ञेयं दृश्यते । तदर्थंस्तु अच्युतेन सिद्धित्वम् । 'अतृतापिवावा' इतिशु-
त्यन्तरे तथादशेनात् । तत्र सुषुप्तौ 'सुखमदमसात्म्यम्, न किञ्चिद्वेदिष'मित्यनुभवत्वासां
प्रजानामज्ञत्वं साधयति, न त्वज्ञानकल्पितत्वम्, अज्ञानकल्पितत्वे सति ब्रह्मलोकगतित्वं

सङ्गच्छते, तथापहतपाप्मात्वादिविशेषणादात्मशब्दश्च न सङ्गच्छते, अतो गतिशब्दोर्ग-
क्षपरत्वाद्दहरः परमात्मैव । किञ्च, अत्र 'तथ इहात्मानमनुविष्य ब्रजन्ती'त्यात्माज्ञानं लो-
कशब्दहेतुत्वेनोच्यते । यथात्मा ब्रह्माभिन्नः स्यात्तदापहतपाप्मादिविगुणकत्वात्सत्यं स्वाज्ञानं
न स्यात् । अत इदमज्ञानं जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वं बोधयद् गतेर्भ्रष्टविषयत्वे लिङ्गम् । एव-
मपहतपाप्मात्वादिविशेषणान्याप्यात्मशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे लिङ्गमिति प्रागेवोक्तम् । अतो दहरः
परमात्मैवेति साधितम् । ततः तृतीयसूत्रे 'य आत्मा सेतुर्विषति' रिति श्रुतेः सर्वलोकाविधा-
रकत्वात्सत्यं साधनीभूय संसारप्राप्तकत्वात् एकसैवाकाशवावायुधियादेरन्तर्बहिःस्थाप-
नेन तस्य सर्वलोकारणस्य महिमरूपत्वात् तस्य महिम्नो विरुद्धधर्मोभ्रष्टवत्कृतवत्या
श्रीयशोदादिरन्तर्बहिःरूपलक्षणश्च दहरः परमात्मैवेत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे आकाशश-
ब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेरपहतपाप्मात्वादिप्रसिद्धेः प्रकरणोक्तसर्वधर्मप्रसिद्धेश्च दहरः परमात्मै-
वेत्युक्तम् । एवं चतुःसूत्र्या विधिमुखेन दहरस्य परमात्मत्वं विचारितम् ।

अतः परमश्रिमच्चतुःसूत्र्येतरनिषेधयुजेन तसैव परमात्मत्वं पुनः साधयति । ततः
पञ्चमे अस्मिन् प्रकरणे आदिमध्यावसानेतेषु सम्प्रसादादिशब्दैर्जीवस्य परामशोधीव
एव दहर इति सूत्राशेनाशङ्क्य, जीवे जगदाधारत्वादेरसम्भवात् स न दहर इत्युक्तम् ।
ततः षष्ठे पतदन्तपस्युक्त इन्द्रप्रजापतिप्रकरणे जीवसैवायुताययत्वादिरूपेणोक्त-
तयात्रापि स एव परामश्रयतामिति सूत्राशेनाशङ्क्य, तत्र प्रजापतिरुपदेशस्यैव आ-
सिद्धिप्रकारो ज्ञातः, यथा सिद्धिदोषसक्तो सुदिहाभिष्टो भवति, अतस्तयाभूतत्वात्स-
र्थत्रात्मानं परव्यसुपदिष्टवान्, अतो न तत्र जीवः प्रकरणार्थः । अतस्तदुपरोधेनात्र जीवस्य
ब्रह्माभिन्नत्वं न वक्तुं शक्यम् । तस्माद्दहरः परमात्मैव । ततः सप्तमे तर्हि तत्र जीवध-
रामशस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां पूर्वप्रकरणे सत्यनामकस्य ब्रह्मणो ज्ञानेव ब्रह्मसुख-
रूपं फल्युक्तम् । तदपेक्षया तादर्थ्यं ब्रह्मज्ञानमावश्यकम् । तत्र सञ्चन्देनायुतस्य जीवस्य,
तिशब्देन मल्लेख जडस्य, यशब्देनोपनिर्णयामकस्य ब्रह्मण उक्तत्वात् । नियम्यद्वयज्ञाना-
त्रावे नियामकस्य ब्रह्मणो ज्ञानासम्भवात् । तदर्थं शब्दोक्तस्य नियम्यस्य जीवस्य स्वरू-
पज्ञानाय जीवपरामशः, न तु प्रकरित्वेनेत्युक्तम् । ततोऽष्टमे भवत्वेवं तथाप्यत्वे हृद-
यपुण्डरीके आकाशरूपस्य ज्वायसो ब्रह्मणः स्थितिर्न सम्भवतीत्यतो जीव एवोच्यतामि-
त्याशङ्क्यायां 'निचायत्वादिदं क्योवम्बे'त्यत्र विरुद्धधर्मोभ्रष्टत्वेन ब्रह्मणः स्थितिविस्तुं शक्ये-
त्युक्तम् । तापशत्वत्वात्त्रायुत्सन्त्येवत्वात्तेन तस्ममापिसिद्धिरिति दहरः परमात्मैव । अत्र
बुद्धिस्थस्य विचारादुपोद्घातगर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिः । किञ्च, परामश्रयत्वे जीवस्य सर्वाव-
स्थासु नबनियम्यत्वसैव सिद्धत्वात्, अतो जीवस्य परमसिद्धिदायामपि ब्रह्मस्थित्यन्त-
मेव सिध्यति । वेदस्तुतावपि 'अजनि च बन्मयं तदवित्युत्पन्नं नियन्तु अवे'दित्यत्र तथैव
सिद्धत्वाच्च ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे द्विसूत्रे अनुकूलधिकरणे 'न तत्र सूर्यां भाती'ति कठवह्नीस्थं वाक्यं विषयत्वेनोदाहृत्य, लोकप्रकाशकानां सूर्यादीनां दहरान्तःस्थत्वकथनात् कठवह्नीस्थुकवाक्यं तद्विरुद्धमित्याशङ्क्य, तेषां स्वतो न प्रकाशकत्वम्, किन्तु भगवदनुकारित्वाद्भगवत्प्रकाशेनैव प्रकाशकत्वं सर्वत्र सर्वदेवप्रसङ्गाभिर्णीतम् । तेन जीवस्य मुक्तिदशायाम् तदनुकारित्वरूपमेव साम्यम्, न तु परमभिलषिषि बोधितम् । अन्यथैतद्विचारस्यात्र निष्प्रयोजनत्वापत्तेरिति ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे द्विसूत्रे शब्दादेव प्रमित इत्यधिकरणे कठवह्नीसङ्घमुत्पन्नवाक्यं विषयत्वेनोदाहृत्याङ्घ्रिमात्रस्य भूतमव्येक्षणत्वं शब्दादेव प्रतीयते इति प्रथमसूत्रे निर्णीतम् । द्वितीये च तस्य तत्र स्थितिर्ननुष्णायामधिकारायैति निर्णीतम् । अत्रापि प्रसङ्ग एव सङ्गतिः । इदं च जीवस्य मुक्तिदशायाम् ऋषाविभोवेन विरुद्धपरमोश्रयत्वे फलप्ल्यति ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमेष्टसूत्रे तदुपर्यपीत्यधिकरणे प्रसङ्गादेवादीनां ऋषाविधायामधिकारो विचारितः । तत्र प्रथमे सूत्रे मनुष्येषु त्रैविकानामुपनयनादिसंस्कारवतां कर्माधिकाराद् ऋषाविधायामप्यधिकार इति पूर्वतन्त्रादेव सिध्यति । ततो मनुष्णाद्दीनजातीयानां तु योग्यताऽभावादेव नाधिकारः । अतः परं मनुष्णादुक्त्यानां ऋषाविधायामधिकारः सम्भवाद्भूतः । यद्यपि देवादीनामुपनयनादिकं न प्रसिद्धम्, तथापि यज्ञोपवीतमये 'प्रजापते-र्यत्सहजं पुरस्तादि'तिश्रावणात्प्रत्ययेनान्यत्रापि अन्यानुग्रहविशेषतः प्रभृतिभिर्गतैश्चिन्वाभिप्रादीनामिवाधिकारः सम्भवति । तस्मादप्यधिकार इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे पूर्वसूत्रोक्तस्य देवादीनामधिकारस्य विप्रतिपन्नतया तदभेदे तेषु ब्राह्मण्यदेवैर्षुकुमशक्यत्वात्, तेषां स्वर्गस्थलेन प्रथिवीरूपदेशस्य, श्रीढादिरूपद्रव्यस्य तत्र सूर्यगत्यभावेन दशोदिरूपकालस्य च, तदतिरिक्तदेवाभावेनोद्देश्यदेवतान्तरस्यापि वक्तुमशक्यतया तदभावेपि कर्मकरणे श्रुतिविरोध इति सूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण प्रजापतिध्यायाद् बर्णसत्तायाः सापि-तप्रत्यत्वात्, 'इन्द्रो ह्यविसद्वर्षाणि प्रजापती ऋषचर्यसुवासे'तिश्रावणादाश्रमसत्तायाः, 'साध्या वै देवाः सुवर्गकामा एतं षड्राश्रमपरश्च न तमाहरन् तेनायजन्ते'तिसङ्घाकरणश्रावणात्, 'देवा वै सत्रमासते'त्यादौ भूमागवत्य कपीन् वृत्वा यज्ञकरपश्रावणात्कनैकोपयोगो देवानां वेदे दृश्यते । भगवदवयवरूपा ये देवास्ते तेषामुद्देश्या अपि भवन्ति । 'उभौ वै देवानां' श्रुतितारो अथमुष्णापापश्रमे'त्यादौ ऋत्विजोपि श्राव्यन्ते । तस्मान्न श्रुतिविरोध इत्युक्तम् । ततस्तृतीये ननु वेदात् कर्म ज्ञात्वा पश्चात् कर्तव्यं देवैः, तत्र देवानां कर्मकरणं वदन् वेदो देवानामधिकारं वदेत् । देवाश्च जन्या इति वेदार्थज्ञानसमये वेदामभावाद्, ज्ञातो चाल्माश्रय इति कर्मकर्तृणां ज्ञातुत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् कर्मकर्तृविरोधः । वेदश्च तेषां वृत्तान्तं वदन् स्वयं कथं नित्यो भवेत् । अतो वेदानित्यत्वापादक-

त्वाद्यं देवाधिकारपक्षो न सङ्गत इति सूत्रांशोऽशङ्क्य, अंशान्तरेण समाधिमाह, शब्दोक्ताः पदायाः सर्वे एवाधिदेविका भगवदवयवरूपाः, शब्द एव विद्यन्ते, नित्यास्तैः सह पदानां सम्बन्धोपि नित्य इति न वेदस्यानित्यत्वम् । इदमेव चतुर्थेन सूत्रेण वक्तव्यम् । न च वैदिकपदार्थानामतिरिक्तत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षविरोधः शङ्क्यः । इदानीमपि यजमानास्तिकप्रभृतीनां वेदादेव सपरिकरकर्मावगतेषु वैदिकव्यवहारादिना दर्शनेन वैदिकपदार्थान्तरेष्वपि तैरेवावगतिस्मभवात् । अतो यैर्मगवान् दृष्टोपेतं तु तत्रैव सर्वपदार्थदर्शनात्तेष्वेव सङ्गेशब्दः, ततोर्वाचीनानामिदानीन्मनपर्यन्तानां तूपमानानेषु सङ्गतेशब्दः, भावतः सर्वानुकारित्वात् । किञ्च, यथा 'जमदग्नीनां पञ्चावच'मित्यत्र स्वस्मिन् जामदग्न्य इति प्रत्यक्षज्ञानामावेपि परोक्षानुभवो भवति, तथा वैदिकप्रपञ्चस्यापि परोक्षानुभवो भवत्येवेति वैदिकप्रपञ्चोतिरिक्त एव । तस्मान्न ज्ञाने कर्मकर्तृविरोध इति सूत्रद्वयेनोक्तम् । ततः पञ्चमे ननु भगवत्वेन वैदिकमुष्टिरतिरिक्ता, तथापि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिषु ऋषादिदृश्यते इति तदनुरोधेनानित्यापि सृष्टिवेदे उच्यते इत्याङ्गीकार्यम् । तथा ये देवाः कर्म कुर्वन्ति तेप्यनित्या इति च । एवं सति वेदस्य तद्वाचकत्वे शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धविरोधः, अतस्सदभावार्थमाकृत्यावेव सम्बन्धो वक्तव्यः । तथासति किं जैमिनिमतद्वेषणेत्याशङ्क्य, लोकदृष्टिमङ्गीकृत्य तद्रीत्यापि सनाधानमाह । यद्यपि सर्वस्य भगवद्रूपत्वात्सत्त्वित्प्रलययोः सम्यप्रतिसम्बरूपत्वेन वस्तुनित्यत्वाभाषकतया दर्शनादर्शनेनोदेव नित्यानित्यत्वपर्यवसानम्, न तु वस्तुनीति न काचिदाशङ्क्य । तथापि लोकदृष्ट्या प्रपञ्चस्य देवादीनां चानित्यत्वाङ्गीकारे तत्त्वत्वादे एव शब्दसम्बन्धः । लोकेपि शरीरगङ्गाप्रभृतिषु प्रवाहे एव शब्दसम्बन्धदर्शनात् । अतो देवादीनां तत्कर्मणां चानित्यत्वेपि तत्त्वत्वात्स्य नित्यत्वात् ततो-र्धके वेदेपि नानित्यत्वं शङ्कितुं शक्यते इति । ततः षष्ठसूत्रे ननु यद्यपि श्रुतिविरोधपरिहारेण कर्मण्युपासने च देवानामधिकारः प्रतिपादितस्तथापि आन्दोग्ये 'असौ वा आदित्यो देवमश्वि'त्यादितोक्त्यां मनुष्याणां स न सङ्गच्छते । तत्र मनुष्येनोपवर्ण्यमानस्यादित्यस्य विधाविषयत्वात् स कमन्यामादित्यस्युपासनात् । एवं संवर्षेविधादित्यु वैश्वानरीनां विषयत्वात्तेषामप्यनधिकारो बोध्य इत्याद्युक्तम् । ततः सप्तमे 'अग्निः पुण्ड्रस्य प्रथमं काण्ड'-मित्यादिश्रुतिशब्दादीनां देवानां ज्योतिर्गणे विद्यमानत्वकथनात्तेषां च तत्र महामोगकथनात्प्राप्तकलत्वेनोपासनायामधिकारो न सङ्गत इत्येवं जैमिनिमतेनाशङ्कितम् । ततोऽष्टमे तत्परिहारात्, वेदे हि प्रजापत्यादीनां कर्माधिकारो निरुच्यते, 'प्रजापतिरकामयत् प्रजायेयेति', 'स एतमग्निहोत्रमिधुसमपरश्चत्, तद्वदिते सूर्येज्जुहोदि'त्यादिषु । तथा ज्ञानेपि श्रूयते, 'तयो यो देवानां प्रत्यक्ष्यन्त स एव तत्सदभव'दित्यादिषु । अत्र च महार्थत्वात्, तेन स्वायै प्रमाणं न स्यात् तदा तादृशमिदोत्रहोमेन तादृशज्ञानेनान्यस्यापि फलं न

स्यात् । अतः कर्मणि ज्ञाने वाधिकारोयमवयवमभ्युपेयः । ये पुनरुपास्यत्वेन तत्रोक्तासौ भगवदंशा एव । 'न ह वै देवा अश्रन्ति न पिबन्ती'त्यनशनादतिरूपाङ्गिमात् । इदं च पूर्वमेव साधितम्, तथापि जैमिनिमतनिराकरणाय पुनरुक्तम् । एवमष्टमिः सूत्रै-
र्देवानामधिकारो वेदनित्यत्वं च प्रसङ्गातिर्गतम् ॥ ८ ॥

ततो ऋषभे ऋषभसूत्रे शुद्धस्येत्यधिकरणे शुद्राणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोत्पस-
ङ्गाङ्गिराहुतः । तत्र प्रथमसूत्रे आन्दोग्यस्या संवर्गविद्या विषयत्वेनोपन्यस्ता । तत्र च
ज्ञानश्रुति 'ह शुद्ध'त्वेन सन्मोक्ष्य एवात् संवर्गविद्योपरिष्ठा । तस्माज्जातिशुद्रस्याप्यधि-
कार इत्याशङ्क्याम्, नात्र शुद्रस्यन्दो जातिवाची, किन्तु शुद्धा आदरवतीति शुद्र इति
योगिकः । अतो योगेन ज्ञानश्रुतेर्मत्सरित्वं बोधयति । तेन पूर्वं शिक्षारः, पश्चात्तुपसरणेन
मत्सरत्यागे विद्योपदेश इति नात्र जातिशुद्रस्याप्यधिकार इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे
ज्ञानश्रुतिजातेः श्रुतावनुकत्वात् योगापेक्षया च हृदोः प्रबलत्वादन शुद्रस्यन्दो हृद एव
ज्ञानश्रुतिजातिं बोधयतीति जातिशुद्रस्याप्यधिकारोस्त्वित्याशङ्क्यायां ज्ञानश्रुतेः क्षि-
यत्वमुत्तरप्रकरणान्तरे काष्ठासेनिपादवगम्यते । कक्षा स्यात्सांसेना रया वसेति
कृष्णसेनस्यस्यापत्वं काष्ठासेनिरिति क्षत्रियलिङ्गात् । यद्यपि तत् प्रकरणान्तरम्, तथापि
ऋन्दोगानां हिराने 'एतेन वै चैत्ररथं कापेया जयाजय'इतिश्रवणात् 'समानान्वयानां स-
मानान्वया एव याजका मन्वन्ती'ति कापेयसम्बन्धेन काष्ठासेनेः क्षत्रियत्वमवगतम् । अतो
लिङ्गभेदात्स क्षत्रियत्वान्वागेः जानश्रुतेः जातिनिर्धार्यते । तस्माज्जातिशुद्रस्य नाधिकारः ।
यत्र परम्परितब्रह्मविद्यायामपि नाधिकारस्तत्र साक्षाद्ब्रह्मविद्यायां तु शक्तिमुपि न शक्यते
इत्युक्तम् । ततस्तदुत्पत्तेः श्रीशुद्र साधनेषु सर्वेष्वन्यत्रवन्त्सकारपरामर्शोऽन्द्रे च तदभावाद्वा-
धिकार इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थं 'सत्यकामो ह जाबाल' इत्यत्र जाबाले शुद्रत्वाभावनिर्धारण
एव गौतमेन तस्मिन् शिष्यनामः प्रवर्तितः । तस्मादपि जातिशुद्रस्य नाधिकार इत्युक्तम् ।
ततः पञ्चमे शुद्रस्य वेदे श्रवणाप्ययनार्थज्ञानानां निषेधश्रवणात् स्थितिवपि वेदाक्षरविचारेण
शुद्रस्य पातक्यनाश नाधिकार इत्युक्तम् । एवमिदं प्रासङ्गिकमधिकरणद्वयम् ॥ ९ ॥

ततो द्वादशे एकसूत्रे कम्पनाधिकरणे कठवह्नीत्वं 'यदिदं किञ्च जगत् सर्व'-
यितिशयन्यं विषयत्वेनोदाहृत्य, किमत्रेन्द्रः प्राणो ब्रह्म वा निरूप्यते इति सन्देहे, प्राणेन्द्रो
निवार्य, सर्वजगत्कम्पनादेतोर्मैत्रैवात्रोच्यते इति निर्धारितम् । तेनावतारदशायामपि
भगवतो दृष्टप्राणित्वबोधनाय तत्र जीवानां सन्नतये च भगवत इदं कार्यं प्रसङ्गेनाव-
सरेण वा विचारितम् ॥ १० ॥

तत एकादशे एकसूत्रे ज्योतिर्विद्योनाधिकरणे दहरविद्यासं 'परं ज्योतिरु-
सम्बन्धे'तिशान्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, ज्योतिःसन्धेन महाभूतरूपं ज्योतिरुच्यते, उत ब्रह्म
वेति सन्देहे, महाभूतरूपं ज्योतिर्निर्वाय, सम्प्रतिरूपादेर्नाद्ब्रह्मैवात्र निरूप्यते इति प्रस-

ङ्गाङ्गिरारितम् । तत्रयोत्रं तुपसम्पत्तव्यत्वेनोपसम्पन्नस्वरूपामिनिष्पादकत्वपूर्ववाक्यगतह-
दयत्वीचरवाक्यगततस्यपदोक्तमव्योक्तनियामकत्वरूपाणां चतुर्णां धर्माणां निष्कर्षार्थैत्यात्र
ज्योतिश्रयणाधिकरणेन गतायथा ॥ ११ ॥

ततो द्वादशे एकसूत्रेऽर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणे आन्दोग्यसमाहित्वाभाको
वै नाम नामरूपयोर्निर्बन्धितोऽतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र मूलाकाशो ब्रह्म वेति सन्देहे,
मूलाकाशस्य यत्थयोजनं वायुजननं तस्माद्भिन्नस्य प्रयोजनस्य नामरूपनिर्वाहकत्वरूपस्य
कथनात्, ब्रह्माद्विश्रुतीनां च कथनात्, ब्रह्मैवाकाश इत्युक्तम् । तेनान्यवाचकपद-
वाच्यस्य यत्रैव तद्वर्मातिरिक्तधर्मकथनं तत्रान्यवाचकपदस्य ब्रह्मपरपद-
मिति न्यायबोधकमिदमधिकरणमिति प्रसङ्गादुक्तम् । अतो न तद्वर्माधिकरणादिना
गतायथा ॥ १२ ॥

ततस्त्रयोदशे द्विसूत्रे शुशुप्स्युत्कान्द्योरित्यधिकरणे बृहदारण्यकस्य ज्यो-
तिर्माषणं शरीरब्राह्मणं चेत्युभयं विषयत्वेनोपन्यस्य, ततोः किं जीवावक्यत्वमुत ब्रह्मावक्य-
त्वमिति सन्देहे, उपक्रमसाक्षात्किरोधत्वेन प्राचक्ष्यात्, तत्र च 'कतम आत्मे' तिस्रेश्चे
'योग्यं विज्ञानमयः प्राणेषु ह्यधन्तज्योतिः पुरुष' इति शरीरलिङ्गात्, 'योग्यं विज्ञानमयः
प्राणो' भवति काण्वपाठे उपसंहारे च तादृशवाक्यत्वात्, यद्यपि संसारी प्रतीयते, तथापि
मध्ये 'ध्यायतीत्ये'त्यादिसंसारिधर्मनिराकरणरूपादुपसंहारे च 'स वा एव महानज आत्मे'ति-
संसारधर्मरहितपरमेश्वरतमोभनादन्वैष्य हेतुभिः परमात्माभिन्नो संसारी शुक्लो जीवः प्रति-
पाद्यते इति पूर्वपक्षे, यदि शुक्लो जीवो ब्रह्मभेदेनात्र प्रतिपाद्यः स्यात्तदावस्थाभेदात्प्राणो-
जकत्वात्सुषुप्तिरुत्कान्तो च जीवं परमेश्वरत्र भिन्वात्, प्रतिपिपादयिषितेऽभेदे अवस्थया
भेदकथनस्य निश्चयजननतया वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, जाग्रत्प्रसंगोद्भवत्वादिद्वैशेषिकप्रत्यक्ष-
सिद्धत्वेन सुषुप्तिमरणयोस्तमोभिभवाद्दानादिद्वैशेषिकाङ्गानेपि सौषुप्तिकस्मरणेन श्रुतानां
भूतादिभावदृशेनेन चातुमानसिद्धतया तत्कथनवैयर्थ्यानपायाच्च । अतो यत् ज्ञायमानाव-
स्थासिद्धं भेदमनुवदति तदसंसार्यवस्थायामपि भेदबोधनायैवावगृह्यति । 'यदोक्तं शुद्धं
शुद्धे आसिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गौतमे'ति काठकेपि तथैव
श्रवणात् । न च तद्धोक्तमाद्यतुरोपाधसंसारी परमेश्वरसमानधर्मा जीवो वाच्योऽस्ति
शक्यम् । उपक्रमादिष्वपि तथार्थाभावात् । तथ.हि । उपक्रमे 'किं ज्योतिरयं पुरुष'इति
प्रकाशकप्रत्ये 'आदित्याघनन्तरमात्मज्योति'रित्युक्ते संसारिणः पुरुषस्य प्रकाशोद्भित्त्वे-
नाप्रकाशकत्वात् 'प्रकाशक आत्मा क' इत्याख्येन पृच्छति 'कतम आत्मेति ?' । तत्र
स्पष्टतया वक्तव्ये'मुत्तरो याज्ञवल्क्यो 'न वदिष्ये' इति स्वामिसन्धेर्वरदानस्य चातुरोपात्
सिद्धिभेदोत्तरं दत्तवान् । अतस्तद्विचारे 'ब्रज्यां पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवती'ति निमग्नवक्ष्ये
परमात्मेव स्वयंपदवाच्यः सिध्मतीत्युक्तमगतः प्रश्नः सामान्योऽनुत्तरो तस्मै एव पूर्ववत्सति ।

तथापि छिष्टप्रयोगात् जनकेन सोम्यैः सम्पद् न ज्ञातः, किन्त्वेत्वात् ज्ञातं संसारिव्यतिरिक्त आत्मा प्रकाशक इति । ततस्तत्सन्देहवारणाय पृच्छति 'विमोक्षाय मूढी'ति । तदापि पूर्वोक्तानुरोधेन 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे त्वा चरित्वे'त्यादि छिष्टभेदोत्तरं दत्तवान् । तदा सुषुप्तौ जीवसाक्षत्वे उक्तेपि जनकस्य सन्देहो न निवृत्त इति पुनर्मोक्षाय पृच्छति । तदा पुनरपि तथैव वदन् मत्स्यादिदृष्टान्तेन स्वप्नसुषुप्ती अवस्थे उक्त्वा, सुषुप्ती असङ्गादपि जीवात् परमात्मानं भेदेनाह, सम्परिष्वक्तस्तीपुदृष्टान्तेन । तदापि जनकस्य प्रकाशकसन्देहो न निवृत्त इति पुनर्मोक्षाय पृच्छति । तदा पुनरपि छिष्टावक्येनैवोत्तरं, पुनरपि मोक्षाय पमच्छ । तदा याज्ञवल्क्यो राज्ञो भेषाविव्लाङ्गीतः संसारिणो जीवस्य मरणावस्थां वदन् परमेश्वराजीवस्य भेदमाह । तदापि छिष्टप्रयोगात्स्य सन्देहो न निवृत्त इति तदानीमकामयमानस्य सद्योमुक्तिमाह । तत्र 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्मायेती'तिश्रुतेः 'प्राज्ञ आत्मा ब्रह्मैवे'ति च श्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मभाव एव मुक्तिः । प्राज्ञ आत्मा ब्रह्म योऽस्ति स एव प्रकाशकस्तयोतिषार्थं जीवः सर्वं करोतीति ज्ञात्वा जनकः 'सोऽं भगवते सहस्रं ददामी'त्युक्तवान् । तदा याज्ञवल्क्यः श्लोकैः सर्वं शास्त्रार्थयुक्त्या 'स एष आत्मे'त्यादिना तमेवार्थं स्पष्टमुक्तवान् । तदा जनको विदेहान् स्वात्मानं च तस्मै दत्तवान् । याज्ञवल्क्योपि तथा विचारं समापितवान् । अत उपक्रमोपसंहारयोः परमात्मन एव प्रकृतत्वसिद्ध्या तस्यैव प्रकरणत्वम्, न तु ब्रह्मभावापवादस्य जीवस्येति सिध्यति, समाप्तौ पलादिशब्देन्यश्च । तस्मादिदं ब्रह्मवाक्यमेवेति ।

अत्र सदैव उपास्यरूपायाधाररूपपदं च विचार्य ब्रह्मातिरिक्तानामनुकारित्वं च विचार्य समाप्तौ यत् जीवब्रह्मणोर्भेदः साधितः, तेन युक्तिदशायामपि जीवस्यानुकारित्वमेव, तदात्मकत्वात्, न त्वव्यन्ताभेदः, सर्वथा तौल्यं वेति प्रसङ्गादुपोद्घातादेति विचारितम् १३ इति श्रीब्रह्मसाम्बार्थचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां उपमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अतीतेषु पादेषु प्रथमे कार्यरूपवाक्यानि, द्वितीये अन्तर्यामिवाक्यानि, तृतीये उपास्यरूपवाक्यानि विचार्य, सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितः । तदा-च्छार्थं प्रकीर्णकानि वाक्यानि विचार्यन्ते । तेषां च जीवजडसुषुप्तायात्मकार्यनिरूपकतया कापिलमतश्रीतताप्रमज्जनकत्वं प्रकीर्णत्वमिति तन्नग्नानिरासायोपोद्घाततया तेषां विचारः ।

तत्र प्रथमस्य ससत्त्वस्थानुमानिकाधिकरणस्य प्रथमसूत्रे 'इन्द्रियेभ्यः परा धर्मो' इति काठकवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र ज्ञानकर्मभयाणि दशेन्द्रियाणि भूतमा-ह्वर्येभिसिद्धा दशार्थां मनोद्वन्द्वहङ्कारमहत्तत्वाव्यक्तपुरुषाः साक्ष्यमतसिद्धाः परार्थान्तत्रो-प्यन्ते इति कापिलमतमपि श्रौतमिति 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेदि'तिसूत्राशेषावश्यक्य, अंशान्तरेण समाधानमाह । नात्र तन्मतसिद्धाः पदार्था उच्यन्ते, किन्तु पूर्वभात्मानं रथिनं

विद्धी'त्यादिना शरीररूपकं यदुक्तं तत्रत्या ये रयादिभावेन पदार्था निविष्टास्ते एवान्ना-स्मिन् वाक्ये युक्तन्ते । एतद्वि जीवप्रकरणम् '...त्र च तस्य मुक्त्युपायो निरूप्यते । योग्यं शरीरमारुह्य हेतुः पदं गच्छे'दिति । तत्र योग्यं शरीरं रथः, आत्मा रथी, इन्द्रियाणि हयाः, बुद्धिः सारथिः, मनः प्रग्रहः, भगवद्दीया विषयाः, तेषां हयानामात्मरूपाः सम्पक्त्वेन भागित्वात् । बुद्धेरात्मा ब्रह्मविषयं विज्ञानं तन्महत्त्वेनोच्यते । अव्यक्तं तु भगवत्कृपेण, पुरुषस्तु भगवानेवेति ब्रह्मवाद एवात्र सिध्यति, न साक्ष्यत्वमतम् । यतोत्रे 'एष सर्वेषु भूतेषु गुडोत्साम न प्रकाशते । दृश्यते त्वथ्या युद्ध्या सुक्ष्मया सुक्ष्मदार्शेभि'रिति-मन्त्रेणात्मदर्शनपरिकरतथैव त उच्यन्ते । तस्माद्ब्रह्मवाद एवात्रेत्युक्तम् । ततो द्वितीये सूत्रे अव्यक्तशब्देन भगवत्कृपा वक्तुं न शक्यते, अत्र धर्मिप्रनाहमप्ये धर्मरूपायास्तस्या वक्तुम-शक्यत्वादित्याशङ्क्य, अत्राव्यक्तशब्देन सुक्ष्ममुच्यते, तत्र ब्रह्मैव, धर्मधर्मिणोश्चाविनाभावेन स्थितत्वाद्भेद इति तदभिन्ना कुर्वेवाश्रोत्येते इत्यदोष इत्युक्तम्, योग्यतालात् । तथा च न प्रायपादविरोध इत्युक्तम् । ततस्तृतीये न तु यदुक्त्युक्तया कृपाया ब्रह्मत्वम्, तदाऽभिन्नत्वं ब्रह्मभिन्नत्वमसङ्गतम् । अथ कयाचिद्युक्त्या तस्या धर्मत्वम्, तदा धर्मिप्रायपादविरोध इत्युभययापि दोषात्पूर्वसूक्तमसङ्गतमित्याशङ्क्य, कृपाया ब्रह्माभिन्नत्वेपि ब्रह्माधीनत्वाद्ब्र-ह्मभिन्नत्वम्, ब्रह्मभिन्नत्वात् ब्रह्मनियम्यत्वम् । अतो यथैकरूप्येण ग्रहणमभेदे युक्तिः, तथा नियम्यनियामकभावोपि भेदे युक्तिरित्युभयथाप्युपपन्नम् । न चाभेदेनैकत्वे नियम्य-नियामकभावानुपपत्तिरिति शङ्क्य । 'ब्रह्मविदाप्रोति पर'मित्यत्रैकस्यै ब्रह्मणः सच्चिद्रूपेण विषयत्वम्, आनन्दरूपेण फलत्वमितिवदुपपत्तेः । तथा च कृपाविष्टः साधनम्, आनन्द-रूपः फलम् । अथवा, अथ्यक्तं सच्चिद्रूपमक्षरम्, आनन्दरूपः पुरुष इति तयोर्भेदेपि परापरभावो युक्तः । अदृश्यत्वाद्यधिकरणे तथा साधितत्वात् । तस्मा'दिन्द्रियेभ्यः परा' इतिशक्ये आनुमानिकं न किञ्चिदस्तीत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैर्वाक्यानां पूर्वापरसम्बन्धेन 'सोत्तरं निराकृत्य ब्रह्मवादः प्रतिपादितः । इदानीं तु केवलेतद्वाक्यविचारेण मत-न्तरं निराकरोति । तत्रभ्रतुर्गोऽस्मिन् वाक्येऽव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते । कापिलमते तु 'गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्य'मितिप्रवचनसूत्रात् प्रकृतिपुरुषयोन्तरं मोक्षार्थं ज्ञेयम्, न त्वव्यक्तरूपा प्रकृतिः । अतो ज्ञेयत्वावचनादपि नात्र तन्मतसिद्धिरित्युक्तम् । ततः पञ्चमे नतु ज्ञेयत्वावचनमसिद्धम्, एतदुत्तरवाक्ये 'अशब्दमस्यैश्वर्यरूपमव्यय'मित्यत्रा-व्ययस्य 'महत्तः परमव्यक्त'मित्यत्र महत्तः परस्याव्यक्तस्य ज्ञानानुक्तिश्रावणादिति सूत्रा-नाशङ्क्य, अंशान्तरेण समाधानमाह । अत्र सन्दर्भे श्रुतिलिङ्गावाक्यानां सन्दिग्धत्वाद्वा निर्णायकत्वम्, अतो 'महत्तः पर'मितिववाक्यस्या'शब्दमस्यैश्वर्य'मितिववाक्यस्य चेति द्वयोरेकवा-क्यत्वम्, नान्येषामित्यत्र नियामकाभावेन प्रकरणस्यैव निर्णायकत्वं वक्तव्यम् । तत्र 'कृदं विषन्ता'वित्यारम्भ 'नाधिकेततुपुत्राण्य'मित्यन्तमेकं प्रकरणम् । तत्र चात्मानानवेव परा-

सृष्टय जीवात्मनो रथित्वं तदुपकरणं फलं चोक्तत्वा, अत्रे 'एष सर्वेषु भूतेष्विव'त्याश्रयसा-
मासि परमात्मैव ज्ञेयत्वेन पराभूयते इति मृत्युमुखात्त्वमोकरूपं फलं चोच्यते । अतः
प्राज्ञः परमेश्वर एवाश्रायः, नाव्यक्तं प्रधानम् । अतो ज्ञेयत्वावचनं नासिद्धमित्युक्तम् ।
तेन प्रकरणस्य नियामकत्वाद्दशब्दवाक्यमपि भगवत्परमेवैत्युक्तम् । ततः षष्ठे ननु नेदमेकं
प्रकरणम्, किन्त्विन्द्रियेभ्यः परा' इत्याश्रय 'नाचिकेतमुपाख्याना'मित्येकं मित्रं प्रकरणम् ।
तत्र प्रथमं परार्थोक्तिर्दिश्य, ततोपे पुरुषज्ञानं चोच्यते इति साङ्ख्यमतस्यापि निरूपणात्सा-
श्रौतत्वमसङ्गतमित्याशङ्क, तत्र परिहारमाह । अत्र हि त्रयः प्रश्नाः, अग्निजीवब्रह्मविषय-
काः । तेषामुच्यते च श्रीणि । तत्र 'स त्वमग्नि'मित्तिप्रश्ने 'प्रतिब्रवीमी'त्याद्युत्तरम्, ततो
'येयं प्रेतै' इतिजीवप्रश्ने 'दैवैरत्रापी'त्याद्युत्तरम् । ततो 'न्यत्रधर्मादि'तिब्रह्मप्रश्ने 'सर्वे
वेदा' इत्याद्युत्तरम् । अतस्त्रय एव प्रश्नाः श्रीण्येवोत्तराणि च । यदि साङ्ख्यमत'मिन्द्रि-
येभ्य'इत्यादि स्वात्तदा चतुर्थे प्रश्नोत्तरे स्मृतम् । ते तु न स्त इति नात्र तन्मतसिद्धि-
रित्युक्तम् । ततः सप्तमे ननु मतान्तरेन्यत्र प्रसिद्धा शब्दा ब्रह्मवादे ब्रह्मपरतया कथं
योजयितुं शक्या इत्याशङ्क्य, महदृष्टान्त उक्तः । यथा महच्छब्दो 'महान्तं विमुक्तात्मानं'
मित्यादौ ब्रह्मपरः, तथाव्यक्तशब्दोऽप्यश्वरपरः । तस्मादिन्द्रियादिवाक्येन न साङ्ख्यमतसि-
द्धिः, किन्तु ब्रह्मवाद एवात्र सिध्यतीत्युक्तम् ॥ १ ॥

ततो द्वितीये त्रिसूत्रे चमसवदित्यधिकरणे 'अज्ञमेका'मित्यादीनि श्रेताश्रय-
वाक्यानि विषयत्वेनोपन्यस्य, एतेषु मन्त्रेष्वजादिसूत्रैः प्रकृतिः पराभूयते, युक्तासुक्तभेदे-
न जीवद्वैविध्यमज्ञायाः प्रकृतेरेकत्वमेव कपिलस्य नाम च पठ्यते । यद्यपि किंकारणेत्सुपकृता-
द्ब्रह्मविद्यात्वेनोपनिषत् प्रतीयते, तथापि पूर्वकाण्डे यथा प्रणवादिमन्त्राणां नानास्थले विनि-
योगान्न प्रकरणानुरोधः, तथैतेष्वपि मन्त्रेषु कपिलमतप्रत्यभिज्ञानान्नोपकृतामनुरोध इति
साङ्ख्यमतमपि वैदिकमितिशङ्कायाम्, पूर्वसूत्रेण समाधिमाह । यथा 'अर्वाणिवलश्रमस'
इतिबृहदारण्यकमन्त्रे कर्मविशेषः । तत्रार्वाणिवलं चमसं यशोरूपं सोमं सप्त होतारो भक्ष-
योरिति कल्पयितुं न शक्यते, तथा प्रकृतमन्त्रे लोहितशुक्लादिशब्दैः रजःसत्त्वादि कल्प-
यित्वा तदज्ञेन सर्वमेव मतं कल्पयितुं न शक्यते, विशेषाभावान् । कपिलवाक्येपि कपि-
लशब्देन ब्रह्मैवोच्यते, न त्वनित्यर्षिः, नित्यानित्यसंयोगप्रसङ्गादित्युक्तम् । ततो द्वितीय-
सूत्रे ननुक्तस्य चमसमन्त्रस्य व्याख्यानां 'शिरश्चमस'इत्यादिना श्रुती क्रियते, तथात्र मन्त्र-
व्याख्यानाभावात्तदृष्टान्तोत्र न युक्त इत्याशङ्कं तुशब्देन परिहरन्नजाशब्दार्थकयनसुखेन
समाधत्ते । अत्राज्ञाशब्देन ज्योतिरुच्यते, प्रथमकार्यरूपत्वात्तुमुखाजलन्यायेन । यथा-
ज्यापदोऽग्नी, तथैवेयं नश्वरफलदानीतिचोपनाय चाज्ञाशब्देनोच्यते । सत्यकाममन्त्राणेश्रि-
सोमसूर्यविद्युदूपचरणरूपतया हंसनोक्तत्वात्फलतो यो ब्रह्मणः पादस्वरूपत्वात् ज्योतीरूपा
निवृत्कृतत्वात्त्रिण्यो ज्योतिरेवाज्ञाशब्देनोच्यते । अत्रोपक्रमे ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् 'तदेवाधि-

सद्वायुस्तदादित्यस्तदु चन्द्रमा'इतिकथनाच्च । सा च चेतनाधिष्ठिता, मन्त्रे 'हासुपर्णे'ति
मन्त्रकथनात्, अजद्वयं च जीवब्रह्मरूपं ताभ्यामधिष्ठिता । सा च प्रथमसृष्टिरवादिजननेन
बहुप्रजासङ्घी चेति । एतच्छब्देनाशाशावाभ्यामधीयते । अतस्तदनुसारिणाभ्येवार्कः, न तु
मतान्तररूप इत्युक्तम् । तत्सत्स्मृतीभ्ये ननु शब्दस्य वृत्तिद्वयं योमो रूढिर्वा । तत्र न
जायते इति योगः प्रथमसृष्टौ न सङ्गच्छते, जननात् । रूढिस्तु अग्न्याम्, साभ्यत्र न
सङ्गच्छते, तदाकाराभावात् । अतः कथयजामान्देन प्रथमसृष्टिर्मासिः । साङ्ख्यवन्ते तु
प्रथमस्य जननानङ्गीकाराद्योमो निर्वाचः । तस्मात्साङ्ख्यमतमेवादित्येवमित्याङ्क्याणां समा-
धिमाह । अत्र हि किञ्चित्कार्यं परोक्षवादेनाज्ञाशब्दसत्त्वां कल्पनयोजयित्वा इत्येव । यथावा
बर्कैरसहिता सवत्सा स्वामिहिता, तथेयं जीवविशिष्टा कार्यवती भगवद्गोलीपोयोगायेति
मगवतः परोक्षप्रियत्वाच्चेति । तथा च यथा मन्त्रादिविधायां 'असावादित्यो देवमग्नि'
त्यादौ (कल्पना, तथैवात्र) । अतो गौण्या तथोपदिश्यते । तस्मान्नाजामन्त्रेण साङ्ख्य-
मतसिद्धिरित्युक्तम् ॥ २ ॥

तत्सत्स्मृतीये त्रिसूत्रे न सङ्ख्योपरब्रह्मधिकरणे 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना
आकाशश्च प्रतिष्ठित'इतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र 'पञ्च पञ्चजना' इतिशब्दे पञ्च च
ते पञ्च च पञ्चपञ्च, ताद्याश्वत्ते जनाश्च पञ्चपञ्चजना इत्येवं समस्य, अनेन शब्देन पञ्च-
विंशतिसङ्ख्यासङ्गहादत्र साङ्ख्यसिद्धानि पञ्चविंशतिरित्यानुच्यन्ते इति साङ्ख्यमतसिद्धिरि-
त्याशङ्क्य निषेधति । अत्रानेन समासेन पञ्चानां सङ्ग्रहाणां पञ्चतया तदुक्ता सङ्ख्या सिध्य-
ति, न त्वन्यथा । तेषां तु न सङ्ग्रहाः पञ्च । मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदायाः प्रकृतिविकृतयः
सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष' इतिभिन्नप्रकरणेण सङ्ख्यायुत्पादनात् ।
मन्त्रे आकाशस्यात्मनश्च ततोतिरेकेणोक्तत्वाच्च । मन्त्रात्र तन्मतसिद्धिरिति प्रथमसूत्रञ्च उक्तम् ।
ततो द्वितीयसूत्रे तर्हि को वा मन्त्रार्थः, किं च तत्र प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां बुद्धेः संश-
यात्ताः पञ्च वृत्तीर्बैयन्तीति पञ्चजनास्ताद्याद्या ये प्राणादयः पञ्च तत्र पञ्च पञ्चजनशब्दे-
नोच्यन्ते । अत्र 'प्राणस्य प्राणशुत चक्षुषश्चक्षुः' श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्त्रसात्वं मनसो ये मनो
विदु'रितिवाक्यशेषः प्रमाणम्, 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषा'दितिन्यायात् । तस्मान्न तन्वत्-
सिद्धिरित्युक्तम् । तत्सत्स्मृतीयेसूत्रे ननु वाक्यशेषे कण्ठशाखायां 'अज्ञसात्र'मिति पाठ-
भावात् पञ्चवृत्तिजनकानां प्राणादीनां पञ्चसङ्ख्याकत्वं नास्तीति न वाक्यशेषस्य निर्वाच-
कत्वमितिशङ्कायाम्, 'तदेवा ज्योतिर्वायुर्होपासतेऽप्युत'मिति पञ्चमस्य ज्योतिषः
पाठसेन सङ्ख्यापूर्तिरिति वाक्यशेषस्य निर्णायकत्वमशुभम् । तस्मान्ब्रह्मवाद एवात्र, न
साङ्ख्यमतसिद्धिरित्युक्तम् । एवमेतैस्त्रिभिर्धिकरणैः श्रुतीनां ब्रह्मणि समनवयार्थसुबोधानेन
साङ्ख्यमतस्य श्रौतत्वं निराकृतम् ॥ ३ ॥

अतः परमग्निः श्रुतिविप्रतिषेधं निराकरोति । तत्र चतुर्थे एकसूत्रे यथाव्यपदि-

ष्टाधिकरणे ननु श्रुतौ सृष्टिप्रकारा बहुधा दृश्यन्ते, कचिदाकाशादिका, कचित्तेजआदि-
का, कचिच्च युगपत् सर्वसृष्टिः । तत्रैकस्य पदार्थस्य नानाप्रकारतया वस्तुमशक्यत्वात्सृष्टि-
वाक्यानामर्थवादत्वेन ब्रह्मस्वरूपमात्रज्ञापकत्वं वक्तव्यम्, न तु सृष्टौ तत्प्रकारं वा तात्पर्यम् ।
अतोऽप्यारोपापवादेन ब्रह्मणस्तत्त्वस्त्वसिद्ध्या न पूर्वोक्तस्य कारणत्वं सिध्यतीति श्रुतिं
विहाय कफिलस्यसूक्तप्रकरणेन जगद्व्यवस्थाक्रीकार्येत्याशङ्क्यायाम्, आकाशादिवाक्येषु यथापि
कामादिविप्रतिपत्तिः, तथापि ब्रह्मणः कारणत्वविप्रतिपत्तीर्नास्ति । एकत्र यादृशं ब्रह्मोच्यते
तादृशमेव सर्वेषु सृष्टिवाक्येषु कारणत्वेनाभिप्रेयते । क्रमप्रकारादिभेदस्तु माहात्म्यस्यैव
सूचकः । तस्मान् श्रुत्यैव इति कारणत्वांगे स्मृतिर्न श्राद्धेस्तुक्तम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे एकसूत्रे समाकर्षाधिकरणे** ननु श्रुतौ कचित्सतः कारणत्वमुच्यते,
कचिदसतः, कचिदुभौ निषिध्य तमसः, कचिदव्याकृतस्येत्वं विप्रतिषेधाद् ब्रह्मणोपि
कारणत्वं न सिध्यति । तस्मात्स्युत्तिरेव कारणबोधिका श्रद्धेत्याशङ्क्यायाम्, असदादिशब्देषु न
निरात्मकत्वावयवो उच्यन्ते, किन्तु ततः समाकर्ष्य सर्वैः शब्दैर्ब्रह्मैवोच्यते । सर्वेषां शब्दानां
प्रभवविकृतिस्त्वेन प्रणवार्थे एव पर्यवसानात् । प्रणवस्य च ब्रह्मवाचकत्वात् । तस्माच्च
विप्रतिषेध इत्युक्तम् । एवं ब्राह्म्यां श्रुतौ शब्दविप्रतिषेध उपोढात्वेन परिहृतः ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे त्रिसूत्रे जगद्वाचिन्वाधिकरणे** कौपीतकिज्जाक्षणपष्टाध्यायस्यं बाला-
क्यजातशत्रुसंबादं विषयत्वेनोपन्यस्य तत्र किं ब्रह्मसहितो जीवः कर्तृत्वेनोच्यते, उत ब्रह्मै-
व वेतिसन्देहे, ब्रह्मसहितस्य जीवस्यैव कर्तृत्वमात्राच्च, 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां
कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्य' इत्यजातशत्रुणा सिद्धान्तकथनोपक्रमे एतच्छब्देना-
दित्यमण्डलादिजडोलेखास्तुपुरुषशब्देन च जीवोलेखात् जीवजडात्मकं जगत्कर्तृकं तस्य
वेदितव्यत्वकथनेन श्रुत्यन्तरसिद्धब्रह्मण एव कर्तृत्वम्, न प्रकृत्यभिमानिजीवस्येति **प्रथम-
सूत्रे** उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** जीवस्यैवप्रणालिङ्गदर्शनाच्च ब्रह्मणः कर्तृत्वमितिसूत्रां-
शेषाश्च, अंशान्तरेण पूर्वमनुगमाधिकरणे उक्तं समाधानं स्मारयामास । जीवस्य
ब्रह्मभ्रितत्वानुस्यप्राणस्य च ब्रह्मयोगस्यैव तथार्त्वेन कथनं न स्त्वेन रूपेण । तस्माद्-
ब्रह्मैव कर्तृत्वमुक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे प्रकृत्यभिमानिजीवस्य कर्तृत्वमप्यस्मिन् वा-
क्येऽनभिमतम्, जीवलयोद्गमोर्ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । प्रअन्याख्यानाभ्यां तथावसायात् ।
वाजसनेयिनाभेदतस्मानप्रकरणेपि तथावसायाच्चेत्युक्तम् । एवमत्र जीवब्रह्मवादनिराकरणेन
जीवविशिष्टा प्रकृतिरेव कारणमित्येतदुपोढात्वेन निराकृतम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे चतुःसूत्रे वाक्यान्वयाधिकरणे** जीवब्रह्मवादनिराकरणेन प्रकृति-
कारणवादो निराक्रियते । तत्र बृहदारण्यकस्यं त्रैवेद्योब्राह्मणद्वयं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र
जीवस्य प्रकरणित्वं ब्रह्मणो वेति संशये, वेदरूपमहावाक्यस्य ब्रह्मणेवान्वयदर्शनात्,
सुखरूपमगवदन्वयेनेव जीवस्यापि प्रियत्वात्, सर्वोपनिषदुरोधेनास्यापि वाक्यस्य ब्रह्म-

प्येवान्वयादत्रापि ब्रह्मैवोच्यत इत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रेऽस्मिन्** वाक्ये ब्रह्मैवोच्यते
इत्यत्रान्येषां ब्रह्मवादैकदेशिनां सम्यति वक्तुं प्रथमामरमध्यमतेनाह । तन्मते हि ब्रह्मणा
स्वस्य भोगानिपत्त्यर्थं विष्कूलिङ्गवत्प्रकटीकृतः स्वाशो जीवः, तेन जीवैवोपक्रमः, तस्यैव
प्रियत्वेन संसृचनात्, उपक्रमस्य च बलिष्ठत्वात् जीवात्सैव प्रकरणीति स एव ज्ञेयत्वे-
नोपदिश्यते इतिशङ्क्यायाम्, नात्र जीवात्मनो ज्ञेयत्वेनोपदेशः, किन्तु परमात्मन एव ।
जीवैवोपक्रमस्तु 'आत्मनि वा विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती'तिप्रतिज्ञायाम् सिद्धिः
तस्याः लिङ्गम्, यदि हि जीवः परमात्मनः सकाशाद्भिन्नः स्यात्, तदा परमात्मज्ञाने
तदज्ञानादात्मज्ञानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञा न सिध्येत् । अतस्तदर्थस्युपक्रमे जीवः परमात्मन्ये, न
तु प्रकृतिसंघट्टस्य जीवस्य कारणत्वायैमिलात्मरमध्यमतमुक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे
यद्बोधोपक्रमे गौणप्रियवैराग्यायै जीवकथनं, तस्वनादिसिद्धस्यापि जीवस्य संसारमावाद्-
रूपमित्यतो मुक्तौ जीवो भगवानेव भविष्यतीति बोधनार्थं लिङ्गम्, ननु प्रकृतिसंघट्ट-
जीवस्य कारणत्वायैम् । तस्मान्नात्र प्रकृतिसंघट्टजीवकारणवाद इत्यौडुलोमिमतमुक्तम् । ततश्च-
तुर्थे सूत्रे कयाचिदवस्ययावस्थितं ब्रह्मैव जीवः । अतः संसारदशायामपि जीवो ब्रह्मैवेति
ज्ञापनार्थं तदुपक्रमो, ननु प्रकृतिसंघट्टस्य जीवस्य कारणत्वायैमितिकाशङ्क्यमतमुक्तम् ।
तस्माद्ब्रह्मैवात्र कारणत्वेनोच्यते ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे पञ्चसूत्रे प्रकृतिश्रेयधिकरणे प्रकृतिः समवायिकारणम्, ब्रह्म तु नि-
मित्तादिकारणमित्येवमाशङ्क्य, प्रकृतिशब्दवाच्यं ब्रह्मैवेति सापिचत्म् । छान्दोग्ये एकविज्ञा-
नेन सर्वविज्ञानं यत् प्रतिज्ञातं, सृष्टिपण्डादिदृष्टान्तत्रयं च यदुक्तं, तदत्रुपरोधादितिदुश्च
प्रथमसूत्रे उक्तः । तथा च यदि मूलकारणे ब्रह्मणि समवायिकारणत्वरूपं प्रकृतित्वं न
स्वीक्रियेत, तदा प्रतिज्ञादिसामञ्जस्यं न स्यात्, अतस्तयैत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे**
सृष्टौ भगवत्कृतमधिष्ठानं 'बहु स्वां प्रजायेये'ति स्वस्य बहुरूपत्वेन उचनीकभावेन च
यद्विचरणं तद्देतुत्वेनोक्तम् । तेन स्वयमेव तत्राद्र इति सिध्यति । किञ्च, 'सर्वं स्वल्पिदं
ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्येवमुपासनास्तुपदिश्यते । अतोपि प्रकृतिशब्दवाच्यं
ब्रह्मैव । ततस्तृतीयसूत्रे 'सर्वोपि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं
प्रत्यस्तं दन्ती'तिश्रुत्या ब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तिलयाधारत्वं साक्षादेवोच्यते । तच्च समवायेत्य-
स्यैव लिङ्गम् । अतोपि प्रकृतिशब्दवाच्यं ब्रह्मैव । ततस्तृतीयां 'तदात्मानं स्वयमकुर्वन्'ति-
श्रुतिः ब्रह्मणः परिणाममाह । परिणामशोपादानसमसत्ताकर्षार्थपत्तिरूपः । अतोपि
ब्रह्मैव प्रकृतिशब्दवाच्यम् । ततः पञ्चमे ननु जडस्य समवायिकारणं ब्रह्मास्तु, यद्यु चेत-
नाधिष्ठितं शरीरं तस्य शुक्रशोणितजन्मत्वदर्शनात् तत्र ब्रह्मणो निमित्तत्वम्, प्रधानस्य तु
समवायित्वमित्यस्त्विच्छङ्क्यायाम्, 'सदेव सौम्येद'मित्यादिषु सृष्टिबोधकश्रुतिष्वधारणदृ-
शात् ब्रह्मैवोभयरूपम्, अन्याद्यधारणमित्येः । किञ्च, 'कतोरसीशं पुरुषं ब्रह्मयोनि'

मित्यादिषु योनिव्यभिचारेण एवोच्यते, पुरुषत्वं च । तस्मादक्षरपुरुषभावेनोभयरूपो भगवानेव, योनिर्वाञ्छं च । अतः कथञ्चिदपि न प्रकृतिप्रवेशः । एवं त्रिपरिविकरणैरुपो-
द्धानार्थविप्रतिषेधः परिहृतः । अतः साङ्ख्यमतमशब्दमेव ॥ ८ ॥

ततो नवमेधिकरणे एकसूत्रे अन्येपि स्मार्तां वादाः येषु ब्रह्मणः सर्वविधं कारणत्वं
नोच्यते, ते सर्वे अश्रौता एवेत्यतिदिष्टम् । तदेवाग्रिमाध्याये विस्तरेण वक्ष्यते ॥ ९ ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरारत्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

प्रथमाध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथमाध्याये सर्वासां श्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितः । स तदा स्थितो भवति
यदा श्रुतीनां परस्परविरोधः परिह्रियते, अन्ये विक्रमाः स्मार्तां वादाश्च निराक्रियन्ते ।
अतस्तदर्थं द्वितीयेऽध्याये श्रुत्यविरोधं प्रतिपादयति, विरुद्धवादांश्च निराकरोति ।

तत्र प्रथमे पादे युक्त्या श्रुतिविरोधपरिहाराः । ततो द्वितीयपादे स्मृतीनां वेद-
बोधकत्वाभावेपि ताभिः ख्यातश्रुयेण कश्चित् पुरुषार्थः सेव्यतांत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं बाह्या-
बाह्यमताभ्येकीकृत्य तेषां निराकरणम् । मूत्रिकीकरणं च प्रान्तेस्तुष्टवल्बोधनार्थम् ।
तृतीयपादे प्रथमं भूतानामुत्पत्तिसंस्काररूपव्यतिक्रमश्च विचार्यते, ततो जीवात्मस्वरूपं
तद्वर्धम् । चतुर्थे च इन्द्रियोत्पत्तिक्रमस्तत्स्वरूपव्यतिक्रमं च विचार्यते ।

तत्र प्रथमाध्याये 'अपि स्मर्यते, स्मृतेषु'तिक्रमेण स्मृतिप्रामाण्याङ्गीकारात् तथैव
श्रुत्यर्थनिर्णयः कार्यः, अन्यथा तदर्थप्रसङ्ग इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं प्रथमं सूत्रत्रयेण साङ्ख्य-
योगस्थूलोर्नित्यानुभेयश्रुतिमूलकत्वाभावाय प्रामाण्यमुपोद्घातेन निराकृतम् । ततः प्रथमे सूत्रे
साङ्ख्यसूत्रोर्भेदोपयोगित्वात् तत्प्रामाण्यमङ्गीकृत्य तदनुसंधेनैव श्रुतिविप्रतिषेधः परिहृत्य,
अन्यथा तदर्थप्रसङ्गादितिसूत्रार्थेनाशङ्क्य, तत्प्रामाण्याङ्गीकारे 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः
प्रलयश्च'त्यादिशीतास्मृतिविरोधः । तदप्रामाण्याङ्गीकारे च ब्रह्मकारणत्वबोधकश्रुतिवि-
रोधः । अतो गीतास्मृतिप्रामाण्यमावश्यकम् । तेन श्रुतिविप्रतिषेधनिराकरणे कफिलस्मृतेर्न
प्रामाण्यमित्युक्तम् । ततो द्वितीये सूत्रे प्रकृत्यतिप्रतिष्ठानां सहदादीनां लोके वेदे
चातुर्पलमात् तदुक्त्युक्तीनामप्रयोजकत्वमित्युक्तम् । ततस्तृतीये सूत्रे पूर्वोक्तश्रुतिसं-
तिविरोधाद् योगस्मृतिरपि साङ्ख्यवत् प्रधानकारणत्वशिशुडप्रमाणमित्युक्तम् । एतेषु पूर्व-
पादोक्तसैवार्थस्य परामर्शात् तदुपोद्घातार्थः प्रसङ्गः सङ्गतः । एवमत्रेपि बोध्यम् ।
जीर्ण्येतानि प्रलेकमधिकरणानीति आःप्रयत्नाद्वाद्वागन्तव्यम् ॥ १, २, ३ ॥

वतश्चतुर्थं त्रिसूत्रे न विलक्षणवाचिकरणे प्रथमसूत्रत्रयेण पूर्वः पक्षः ।

एकेनाग्रे सिद्धान्तः । तत्र प्रथमसूत्रे चेतनं ब्रह्म जगदुपादानं न भवति, जगतो बहुल्येव
ब्रह्मणस्तद्विलक्षणत्वात् । विलक्षणत्वस्य 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'तिश्रौतशब्दादेव प्रतीतिरि-
त्युक्तम् । ततो द्वितीये सूत्रे ननु 'सृष्ट्रर्ची'दितिश्रुतौ सृष्टादेर्वैकृत्यादिकथनेन सृष्टा-
दिष्वपि चेतनत्वस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वात् जगतोपि चेतनतया ब्रह्मसालक्षण्य्याद् ब्रह्मकार्यत्व-
मिति सिद्धान्तनाशङ्कते, अत्र सृष्टाद्यभिमानिनी देवतैव वक्तृत्वादिरूपेण व्यपदिश्यते,
अन्यथा 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'तिचेतनाचेतनविभागरूपो विशेषो नोच्येत । 'अधिर्वाग्
भूत्वा युञ्जं प्राविश'दितिश्रुतौ देवताप्रवेशो वागादिषु नोच्येत । तस्माच्चेतनाचेतनात्मकं
जगत् न ब्रह्मोपादेयमिति सूत्रद्वयेन पूर्वपक्ष उक्तः । ततस्तृतीये समाधिमाह । कार्य-
कारणयोर्वैलक्षण्यं लोके गौमयशुचिकादौ देहकेशादौ च दृश्यते । अतो विलक्षणत्वेन
हेतुना जगति ब्रह्मोपादेयत्ववाचनं न शक्यवचनम् । सर्वशस्य कार्यकारणयोस्तुष्टवत्सेन
सालक्षण्य्याच्च । तस्मात् जगतो ब्रह्मकार्यत्वप्रतिषेधः ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे पञ्चसूत्रे असदिति चेदित्यधिकरणे असत्कारणत्वसत्कारणत्वबोध-
कश्रुतोः परस्परविरोधः परिह्रियते । तत्र प्रथमे सूत्रे 'असदा इदमग्र आसी'दितिश्रुता-
वसतः कारणत्वमुच्यते । 'सदेव सौम्येद'मित्यत्र च सतः कारणत्वमुच्यते, तयोः कर्म विरो-
धपरिहारा इत्याशङ्क्य, उक्तश्रुतौ 'असदि'ति यत् कथनं तत् छान्दोग्ये 'कथमसतः सजायते'ति-
कथनात् असतः कारणत्वनिषेधार्थम् । यत् पुनस्मृतिरीये तथावचनं तत् सद्यमाणापेक्षया
पूर्वसृष्ट्यासाधुत्वात्, असत्त्वमप्यसदितिप्रयोगात् । कार्यस्यूक्तत्वसत्त्वामावायं वा । अतो
न श्रुत्योर्विरोध इत्युक्तम् । ततो द्वितीये सूत्रे ब्रह्मकारणवादे पूर्वपक्ष उच्यते ।
ब्रह्मकारणवादे यदा कार्यस्य ब्रह्मणि लयः, तदा कार्यधर्मोः परिच्छिन्नत्वशुद्धत्वादावो ब्रह्मणि
भविष्यन्तीत्यसङ्गतं ब्रह्मकारणत्वमित्येवं शङ्क्यकारणात् । ततोभिधेषु तत्परिहारा उक्तः ।
ततस्तृतीये ब्रह्मकारणवादे भांसंगतः । कार्यस्य कारणे लये कार्यधर्मो न कारणे दृश्यन्ते,
श्रावणचकादीनां सृष्टि लये श्रावणादिधर्मोदृश्यादित्युक्तम् । ततश्चतुर्थं प्रतिषेधो उक्तः ।
तवापि सत्कार्यवादितात्सविशेषस्य कार्यस्य धर्मोः परिच्छिन्नत्वस्यूक्तत्वादायस्ते अन्ये
प्रधाने भविष्यन्ति । अतो न वयं पर्यनुशोक्तव्या इत्युक्तम् । ततः पञ्चमे सायणतर्कसा-
प्रतिष्ठितत्वात्प्रतिवादिना तदनङ्गीकारेण दोषादविमोक्त इत्युक्तम् ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे एकसूत्रे एतेनेत्यधिकरणे सांख्यनिराकरणेनान्येपि वादा निराकृत्या
इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे एकसूत्रे भोकापत्तेरित्यधिकरणे ननु प्रलये सर्वस्य कार्यस्य कारणरू-
पतया एकरूपत्वे जाते पुनरुत्पत्तिदशायां भोग्यस्य स्रक्चन्दनादेः भोक्त्वत्वापत्तिः, भोक्तृभेद-
नस्य भोग्यत्वापत्तिरित्येवमविभागाः स्यादितिसूत्रार्थेनाशङ्क्य, भंशान्तरेण समाहितम् । यथा
लोके कटकमुगम्य रुचके क्रियमाणे कटकत्वं न भवति, तथोत्पत्तिदशायां भोग्यस्य भोग्य-

त्वेनैवोत्पत्तिः, भोक्तृभोक्तृत्वेनैवेति न विभागाभावः । कारणस्य चेतनत्वेन तस्य तस्य तथैवोत्पादनादित्युक्तम् । तेन 'विज्ञानं चाविज्ञानं चेति श्रुतौ कार्यं विभागाभावरूपो दोषः परिहृतः ॥ ७ ॥

ततोष्टमे त्रिसूत्रे तदनन्यत्वाधिकरणे छान्दोग्यस्य वाचारम्भणवाक्ये कार्यस्य कारणाभिन्नत्वं प्रतिपादितम्, न तु कार्यमिथ्यात्वमित्युक्तं प्रथमसूत्रे । ततो द्वितीयसूत्रे कार्यस्य घटादेविषयमानत्व एवोपलम्भः । नन्वविषयमानत्वे । अतः श्रुत्वविरुद्धं प्रत्यक्षमपि कार्यस्य कारणानन्यत्वे प्रमाणमित्युक्तम् । ततस्त्रुतीयस्य प्रपञ्चस्य सदैव सत्त्वम्, 'सदैव सौम्येदमग्र आसी'दित्यादिश्रुतौ परिदृश्यमानबोधकादिर्पदात् । 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् । आविर्भावतिरोभावजन्मानाशविकल्पव' दिति विष्णुपुराणवाक्याच्च । एवमनेनाधिकरणेन श्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां कार्यस्य सदात्मकत्वेन ब्रह्मानन्यत्वं साधितम् ॥ ८ ॥

ततो नवमे चतुःसूत्रे असद्व्यपदेशाधिकरणे असत्कार्यवादी निराकृतः । ततः प्रथमसूत्रे 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति श्रुतौ कार्यमसदिति त्व्यपदेशात् असत्कार्यवाद आख्येय इति सूत्रांशोनाशंभ्य, सूत्रांशेन समाहितम् । एतद्वाक्यशेषे 'स आत्मानं स्वयमकुक्ते'ति श्रावणात् कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरामत्वेनैव रूपेण सत्त्वम्, न तु ध्याकृतस्वरूपेण । तस्मादसत्त्वमुच्यते, न त्वसत्त्वेनैत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे सत्कार्यवादस्याभिर्गुक्तिनिरास्मानमिति शब्दान्तराच्च नासत्कार्यवाद आख्येय इत्युक्तम् । युक्तयस्तु माध्यप्रकाशादवगन्तव्याः । ततस्त्रुतीयस्य षट्छान्त उक्तः । यथा पदः संवेष्टितो न तावान् प्रतीयते, तथा कार्ये कार्यं सूक्ष्मरूपत्वाच्च प्रतीयते, प्रकटं तु प्रतीयत इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थं प्राणादिदृष्टान्त उक्तः । यथा प्राणादीनां नियमेन जीवनमात्रम्, अनियमेन स्वाकुञ्चनादिः संभवति, तथा जगदपि कारणे प्रविष्टं समाप्तं तिष्ठति, षट्ः प्रकटं कार्यं करोति । अतोऽसत्कार्यवादो न प्रामाणिक इत्युक्तम् ॥ ९ ॥

ततो दशमे त्रिसूत्रे इतरूप्यपदेशाधिकरणे चेतनकारणतायां प्राप्ता दोषाः परिह्रियन्ते । तत्र प्रथमे चेतनस्य जीवस्यापि ब्रह्मत्वात्स्यै तस्य प्रवेशे दुःखित्वादिकं भवति । तत्र ब्रह्मणो हिताकरणत्वादिदोषप्रसक्त्या असंतमित्याशंभ्य, अविमलसूत्रदेव परिहारमाह । तत्र द्वितीये ब्रह्म जीवादधिकम्, न तु जीवमात्रम्, तेन तदोषेपि न दुष्यति । यथा सुवर्णखण्डस्यान्यमेलनेन दुष्टत्वेपि न सुवर्णस्य दुष्टत्वम्, तद्विदाहितं च करोति, लोके स्वदेहेपि नखनिकृन्तनकेशप्रसाधनादिदशोनात् । जीवपरमात्मनोर्भेदस्तु विज्ञानानन्दप्राप्त्यान्भेदात् । आनन्दस्याधिक्यं तु भूयविधायाम् तत्रैव ज्ञेयत्वस्य पर्यवसानात् । ततस्त्रुतीयस्य यथा पार्थिवत्वाविशेषेपि हीरकपाषाणयोश्चन्दनमिन्धयोश्च स्वभावभेदः, तथा जीवानामपि । तथा च ब्रह्मवादे लोकन्यायेन प्रलवस्थानं नोचितमिति साधितम् ॥ १० ॥

तत एकादशे षट्सूत्रे उपसंहारदशोनाधिकरणे तत्रैकस्यैव ब्रह्मणः सर्वविध-

कारणत्वे ये दोषास्ते परिह्रियन्ते । तत्र प्रथमसूत्रे लोके युक्तुलालचक्रवीचरादीनामुत्पादानकर्तृमितिान्तराणां परस्परविज्ञानां दर्शनादेकस्यैव सर्वविषयकारणत्वमसंगतमिति सूत्रांशोनाशंभ्य, क्षीरं यथा यदा दध्याकारेण परिणमति, तदा नान्यत्किञ्चिदप्युच्यते, तथा ब्रह्मापीत्यंशान्तरेण समाहितम् । ततो द्वितीयसूत्रे यथा देवर्षिपितर इतरनिरपेक्षा योगपत्तेन सर्वं कुर्वन्ति, तथा ब्रह्मापीच्छेति सभाधानान्तसुकम् । ततस्त्रुतीयस्य ब्रह्मण उपदानान्त्ये कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोष आशंभ्य । ततश्चतुर्थं ब्रह्मणः स्वरूपं कारणत्वं च न लोकात्म्यं यैत्रैवमाशंभ्यते, किन्तु श्रुत्येकसमविभाग्यम् । सा च खत एव भाग्यम् । सा च यथा वदति, तथैवांगीकार्यमित्येवं समाहितम् । 'संभ्यमे ब्रह्मणः सर्वविषयकारणत्वेपि देशकालाधिकरणापेक्षा स्वावश्यकीत्याशंभ्य, 'परास्य शक्ति'रिति श्रुतेर्ब्रह्मणो विविधशक्तित्वादेशकालापनपेक्षा युक्ता । 'आत्मन्येवात्मनात्मानं रज्जेहमनुपालय' इत्यात्मन्यपि षट्छिद्यंकेत्युक्तम् । ततः षष्टे प्रधानकारणत्वत्वे तौ दोषास्तुल्या ये ब्रह्मकारणवादे दीपन्ते । तस्मात्सर्वत्रुतीयो न युक्त इत्युक्तम् ॥ ११ ॥

ततो द्वादशेष्टसूत्रे सर्वोपेता इत्यधिकरणे भगवतः कर्तृत्वे दोषान् परिह्रियति । तत्र 'स विश्वकृ'दिति श्रुतौ कर्तृत्वं बोध्यते, निर्वाहकाभावे तत्कर्म संयच्छत इत्याकांक्षायां प्रथमसूत्रे सर्वशक्तिसुकत्वं साधितम् । ततो द्वितीयसूत्रे ब्रह्मणो निरिन्द्रियकत्वत्कर्म कर्तृत्वम् । ततस्त्रुतीयसूत्रे ब्रह्मणः प्रयोजनाभावात्किमर्थं कर्तृत्वमित्येवमाशंभ्य । ततश्चतुर्थं लोकवह्नीत्या समाहितम् । ततः पञ्चमे ब्रह्मणः षट्छिद्वरणे जीवानां सुखदुःखसंभवात् वैषम्यनैर्घृण्ये सातामित्याशंभ्य, जीवकर्मसोपेक्षत्वाच्च ब्रह्मणि दोष इत्युक्तम् । कर्मसोपेक्षत्वेपि नेश्वरत्वहानिरिति चोक्तम् । ततः षष्टे जीवानां प्रपञ्चप्रत्ययदशायां ब्रह्माविभागात्कर्म कर्मसत्तेति सूत्रांशोनाशंभ्य, धीजाह्वरत्वव्याहानादित्वादिति सूत्रांशेन समाहितम् । ततः सप्तमे उपपत्त्या श्रुतिस्मृत्योस्तदुपलम्भाच्च जीवस्यानादित्वं समर्थयति । ततोष्टमे ब्रह्मणः सर्वसमर्थत्वात्सर्वं संयच्छत इत्युक्तम् । एवं चास्मिन्पादे पूर्वोच्येयचतुर्थेपादसर्वतं हृदिहृत्य सर्वं चिन्तितम् । तेन बुद्धिस्थानात्प्रकोपोदात्तत्वर्यः प्रसङ्गः सङ्गतिरिति ॥ १२ ॥ इति श्रीबह्वह्मनाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृती वेदान्ताधिकरणमालायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ द्वितीयपादे वेदविरुद्धा बाह्या जवाह्याश्च स्मृतयो दृश्यन्ते, तासां न परमफलसाधकत्वमिति ज्ञापनायम् ।

तत्र प्रथमे षट्सूत्रे रचनानुपपत्तेरित्यधिकरणे प्रधानस्य कर्तृत्वं दृश्यते । तत्र प्रथमसूत्रे अचेतनस्य प्रधानस्य बुद्धिपूर्वकक्रियारूपो या रचना सा नोपपद्यते, प्रधानस्याचेतनत्वेन क्रियाकारणभूताया बुद्धेस्तत्र वक्तुमशक्यत्वादित्युक्तम् । ततो

द्वितीये सूत्रे लोकरचना यथा केवलदचेतनाज्ञोपपद्यते, तथा शुक्रयोषितजन्या शरीररचनापि । तत्र मातापित्रोरुभयोश्चेतनयोः प्रवृत्तिदर्शनात्, अचेतने केवले तादृश-प्रवृत्त्यदर्शनादित्युक्तम् । ततस्तृतीये ननु केवलचित्तनेपि दुष्ये फेनरचनादयो विविधा दृश्यन्ते, तादृशे नदीजले च स्तन्दनादयः । तदुष्टान्तेनाचेतनस्य केवलस्य प्रधानसाधि रचनाकर्तृत्वं प्रवृत्तिश्चास्त्विति सूत्रांशेनाशङ्क्य, अशान्तरेण समापते । तत्रापि दोह-नाधिप्रणयोश्चेतनकर्तृकयोर्नमित्तत्वेन दर्शनात् । नदीजले च मेघाणां चेतनानां निमित्तत्वेन दर्शनादित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे एवं त्रिभिः सूत्रैः केवलप्रधानस्य कर्तृत्वं दृषयित्वा केवलस्य तस्य परिणामं दृषयति । केवलं प्रधानं चेत् स्वतः परिणमेत्, सर्वदैव परिण-मेत्, तथा सति प्रलयो न स्यात् । गुणाश्च साम्यावस्थयावस्थिताः स्वत एव संक्षुभ्येरन्, तदा यद्विस्थितिप्रलया युगपदेव स्युः, कार्यं च सात्त्विकादिभेदेन न विभज्येत्युक्तम् । ततः पञ्चमे ननु गुणपल्लवादयः पशुभक्षिताः स्वभावादेव क्षीरभावेन परिणमन्ते इत्याशङ्कायां समाधीयते । यदि तृणादिकं स्वभावात् एव क्षीरभावेन परिणमेत्, तदा गृह्णेपि क्षीरं लभ्येत, तपु न लभ्येत, धेन्यादिकृता भक्षणक्रिया च तत्र सहकरोतीति न केवलस्य प्रधा-नस्य परिणामः शक्यवचन इत्युक्तम् । ततः षष्ठे 'तुष्यन्तु दुर्जेन' इति न्यायेन केवलस्य प्रधानस्य परिणाममभ्युपगम्य पुनर्दृश्यति । यदि केवलस्य प्रधानस्य परिणामोऽभ्युपगम्यते, तदापि स किमर्थः । न च पुरुषार्थे इति वक्तव्यम् । प्रयोजनप्रेक्षापूर्वकप्रवृत्तेश्चेतनधर्मत्वेन केवले प्रधाने सा न वक्तुं शक्यते । तस्माद् दृश्यतादवस्थयम् । एवमनेनाधिकरणेन केवल-प्रधानकारणवादा निराकृतः ॥ १ ॥

ततो द्वितीये चतुःसूत्रे पुरुषादमवधित्वधिकरणे पुरुषप्रेरितप्रधानकार-णवादा निराक्रियते । पंचारूढोन्मो यथा गच्छति, तथा पुरुषाच्छिष्टं तलेरितं प्रधानं मह-दादिच्छिष्टं करोतीत्येकं मतम् । अन्यच्च, यथा अयःकान्तसन्निधौ लोहस्य क्रिया, तथा पुरुषसन्निधानमात्रेण प्रधानस्य महदादिकर्तृत्वमिति द्वितीयम् । तत्पुनः सूत्रांशेनाशङ्क्य, अशान्तरेण दृषयति । प्रधानपुरुषयोर्व्यापकत्वेन संसर्गस्य सन्निधेश्च सार्वदिकत्वात्सर्वोक्त-दोषलदवस्थः । अनिमोक्षशाधिकः । तस्मान्मतद्वयमध्यस्तमिति पूर्वसूत्रे उक्तम् । ततो त्रितीयसूत्रे प्रधानपुरुषोर्मध्ये किं पुरुषस्यागित्वं प्रधानस्य वा । तत्र नायः, सर्वेषां प्रकृषाणां समत्वेनैकस्य न्यायकत्वम्, नान्येषामिति विभागो न स्यात् । न द्वितीयः, स्वत-न्त्रेण प्रधानेन पुरुषाय स्वदोषा न प्रदर्शनीयाः । तथा सति दुःखभावेन वैराग्याभावात् मोक्षार्थं प्रयत्न उच्छिद्येत । तस्माद्गित्वमनुपपन्नमित्युक्तम् । ततस्तृतीये ननु गुणा एवं विभागश्चः प्रवृत्तिमन्तः, चलस्वभावत्वात्, चलद्रलवदित्येवमनुमाने पूर्वोक्ताः सर्वे दोषाः निराकृताः स्युरित्याशङ्क्य, तत्र दृश्यमाह । एवं प्रकारान्तरेणानुमितावपि न दोष-परिहारः, कार्यकमात्पत्त्यादिद्वयप्रासात् । नहि गुणैः कालो ज्ञायते, येन प्रथमं रजः

शुभ्यति, ततः सत्त्वम्, ततस्त्वम इति । अतो गुणेषु ज्ञानशक्तिवियोगात् सर्वमसमञ्जस-मित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे सांख्यमतवर्तिनां नानाविधानि मतानि लोके दृश्यन्ते । एका-दशस्कन्धे उद्भवप्रश्ने भगवता चानुदितानि । अतः परस्परविरोधादपि तन्मतसंगतमि-त्युक्तम् । एवं दशभिः सूत्रैरधिकरणद्वयेन प्रधानकारणवादा निराकृतः ॥ २ ॥

ततस्तृतीये सप्तसूत्रे महद्दीर्घचद्वैत्यधिकरणे न्यायवैशेषिकादिमतमवसरसंगत्या दृष्यते । ते हि परमाणूनां समाधित्वमंगीकृत्य, ईश्वरकृतात्संयोगाद्भूतादिसृष्टिर्मांगी-कुर्वन्ति । तत्र संयोगप्रकारो दृष्यते । परमाणूनां स्वस्वं हस्वं परिमाण्डलं च । तयोर्द-क्षुण्डपुंरि संयोगः, तदा कार्यं यद्विषयमहत्स्यात् । यदि तिर्यक्, तदा नौकादिवदीर्घं स्यात् । पुञ्जसंयोगस्तु तैर्नैष्यते । अतस्त्वन्मतसंगतमिति प्रथमसूत्रेणोक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे परमाणुद्वयसंयोगः सार्वदैशिको वैकदैशिको वा । नान्यः । प्रदेशज्ञीकारे प्रदेशवत्त्वस्य सावयवत्वव्याप्यत्वात्परमाणोः सावयवत्वमित्यत्वं चापद्यते । नाशः । संयोगस्यान्याप-युरित्वनियमात् । किञ्च, कर्मजोऽवयवजश्च संयोगो द्विविधः । तत्र निरवयवत्वात्त्रायवयव इत्युक्तम् । अथ कर्मजः । तत्र किं स्वभावाद्दृश्यते, ईश्वरसिद्ध्यक्षया वा । तयोर्बुधयोःपि नित्य-त्वात्सर्वदा । सृष्टिप्रसङ्गः । तस्मात् स वक्तुं शक्यते इत्युक्तम् । ततस्तृतीये समवायो दृष्यते । स हि संबन्धः, संबन्धिद्वयनिरूप्यः । तथा सति ह्यणुकस्य पूर्वमभावेन स कथं वक्तुं शक्यत इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे, किञ्च, परमाणोः समवायिन ईश्वरेच्छाजीवाहृद्योनिमित्तयोश्च सृष्टिप्रकारेण सत्त्वात् सामग्रीसमवधानजन्यस्य परमाणुकर्मणस्तन्त्यस्य संयोगस्य च सर्वदा आपत्त्या तयोःपि नित्यत्वात्परितिर्युक्तम् । ततः पञ्चमे परमाणुनित्यत्वं दृष्यते । परमाणुसूत्रे तै रूपासंगीक्रियते । यच्च रूपादिमत्, तन्निर्लेके दृश्यते । अतः परमाणुरनित्य इत्युक्तम् । ततः षष्ठे यदि परमाणु रूपादिकं मांगीक्रियते, तदा ह्यणुकादिषु रूपाधभावापत्तिः । कारणगुणः कार्यगुणारंभका इति तन्नियमात् । अतो रूपासंगीकारे तदन्गगीकारे च दोषाद-सङ्गतः परमाणुकारणवाद इत्युक्तम् । ततः सप्तमे सर्ववैदिकानादत्त्वत्वात्पद्यसङ्गतः पर-माणुकारणवाद इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे दशसूत्रे समुदाय उभयहेतुकेपीत्यधिकरणे । एकोनविंशतिसूत्रैर्बांध-मताम्यवसरसंगत्या निराक्रियन्ते । तत्र सौगताश्चतुर्विधाः, वैभाषिकसौयान्तिकविज्ञानवादि-नाम्यमित्कमेदात् । तत्र पूर्वं वैभाषिकमतं निराक्रियते । तेषां मते समुदायद्वयं जीवभोगाय-संन्यते । तत्र श्रियव्यादिपरमाणुसमुदाय एकः । रूपादिस्कन्धसमुदायश्चापरः । रूपादि-ज्ञानवेदान्तज्ञांसंस्कारनामकाः पञ्चस्कन्धाः । तदुभयसंबन्धे जीवस्य संसारः, तदप्यमे-मोक्ष इति तेषां मतं प्रथमसूत्रे दृषयति । जीवस्य क्षणिकत्वेन तदुभयसमुदायाप्राप्तिः, तेन तदुक्तः संसारप्रकारो मोक्षश्चासंगत इत्युक्तम् । ततो द्वितीये क्षणिकत्वदृश्यपरिहारं सूत्रांशेनाशङ्क्य, अशान्तरेण दृषयति । तन्मते प्रलयः कारणसमुदायः । तत्र संस्कारः ।

सर्वधृणिकल्पेभि मय्यपातिभ्योऽविद्यादिभ्यः स्कन्धप्रत्ययेभ्यो जन्मादयः, जन्मादिभ्यः प्रत्ययेभ्यश्चाविद्याद्य इत्येवं चकनवलिखुत्तावपि न कारणव्यक्तिं प्रति कार्यव्यक्तेः प्रत्ययता, किन्तु पूर्वप्रत्ययत्वस्योत्तरोत्तरप्रत्ययं प्रति कारणत्वम् । उत्तरोत्तरधृणिकविज्ञानसंतरेव जीवत्वम्, तादृशार्थं संतरेव षडत्वम् । अतः धृणिकविज्ञानसंतत्यात्मकस्य जीवस्य धृणिकार्थं संतत्यात्मकस्यपिनेन्द्रियशरीराख्यरूपस्कन्धसंबन्ध इति संसारः । रागादिरूपसंस्कारस्कन्धविरामादेव तदभावरूपो मोक्षः । अतो न काय्यनुपत्तिरितिपूर्वाशंभयम्, अंशान्तरेण तद्व्ययति । ये हि प्रत्यया उक्तास्ते सदशीं संतिसुत्याद्य नश्यन्ति । तथा सति विज्ञानसंततिरूपस्य जीवस्य पूर्वैकाकीनप्रियासिधिसंपन्नशान्तनुसन्धानात् कथं वेदान्तादिस्कन्धात्मकसंसारसिद्धिः, कथं च तदभावसिद्धिः, शिरस्य कस्याप्यभावात् । तस्मादसंगतं तन्मत् । ततस्तृतीये । किञ्च, तन्मते स्थितिव्रणस्याभावात्प्रथमक्षणे उत्पत्तिः, द्वितीयक्षणे नाश इति प्रत्ययत्वस्यैवासंभवं, संघातस्य चासंभवं इत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैः पुञ्जस्य कारणता दृष्टिता । ततश्चतुर्थे । असत्ये हेतौ फलोत्पत्तिरित्याकास्मिकत्वपक्षं दृश्यति । तेषां हि प्रतिज्ञाद्वयम् । एका तु सर्वं धृणिकमिति प्रतिज्ञा । द्वितीया तु आलम्बनप्रत्ययसमन्ततत्प्रत्ययापिपत्तिप्रत्ययसहकारिप्रत्ययाख्यांभ्यनुविंवात् हेतुं प्राप्य विज्ञानस्कन्धात्मकं चित्तं वेदान्तात्मकान्धात्मकत्वात् उत्पन्नत इति । तत्र द्वितीयांगिकारे वस्तुनः क्षणान्तरसंबन्धात्म्यमप्रतिज्ञा नश्यति । द्वितीया चेन्नांगीकियते, तदा प्रतिनियतहेत्वभावात्सर्वं सर्वतो युगपदेव स्यात् । तस्मात्तदसंगतमित्युक्तम् । ततः पञ्चमे एवं तदुक्तमुत्पत्तिप्रकारं दृष्टयित्वा नाशप्रकारं दृश्यति च । तत्र तेषां मते पञ्चपदार्थाः । एनं नाशयामीति बुद्धिपूर्वको विनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः । तां विना यो नाशः स अत्रतिसंख्यानिरोधः । आकाशश्च । एतन्नै निरूपाख्यम् । अवस्त्विति यावत् । तथाकाशस्वरूपं तद्वृणस्यैवाख्यम् । धृणिकं संस्कृतं चेति पञ्च । तत्र धृणिकं संस्कृतं चेति द्वयं पूर्वसूत्रेण दृष्टितम् । अजुना निरोधद्वयं दृश्यते । तन्मते पदार्थाः सर्वे धृणिकाः सदृशसंतानजननसंभवाः । धृणिकानां च नाशकसंबन्धो न पूर्व इष्ट इत्यन्यानामपि पदार्थानां नाशकसंबन्धाभावात्पूर्वैवेव संततिप्रतिबंधाभाव इत्यविच्छेदादित्युक्तम् । एवमत्र कार्यविचारेण निरोधद्वयं दृष्टितम् । ततः षष्ठे तद्व्ययस्वरूपविचारेण तद्व्ययति । तत्र वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाः योगचारश्च उक्तनिरोधैकदेशभूतेऽविद्याविनाशे मोक्षसदृशो कर्तरीतिको भवतीति मन्यन्ते । तदसंगतम् । अविद्या(या)निर्हेतुके नाशोमीक्रियमाणे तन्मतीयसाधनविधायकशास्त्रवैफल्यम् । सहेतुनाशशांगीकारे निर्हेतुकत्वप्रतिज्ञाहानिरित्युभयपार्थि दोष इत्युक्तम् । एवं सूत्रद्वयेन तदुक्तनाशप्रकारो दृष्टितः । ततः सप्तमे आकाशं दृश्यति । तेषां मते आवरणभाव एवाकाशः । सोपि निरूपाख्यः । तादृशेपि भूतान्तरवस्तुत्वव्यवहारस्याविशिष्टत्वात् । अत्र गृहः, अत्र श्वेन इत्यादिव्यवहारस्य तत्रापि दर्शनात् । अवकाशरूपेण प्रत्यक्षत्वाच्चान्वस्तु-

त्वसंगतमित्युक्तम् । ततोऽष्टमे पुनःसंक्षेपेण धृणिकवादां निराकरोति । सर्वत्र स एवापमिति प्रत्यभिज्ञा दृश्यते । धृणिकत्वे तु तस्य नष्टत्वात्कालान्तरे प्रत्यभिज्ञा भाष्यते । तस्मादसङ्गतः धृणिकवाद इत्युक्तम् । ततो नवमे तदभिमतभावाद्भावोत्पत्तिं निराकरोति । ते हि भीषोपमदं विनांकुरोत्पत्ति, दुग्धोपमदं विना दन्त्युत्पत्तिमप्यन्तो गेभ्ये एव बीजादिभ्यस्तत्तदुत्पत्तिं पश्यन्तः केवलदभावादेव भावोत्पत्तिं मन्यन्ते । तथाचाकीकादेवोत्पत्तिरिति सिध्यति । तदसंगतम् । दृष्टयोपात् । यदि ह्यकीकादभावादेव केवलात्कार्यं स्यात्तदा बीजादिति स्यात्, दुग्धादङ्कुरं च । तत्तु न दृश्यते । तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरित्युक्तम् । ततो दशमे यथभावादेव सर्वं स्यात्, तदा तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् कृषिह्लादिशासनरहितानामपि धान्यादिः सिध्यन्त । तत्तु न दृश्यते । अतोपि नामावादा भावोत्पत्तिरित्युक्तम् । एवं दशभिः सूत्रैः वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मते निराकृतम् ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे पञ्चसूत्रे नाभावा उपलब्धेरित्यधिकरणे कारणोऽर्थे पूर्व निराकृतोपि विज्ञानवादी कार्यार्थे निराकियते । विज्ञानवाद्येव योगाचारः । स हि बाह्यं प्रपञ्चं नीलं पीतं षट् इत्येतत्सर्वं विज्ञानाकारं मन्यते, न तु बाह्यार्थोऽस्तीति । अनादिवासनयैव च भासत इति तन्मतम् । एवं यस्मिन् बाह्यार्थोभाव उक्तः, स न युक्तः । यदि सर्वं ज्ञानाकारमेवादिवासनया भासेत, तदा वासनाया विना विद्यमानत्वात् सर्वं एवदा सर्वत्र भासेत । तत्तु नास्ति । अतः कदाचिच्चिदुपलंभान्ता बाह्यार्थोऽस्तीति मन्त्यमित्युक्तम् । ततो द्वितीये उपलब्धिमात्रेण वस्तुसत्त्वं चेत्तदा स्वप्नमायाप्रभादिदुषे उपलब्धास्तपि सत्याः स्युः । तस्मान्नोपलब्धिमात्रेण वस्तुसत्त्वं वस्तु शक्यमित्याशङ्क्य निराकरोति । बाह्यः प्रपञ्चः स्वप्नादिविषयः, बहुकालस्थितिविज्ञानात् । नहि तथा स्वप्नादिदुषे दृश्यते । तस्मात्तदङ्गान्त्वोपसङ्गत इत्युक्तम् । ततस्तृतीये यत्तैर्बाह्यार्थं विना वासनया ज्ञानवैधियमंगीक्रियते, तत्र बाह्यार्थं विना वासनेवातुपपन्न, बाह्यार्थस्यैव वासनाजनकत्वात् । तस्य च तन्मतेऽभावादित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे वासनाया आधारभूतस्य, अहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियादिजन्योयं धृणिकविज्ञानसंतानः कर्ता भोक्तृत्वमिमानवान् आलम्बविज्ञानाख्यः, तस्य धृणिकत्वाद्वासनायाः आधारीपि न यत्तु शक्यः । विना वासनया तन्मतेऽसङ्गतमित्युक्तम् । ततः पञ्चमे सर्वथातुपपन्नत्वादिपि तन्मतेऽसङ्गतम् । तेन माध्यमिकोव्यसंबन्धावित्यादुपेक्षित इत्यपि सूचितम् । एवं पञ्चदशभिः सौंगता निराकृताः ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे चतुःसूत्रे नैकस्मिन्नसंभवादित्यधिकरणे विवसनस्य साद्वादिनो निराकरणम् । स हि स्यादस्ति, स्यान्नस्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादकल्प्यः, स्यादस्ति चावकल्प्यः, स्यान्नस्ति चावकल्प्यः, स्यादस्ति नास्ति चावकल्प्य इत्येवं सप्तमही मन्यते । सप्तमही नाम सप्तानां अंगानां समाहारः । सा च सार्वत्रिकी । तदिदं प्रत्यक्षविरुद्धम् । न ह्यस्तिनास्त्यादिभंग एककालं सर्वेषां दर्शनगोचरीभवतीति । तस्मादसंभवसङ्गतः ।

किमेवं सप्तमंगी सार्वत्रिकीति तदुक्तसाधनेषु तदुपदेष्टुषु तीर्थकरेषु तदुक्ते मोक्षरूपे फले चानुवर्तमाना सर्वेष्वेव तदुक्तेष्वनास्त्रासं जनयतीत्येतोऽप्यसङ्गतसद्वाद इत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** तदुक्तमालम्ब्य च दृश्यते । स हि अत्यानं कृतं मन्यते । सृष्टिं च परमाणु-
भ्योऽङ्गीकरोति । मोक्षे च निरावरण आत्मा तिष्ठतीति । तदिदं दृश्यते । परमाणुस्य एव
सृष्ट्यङ्गीकारेणामनो वस्तुपरिच्छेदाङ्गीकारादकार्त्स्न्यं सर्वत्र न भवति । तथा च मोक्षद-
शायाभावलोककाशवर्तित्वेन तत्कृतावपणसंभवात्त्रिवारप्रतिज्ञाहानिः । किञ्च, सर्ववस्तु-
ष्व्वात्माभावाद्वात्मनामस्तिकाव्यवप्रतिज्ञाहानिभ्येत्यर्थ इत्युक्तम् । ततस्तृतीये तदनुपपत्तौ
देहपरिमाणसम्बन्धे दृश्यते । स हि देहपरिमाण आत्मिनि मन्यते । सूक्ष्मदेहे सूक्ष्मः ।
स एव स्थूलदेहे स्थूल इति । एवं पर्यायेण तत्परिमाणान्गीकारे अवयवोपचयापचया-
भ्यामात्मनोपि विकारापत्तिः । संकोचविकारोपि विकारस्य दुःपरिहारत्वादित्युक्तम् । तत-
श्चतुर्थे तदुक्तमात्मपरिमाणमेव दृश्यते । स हि मोक्षावस्थावस्थितजीवस्य परिमाणं नित्यं
वदति । तदत्रे देहाभावात् । संसारावस्थायाम् त्वनित्यम् । तथा सति संसारावस्थायाम् चार्वा-
कवादत्मन अनित्यत्वापत्तिः । तथा सति मोक्षः कस्य स्यात् । अतः संसारावस्थायाम-
पि तस्य नित्यं परिमाणमङ्गीकार्यम् । अणु वा महद्वा । तथा सति देहपरिमाणमतवादा-
स्त्वसङ्गत इत्येवं दूषितमित्युक्तम् ।

पठेद्यु पदस्वयधिकरणेषु ब्रह्म जगदुपादानं न वेति सन्देहः, तत्तन्मतविरोधः सन्देह-
धीवत्, नेति एवैः पक्षः, सर्वसमायानामुक्तत्वाद् ब्रह्मोपादानमिति सिद्धान्तो ज्ञेयः ।
पठे तु ब्रह्मैव विरुद्धधीधारम्, नेतरिति नियमो युक्तो न वेति सन्देहे, स्यादादिभिः
सर्वत्र तथाभ्युपगमाभेति पूर्वः पक्षः, स्यादादस्तासंगतत्वाद्ब्रह्मैव तथेति नियमो युक्त एव,
श्रुत्या भक्तप्रत्यक्षेण च प्रमितत्वादिति सिद्धान्त इति प्रकारान्तरमधिकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे पञ्चसूत्रे पत्युरसामञ्जसादित्यधिकरणे नैयायिकवैशेषिकहैरण्य-
गर्भपातजलकापालिककालोमुखाणाशुपतैश्चवा ईश्वरस्य निमित्तमात्रत्वं मन्यन्ते, न त्पा-
दानत्वम्, तद्व्ययति । यदीश्वरः निमित्तमात्रं स्यात्तदा केनाभित्यसुखं केनाभिरुःखं ददद्विषमो
निर्घृणस्व स्यात् । अतोसामञ्जसातन्मतमसङ्गतम् । ततो **द्वितीये** तन्मते जीवब्रह्मणोर्वि-
शुत्वाद्जसंयोगस्य वक्तुमशुकत्वेन पत्तित्वानुपपत्तिः । यदि च संघन्धोङ्गीक्रियेत, तदापि
विशुत्वनित्यत्वाभ्यां तुल्यत्वापर्याया नियमनियामकभावानुपपत्तेः संघन्धानुपपत्तिरित्युक्तम् ।
ततस्तृतीये ईश्वरः शरीरं किञ्चिदाधारं चापिष्टाय करोति, तद्विना वा । आधे तन्नित्यम-
नित्यं वा । आधे परमाणुधुरूपस्य तस्य कार्यनिर्वाहकत्वम्, अवयवित्वाभावात् । द्वितीये
तु अन्यत्वम् । तथा सति तत्कृतोनिर्वाहकत्वमशक्यत्वादनवस्थापत्तिः । अथाशरीर एव करो-
तीति मतम्, तदा तु मुक्तानामिव तस्यापि कर्तृत्वानुपपत्तिः । अतोपिष्टानानुपपत्त्या तन्मत-
मसङ्गतम् । ततश्चतुर्थे यथा जीवोऽशरीर एवेन्द्रियादीनि करणान्यपिष्ठति, निय-

ययति, तथेश्वरोप्यशरीर एव जीवान् नियमयिष्यतीति सूत्रांशोनाशङ्क्य, सूत्रांशेन समाहि-
तम् । यदि जीवदृष्टान्तेन तथाङ्गीक्रियते, तदा तददृष्टान्तेनैव तस्य सुखदुःखमोखावापत्तिः ।
(ततः पञ्चमे तैर्जैदजीवनिययनार्थं हीश्वरोऽभ्युपगम्यते । नियमनं चेत्यत्रायां संभवति ।
ततश्च तेषामभिव्यक्त्यापत्तिः । तथा सति तेषामन्वयत्वम् । इयत्तापरिच्छिन्नेषु घटादिष्वन्तव-
त्त्वस्य दृष्टत्वात् । एतदोषपरिहाराय जीवानां व्यापकत्वमसंख्येयत्वं चाङ्गीक्रियते, तदा
असंख्येयत्वस्य सर्वत्रैवत्यनियमात् सर्वत्रद्विषयकज्ञानस्येशोऽभावेनासर्वज्ञता स्यात् ।)
तदनापत्तौ नियामकाभावादित्युक्तम् । तेनेश्वरविवयेपि तन्मतमसङ्गतमित्युक्तं भवति ७ ॥

ततोष्टमे चतुःसूत्रे उत्पत्त्यसंभवादित्यधिकरणे पाञ्चरात्रमते यथोहि हि श्रुति-
विरुद्धः सोऽशो दृश्यते । पञ्चरात्रस्य भवत्प्रणीतत्वेपि तावतोऽशस्य बुद्धिपूर्वकमेव श्रौतम-
शानानुष्ठीयार्थं स्थापनात् । सोऽशस्यत्वम् । ते हि परब्रह्मणो वासुदेवात् संकर्षणस्य जीवस्य,
तस्मात्प्रभुमनस मनसः, ततोऽनिरुद्धसाहंकारस्योत्पत्तिं वदन्ति । तेषां चतुर्णां व्यूहतां
च वदन्ति । तदेतच्छ्रुतिविरुद्धम् । एवमुत्पत्तौ व्यूहत्वासंभवात् । व्यूहत्वे चैवमुत्पत्त्यसंभ-
वात् । जीवोत्पत्तौ मोक्षस्याप्यसंभवात् । तस्मादयमंशो विरुद्ध इति पूर्वसूत्रे दूषितः । ततो
द्वितीये संकर्षणात्प्रभुमोत्पत्तिर्दृश्यते । कर्तृर्जीवात् कर्तव्यस्य उत्पत्तिर्लोकविरुद्धा; मनसः
करणदहंकारोत्पत्तिरपि तथा । अतः प्रभुज्ञानदिरुद्धोत्पत्तिरप्यसंगता । ततस्तृतीये तेषां
सर्वेषां परमेश्वरत्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा अनेकेश्वरत्वापत्तिरित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे शण्डि-
स्यत्वात्तुर्गु वेदेषु परं त्रेयः अलम्बा इदं शास्त्रमधीतवान् । तथा तस्यकदाचिद्विधानं च तत्र
विहितम् । तदेतच्छ्रुतिविरुद्धम् । तस्यकदाचिद्विधानस्य पुराणेषु श्रद्धयन्तैर्नोक्तत्वात् ।
वेदेषु परमश्रेयोलाभमावकथनस्यापि तथात्वात् । तस्मादेतस्सूत्रचतुष्टयोक्तं दृश्यं यत्
तद्वदविरुद्धम् । एवं स्मृतिषु वेदविरुद्धांशदृष्टेनेन सर्वोपधेय वेदविरुद्धानि शास्त्राण्युप-
लक्षणविधया दूषितानि ज्ञेयानि ॥ ८ ॥

इति श्रीब्रह्मभार्याचरणदासस्य पीताम्बरात्मजभुरूपोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमात्रमायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ ततस्तृतीये पादे पूर्व क्रमसृष्टौ भूतोत्पत्तिप्रकारस्तत्स्वरूपं च विचार्यते ।

तत्र प्रथमे सप्तसूत्रे न विषयदित्याधिकरणे आकाशोत्पत्तिर्विचारिता । तत्र छान्दो-
भ्ये तेजआदिका सृष्टिः, तैत्तिरीयके आकाशादिका, तत्रासृजतेति पदामावादाकाशस्योत्पत्तिः
संदिग्धा । तत्र प्रथमसूत्रे आकाशस्योत्पत्तिः छान्दोभ्ये न श्रूयते । तस्मान्नोत्पत्तिरित्या-
शंकितम् । ततो द्वितीये तैत्तिरीये द्वितीये सृष्टिप्रकरणे 'इदं सर्वमजतेति श्रौतमण्ड-
पूर्वं 'चात्मन आकाशः संभूत' इति कथनादस्सुत्पत्तिरित्युक्तम् । तन्-छान्दोभ्येपि तत्सृष्टि-
रनुमातच्येति सिध्यति । ततस्तृतीये आकाशस्य निरवयवत्वेन व्यापकत्वेन चाकाशस्यो-

त्यचिर्न संभवति । तस्मादाकाशोत्पत्तिर्गोणीत्याशङ्कितम् । ततश्चतुर्थे 'वायुश्चान्तरिक्षं चे'ति श्रुतावसृतत्वश्रवणादपि नोत्यतिः संभवतीत्युक्तम् । ततः पञ्चमे ननु तैत्तिरीये संभूत इतिपदस्य सर्वशानुत्पत्तिदशनादेकत्र गोणी, अन्यत्र ग्रह्या, संभूतिपदस्य वृत्तिरिति न वक्तुं शक्यम् । युगपद्वृत्तिद्वयविरोधादित्याशङ्क्य, यथा 'तपसा ब्रह्म विचिञ्चासंख्य, तपो ब्रह्मे'ति श्रुतौ एकस्यैव ब्रह्मशब्दस्यैकत्र ग्रह्या, तपसि गोणी, तथात्रापि पदाद्युत्पा विरोधाभावो भवित्यतीत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैः पूर्वपक्षमुक्त्वा, षष्ठे सप्तमे च समाधानमाह । तत्र स्यादेवं यदि छान्दोग्योक्ता एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञान न वाच्यते । तत्रैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्ते कार्यकारणभावेन तद्व्युत्पादितम् । तदन्तर्गीकारे तद्वाच्यते । तस्मादाकाशोत्पत्तिरिंगीकार्यैत्युक्तम् । ततः सप्तमे ननु निरवयवत्वादीनां बाधकानामुक्तत्वात्सा कथं संभवतीत्याशङ्क्याम्, आकाशो नोत्पद्यते, निरवयवत्वादित्येवं साधने, उत्पद्यते लौकिकव्यवहारविषयत्वादित्येवं साधने, उत्पद्यते, लौकिकव्यवहारविषयत्वादित्येवं सत्यतिपक्षत्वेन युक्तानामप्रयोजकत्वस्युक्तम् । तस्मान्छुलुका आकाशोत्पत्तिरिंगीकार्यैत्युक्तम् ॥ १ ॥

ततो द्वितीये एकसूत्रे एतेन मातरिष्वेत्यधिकरणे एवमेव वायुत्पत्तिरिति साधितम् ॥ २ ॥

ततोऽग्निसूत्रे ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिरित्यति वितण्ड्याशङ्क, गृहभूतस्य सतः नित्यत्वव्यापकत्वयोर्निरंकुशवाद्दुत्पत्तिर्न संभवतीत्युक्तम् ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे तेजोत इत्यधिकरणे वायुत्वस्यैव सत्यतिः समर्थिता ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे एकसूत्रे आप इत्यधिकरणे तेजस अपामुत्पत्तिः समर्थिता ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे एकसूत्रे पृथिव्यधिकारेत्यधिकरणे छान्दोग्ये अद्भ्यः सकाशादश्रुत्वत्किरुका, तैत्तिरीये च पृथिव्युत्पत्तिरिति विरोधपरिहारायंमद्भ्यश्चान्दोग्ये पृथिव्येवोच्यते । छान्दोग्ये भूताधिकारात् 'यत्कृष्णं तदन्नस्ये'ति नीलरूपकयानात्तैत्तिरीये अद्भ्यः पृथिवीति शब्दान्तराभेत्युक्तम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे एकसूत्रे तदग्निध्यानाद्देवेत्यधिकरणे आकाशभावापन्नत्परमेश्वराद्ययो रूपत्तिः, एवं वाय्वादिभावापन्नादग्नेपि तेजशदीनां ज्ञेया । सर्वकर्तृत्वस्य ब्रह्मलिङ्गादित्युक्तम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे एकसूत्रे विपर्ययेणेत्यधिकरणे प्रसङ्गाख्यलयप्रकारो विचारितः । क्रमसृष्टौ येन क्रमेणोत्पत्तिरुत्पत्तिरुत्पत्तिरुत्पत्तिः प्रलय इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

ततो नवमे द्विसूत्रे अन्तरा विज्ञानमनसीत्यधिकरणे विज्ञानशब्देव जीवः मनश्च एतयोरेपि क्रमेण मध्ये उत्पत्तिरिति सूत्राशेनाशङ्क्य, अंशतरेण समाहितम् । विज्ञानमयो जीवात्मकः, मनोमयस्तु वेदान्तात्मकस्तैत्तिरीये उक्तः । अतस्तयो रूपत्तिर्न वेदाधि-

प्रेता । नामरूपव्याकरणात्मिकायां सृष्टौ जीवस्य करणत्वेन वेदस्य च द्वारत्वेन तत्पूर्वभावि-
तया सृष्टावुत्पत्त्यभावात् । यद्यपि न्यूनांशपूर्णाय प्राणेन्द्रियमनसां क्वचिदुत्पत्तिर्न कथ्येति
चेत् १ पुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वात्तदनुसारेणाकाशात्सर्वमेव तत्कारणभावापन्नाद्भ्यश्च एवेति
जानीहि । ततो द्वितीये ननु विज्ञानमयस्य जीवस्यानुत्पत्तौ सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग
इत्याशङ्क्य, जीवस्यापि स्वावर्ज्यमशरीरे समागमरूपोत्पत्तिस्तु भवत्येव, न तु स्वरूपो-
त्पत्तिरूपा । जतो न व्यवहारोच्छेद इत्युक्तम् । तेन जीवोत्पत्तिर्माकेति सूचितम् ॥ ९ ॥

ततो दशमे एकसूत्रे नामाऽऽश्रुतेरित्यधिकरणे जीवस्य स्वरूपत उत्यतिर्नि-
वारिता । देवदत्तो जात इत्यादौ देहोत्पत्तेरेव श्रवणेन जीवोत्पत्त्यश्रवणात् । 'न जायते न
म्रियते वा निपश्मि'दित्यादिषु जन्ममरणाभावश्रवणेन नित्यत्वबोधनाच्चेति ॥ १० ॥

तत एकादशे एकसूत्रे ज्ञात एवेत्यधिकरणे जीवो ज्ञानस्वरूपो ज्ञानधर्मो च
विज्ञानमयः, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिसंस्वरूपबोधकश्रुतिस्यः । 'न पश्यो मृत्युं पश्यति'
'द्रष्टा श्रोता मन्ते'त्यादिज्ञानधर्मत्वबोधकश्रुतिस्यैत्युक्तम् ॥ ११ ॥

ततो द्वादशे दशसूत्रे उत्क्रान्तिगत्यागतीनामित्यधिकरणे तत्र जीवस्य नित्य-
त्वेन मयस्यपरिमाणस्य वक्तुमशक्यत्वात्परमाणु वा परिमाणं महद्वा संभवति । तत्र किं युक्तमि-
त्याकांक्षायां परिमाणं विचारितम् । तत्र प्रथमसूत्रे 'स यदास्वाच्छरीराद्दुक्तामती'ति 'ये के
चांस्माहोकावयान्ती'ति 'तस्माहोकावयान्तीत्यस्यै लोकाय कर्मणः' इति श्रुतिषु उत्क्रान्तिगत्या-
गतिश्रावणात् जीवोऽणुरित्युक्तम् । ततो द्वितीये 'ऊर्णनाभिर्यथा तन्तुसूत्रवते इत्यपि,
जाग्रत्समे तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनरिति श्रुताविन्दिरहितस्य केवलस्यैव
गत्यागतिश्रवणादपि तथेत्युक्तम् । ततस्तृतीये जीवोऽणुमेवितुं नाहेति, 'स वा एव
महानज आत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेणिव'ति विज्ञानमयस्य जीवस्य महत्त्वश्रावणात् जीवो
नाणुरिति सूत्राशेनाशङ्क्य, अंशान्तेण समाहितम् । उक्तश्रुतेर्ब्रह्मप्रकरणपठितत्वात् तथा
जीवमहत्त्वसिद्धिरित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे 'स्वयं विद्वत्य स्वयं निर्माये'ति स्वप्नविषयक
श्रुतिकरुका । ततः पञ्चमे जीवस्याणुत्वं बोधयति । स्वप्ने शरीरमणस्य तावत्परिमाणस्य व्यापकस्य
च विहारकर्तृत्वासंभवात् । 'बालाग्रशतभागस्य शतशतं कल्पितस्य तु भागो जीवः स विज्ञेयः
स चानन्त्याय कल्पते' इति श्रुतौ जीवमुपकृत्य तत्परिमाणबोधनाच्चाणुरित्युक्तम् । ततः
पञ्चमे अणोर्जीवस्य सर्वशरीरव्याप्तिः कथं संगच्छते इत्याशङ्क्यां यथा स्वत्यशब्दान्खण्डः
महाकटाहे तस्यैते निक्षिप्तस्यैतं शीतलं करोति, तथा जीवोपि सामर्थ्याकरोतीति व्याप्तौ
युक्तिकरुका । ततः षष्ठे ननु चन्दनस्यावस्थानं प्रत्यक्षतो निश्चितम्, तेन तस्य तथात्वम् ।
जीवस्य स्थितिस्तु नैकत्र निश्चितेति स दृष्टान्तो न वक्तुं शक्यते इति सूत्राशेनाशङ्क्य, 'गृहां
प्रविष्टा'विति श्रुत्या जीवस्य हृदि स्थितिः शास्त्राभिहितेति न दृष्टान्तवैषम्यमित्युक्तम् ।
ततः सप्तमे जीवस्य यो गुणश्चेत्यं तेन जीवः सर्वशरीरं व्याप्नोति । यथा मणेः कान्ति-

र्षदुर्देश्यापिनी, तद्ददित्युक्तम् । ततोऽष्टमे चैतन्यगुणस्य स्वाश्रयाधिकदेशुचित्तं चम्य-
कादिगन्धवदवगन्तव्यमित्युक्तम् । ततो ऋचमे चैतन्यगुणेन सर्वशरीरव्याप्तौ कौशित-
कत्राक्षणे 'हितं नाम पुरुषस्य नाभ्य' इत्यादिना साक्षात् नाडीनामपुत्रत्वं तासु जीवस्य
स्थितिं चाभिधाप्य, स एष ह्य प्रथितः 'आलोमन्य आनखोमन्य' इत्यनेन व्याप्तिं प्रदर्श-
यति । तस्मात्सामर्थ्येन गुणेन च व्याप्तिरुपपन्नैत्युक्तम् । ततो द्वादशमे 'प्रज्ञया शरीरं स-
माहृत्य' इति श्रुतौ प्रज्ञायाः कारणत्वनिर्देशात्स्वरूपचैतन्याद्विभङ्गं गुणरूपं चैतन्यं निरूपितम् ।
अतो गुणेन व्याप्तिरुपपन्नैति साधितम् ॥ १२ ॥

तत्र सप्तमोऽंशे चतुःसूत्रे तद्गुणसारत्वात्वाद्यधिकरणे जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशो
मुख्यो गौणो वेलाशंकायां, सुषुप्तिसाक्षिणि प्राज्ञे यथा ब्रह्मत्वव्यपदेशो गौणस्तथा 'प्रज्ञान-
पनस्तत्त्वमसी'त्यादावपि ब्रह्मगुणसारत्वाद्ब्रह्मत्वव्यपदेशो गौण इत्युक्तम् । ततो द्वितीये
ननु नीचस्यात्युकृष्टत्वव्यपदेशो न युक्तः । न च प्राज्ञवदिति वाच्यम् । तथा सति प्राज्ञ-
वत्तितोहितं स्यात् । तथा सति किं व्यपदेशेनेत्याशंक्य, समाधानमाह । यावदात्मा वर्तते,
तावत्सर्वोऽकृष्टत्वं तस्य रजुरिति । अथादात्मा नित्य इति सर्वदेव स्फुरति । तस्मात् दोष
इत्युक्तम् । तत्तन्मूर्तये (ननु) जीवे आनन्दांशामित्येवया ब्रह्मधर्मो विभाव इत्युक्तम् । तत्र
शुक्तम् । आनन्दांशस्य पूर्वमसत्त्वेन पश्चाद्भवत्वात्, जन्यत्वेन नश्वरत्वेन च व्याप्त्या
तस्य नश्वरत्वसंगमादित्याशंक्य, यथा बालकस्य सदेव पुंसं यौवनेऽभिव्यज्यते, तथा
पूर्वं सूक्ष्मरूपेण वर्तमान एवानन्दो ब्रह्मभावे सत्यभिव्यज्यते । अतो न तस्य नश्वरत्वमि-
त्युक्तम् । तत्र तद्व्युत्थं नन्दिदानीं सचिदांशावेव प्रकटौ, मोक्षे त्वानन्दांशोपि प्रकटो भव-
तीत्येवमवसाधेदेन विभागे को हेतुरित्याशंक्य, तत्र हेतुमाह । यदीदानीमन्या-
नन्दः प्रकटः स्यात्तदा सचिदंशदिदानीमन्यपानन्द उच्यते, संसारश्च न स्यात् । यदि
कदापि न स्वातन्त्र्य मोक्षवशा विरुध्यते । नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तेरेव मोक्षत्वात् ।
यदि जीवो निरानन्द एव, ब्रह्मैवानन्दमयमिति नियमोऽङ्गीक्रियते, तदा 'ब्रह्मैव सन्
ब्रह्माप्तेती'तिश्रुतिर्विरुध्यते । अतः प्रमाणव्यतिरोध एवमङ्गीकारो हेतुरित्युक्तम् ॥ १३ ॥

तत्र तद्व्युत्थं श्रेष्ठसूत्रे कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधिकरणे जीवस्य कर्तृत्वं
व्यवसायितम् । सांख्यैः प्रकृतियतमेव जीवे तत् प्रतीयत इत्यंगीक्रियते, तन्नित्यव्युत्थम् ।
तत्र प्रथमसूत्रे शास्त्रार्थवत्त्वं हेतुः कृतः । वेदादिषु जीववैषाधिकत्वाद्युदयनिःश्रेयसक-
लनामं यजोभासनाकाराणां कर्माणां विज्ञानदर्शनादित्युक्तम् । ततो द्वितीये जीवस्य स्वतः
कर्तृत्वाभावेपि संसारदर्शात् प्रकृतिसंश्लेषेन विवेकाप्रहात्याकृतकर्तृत्वग्रहणेपि न शास्त्रान-
र्थस्यमित्याशंक्य, विहारोपदेशादिति हेतुः कृतः । विहारः स्वेच्छाक्रीडालोकभोगरूपो दह-
रविद्यायागुदरित्यन्ते, स च दहरविधः कर्तृत्वसाक्षिवितीति जीव एव कर्ता इत्युक्तम् । तत-
स्तृतीये 'तदेवां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये'तिश्रुतौ विज्ञानादानकवनेन जीवस्य

स्वातन्त्र्यबोधनात्सर्वैव कर्तृत्वमित्युक्तम् । तत्र तद्व्युत्थं 'विज्ञानं यज्ञं तदुत्ते कर्माणि तदुत्तेपि
चे'तिश्रुतौ साक्षाद्वेद कर्मकर्तृत्वव्यपदेशात् । तत्रेवाङ्गीक्रियते, तदा श्रुतौ प्रथमानिर्देशो
विरुध्यते । प्रथमानिर्देशादिरित्युत्तोर्यामिभक्तिनिर्देशाभावेऽप्युक्तम् । ततः पञ्चमे यदि
जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्तदा स्वातन्त्र्यत्वात्साहितं न कुर्यादित्याशंक्य, यथा च्छुद्धमग्निर्गर्भं चो-
पलभते, तथैवेन्द्रियैः कर्म कुर्वन्निरुद्धमग्निं यास्यति । तथाच सांख्यवत् केवलभोक्तृत्वांगीका-
रेभ्यर्षं दोषस्तुल्य इति कर्तृत्वे पर्युत्थो न कार्य इत्युक्तम् । ततः षष्ठे ननु स्वतन्त्र्यभेदीश्वर-
वत् स्वाधर्मन्यथा न कुर्यादित्याशंक्य, अथ शक्तिस्त्रितोहितेति तथा करोति । तावता न कर्तृ-
त्वहानिरित्युक्तम् । ततः सप्तमे जीवस्य शक्तिरितोभाय एव कृत इत्याशंक्य, जीवस्य क्रिया-
ज्ञानशक्तिर्योगेन घृतद्रवत्ववत् सिध्यति । अतस्सदभावान्शक्तिरितोभाय इत्युक्तम् । ततोऽष्टमे
ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्बिम्बमत्त्वं षष्ठम्, यथैको रूढं निर्दिमीते, अन्यस्तु तद्वृत्ते, तस्मान्नेदं
साधीय इत्याशंक्य, यथा तद्वा रथं पीठे वा निर्माय तत्राकृतो विहरति, तथा तयोरेकापि
करणत्वापि दर्शनात् दोष इत्युक्तम् । एवमेवोपाधिकरणेन जीवस्य कर्तृत्वं साधितम् ॥ १४ ॥

ततः पञ्चदशे द्विसूत्रे परात्कृत्युत्तेरित्यधिकरणे जीवस्य कर्तृत्वं स्वतो वा
भगवतो वेलाशंकायां भगवद्गतमेव कर्तृत्वं भगवद्शक्त्या जीवे भासते । 'एष एव साधु
कर्म कारयती'तिश्रुतेः । ब्रह्मणः सर्वरूपत्वात् वैभ्रम्यैर्गुण्यादिदोष इति प्रथमसूत्रे उक्तम् ।
ततो द्वितीयेऽपि क्रीडायां यो भगवता उच्यतेः श्रुतो वर्तते, तदपेक्ष एव भगवत् स्वार्थं
जीवं तत्र तत्र तथा प्रवर्तयतीत्युक्तम् । दोषपरिहारास्तु सर्वरूपत्वादेव कृतः ॥ १५ ॥

ततः षोडशे एकादशसूत्रे अंशो नानाव्यपदेशादित्यधिकरणे जीवस्य
ब्रह्मसंभिरूपमुच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे जीवो ब्रह्मणोऽपि एव । 'सर्व एवात्मानोऽभ्युदन्ति,
कण्ठपचरणं रमणीयचरणा' इतिश्रुतौ बहुत्वेन व्यपदेशात् 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा भ्रमंमे कि-
न्ता उते'तिश्रुतौ ब्रह्मत्वेन च व्यपदेशात् । नद्येकस्य जीवस्य बहुत्वं ब्रह्मरूपत्वं चेत्सुभय-
मंशत्वं विना संगच्छते । तस्मादंश इत्युक्तम् । ततो द्वितीये 'पादोऽस्य किंवा भूतानीं'तिप्र-
वर्णे जीवस्य पादत्वाद्यंशत्वमित्युक्तम् । ततस्तृतीये 'भ्रमिवांशो जीवलोकं जीवभूतः
सनातन' इति श्रुतौ कण्ठत एवांशत्वमुक्तम् । एवं त्रिणिः सूत्रैर्जीवस्य ब्रह्मसंभिरूपमुक्तम् ।
तत्र तद्व्युत्थं जीवस्य ब्रह्मांशत्वे तद्व्या ब्रह्मणस्पिया दोषसंभवसंशंका सा द्वाभ्यां परिहृता इति
न वक्तुं शक्यम् । जीवस्य दुःखित्वेन तदंशित्वं ब्रह्मणस्पिय दुःखत्वादिप्रसंगात् । पाददुःखे
पुरुषदुःखवदित्याशंक्य, तस्य परिहार उक्तः । तथाहि प्रकाशादीनां दुष्टप्रकाश्यसंसर्गपि न
स्यदिदुष्टत्वम्, तथा ब्रह्मणोपि । वस्तुतस्तु दुष्टप्रकाश्यसंसर्गपि प्रकाशस्यापि न दुष्टत्वम् ।
कृतः सूर्यादिः, तथा जीवस्य ब्रह्मणश्चेलदोष इति । ततः पंचमे स्थूलादिदोषपरिहार उक्तः 'तय
यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्रुतः । न उच्यते क्लेशेऽपि प्रपन्नविभावमे'ति । 'कर्मा-
त्प्राप्यपरो योसौ मोक्षवन्त्यैः सऽयुज्यते' इति जीवस्य दोषसंसर्गो, न ब्रह्मण इति । ततः षष्ठे

ननु जीवस्य यदि ब्रह्मांशत्वम्, तदा विधिविषयत्वाभावात्कर्मसंबन्धात्प्रायः फलसंबन्धबे-
त्वाशङ्क्य, जीवस्यापि न स्वतो विष्यादिविषयत्वम्, किन्तु देहयोमादेव विभिन्निषा-
धीनत्वमपि । तत एव यथा शवाग्निश्वण्णालोदकं तदटादिश्च परिह्रियते, शिष्टसंबन्धिनस्ये
गृह्यन्ते, एवं जीवस्य देहसंबन्धकृतौ गुणदोषौ न स्वत इत्युक्तम् । तेनैव फलसंबन्धभेदेऽपि
साधितम् । ततः सप्तमस्य जीवस्य देहसंबन्धाद्गुणदोषसंसर्गकर्मनं न युक्तम्, कालिकनित्य-
प्रसक्त्येन देहस्य प्रतिक्षणमन्यान्त्यादाधानकाले ब्राह्मण्यस्य वक्तुमशक्यत्वेन कर्मसंधिचिक्र-
प्रसक्त्येनैक्यमादायाधिकारसाधने तु देहान्तरेति तदापचरित्याशङ्क्य, देहान्तरे पूर्वदेह-
संतत्यभावात् पूर्वदेहिकर्मभाषाचितः । एकस्मिन् देहे तु संततिस्त्रायान्त्कर्मोपिकारः
सुपुण्डः । ततः सिद्धे देहसंतत्येक्ये तद्वारा जीवस्य गुणदोषसंसर्गौ न दुर्घटावित्युक्तम् ।
ततोऽष्टमे सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोऽपि तादृश एव वक्तव्यः तथासति कथं तस्य देहसंबन्ध
इत्याशङ्क्य, जीवो ब्रह्माभास इत्युक्तम् । यथा अनाचारी ब्राह्मणो ब्राह्मणाभासः, अखिल-
ब्राह्मणधर्माणामभावात्, एवमानन्दशस्य तितोधानेन ऐश्वर्योदीनां ब्रह्मधर्माणामभावात्
तादृशाकारस्य चाभावात् जीवोपि ब्रह्माभासः । तथा चानन्दशभावादेहसंबन्ध इत्युक्तम् ।
एवं त्रिभिः सूत्रैर्जीवस्य स्वतो निदृष्टत्वे देहसंबन्धादोषसंबन्धो देहसंबन्धहेतुश्च साधितः ।

ततोऽग्नेयेषु त्रिषु यत्रैवायिकदिभिर्भोग्यवस्थया जीवनानात्वं व्यापकत्वं चांगीकृतं तदृ-
ष्यते । तत्र प्रथमे तेषामात्मानं व्यापकत्वेन सर्वमनन्दन्द्रियदेहसंबन्धाधेनेनचिक्रणप्राप्तेण
यत् कर्म क्रियते, तत्रयथादृष्टस्य सर्वत्र तुल्यत्वाददृष्टनियमो न स्यात् । तस्मात्तदुपकरणेण
जीवव्यापकत्वनानात्वस्यापनमसंगतामित्यर्थः । ततो द्वितीये विद्वक्षणधननःसंयोगेन पूर्वोक्तं
सर्वं साधयन्ति । तदृष्यते । तत्र दृष्टादृष्टकारणकलापसामाये एकस्यैव वैलक्षण्यम्, नान्यस्ये-
त्यत्र हेतोर्वक्तुमशक्यत्वादिति बोधितम् । ततस्तृतीये जीवस्य व्यापकत्वेपि प्रदेशमदात्र
दोष इति ते वदन्ति । तदृष्यते । यदि तथांगीक्रियते, तदा यत्र कर्मकरणेन यस्मिन्प्रदेशे-
ऽदृष्टमुत्पन्नं, तस्य प्रदेशस्य देशान्तरेऽभावात् तत्रोत्पन्नानां वस्तूनां भोगो न स्यात्, अदृष्टस्या-
चञ्चलत्वात् । तस्मात् तदुक्तरीत्या तन्मतसिद्धिरिति त्रिभिः सूत्रैरुक्तम् । एवमेकाद-
शभिः सूत्रैर्जीवस्य ब्रह्मसंबन्धिरूपमुक्तम् ॥ १६ ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणद्रासस्य पीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालार्थं द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

पूर्वपादे जीवस्य स्थूलशरीरनिष्पादकानां मृतानां स्वरूपमुत्पत्त्यादिकं च विचारितम् ।
अस्मिन् पादे इन्द्रियादीनां तदवसरसंगत्या विचार्यते ।

तत्र प्रथमे पञ्चसूत्रे तथा प्राणा इत्यधिकरणे इन्द्रियाणां मृतवत् कार्यत्वं वा,
जीववदंशत्वं वेति संदेहे जीववदंशत्वमिति निर्णयितम् । तत्र प्रथमसूत्रे पूर्वपादे नि-

रूपितजीवस्य ये चिदंशलातिरिका धर्मा उक्तान्त्यादायस्ते सर्वेतिदिरयन्ते । ततो
द्वितीये ननु प्राणेषु नित्यत्वाश्रयणादुक्तान्त्यादिश्रुतिगौणी भविष्यतीत्याशङ्क्य, एकैव श्रु-
तिर्जीवे शुभ्या, प्राणादौ गोपीति वक्तुं न शक्यत इत्युक्तम् । ततस्तृतीये सृष्टेः पूर्वमपि
प्राणादीनां स्थितिः श्रूयते । 'असदा इदमत्र आसी'दित्वात्यर्थे, 'प्राणा वा ऋषय' इत्यन्तेन
तस्मिन्प्रयोगात् । ततश्चतुर्थे मनःपूर्वां वायुत्वं इतिश्रुतेर्वैतलो वाक्पूर्वरूपत्वात् ।
वाचश्च वेदरूपाया 'वाचा विरूपनित्ये'ति श्रुत्या नित्यत्वश्रावणात्पूर्वरूपस्य मनसः
कर्मनित्यत्वं भवेत् । ततः पञ्चमे 'तसुक्तात्मनं प्राणेषुऽनुक्तामती'तिश्रुतौ सप्तानां भवि-
भिर्जीवगतविशेष्यते । अतो जीवसमानयोगक्षेयत्वात्तेषामपि जीवतुल्यत्वमित्युक्तम् ॥ १७ ॥

ततो द्वितीये एकसूत्रे हस्तादय इत्यधिकरणे उक्तान्तिश्रुतौ प्राणानां जीवेन
सहोक्तमणकथनात् तेषां नित्यत्वमंशत्वं चांगीकृतम् । अतः परं ते कर्तृति विचार्यते । श्रुतौ
कचित् ससोक्ताः, कचिददृष्टी, कचिन्नय, कचिददृश, कचिदेकादशेति नानापक्षाः भ्रूयन्ते ।
तद्विप्रतिषेधपरिहारायै विचारः । तत्र 'हस्तौ चादातम्बं चे'ति श्रुतौ हस्तोपस्यपायुपादानां
सप्तम्योधिकानां कथनात् चक्षुस्त्वग्राणरसनश्रवणमनोवाचां सप्तानां पूर्वं कथनचैक-
दश, न तु संशयेत्युक्तम् । तेषु पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उपमनयकर्मन्त-
करणं मन इत्येवं तेषां विभागो ज्ञेयः ॥ २ ॥

ततस्तृतीये एकसूत्रे अणवध्वेस्यधिकरणे तेषां जीववत् परमाणुपरिमाणं विचारितम् ।
ततश्चतुर्थे द्विसूत्रे श्रेष्ठश्लेस्यधिकरणे मुख्यप्राणसाधुत्वं विचारितम् । 'आतीद-
वार्तं स्वयया तदेकमितिश्रुत्या अननात्मकत्वेन सृष्टेः पूर्वं सत्ता च प्रदक्षिता । तस्ये द्वि-
तीयसूत्रे वायुर्वाः इन्द्रियक्रिया वा, मुख्यः प्राणोस्तित्याशङ्क्य, 'एतस्माद्वायते प्राणो
मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुज्योतिराणः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी'तिश्रुतौ वायुमित्यन्तेन
पृथगुपदेशात् । वृत्तिवृत्तिमत्तोरभेदेन क्रियाया इन्द्रियान्तःपातित्वे सिद्धे तेभ्योपि प्राणस्य
पृथक्त्वात् भिन्न एवात्मन इति साधितम् ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे चतुःसूत्रे चक्षुरादिवचनित्यधिकरणे प्राणः स्वतन्त्रः, परतन्त्रो वेति
शंकायाम्, मुख्यः प्राणोपि आसन्नत्याद्भगवदधीनः । व्यवहारे तु जीवाधीनः । श्वेताश्वरेते
इन्द्रियादिजन्यवत् तत्रयस्याप्यनुशासनमादित्युक्तम् । ततो द्वितीये प्राणश्वेतीवाधीनः, तदा
करणवत् किञ्चिद्भारान् कुर्वन् जीवोपकरणरूपो भवेत् । तनु न करोतीति कथं तस्य जीवो-
पकरणत्वमित्याशङ्क्य, मुख्यप्राणस्य यः व्यापाराभावः सः करणत्वाभावात् । उपकरणत्वं तु
देहस्थितिरूपकार्यस्य करणत्वं । अतो व्यापाराभावेपि तस्य जीवोपकरणत्वं न विरुद्धमित्यु-
क्तम् । ततस्तृतीये ननु व्यापाराभावे तस्य जीवोपकारित्वमसंज्ञसमित्याशङ्क्य, श्रुतौ 'अहमे-
वैतत् पञ्चधात्मानं प्रतिमन्त्र्ये तद्वाङ्मनवष्टम्ब्य विधारयामी'ति व्यपदिश्यते । अतो यथा मनसो
द्वारभेदेन स्वरूपत एकादशवृत्तयस्तथा प्राणोपि पञ्चवृत्तयो व्यपदेशप्राणयादंगीक्रियन्ते ।

ताभिरये देहे स्थापयञ्जीवस्योपकरणं संभवतीत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे तस्याप्यशुत्वं साधितम् ॥५॥
ततः षष्ठे एकसूत्रे ज्योतिराद्यधिष्ठानं स्खिल्यधिकरणे वागाद्यः किं देवता-
धिष्ठानेन स्वस्वकार्ये प्रवर्तन्ते, स्वत एवेत्याशङ्क्य, आधिभौतिकाः भाष्यात्मिकास्तौ स्वस्थाधि-
दैविकाधीना इत्युच्यते इत्येव ताधिष्ठानेनैव प्रवर्तन्ते, न तु स्वत इति निर्णीतम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे त्रिसूत्रे प्राणवनेत्यधिकरणे अग्रादिदेवताः किं स्वत एव केवला
वागादीनधिष्ठन्ति, मुख्यप्राणसहिता वैवाशङ्क्य, मुख्यप्राणसहिता एवाधिष्ठन्ति ।
‘सोऽयमग्निः परेण ऋतुमतिक्रान्तो दीप्यत’ इतिश्रुतेरित्युक्तम् । ततो द्वितीये प्राणस्य
तत्संबन्धस्य च नित्यत्वमुक्तम् । तेन प्राणसहिता एव देवा वागादीनधिष्ठन्ति । तेनैव
जीवस्य भोगसिद्धिः, तेषां जीवोपकारकत्वं च सिद्धमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे त्रिसूत्रे इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादित्यधिकरणे इन्द्रियाणां प्राणाधीन-
सर्वव्यापारत्वात् प्राणशब्दवाच्यत्वाच्च प्राणवृत्तिरूपाणीन्द्रियाणीत्याशङ्क्य, तत्त्वान्तरापीति
सिद्धान्तितम् । ‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे’ति तत्त्वोत्पत्तिबोधकश्रुतौ
प्राणाद्भ्रतयेन्द्रियत्वेन व्यपदेशात् । नन्वेवं व्यपदेशमात्रेण भेदे सति प्राणाधानादित्यप-
देशभेदादासन्धोषि प्राणादित्यो भिन्नः स्यादिति नाशङ्कनीयम् । प्राणादिशब्दानां पाचक-
पाठादिब्रह्मसन्धे यौगिकत्वाच्च तद्वेदकत्वम् । इन्द्रियशब्दस्य तु न यौगिकत्वम् । अतो
नैतददृष्टान्तेनाशङ्कनीयमित्युक्तम् । ततोऽधिमन्त्रशब्दस्य देवत्वन्तरमित्युक्तम् । यत्रापि
प्राणशब्दप्रयोगसत्रापि भेदेन श्रूयते । ‘तमुक्तामन्त्रं प्राणोऽनूत्कामती’ति ‘प्राणमुक्तामन्त्रं
सर्वं प्राणा अनूत्कामन्ती’ति । वैलक्षण्यं च, प्राणस्य चेन्द्रियाणां च । ‘सुषेधु वागादिषु
प्राणो जागर्ति । स्वामिसेवकश्चानेकं वैलक्षण्यम्’ ॥ ८ ॥

ततो नवमे एकसूत्रे संज्ञामूर्तिः श्रुतिरित्यधिकरणे मृतभौतिकसृष्टिः परमेश्व-
रोदेवेति निर्णीय, नामरूपव्याकरणमपि परमेश्वरादेवेति निर्णीयते । तत्र नामरूपव्याकर-
णं लोके जीवानामेव दृष्टमिति हिरण्यगर्भादेव तद्व्याकरणमित्याशङ्क्य, नामरूपव्या-
कर्ता परमेश्वर एव । छान्दोग्ये ‘हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवताः अनेन जीवानाम्पदानुप्रवित्त्य
नामरूपे व्याकरवाणी’तिश्रुतौ नामरूपव्याकर्तृत्वेन त्रिवृत्कृतं परमेश्वरस्यैवोक्तत्वात् ।
नामव्याकरणं हि वाक्साध्यम् । रूपव्याकरणं क्रियासाध्यम् । वाक्क्रिये च शरीरं विना
जीवेश्य न संभवतः । शरीरं नामरूपव्याकरणोत्तरं भावि । तस्माच्च जीवस्तत्कर्ता, किन्तु
परमेश्वर एव तत्कर्तृत्युक्तम् ॥ ९ ॥

ततो दशमे त्रिसूत्रे मांसादिभौममित्यधिकरणे ‘एतस्माज्जायते प्राण’ इति-
श्रुतौ प्राणस्येन्द्रियाणां च भगवतः सकाशात्सृष्टिकता । छान्दोग्ये तु ‘अन्नमक्षितं त्रेधा
विधीयत’ इतिश्रुतौ मनःप्राणवाचां भौतिकत्वं श्राव्यते । ‘अन्नमयं हि सौम्य मनः, आ-
पोमयः प्राणः, तेजोमयी वाग्’त्यनेन, ‘एतस्माज्जायत’ इतिश्रुत्युक्ताया उत्पत्तेः परम्पर-

याप्युपपद्यमानत्वात् । ‘अन्नमय’मित्यादिश्रुतेस्तु मांसादिष्वहर्षेण श्लेषबोधकत्वात् ।
मनवादीनां भौतिकत्वमेवेति प्रथमसूत्रेणाशङ्क्य, द्वितीयसूत्रे तेषां तत्त्वान्तरत्वमेवेति
स्थापितम् । मनःप्रभृतीनामन्नमयत्वादिकं तु अश्नादियोषितत्वेनाप्युपपद्यते । ‘पञ्चदशहानि
माश्री’रित्याद्युपपादकदर्शनात् । सर्ववाक्ये साक्षात्सृष्टेरुक्तत्वेन तत्र परम्परयाः प्रवेष्टुम-
शक्यत्वात् । तस्मात्तत्परूपाणि तानि भगवत एवेति सिद्धान्तितम् । एवमस्मिन्नव्याप्ये
सर्वोप विरोधः परिहृतः ॥ १० ॥

इति श्रीबह्मभाचार्यचरणदासस्य श्रीगीतान्धरात्मजपुरवृत्तसमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।
द्वितीयाध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयाध्यायसाधिकरणार्थसंग्रहः । तत्सुतीयेऽध्याये जघन्यमध्यमाधिकारिणां सा-
धनसंपत्तावुपनिषदां विधाजनकता, अन्यथा तु सर्वप्रदायेपि परोक्षज्ञानजनकतैवेत्यतः
प्रथमे पादेऽधिकारिणो जन्मानिर्धारः कियते । तत्र पञ्चाश्रिविधया निष्पन्नद्वेष्टेः स्वरूपतो-
ऽधिकारीति तदर्थं तद्व्याख्याः पञ्चाप्याहुतयो विचार्यन्ते । तत्र प्रथमसंघनिषिचवारविशेष-
रूपत्वाच्छास्त्रसंगतिः । साधनविचारित्वेपत्वाद्भाष्यसंगतिः । तत्राद्यधिकरणानि ।

तत्र प्रथमेऽधिकरणे जीवेन्द्रियाणां होमाभावेनाशुद्धिमाशङ्क्य, तेषामपि शुद्धयै
जीवस्येतो लोकान्तरगमनावसरे संस्कृतगतस्मैन्द्रियसाहिल्यं सधमिः सूत्रैः साध्यते । तत्र
प्रथमसूत्रे संस्कृतगतस्मैः संपरिष्कृत एव परलोकं गच्छतीत्युच्यते । ततो द्वितीये सूत्रे
शुक्लप्रश्नरूपिणाभ्यामग्निः संपरिष्कृत एव गच्छतीति ज्ञायते, नतु मृतान्तरसंपरिष्कृत
इत्याशङ्क्य, अर्थां मृतव्यात्मकत्वं साध्यते । तत्सुतीयेऽप्येव, प्राणस्यापि गमनां
सोध्यते । ततश्चतुर्थे प्राणगमनसाध्यादिभावश्रुत्या वाद्यभाशङ्क्य, तत्रिचारेणेन प्राणानां
परलोकगतः साध्यते । ततः पञ्चमे श्रुतौ श्रद्धापदानापां होम इत्याशङ्क्य, श्रद्धापदेनाप
एवोच्यन्ते इति निर्णयते । ततः षष्ठे सूत्रे, सर्वे जीवास्तथा गच्छन्ति, उत ज्ञानोपयोगिन
पेवेत्याशङ्क्य, ज्ञानोपयोगिनो यज्ञादिकृतो गच्छन्तीति निर्णयते । ततः सप्तमे तेषां होमेन
सोमभावेऽपिष्टमाशङ्क्य, तत्रिचार्थत इति । एवं प्रथमाहुतिः सफलः विचारिता भवति ॥ १ ॥

ततो द्वितीये चतुःसूत्रे कृतात्वयाधिकरणेऽवसरसंगत्या सोमभावोत्तरं वृष्टि-
भावं प्राप्नोतीति द्वितीयाहुतिर्विचार्यते । तत्र प्रथमसूत्रे सातुशयो वृष्टिभावं प्राप्नोतीति
बोधनार्थमनुशयो विचार्यते । अनुशयो द्विविधः । ‘यद्यव नः स्वर्गसुखावशेषित’मिति
श्रीभामवताक्याद्भोगसाधकसामग्रीशेषरूपं ॥ १ ॥ फलं तदात्मकः सुखलेशरूप एकः, कर्म-
शेषरूपो द्वितीय इति निर्णीयम् । ततो द्वितीयसूत्रे आचरणात्तत्तयोनिप्राप्तिसमाशङ्क्य,

चरणस्य पूर्वजन्मीनकर्मोपलक्षकत्वम्, नत्वग्रिमजन्मनि समीचीनकरणहेतुत्वम् । तस्माद्द्वितीयार्थं कर्मशेषरूपोऽनुशयोऽवश्यमपेक्षणीय इत्युच्यते । ततस्तृतीयसूत्रे चरणस्य पूर्वजन्मीनकर्मोपलक्षकत्वे प्रयोजनाभावेन चरणश्रुतेरानर्थक्यप्राप्ती तस्याः जन्मविधायकत्वमङ्गीकर्तव्यम् । तथा सति कर्मशेषरूपानुशयव्यर्थमित्याशङ्क्य, निष्कामसकामभेदेन द्विविधानां कर्मिणां भव्ये निष्कामस्य पूर्वोक्तफलशेषरूपोऽनुशयः । द्वितीयस्य तु सुकृतदुःकृतकर्मशेषरूप इति तस्य दुःशरीरप्राप्तिः, 'सुखानन्तरं दुःख'मितिन्यायेनोपपद्यते, तत्रिवारणार्थं चरणश्रुत्या शरीरप्राप्तिरिति बोध्यत इति दुःशरीरनिषेधार्थं सा धूममार्गोपक्रम्योक्ता । अतो धूममार्गस्य तदपेक्षत्वात् सा कर्मशेषरूपानुशयप्रतिषेधिका । तस्मान्न सोमभावापन्नस्य वृष्टिभावावचयः, अन्यथा तादृशशरीरप्राप्तेरकस्मिकता स्यात्, अतोऽनुशय आवश्यक इति निर्णीयते । तदश्चतुर्थे द्विविधकर्मशेषरूप एवानुशय इति चादरितम् । तेन मोक्षपर्यन्तमनुशयावृत्तिरिति बोध्यते । एवं द्वितीयाहुतिः सफला विचारिता ॥ २ ॥

ततोऽनिष्टादिकारिणामिति पञ्चसूत्रे तृतीयाधिकरणे दृष्टादिकारिभ्यतिरिक्तानां पश्चाद्द्वितीयधूममार्गयोः संबन्ध इति प्रथमसूत्रे आशङ्क्यते । तेन सर्वेषां सोमभावप्राप्त्यानन्तरं जन्मत्याशङ्क्यते । ततो द्वितीयसूत्रे तद्विधिष्यते । यदि सर्वेषां सः स्यात्तदा यमगतित्थुतिर्विकथ्येत । तस्मात् सर्वेषां सोमभावः । ततः सूत्रद्वयेन स्थष्ट्यापि यमगतिः स्यात्पते । ततः पञ्चमे सूत्रे चित्रगुप्तादीनामपि यमसेवकत्वं निर्णीयते । तेन यमगतेरपि सत्त्वात् सर्वेषां सोमभावः, किन्तु मार्गद्वयस्थानामेवेत्युपोद्गतप्रसंगार्थ्यां निर्णीयते ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे अतुःसूत्रे विशाकर्मणोरित्यधिकरणे । सर्वेषां चन्द्रलोकप्राप्तिः श्रुता । पञ्चाभिविद्याप्रस्तावे यमगतिस्तु नोक्ता । अतो विधया कर्मणा सोममार्ग इति न यममार्ग इति आशङ्क्य, वेदान्ते गौणमुख्यफलभेदायै तत्कारणत्वेन विशाकर्मणोरुक्तत्वात् तृतीयमार्गभाषकत्वमिति प्रथमसूत्रे निर्णीयते । ततो द्वितीये सूत्रे 'जायस्य जियस्ये'तिश्रुत्युक्तस्य तृतीयमार्गत्वमाशङ्क्य, तस्मिन्मार्गे पुण्यपापयोगसात्त्विकत्वत्वात् तेन यममार्गभाष इत्युक्तम् । अयं च पश्चाद्द्वितीययो मर्गोऽयमर्थ एव, न सर्वत्र चेति निर्णीयते । ततः सूत्रद्वये स्थूलैकिकदर्शनाभ्यां यममार्गसत्ता साधिता । तेन 'जायस्ये'ति मार्गो विवेचकसापेक्षत्वात् यममार्ग एव प्रविशतीति साधितम् ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे विश्वसूत्रे तृतीयशब्दाद्यरोधे इत्यधिकरणे । श्रेयैरन्नभावस्तृतीयाहुतेः फलम् । तत्र बीजावापं विना केवलश्रेयैरन्नसंभवात्यलक्षविरोधमाशङ्क्य, तृतीयाहुतौ देवहोमात्कारणभूतत्वेन जलं वर्षतीत्युच्यते । तस्मान्नार्थं श्रुत्येवोक्तम् । 'ता आप अन्नमयजन्ते'ति । तस्मान्प्रत्यक्षस्य लौकिकत्वाच्चिरोधो न दोगापेत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे, 'वासुश्रूत्या धूमो भवती'तिश्रावणाने वाग्वाद्यदयो जन्त्या इति तदनन्तरमाविनी वृष्टिरपि जन्त्या, अपामिवेति कारणभूतं जलं न वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्य, वाग्वाद्याकृतिसाधने स रूपान्य-

भावाभावाद्वासुभवनाप्युक्तिगौणी । अतसदनुरोधेन वृष्टौ जन्त्या आपो वक्तुमशक्याः । तस्मात्कारणभूता एव ता आप इति निर्बाधमित्युक्तम् । ततस्तृतीये सूत्रे, शीघ्रमेव वृष्टेः सकाशादन्नरूपो भवतीत्युक्तम् । तेन तृतीयाहुतिः सफला विचारिता ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे क्रिस्त्रे, अन्याधिष्ठित इत्यधिकरणे, अन्नद्वितीयवचनरूपा वतुर्था आहुतिर्विचार्यते । तत्रान्नस्य कण्डनपाकादौ क्रियमाणे जीवस्यापगमात्कर्म जीवस्य रेतोभाव इत्याशङ्क्य, उसे बीजे पापिजीवान्तराधिष्ठितेऽन्नरूपेण जायमाने पश्चाद्दृष्टौ देवहुतौ जीवोऽन्ने प्रविश्यातिथिवन्निरभिमानस्यत्र तिष्ठतीति न तस्य कण्डनादिक्रिया, किन्तु पापिन एव सः । न च तस्यापगमः शङ्कनीयः । सिद्धाद्वादेर्बहुकालपर्युपितत्वे क्रमिभावदर्शनात् । एवं तस्यान्नस्य भक्षणेपि पापिन एवान्नभूतस्य जरणादिक्रियाः, नास्य निरभिमानस्येति तस्य रेतोभावो युक्त इत्युक्तम् । ततो द्वितीये सूत्रे तस्मिन्नन्ने पापिजीवसहभावाद्वाद्रस्या-शुद्धौ कथं तेन योग्यदेहसंपत्तिरित्याशङ्क्य, यथा वैदिकेन श्रोत्रादिसंस्कारेण लौकिक-बीदीनां शुद्धिः, तथा वैदिकेन देवकृतहोमरूपसंस्कारेण तस्यान्नस्य शुद्धिरिति । तेन योग्यदेहनिष्पत्तिः निष्पत्त्येह्युक्तम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे एकसूत्रे रेतःसिगधिकरणे, रेतस्य पुरुषभावो विचारितः ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे एकसूत्रे योग्येःशरीरमित्यधिकरणे, गर्भस्य न पुरुषत्वम्, किन्तु प-
द्विर्गतेत्येव पुरुषत्वमिति निर्णीयते ॥ अत्र सर्वत्रावसर एव संगतिरिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

तेन अधन्याधिकारिणो देहनिष्पत्तिविचारः, मध्यमस्य च योगादिना देहसंपत्तौ पुन-
र्विचारात्नाभावाय वैराग्यविचारः पादार्थत्वेन सिध्यति । गुल्याधिकारिणां तु वरणादेव
तत्सिद्धिरिति नात्र तद्विचार इति बोध्यम् ॥

इति श्रीबह्मभाष्येचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ द्वितीये पादे जीवस्य स्वरूपतो मुक्तियोग्यता विचार्यते । प्रथमपादोक्तया यो-
ग्यताया ज्ञानोक्तिरूपे साधने एव पर्यवसानात् । तदुत्तरं विषयनिश्चयश्च सिध्यते । तेना-
धिकारसिद्धनन्तरं विषयस्य निश्चयो वेदान्तार्थरूपब्रह्मस्वरूपस्य शब्दं परोक्षज्ञानं इदि
स्थिरिमवतीत्येतदर्थं पादारभ्यः । तथा सति पादयोरेककार्यत्वं सङ्गतिः । आनन्तर्विन्या-
सक उपजीव्योपजीवकभावश्चेति बोध्यम् । अत्रैकादशाधिकरणानि । तत्र प्रथमै-
श्वरिभिः जीवस्य स्वप्नसुषुप्तिजाग्रदवस्था मुक्तियोग्यताज्ञापनार्थमुपोदातेन विचार्यते ।
अन्तैरैरष्टभिः ब्रह्मस्वरूपम् ।

तत्र प्रथमे षट्सूत्रे सन्ध्याधिकरणे द्रव्यां स्वप्नसुषुप्तिवगतसत्कर्तृत्वं च यहृद्-
दारभ्यते काठके च श्रावितं तत्स्थितिसंबन्धो जीवस्य भवतीति निरूपिता शुद्धिर्व्यर्थेत्या-
६ वेदा-

शक्य, तृतीये तस्याः सूत्रेः मायामात्रत्वेन भिन्न्यात्वं साध्येते । तेन जीवस्य तत्कृतगुण-
दोषैर्यस्यैवमात्रावात्र पूर्वोक्तशुद्धिनिरूपणस्य वैयर्थ्यम् । तत्रञ्चतुर्थे स्वप्रगृह्यमित्यात्वे
तत्कारणस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षाया स्प्रमस्य क्वचित् शुभाशुभसूचकत्वात्फलतः सत्यत्वम्,
अन्यत्र तु तादृशभगवल्लीलाप्रदर्शनाभावं प्रयोजनमित्युच्यते, तत्र वैराग्याय फलिष्यति ।
ततः पञ्चमे जीवस्यापि भगवदंशत्वात्कथं सूत्रे दुःखसंभन्धः, दुःखाद्यभिमानो वेत्याकांक्षायां
भगवदभिष्यानात् जीवलैश्वर्योदितद्वयधर्मितोरभावेन जीवस्य यत्रो भगवद्धर्मविपरितीतधर्मवत्त्वं
न भवति तत्र दुःखित्वादिं कं तदभिमानश्च । ततो भगवदिच्छया कथञ्चिन्मोक्षश्चेति
स्वमतसुकम् । ततः षष्ठे देहयोगाद्वा ऐश्वर्योदितोरभावे नन्वदुःखादिकं चेति मतान्तर-
सुकम् । अस्मिन्पक्षे देहवियोगे सत्यैश्वर्याद्याविर्भावः, पूर्वस्मिन्पक्षे तु देहसद्भाव्येऽपि
भगवदिच्छया ऐश्वर्याद्याविर्भावो बन्धाभावत्वैश्वर्याद्याविर्भावदशायां दुःखित्वादिसर्व-
दोषाभावाद् मुक्तियोग्यता निरप्रत्युद्देशेति सिद्धम् ॥ १ ॥

ततः द्वितीये एकसूत्रे तदभावो नाडीष्वित्यधिकरणे जीवस्य द्विधा
सुषुप्तिः । एका नाडीयु, द्वितीया सतत्प्रपत्तौ । तत्र प्रथमायां दुःखाभावमात्रम्, द्वितीयायां
तु सुखसंपत्तिरिति द्विधाचामपि सुषुप्तौ न प्रथमसुषुप्तिरिति प्रसंगाद्विचारितम् ॥ २ ॥

ततस्तृतीये त्रिसूत्रे अतःप्रबोध इत्यधिकरणे प्रथमसूत्रे जाग्रदवस्थापि भगवत
एव भवतीति, यत्र स्वपिति तत्रैव जागति, पश्चाद्बुद्धं समागच्छति चेति निरूपितम् ।
ततो द्वितीये सूत्रे स एव जीवः समायाति, अन्यो वेत्याशंक्य, कर्मानुस्यूत्यादिभिर्हेतुभिः स
एव समायातीति निर्णीतम् । ततस्तृतीये सूत्रे मूर्च्छाविशेषेऽपि सुषुप्ते कर्मानुस्यूत्यादयो
न संभवन्ति । तत्र स एवान्यो वेत्याशंक्य, तत्र स वाऽन्यो वेति संदेह एव पर्यवसतीति
सिद्धान्तितम् । अयं च विचारः प्रसंगानुसंगेभायात एव ।

एवमधिकरणत्रयेण स्वमसुषुप्तिजाग्रदप्रवस्थात्रयं भगवत्कृतमेव । तत्र जाग्रति जीवस्य
मात्रासंसर्गवर्णार्थमुपनिषदर्थनिश्चय आवश्यक इति सूचितम् । एताश्च गुणतो बुद्ध-
वस्थाः । तत्र स्वसो राजसः, सुषुप्तिः तामसी, जाग्रदवस्था सात्त्विकी । जीवस्य देहयोगेन
स्वस्मिन्नभिभवंत्यते, तस्मादेक एव जीवः स्वसादिरोषसंभन्धरहितस्तादृशजनमनुगतो भगव-
ज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारीति त्रिसिद्धिकारणैः सिद्धमिति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे त्रिसूत्रे उभयलिङ्गाधिकरणे ब्रह्मणः साकारत्वं निराकारत्वं चेत्यु-
भयं सर्वत्र श्रूयत इति स्थानोपायिकं तत्तदवच्छेदभेदेन च न वक्तुं शक्यत इत्युच्यते ।
न चोक्तप्रकरणे ब्रह्मभेदेऽङ्गीकृतो न दोष इति वक्तुं शक्यम्, सर्वत्र ब्रह्मण एकसैव कथ-
नाद्, भेददर्शने दोषकथनाच्च । एवमुभयलिङ्गविरोधे सिद्धे उपनिषदां पूर्वोक्त्यापद्यदोक्त
ब्रह्मचोपकता वक्तुं न शक्यत इत्याक्षेपसंगत्योक्तम् ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे पञ्चसूत्रे अरूपवदेव हीनत्वधिकरणे एकदेशिभनेन समाधानमुच्यते ।
सत्यमुभयलिङ्गविरोधस्तथापि 'सर्वकामः सर्वगन्धः' इत्यादयो जडजीवधर्मो ब्रह्मण्युपदिश्य-
माना उपसर्तार्थो भवन्ति । न च जडस्य भगवत्कार्यत्वाजीवस्य भगवदंशत्वापद्यदमो
अपि भगवद्धर्मो एवेति कथमुपसर्तार्थत्वमिति शक्यम् । 'बहु स्या'मितीच्छया भगवत
एव कार्यरूपतयांशरूपतया चैकदेशेन भवनात्कारणरूपस्य ततो भिन्नतया तस्मिन् रूपे
जडजीवधर्मनिषेध एव युक्तः । तथा चाद्वैतपक्षे जडजीवधर्मोपामपि ब्रह्मात्मकत्वाद्
ब्रह्मत्वमेव, न तु ब्रह्मधर्मत्वम्, अतः सर्वकर्तृत्वादीनां ब्रह्मण्युपचार एव, अरूपवतः
सर्वप्रपञ्चविलेक्षणत्वेऽप्युदादिवाक्यैः प्रधानत्वेन निरूपणात् । ततो द्वितीयसूत्रे एवं
ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वे शास्त्रवैफल्यम्, 'मनसैवेतदास्य'मित्यादिश्रुतिविरोधश्चेत्या-
शंक्य, यथा सौरः प्रकाशो भगवद्द्वार्याऽव्यवहार्यश्च स्वतो न कर्तुं शक्यते, आगते तु सूर्ये
मेघाद्यभावेन साक्षिध्यात् व्यवहर्तुं शक्यते, तथा लौकिकवाच्यनोमिर्ब्रह्म स्वतो न व्यवहर्तुं
शक्यते, ईश्वरसंनिधाने तु शक्यते, अतोऽसन्निधाने सर्वव्यवहारातीतत्वम्, सन्निधाने तु
धर्मवत्त्वेन व्यवहार्यत्वमिति न शास्त्रवैफल्यम् । नापि श्रुतिविरोधः । अन्यथा 'तं स्वैपनिषद्
पुरुषं पृच्छामि' 'यतो वाचो भवितेन्न' इत्यादिप्वन्यतरवैयर्थ्यं स्यात् । अतः सन्निधानासन्नि-
धानाभ्यां सधर्मकत्वनिर्धर्मकत्वोचनव्यवस्था मन्तव्येत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे 'बासीनो
दूरं प्रवति', 'अपाणिपादो जवतो प्रहीते'त्यादौ परस्परविरुद्धा अलौकिकधर्मोः अकारणक-
कार्यवचनाश्लिषाः श्राव्यन्त इत्यव्यवहार्येपि तादृशवर्षसिद्ध्या शास्त्रवैफल्यनिरास इति
किमर्थं सन्निधानासन्निधानाभ्यां व्यवस्थांगीक्रियते, अलौकिकानिन्द्रियाण्येव कुतो नांगी-
क्रियन्त इत्याशंक्य, बृहदारण्यके 'स यथा सैन्धवधन' इत्यादिना कृत्स्नस्य ब्रह्मणः प्रज्ञान-
धनत्वश्रावणात्त्रेन्द्रियाणि कल्पयितुं शक्यानि । न च क्रियाभावोपि । तत्रैव वेदानां निःसृ-
तत्वस्य मृतसमुत्पत्त्यानादेव श्रावणेन, तत्रैव निःश्वासोरानकल्पयोक्तत्वात् । अतो ब्रह्मैव
सर्वाकारस्वरूपं, कृत्स्नत्वश्रावणात् । तस्मादिन्द्रियकल्पनया विरोधरिहासो न युक्त
इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे सूत्रे नन्वभिन्ननिमित्तोपादानतया ब्रह्म जगत्कारणत्वेन सिद्धम्,
कारणधर्मो एव च कार्ये भवति, कामादयस्तु श्राव्यन्ते निषिध्यन्ते च, वेदवादिभिरु-
च्यन्त्यन्या न कल्पनीयम्, अतः कथं विरोधपरिहार इत्याशंक्य, मृतोमूर्त्तब्रह्मणो ब्रह्मणो
रूपद्वयमुक्त्वा, 'अथात आदेशो नेति' तिवाद्यदं कथनेन कार्यकारणयोः समान-
प्रकारनिषेधः, कारणस्य ब्रह्मण एव त्वनिषेधश्च क्रियते । एवं रूपं निरूप्य 'तत्सत्य
सत्य'मिति नाम च श्राव्यते, तेन प्रपञ्चातिरिक्तस्य ब्रह्मणो विद्यमानत्वात् तस्मिन् जडजीव-
धर्मोपामौपचारिकत्वमेव युक्तम् । गीतास्तथापि 'सर्वेन्द्रियगुणानां सर्वेन्द्रियविवर्धित'
मिति 'अनादिमत्सरं ब्रह्म न सत् तन्नासद्भुत्ये' इति चोच्यते । तेन श्रुतिस्तुतिभ्यां जड-
जीवधर्मरहितं ब्रह्मेति सिध्यतीत्युक्तम् । ततः पञ्चमे प्रथमधर्मो ब्रह्मण्योपचारिका इत्यत्र

निदर्शान्तरमप्युच्यते, 'यथा ह्ययं ज्योतिराल्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुयैकोनुगच्छन्, उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रध्वेवमजोयमात्मै'तिस्त्वतो उपाधिना रूपभेदक्य-
नात्, 'सम भुविणे'त्यादावपि निरुमस्य भगवतो यत् ऋष्यादिकमुपमानं तदप्युपाधि-
संबन्धादेव जलसूर्यन्यायेन संभवति । तस्मात् साकारेपि ब्रह्मणि ते धर्माः न सन्तीत्यौप-
चारिका मन्तव्याः, उपासनाधर्ममिति नोपगच्छन्तिविरोध इत्येकदेशिभतेन समाधानम् ।
एतस्य मतस्य किञ्चिदंशेनोपादेयत्वाय प्रसंगादुक्तम् ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे चतुःसूत्रे अम्बुबद्धमृगाणादित्यधिकरणे एकदेशिमतं दृषयित्वा
स्वमतेन विरोधः समाधीयते । यदुक्तं समवायतिरिक्तस्य ब्रह्मणः समवेतजडजीवसं-
बन्धात् सर्वकामत्वादायः प्रतिबिम्बे विम्बधर्मवत् प्रतीयन्ते, तस्मादौपचारिका इति ।
तदयुक्तम् । तथाहि । समवायतिरिक्तस्य ब्रह्मणो जडजीवेषु प्रतिबिम्बो न वक्तुं शक्यः,
तेषामखल्वत्त्वेन प्रतिबिम्बाग्राहकत्वात् । ब्रह्मणो व्यापकत्वेन तत्र विद्यमानत्वाच्च । यदि
ह्यखल्वे व्यापकस्य प्रतिबिम्बः स्यात्, शरणाप्याकाशस्य स्यात्, स तु न दृश्यत इति ।
तस्मादुक्तरीत्यापचारिकत्वमंगीकृत्य समाधानमसंगतमिति प्रथमसूत्रे उक्तम् । ततो
द्वितीयसूत्रे यथा व्यापकस्याप्याकाशस्य करकादिप्रवेशे वृद्धिहासमाकर्त्वं, महाना-
काशः खल्व आकाश इत्याद्यप्रथमप्रतीतः । न च महत्त्वात्पत्वादीनामीपाधिकत्वम् । कर-
कादीनां व्यञ्जकत्वेन जनकत्वानङ्गीकारात् । तथा च यथाकाशे सदोदितव्यंग्यमेदेन व्यापक-
त्वात्सत्ययोः सामञ्जस्यम्, तथा ब्रह्मणि निर्धर्मकत्वसधर्मकत्वयोरपि सामञ्जसात् ब्रह्मगता एव
सर्वकामत्वाद्दयो जडजीवाभ्यामभिव्यज्यन्ते । तस्मात्ते ब्रह्मगता एवेति आकाशधर्मवद्बु-
द्ध्यल्लज्जलविरोधपरिहारः । तत्सन्तृण्णिये सूत्रे दर्शनापि विरोधपरिहारः क्रियते ।
न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, व्यापानात्, अतो विरुद्धधर्माश्रयमेव ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । दर्शने
च सूत्राभ्युपगम्योदखलबन्धनादिषु स्मःमिति परमायतेः स्वरूपविचारेण ब्रह्मत्वाभावादेव
विरोधपरिहारः । तत्र ब्रह्मणो युक्त्यापि विरोधः परहित्येति । प्रकृते ब्रह्मणि लौकिक
जडजीवधर्माः निषिध्यन्ते । अस्त्युदादिवाक्येषु स्पृहादिपशुंदाससैव दर्शनात् । तथा
च पर्युंदासः सहस्राहीति स्पृहसदृशं ब्रह्मेत्वं सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपं ग्राहयति । तथा सति
सदोदितमेव तत् । न च व्यंग्यमेव तदिति वाच्यम् । यतो यत्रैव धर्मान् निषेधति,
तत्रैवालौकिकान् वक्ति, यथाऽस्पृहादिवाक्ये 'एतल्लेवाक्षरस्य प्रकाशने गर्गा'त्यादि-
नालौकिकं प्रशासितुत्वादिर्कं वदति, तथा सति तत्सदृशरितत्वात् स्पृहत्वाद्दोष्यलौ-
किका एव सदोदिताः सेत्सन्तीति लौकिकानां निषेधः, अलौकिकानां सत्ता, इति युज्या
विरोधपरिहार इति मतेन शब्दबलविचारेण देवा समाधानम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे सूत्रे अम्बुबद्धमृगाणादित्यधिकरणे तदव्यक्तब्रह्म हीत्यधिकरणेऽर्थबलविचारेण विरोधः परि-
ह्रियते, अन्यथा अर्थबलेन विचारकापाशुपीणामाशेष उचितेदिति तत्रिचारणायामारम्भः ।

तत्र सर्वेणि विरुद्धवाक्यानुदाहृत्य चिन्तन्ते, 'न चक्षुषा गृह्यते,' 'कश्चिद्दीरः प्रलवा-
त्मानमेक्षत,' 'अपाणिपादः,' 'विश्वतश्चक्षुरित्वादीनि विरुद्धवाक्यानि श्रौतत्वात्
प्रमाणानि । वस्तुविचारे तु एकं वस्तु द्विरूपं न संभवति । अतः प्रमाणान्तराज्युरोचने
एकस्य स्वार्थं प्रामाण्यमन्यस्तोपचरितार्थत्वं वक्तव्यम् । तत्र कस्य स्वार्थत्वं, कस्योपचरि-
तार्थत्वमित्याकांक्षायां 'अगृह्यो नहि गृह्यते,' इति श्रुतिः प्रत्यक्षानुरोधिनी । नहि ब्रह्म
केनचित् चक्षुषा वा मनसा वा दृष्टमस्ति, सर्वै(स)रूपत्वे तु सर्वैर्दृष्टं शक्येत, तस्मात्
सर्वधर्मवत्त्वेन प्रतिपादकानि चकानानुपचरितार्थानि, अत्रुभवविरोधात्, अव्यक्तत्वबोध-
नात् स्वार्थप्रतिपादकानि, अत्रुभवसंवादादि प्रतिप्रथमसूत्रे पूर्वपक्षसुकृता, अपि संहरा-
घन इति द्वितीयेन समाधानमाह । 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैदि,' 'यमेवैव ब्रह्मते'
इत्यादिश्रुतिभिः, 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यादिस्मृतिभिश्च साकारब्रह्मणो दर्शनमु-
च्यते । 'तत्स्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान' इत्यनेन निष्कलसापि दर्शनमुच्यते ।
अतः प्रत्यक्षस्य रूपद्वयसाधारणत्वात् साकारमनन्तगुणपरिपूर्णं निर्गुणं विरुद्धधर्माश्रयं ब्र-
ह्मेति साक्षात्क्रियमाणार्थबलेन साक्षात्काररूपार्थबलेन वा निर्णय इति साधितम् ॥ ७ ॥

ततोष्टमे त्रिसूत्रे प्रकाशादिब्रह्मेत्याधिकरणे पूर्वोक्त एवार्थः प्रकारान्तरेण सिंरी-
क्रियते । तत्र यथा सर्वैचन्द्रमिप्रकाशादिब्रह्मणशीतोऽयवत्त्वाः स्वार्थः प्रतीयमाना अपि
तेजसि तावन्तो नाङ्गीक्रियन्ते, किन्तु एव स्वार्थोकीक्रियते, एवं द्विमतसङ्गुडादिषु
प्रतीयमाना अपि जले तावन्तो नाङ्गीक्रियन्ते, किन्तु शीतस्पर्श एवाङ्गीक्रियते, एवं सु-
वर्णं वर्णभेदा अपि, अतो न ते स्वाभाविकः' तेजस्वादिस्वभावदानिसङ्घात्, तथा ब्रह्म-
णोऽपि निर्विशेषत्वमेवाङ्गीकर्त्वं, सर्वत्र निर्विशेषं ब्रह्मेत्वं प्रसिद्धेः । अत एव 'अगृह्यो नहि
गृह्यते' इत्यादिभ्रुतयोऽपि सन्नच्छन्ते । न च पूर्वोक्तश्रुतिप्रत्यक्षदेः का गतिरिति शङ्कनीयम् ।
तपःप्रणिधानादिकर्मणि यथा तेषामुपासकानां कामत्वात् प्रकटीयवतीति तत्प्रत्यक्षदेः
ताच्छप्रत्यक्षम् । अतएव कश्चित्त्यल्लं कश्चित्त्यन्याप्रत्यक्षं च । यद्येकारमेकरूप एव प्रकटः
स्यात्तादृशरूपमङ्गीक्रियेतापि, किन्तु तत्रैवार्थं किञ्चिद्व्यत्ययेन प्रकटीयवति । अतः प्रका-
शोऽपि कृत्रिम एव, दीपप्रकाशवदित्येका शंका । तस्मान्न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णय इति
प्रथमसूत्रे उक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे एकस्य वस्तुनः निमित्तं विना प्रतिब्रह्मणमन्या-
न्यादृशत्वं न वक्तुं शक्यते, अतो नन्तरूपेणाविर्भावे भक्तकाम एव निमित्तम् । तथा सति
तद्विग्रह एव, न तु ब्रह्मस्वरूपम् । अतएव 'यद्यद्विद्या त उज्गाय विभावयन्ति तच्छु-
प्रणयसे सदनुग्रहयति' इति तृतीयसूत्रे ब्रह्मणानुक्तम् । अतस्तच्छरीरेभ्यः, न तु ब्रह्म-
रूपमिति द्वितीया शंका । तस्मान्न श्रुत्या निर्णयः, नापि भक्तप्रत्यक्षेणेति स्पष्टहेतुवत्त्वम्,
तृतीयसूत्रेण सिद्धान्तमाह । नैवं केवलमुक्त्या लौकिकदृष्टान्तेन निर्णयः कर्तुं शक्यः,

शास्त्रवैयर्थ्यप्रसंगात् । अत्र हि वेदादेव ब्रह्मस्वरूपमवगम्यते, तत्कथं स्वरूपशक्यैकतर-
निर्णयः, वेदे निर्गुणत्वेनानन्तगुणपूर्णत्वेन च व्यपदेशात् । तद्येकस्यानेकधामानं कथमिति
तु न शक्यम् । यथा कुण्ड एव सपे क्रुद्धनेकाकारः कुण्डलश्च भवति, तद्वद्वययरूपताया
उपपत्तेः । न चैवं यथाश्रुताङ्गीकारे शास्त्रवैकल्यं शक्यम्, नानास्वभावैः सूरिव्यामोहे
तन्निवारणार्थत्वेन शास्त्रसाक्षात्पत् । तस्माच्छ्रुतिप्रत्यक्षान्यां यत्पूर्वं निर्णय उक्तः, स
एव सिद्धान्त इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

ततो नवमे त्रिसूत्रे प्रकाशाश्रयवद्वेलाधिकरणे धर्मस्वरूपविचारेण ब्रह्म सुगुणं
निर्गुणमिति पक्षद्वयमपि स्थाप्यते । तत्र धर्मा यदि ब्रह्मस्वरूपाद्भिन्नास्तदा कार्याः,
यद्यभिन्नास्तदा ब्रह्मैवेत्याशङ्क्य, प्रकाशाश्रयवत् भिन्नाभिन्ना इति सिद्धान्त उक्तः । यथा
प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयस्तेजःप्रकाशाद्भिन्नाः प्रकाशधर्मकत्वात्, अग्निश्चाश्च तेजस्त्वात्,
एवं 'परास्य शक्ति'रित्यादौ षष्ठीनिर्देशाद्भिन्नाः, सच्चिदानन्दरूपत्वेनाभिन्नाश्च । तथा च
धर्माणां भिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽनन्तगुणपूर्णत्वं, तेषामपि सच्चिदानन्दरूपत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वाद्ब्र-
ह्मणो निर्गुणत्वमित्युभयमप्युपपन्नमिति स्वमतम् । ततः पूर्वं ब्रह्म निर्गुणमेव, पश्चादिच्छा-
रूपेण, ततो धर्मरूपेण, ततः प्रपञ्चरूपेणविर्मवतीत्युत्पत्तिविचारेण धर्माणां पश्चाद्भि-
न्नत्वेपि कार्यत्वाद्ब्रह्मत्वं कटककुण्डलादीनां युवर्णत्वंदिलोकदेशिमतमपि सूत्रद्वयेनोपा-
कृतम् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अत्राप्युपपत्तेरिति । एतयोः प्रथममेव व्याय
इति आभ्यप्रकाशदबन्तव्यम् । एतेषां पश्चानामप्यधिकरणानामेककार्यकारित्वं संगति-
रवगन्तव्या । पञ्चमिरपि श्रुतिर्बोधकात्प्रकारत्वेन निश्चायनात् ॥ ९ ॥

ततो दशमे सप्तसूत्रे परमतः सेतुन्मानेलाधिकरणे, 'य आत्मा स सेतुर्विच-
रण' इत्यादिभिः श्रुतिभिर्मिषेणः सेतुत्वादिकमुक्तम्, ब्रह्मणस्तथात्वे परत्वं न संगच्छते,
सेत्वादीनां साधनादिरूपत्वात् । अतो देशकालवस्तुस्वरूपकृतचतुर्विधपरिच्छेदरहितं
ब्रह्मणोऽन्यदेव किञ्चित्परं वक्तव्यमिति प्रथमसूत्रे आशङ्क्य, द्वितीये 'सेत्वादि सामान्या-
दिकेत्वादिष्यपदेशार्थः । संसारसमारतरणोपायत्वात्सेतुत्वम्, निर्लेपत्वायाकाशत्वमित्या-
दिकं गौणया व्यपदिश्यते । यथा कुण्डपायिनमयने 'मासमग्निहोत्रं ब्रह्मोती'ति, तस्मात्
गुणार्थमेव तदुक्तिः, न तु सर्वप्रकारकसाम्यार्थम् । अतः सेत्वादिदोषाभावात् ब्रह्मैव
परम्, नान्यदिति समाहितम् । ततस्तृतीये यथा यत्नादि पादवत्त्वेनोपासनीयम्,
तथा गौणान्यसमानधर्मवत्त्वव्यपदेशस्य किंप्रयोजनमिलाकाक्षायां सेत्वादिधर्मवत्त्वेनोपास-
नीयमित्युपासनासन्धिर्त्वं प्रयोजनसुक्तम् । ततश्चतुर्थे स एवावमित्यतिदेशेऽप्युपासना-
संघतेः किमथो धर्मातिदेश इत्याशङ्क्य, यथा चन्द्रादिलाभितेजसां तेजस्त्वेनैक्येपि स्था-
नविशेषाच्च समानप्रकाशकत्वम्, तथा स एवावमित्यतिदेशेऽपि न समानधर्मवत्त्वमिति
ज्ञानसंभवात्, तन्निवृत्त्यर्थं धर्मातिदेश इति प्रयोजनमित्युक्तम् । तेन ब्रह्मैव सर्वत्रोक्तम्-

मिति साधितम् । ततः पञ्चमे ब्रह्मणोऽन्यत् परमितिमतस्य दृष्टवार्थ, यदि हि स्वत्यजान्त-
द्युक्तधर्मविशिष्टब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चित्परं स्यात्, तदा येनकेनचित्प्रमाणेन प्रमितं स्यात्,
यतो नैवमतो नैवमितिप्रमाणमावयुरूपं युक्तिरुक्ता । ततः षष्ठे यथा ब्रह्मणि सेतुत्वादिकं
श्रुत्योक्तम्, तथा 'न तत्तमश्चाम्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्या समाभ्यधिकनिषेधोऽयुक्तः ।
यदि ब्रह्मणः सकाशादधिकं परमन्यत्स्यात्तदा तद्विनिषेधेत्, यत एवमतो नैवमिति सुच्य-
न्तसुक्तम् । तस्मात्सेत्वायुक्तिर्गौण्येवेति साधितम् । ततः सप्तमे ब्रह्मणोऽन्यस्य परत्वं
निरासेन 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुत्यमि एव ब्रह्मणः सर्वगतत्वम्, नल्-
नुमान्येकशयम् । अनुमानं तु श्रुतिस्त्वंदित्वात्प्रमाणमस्तिवति फलितसुक्तम् । तेन ब्रह्मण
एव परत्वम्, नान्यस्य । यद्यपि समन्वयविचार एवैताः श्रुतीः विचार्य दोषाः परिहृताः,
तथापि स्वरूपविरोधपरिहारप्रस्तावात्पुनरुच्यन्ते । सर्ववाक्यप्रतिपाद्यमेकमेव ब्रह्मत्वमपि
अर्थवत्त्वविचारेण न सिद्धम्, अतो विशिष्टज्ञानोत्पादनार्थं पुनः अर्थवत्त्वेन विचारितम्;
अतो न दोष इति ज्ञेयम् । अर्थवत्त्वं च सामान्यधिकरित्तं यत्स्वरूपं तद्वत्त्वम् । एवं
सर्वोत्तमत्वनिरूपणेनोत्तमाधिकारिणां भजनीयत्वप्रयोजकं रूपं वदयमाणोपोद्घाततया
निरूपितम् । एवमत्रेऽपि ॥ १० ॥

तत एकादशे चतुःसूत्रे फलमत इत्यधिकरणे जघन्यमध्यमानामर्थे ब्रह्मणः
फलदत्वं सूत्रद्वयेनोप्यते । ततस्तृतीये श्रुत्युपपत्तिनां जैमिनिमतने धर्मस्य फलदात्वं-
माशङ्क्य, चतुर्थेन भगवत एव कर्मकारयितुत्वाच्च धर्मस्य फलदाने सातद्वयम्, किन्तु
ब्रह्मण एव इत्येवं तन्मतं दृश्यते ॥ ११ ॥

एवमष्टमिधिकरणेः श्रुतीनां बोधकताप्रकारविचारेण तत्तदधिकारिणं प्रति श्रुतीनां
तादृशादृष्टबोधजनकत्वमित्यस्मिन्पादे निर्णयितमिति बोध्यम् ।

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बररत्नमजपुराणोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अत्र पूर्वपादे श्रुतीनां बोधकताप्रकारनिरूपणेन यथा परोक्षज्ञानजनकत्वं तथा निरू-
पितम् । अतःपरं यथा साक्षात्कारो भवति, तथा तत्साधनमुपासनारूपं वक्तव्यम् ।
उपासनार्थां च क्रियमाणार्थां धारणासिद्धौ मानसी मूर्तिरभिव्यक्ता भवति । तत उपासना-
परिपाके साक्षात्कार इति तदर्थमस्मिन्पादे गुणोपसंहारोन्तरङ्गविचारेण कर्तव्यतया विचा-
र्यते । तत्र किमन्तरङ्गमिलाकाक्षायां 'योगाश्चो मया प्रोक्ता' इति भगवदुक्तेऽपि
साधनेषु ज्ञानयत्नो अन्तरङ्गे । तत्र निर्विण्णाधिकारकत्वात् ज्ञानस्यान्तरङ्गात् । निर्वेदाभावेपि
लौकिकत्वात्सक्तिरहित्वाधिकारकत्वाद्भेदोन्तरङ्गतोति भेदः । कर्म तु कामाधिकारकत्वाद्दहि-
तसाधनम् । अतः कर्मोपसंहारात्पूर्वं ज्ञानभक्त्युपयोगित्वात् पूर्वं गुणोपसंहारो विचार्यते ।

स कथं कर्तव्य इत्याकांक्षायां ज्ञानभक्तयोः सविषयत्वात् पूर्वं विषयो विचारणीयः । तत्र विषयः पूर्वसिद्धं ब्रह्म, तदेव च फलदात्र समर्थमिति द्वितीयपादान्ते स्थितम् । तदे-
तत्स्मारयितुमुपसंहारोपोद्घातत्वेन ज्ञानभक्तयोर्विषयतया ब्रह्मणः ज्ञानभक्तिषु युक्ततयो-
पासनायाश्च सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं सूत्रद्वयेन विचारितम् । तेन ज्ञानाधिकारिमित्येवोपासना
कार्यमिति सेत्स्यति ॥ १ ॥

तत इहानीन्तनानां सर्वशास्त्राज्ञानाभावेन सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वस्यानभारयितुमसम्भवा-
त्तद्योग्यकाराय भक्तिमार्गीयोपासनेोपासनायां काम्योपासनेोपासनायां च तत्तन्मात्राद्युक्तद्वि-
ष्टाचारमनुसृत्य, तत्तद्व्यक्तिमनुसृत्य, तत्तत्काम्यमनुसृत्य च स्वाध्यायादिसूत्रद्वयेऽनुपसंहार-
हेतुकथनेन तत्तद्गुणोपसंहाररूपः संकोचो विचारितः ॥ २ ॥

ततो गुणोपसंहार एवास्य पादस्यार्थ इति बोधयितुमुपसंहारसूत्रेण सर्वोपसंहारतत्सं-
कोचयोः काम्योपासनेोपासनेोपसंहारस्य च बीजमुक्तम् । ततोऽन्यथात्वादिसूत्रत्रयमध्ये
प्रथमेन सर्वोपसंहारपक्षेऽत्रत्यत्वरूपं बाधकं निवारितम् । ततो द्वाभ्यां संकोचपक्षे तदेव
बाधकान्तरेण भक्तिमार्गीयोपासकानामर्थं निवारितम् । ततश्च अनित्यत्वेन प्रतीयमानानां
स्वरूपधर्माणामेकेन नित्यत्वं, तदधिमे तदुपसर्ग्यैव भक्तनित्यत्वं, लीलापदार्थानां भगवद्-
भेदक्षोपपादितः । एवं लीलापदार्थानां भगवद्भेदे सति भगवत्प्रत्ययत्वं सादिति तच्चि-
त्त्यर्थे पूर्णानन्दत्वादीनां भगवदसाधारणधर्माणां तेषाम्भाव आनन्दद्विस्तरेण प्रतिपादितः ।
तेन भक्तेषु तदनुपसंहारः सिध्यति । ततः श्रियतिस्त्वसूत्रे अधिकादिभेदेन स्वरूपोपा-
सकस्य श्रियत्वादीनां शिरस्त्वादिरूपेणानुपसंहारस्योपसंहारश्च प्रतिपादितः । तत एकै-
नोपसंहारपक्षे बीजमुक्तम् । तत आध्यानादिसूत्रद्वये उपसंहारसंकोचे बीजमुक्तम् । एवमस्मि-
न्नधिकरणे पादार्थरूप उपसंहारप्रकारः सपरिकरो विचारितः । भगवतः कैवल्यरूपं
सुख्यत्वरूपमैक्यं च समर्थितम् । ततोऽपि एतल्लेख प्रपन्नः ॥ १ ॥

ततोऽपि चतुर्भिरधिकरणैरुपासनानियामकसंभक्तिभेदे रूपस्यैव संभवो विचार्यते ।
तत्रादौ द्वितीये द्विसूत्रे आत्ममयीत्यधिकरणे तद्गुणोपसंहारनियमनाय तच्चि-
त्तिद्वारा ब्रह्मण एव फलदातृत्वसमर्थनाय भक्तिज्ञानमार्गोपासकशान्त्युत्पादनाय विमूर्तीनां
ब्रह्मात्मकत्वभावनाय च अन्नमयादिसु विमूर्तिव्यानन्दमयस्यैव शरीराभिमानीत्वं विचारितम् ।

ततस्मृतीये षट्सूत्रे कार्याख्यानादित्यधिकरणे प्रथमसूत्रवर्णकद्वयमध्ये प्रथ-
मवर्णकेन विमूर्त्युपासनेषु आनन्दमयस्याध्यात्मिकरूपेणैव फलदातृत्वरूपविशेषसमर्थ-
नाय पूर्वोक्तविमूर्तीनामन्नमयादीनां चतुर्णां पुरुषाणामाधिभौतिकत्वनिराकरणेनाध्यात्मि-
कत्वं स्मर्यतम् । द्वितीयेन वर्णकेन सर्वगुणोपसंहारायानाधिभौतिकस्योत्पत्त्यस्योत्पत्त्यस्यैवा-
त्कलं ज्ञानभक्तिमार्गीयसम्भारण्येन विचारितम् । ततो द्वितीयस्य आधिभौतिक श्रीकृष्ण-

दिरूपस्यात्कल्पमेवेति व्यापकत्वेकत्वस्यस्यविदानन्दत्वाद्यः सर्वे वर्णा उपसंहारत्वा
इति केवलमन्तर्ग्यं विचारितम् । ततस्मृतीयसूत्रे आवेशिनि जुर्वादात्वापिष्टे रूपे धर्म-
भयवद्गुणोपसंहारः ज्ञानिभकार्यं विचारितः । तत्स्मिरितिवेशिनि गुरुभक्तिमादात्पक्षिष्टे रूपे
तदनुपसंहारः केवलमन्तर्ग्यं विचारितः ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे पुरुषविद्याप्यामित्याधिकरणे उत्तमाधिकारिमिरुषेऽनुपसंहारं
परं श्रौतयोपास्यम्, न विमूर्तिरूपमिति साधितम् । आध्यात्मिकेषु विमूर्तिरूपेषु लयगुण-
उपसंहारेऽसाधारणगुणानांभावना रूपो हेतुश्रोतः ॥ ४ ॥

ततः प्रथमे द्विसूत्रे वेद्यायाधिकरणे पूर्वसूत्रेणासन्नरूपे चेतनविमूर्ते भगवत्सं-
भवाद्योपासनावनिरूपणालेखितकन्यायेन मूलरूपस्य निर्दोषत्वं समर्थितम्, आधिभौतिक-
रूपणां जीवानां सदोषत्वं च बोधितम् । ततो द्वितीये सूत्रे तत्सदोषत्वं भगवत्सकलेश्वर-
विभागदशायामेव, तथा सति मुक्तिदशायाम् तारतम्याभावे प्राप्ते भगवत्सुख्यतापि साधिति
तद्विचारणार्थं तदापि मुक्तिरूपत्वं साधितम् । तेनाध्यात्मिकरूपेषु कतिपयगुणोपसंहारः,
मूलरूपे सर्वगुणोपसंहारः । लौकिकरूपेषु मुक्तिदशायामेव निर्दोषत्वपरिमितगुणोपसंहारो,
न संसारदशायामिति निर्णीतम् । एवं चतुर्भिरधिकरणैः रूपभेदः प्रपन्नितः ॥ ५ ॥

ततः षष्ठाधिकरणमारभ्य षडशभिरधिकरणैरुपसंहारनियामकसत्तन्मार्गैः संभक्ति-
भेदसदधिकारनियामकं मार्गतातरतं च निरूप्यते ।

तत्र षष्ठे द्विसूत्रे संपर्यायाधिकरणे अन्तस्त्रसाधनयोर्ज्ञानभक्तयोर्मूलरूपोपासना-
संभवादविशेषे प्राप्तेवसरसङ्गत्या स्वरूपतो मयोरामभेदज्ञानाज्ज्यायस्त्वस्य भक्तौ दोषमयाव-
स्य च निरूपणेनान्तरङ्गतत्वं निरूपितम् ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे एकसूत्रे गतेरर्थव्यवस्थमित्याधिकरणे हेतुगोचनेन तदेव दृष्टीकृतम्,
मार्गभेदेन पुष्टिभक्तेरन्तरङ्गतत्वं च निरूपितम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे उपपन्नाधिकरणे पुष्टिभक्तेरन्तरङ्गतत्वं दृष्टीकृतम् । एवं त्रिभिरधिकरणै-
रन्तरङ्गसाधनानां त्रैविध्ये निर्णीतं पूर्वं 'इतरे त्वर्थसामान्या'दित्यादिसूत्रत्रयेणोपसंहा-
राणुपसंहाराधीनबोधनेन कृते किमीयोपासनायां के के गुणा उपसंहाराय इत्याकांक्षापि पुरिता ।
ज्ञानमार्गीयोपासनायां तदुपोपसंहारः सर्वे, तत्तद्व्यक्तिमार्गीयोपासनायां तु तत्तदुपयोगिनस्त्वे-
ते इत्यर्थेव सिद्धेरिति ॥ ८ ॥

ततो नवमेऽनियमाधिकरणे ज्ञानोपेक्षयान्तरङ्गाणां भक्तीनां मुक्तिसाधने ससुखयवि-
कल्पयोरनियमः प्रासङ्गेन विचारितः । पादार्थसङ्गतित्त्वे पूर्वसिद्धैवात्रापि ॥ ९ ॥

ततो दशमे आधिकारिकाधिकरणे आधिकारिकाणां मुक्तिसाधने प्रवृत्त्यर्थमाधि-
कारिकाणां भगवद्दर्शनां मुक्तिसाधनत्वामाव उपोद्धान्तर्गभ्रसङ्गत्वा प्रतिपादितः ।

आधिकारिकाणां धर्माणां भगवत्संबन्धितया साधनत्वप्राप्तावपवादसङ्गत्या उपोद्घातवर्गप्रसङ्ग-
सङ्गत्या वा मुक्तिसाधनत्वाभावः प्रतिपादितः । उपसंहारस्तु ज्ञानादिमार्गानुरोपीति तद-
नुसारेणयातीति पादायैनापि संगतिः ॥ १० ॥

ततः पूर्वं संप्रत्यायाधिकरणेषु ज्ञानभक्तयोः स्वरूपतत्सारतम्यसाधनेषु विषयफलरोविशेषा-
दन्तरङ्गतत्वादिकस्याप्रयोजकत्वं प्राप्तमिति तत्रिवारणायैमेकादशे हिस्त्रेऽक्षरविषया-
मित्यधिकरणे ज्ञानभक्तिसंबन्धिविषयफलयोर्भेदबोधेनान्त भक्त्यपेक्षया ज्ञानत्यापकर्षबोधेन
भक्त्यान्तरङ्गतत्वादिकं तथैव सङ्गत्या दृढीकृतम् । उपसंहारस्तु तत्तदुपयोगी प्रागेव सिद्धः ।
ततो ब्राह्मणे हिस्त्रेऽन्तरा भूयन्प्राग्भक्तित्यधिकरणे श्रुतावदंशेद्रोहासनस्य मुख्यत्व-
कथनात् ज्ञाने भक्तौ च तस्य तुल्यत्वादुभयोस्तौत्यस्य ज्ञानाधिक्यस्य वा प्राप्ति तस्या
उपासनाया भक्त्येकदेशत्वकथनेन ज्ञानापेक्षया मुख्यभक्तेर्विरहरूपान्तरङ्गसाधनत उक्तर्षः
पूर्वोक्तसङ्गत्या प्रतिपादितः ॥ १२ ॥

ततश्चतुर्थे हिस्त्रे सैव हील्यधिकरणे प्रथमसूत्रेण विहितविहितरूपया द्वि-
विधया अपि मध्यमभक्तेः पूर्वोक्तसङ्गत्या साधनत उक्तर्षः प्रतिपादितः । द्वितीयसूत्रेण
भगवद्विषयकक्रमादीनामपि मुक्तिफलकत्वकथनेन मुक्तौ भगवद्विषयकत्वरूपसाक्षात्संबन्ध-
स्यैव मुक्तिसाधनतावच्छेदकत्वम्, न तु ज्ञानत्वं भक्तित्वं वेति निरूपितम् ॥ १३ ॥

ततश्चतुर्थे हिस्त्रे आदरादित्यधिकरणे कैमुतिकन्यायेन कर्मोपेक्षया भक्ति-
साधनतायुक्तर्षः कर्मिप्रत्यवस्थाननिवृत्त्यर्थं प्रतिपादितः ॥ १४ ॥

ततः पञ्चदशे एकसूत्रे तन्निर्धारणाधिकरणे स्वकृतवेदमर्यादारक्षार्थं विहितवि-
हितभक्तिमार्गाभिस्य कर्मकरणाकरणयोस्तुल्ये बोधिते । द्वितीयपक्षेपि मुख्यभक्तेः पूर्वोक्त-
भक्तिद्वयायुक्तर्षः साधनतः फलतश्च प्रसङ्गात् प्रतिपादितः ॥ १५ ॥

ततः षोडशे प्रदानचदित्यधिकरणे सर्वात्मभावत्वात्मकमुख्यभक्तेर्विहितयावत्साधनसा-
ध्यत्वनिराकरणेन वरदानवल्यासिरिस्तुक्तम् ॥ १६ ॥

ततः सप्तदशे दशस्तुत्रान्तमके सिद्धभूयस्त्वाधिकरणे सर्वात्मभावत्वात्मकमुख्य-
भक्तेः स्वरूपमन्तरङ्गतमत्वकाशाधनोपार्थं श्रुतिवाक्यैः प्रपञ्चितम् ॥ १७ ॥

ततोऽष्टादशे त्रिन्त्रये व्यतिरेकाधिकरणे ज्ञानिनां पूर्णाक्षरज्ञानाभावस्य प्रतिपादनेन अ-
ग्निमसूत्रद्वये निदर्शनकथनेन च भक्तानां पूर्णतन्त्रज्ञानकथनसर्वात्मभावरूपमुख्यभक्तिफलस्य
भोग्यस्य पुरुषोत्तमज्ञानमध्यमभक्तिफलरूपपुरुषोत्तमसाधुज्यादाधिक्यमर्थतः प्रतिपादितम् ।

तत ऊनविंशे एकसूत्रे सूत्र इत्यधिकरणे फलविचारेण सर्वात्मभावस्य साधन-
दशार्थं दुःस्वरूपदोषः परिहृतः ॥ १९ ॥

एवञ्च पञ्चदशमधिकरणेः सप्तध्विपरमार्गस्तारतम्यं च निरूपितम् । एवं स्वरूप-
परास्युपासनासु तारतम्यबोधनेन तासु तासु तत्तद्भक्तनोपयोगिनो गुणा उपसंहार्या इति
पार्श्वसङ्गतिः ।

ततो विंशे एकसूत्रे ज्ञानाशब्दादिभेदादित्यधिकरणे ततो न्यायानु सत्योपदि-
त्वात्ताररूपोपासनासु नानात्वं विचारितम् ॥ २० ॥

ततोऽग्निमे एकसूत्रे एकविंशे तारां तारां विकल्पो विचारितः । गुणोपसंहारस्तु
तत्तद्भानोपयोग्येत्वे पूर्वोक्तैव व्यवस्था ॥ २१ ॥

ततो ब्राह्मिणे काम्योपासनासु सद्युच्यविकल्पो यथाकामं विचारितौ, तेन तासु तत्त-
त्कामोपयोगी गुणोपसंहारो बोधितः ॥ २२ ॥

ततश्चतुर्विंशे हिस्त्रे अङ्गेष्वित्यधिकरणे उपासनाज्ञानां व्रतानामात्रभित्यस्य
प्रसङ्गाद्विचारितम् ॥ २३ ॥

ततोऽग्निमे द्विस्त्रे समाहारादित्यधिकरणद्वये ज्ञानमार्गीयोपासनासु सर्वगुणोपसं-
हारासुपसंहारावधिकारितेभेदेन विचारितौ । तेन ज्ञानमार्गीयो विचार एवात्र मुख्यो, भक्ति-
मार्गविचारस्तु भक्तौ भगवत्कृपारूपस्वाधिकस्य साधनस्य प्रवेशत्र सर्वोपयोगी चयपि,
तथापि शास्त्रारंभे ब्रह्मसंबन्धिविज्ञासाप्रतिज्ञानुरोधात्कृतः, तल्योजनं स्वमिमादे 'भक्ति-
मार्गप्रचारकहृदयो शास्त्रायण' इति श्लोकेन वक्तव्यमिति ॥ २४, २५ ॥

इति श्रीवैद्यभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतो
वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

वेदान्तेषु कर्माङ्गमूला उद्गीयासुपासना उक्ताः । आचार्येणपि अङ्गेषु यथाश्रयमाव
इत्यादिना पूर्वपादान्ते ता विचारिताः । भाष्यकारैरपि प्राचीनवृत्तिकारादिसंमतं पूर्वोत्तर-
काण्डयोरैकशाक्यमङ्गीकृतम् । तृतीयाध्यायारम्भे च चतुर्थपादस्य कर्मोपसंहारोय उक्तः । तथा
सति ज्ञानेपि कर्मोपेक्षास्तीति सिद्धम् । प्रकृतपादारम्भे च प्रथमसूत्रेण स्वमतमुक्त्वा, ततः
षट्सूत्रैरीश्वरस्य ज्ञानस्य च कर्मोपेक्षोपेक्षं जैमिनिमतं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्य, अधिकोपदेशा-
द्यादिनिर्णयमिः सूत्रैर्ज्ञानस्येश्वरस्य च यज्ञादिकर्मोपेक्षत्वं निराकृतम् । ततः ऊर्ध्वरेतःसु वेति
सूत्रेण ज्ञानस्य संन्यासाश्रमिणः कर्मोपेक्षत्वमपि निराकृतम् । तेन ज्ञानस्य न कर्मोपेक्षत्वम् ।
तेन पूर्वकाण्डवैयर्थ्यात्तौ यज्ञादिकर्मणां यथाकथञ्चित्परपरा मोक्ष एव फलत्वेन
परासूत्रत इति नैकशाक्यादिहानिरित्यभिसंहितम् । ततः परमशेसूत्रे तदपवादं पूर्वपक्षी-
कृत्य, अनुष्टेयसूत्रे ज्ञानसाधनत्वेन तत्करणमङ्गीकृत्य कर्मस्वातन्त्र्यं निवारितम् । अग्निमेः
पञ्चमिः सूत्रैस्तदेव समर्थयित्वा ज्ञानस्योक्तृत्वं साधितम् । एवं पञ्चविंशतिसूत्रात्मकेना-
वाधिकरणेन उपसंहारोपोद्घातत्वेन कर्मणः स्वातन्त्र्यात्सातन्त्र्ये विचारिते । तत्र भगवत्सा-
धिरूपस्य पुरुषार्थस्य सर्वात्मभावरूपपुरुषोत्तमज्ञानैकत्वत्वमिति स्थितम् ॥ १ ॥

ततः कर्मणः किं परोक्षज्ञानसाधनत्वमपरोक्षज्ञानसाधनत्वं वेत्यपेक्षयां सर्वापेक्षेति
षट्सूत्रे द्वितीयाधिकरणे साक्षात्कारस्य स्वरूपोपकारार्थं कर्मज्ञानभक्त्यपेक्षां प्रति-

ज्ञापकत्वमार्गीयकर्मसापेक्षत्वं साधितम् । पूर्वपाद एवान्तरज्ञसाधनविचारे ज्ञानमपचयाव-
 श्वकतया निरूपितत्वात् । ततो द्वितीयपक्षे शुभदमादीनां सत्त्वशेषकत्वे तेषु ज्ञानविषयव्य-
 यङ्गादिकर्मनिपेक्षित्वमार्गीयक्यं, तेषां विशेषानुदेवत्यं, न तु कर्मनिवारकत्वमिति तदानी-
 मपि यद्वादिदकर्म कर्तव्यमेवेति सिद्धान्तितम् । ततः ज्ञानिनः सर्वोन्नमक्षणस्यानुज्ञानात्का-
 मतः सर्वप्रथमे प्राप्ते आहारशुद्ध्यावनेन समाप्तसंभवात् । प्रयोक्तृतायभावेन यद्वादेरप्यसं-
 भवाद्यन्नशुभदमादीनां साक्षात्कारजनकत्वमसन्नतमित्याशङ्क्यं, सर्वोन्नानुभूतेः प्राणालया-
 चापविषयित्वेनान्यदा तदप्राप्त्या तदानीं कामचाराभावात् यन्नशुभदमादिसम्भवेन
 तेषां ज्ञानप्रतिबन्धनिवर्तकतया कारणत्वं निर्वाधम् । यद्यपि एणस ज्ञानस्य कर्म-
 नाशकत्वम्, तथापि साधनदशायां तदपेक्षास्तीत्युपसंहारहेतुतया सर्वोन्नानुभवत्वादिप्र-
 चतुष्टये साधितम् ॥ २ ॥

तत्सत्त्वतीयेऽष्टसूत्रे विहितत्वाच्चाश्रमकर्मत्वधिकरणे प्रथमसूत्रद्वयेन जातज्ञान-
 स्थापि ज्ञानमार्गीयस्याश्रममार्गाणां नित्यत्वेन प्रत्यवायपरिहारकतया शुभदमादिसहकारि-
 तया च कर्तव्यत्वं निर्णीतम् । तेनैव कर्ममार्गीयस्य निष्कामतायामपि तदावश्यकत्वमित्यर्थो-
 देव बोधितम् । ततोऽग्रिमेः स्वर्गसाधनीत्यादिभिः पदभिः सूत्रैर्विहितानां भगवच्छ्रुतया-
 दीनां पूर्वोक्त्यः सर्वेभ्य आधिक्यं, तदविरोधेनैवाश्रममार्गाणां कर्तव्यत्वं, भगवद्दर्शक-
 हर्तुनभिर्भवं, आश्रममार्गाणां फलसिद्धान्तरायरूपत्वादेवविरोधेनैव कार्यत्वं, भगवद्दर्शनां
 भक्तेसात्फलस्य च ज्ञानादिफलाज्ज्यायस्त्वमन्तरङ्गतरविचारेण निरूपितम्, तेन भगव-
 द्दर्शनिरोधेनैव ते कर्तव्या इत्युपसंहारप्रकारो दर्शितः ॥ ३ ॥

तत्सत्त्वतीये किं, कथं च तस्य ज्ञानफलादाधिक्यमित्याकांक्षायां चतुर्थे एकसूत्रे
 तद्भूतत्वैल्यधिकरणे भगवद्दर्शनां साधनदशायास्तुक्त्वत्वेपि फलदशायां मुक्तिभवने फलतो
 न कश्चिद्विशेष इत्याशङ्क्यं, नियमादिभिर्हेतुमिस्तस्य नित्यत्वं, भक्तानां मुच्यन्तिच्छया तत
 आधिक्यं च मुख्यभक्तिमार्गस्योक्तर्थाय प्रसङ्गात्प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

ततः प्रथमे हिंस्रसूत्रे न चाधिकारिकमित्यधिकरणे मर्यादापुष्टसापि यत् भग-
 वदीयत्वरूपमन्तर्निर्धार्य यत्कलं तन्नित्यं, ज्ञानमार्गीययुक्तैः सकाशादधिकमित्यनुप्रसङ्गेन
 निरूपितम् । एवमधिकरणद्वयेन पूर्वोक्तमार्गसंहारप्रकारे बीजं बोधितम् ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे चतुःसूत्रे बहिस्तुभयधेल्यधिकरणे सर्वविषय पुष्टिमार्गीयस्य आश्रम-
 रूपसंन्यासपरिमाणुसंहारार्थं साधनत उक्तर्षोषधानायानुप्रसङ्गेन गृहत्यागो विचारितः ।
 स च मध्यमाधिकारे एवेति फलति ॥ ६ ॥

ततः सप्तमे एकसूत्रे सहकार्यन्तराधिकरणे गृहत्यागिनो मर्यादापुष्टिमार्गीयस्य
 शुभादिकं भावनासहकारित्वेन कर्तव्यम्, पुष्टर्षशशाहुत्ये तु तेनापि भावनामात्रेणैव कर्त-
 व्यमिति साधनव्यवस्थानुप्रसङ्गात् दर्शितम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे चतुःसूत्रे गृहिणोपसंहाराधिकरणे, प्रथमसूत्रेण पूर्वोक्त्यो जपन्वाधिकारि-
 रिणां त्वागानुकल्परूपं गृहे स्त्वित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यमिति विचार्य, द्वितीयादिवित्यास्य
 करणप्रकारस्तदाधिक्यं, भगवद्भजनस्य लोकेष्वप्रकटनं, भगवद्भजनव्यतिरिक्तसम्भवे जै-
 किकरूपणं, गृहिणोपसंहारश्रुतिमनुश्रुत्यानुप्रसङ्गाद्विचारितम् । तेन विहितत्वाच्चाश्रम-
 कर्मोपीत्यनेन यत्पूर्वमुक्तं तस्य प्रकारो बोधितः ॥ ८ ॥

ततः नवमे एकसूत्रे एषां मुक्तिफलानियमस्य इत्यधिकरणे तादृशस्य देवतातो-
 त्तं मुक्तिर्भगवदीयत्वं वेति संशये मुक्तिस्तु नियतैव, भगवदीयत्वं तु भगवत्प्राप्तौ-
 नमित्यनियमो निर्णीतः । तेनानुकल्पोपि मर्यादासमाप्तौदधिकः, निरव्यवस्थानुप्रसङ्गो-
 त्तमसायुज्यादिति ॥ ९ ॥

एवमस्मिन्पादे बहिरङ्गविचारेण सप्रकारः कर्मोपसंहारो दर्शितः । एवमस्मिन्पद्यामे
 चतुर्भिः पादैः सर्वसाधनं सप्रकारमुपदिष्टम् ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्राचार्यचरणदासस्य पीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ
 वेदान्ताधिकरणमाळामां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

तृतीयाध्यायः समाप्तः ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायस्यसंज्ञकत्वा फलं निरूप्यते । तत्र फलं ब्रह्मविद इति चतुर्भिः पादै-
 र्जातौ त्रियमाणस्य गच्छतः प्राप्तफलस्य च क्रमेण तस्य यथाधिकारमवस्था निरूप्यन्ते ।
 तत्र प्रथमपादात्स्य हिंस्रसूत्रे प्रथमैधिकरणे प्रथमवर्णकेन श्रवणादीनामवयवान्तरफल-
 त्वाय तेषामावृत्तिः कर्तव्येऽनुच्यते । तेन पूर्वपादान्ते गृहिणोपसंहारे सर्वेन्द्रियाणामात्मनि
 प्रतिष्ठापनमुक्तम्, तस्यकारोत्र दर्शित इति पूर्वेण सह प्रकारप्रकारिभावः सङ्गतितरिति
 बोध्यम् । द्वितीयवर्णकेन तु ज्ञानमवस्थाः फलत उक्तृत्वत्वाय कर्ममार्ग आश्रुतिस्युदादाने
 फलजघनत्वमपि बोधितम् । तेन कर्मणि तत्कले चानासक्तिरपि तत्प्रकारत्वेन बोध्यत
 इति सैव पूर्वेण सह सङ्गतितरिति बोध्यम् ॥ १ ॥

ततो द्वितीये हिंस्रसूत्रे आत्मनीत्यधिकरणे प्रथमवर्णकेन ज्ञानफलं द्विविधं
 विचार्यते । मुख्यं त्वात्मप्रवेशरूपमनश्चरम्, द्वितीयं त्वधिकारिपुष्टित्ये तेषु ज्ञानोप-
 देशरूपमवयवान्तरफलत्वं, भगवदाज्ञापरिपालनात्मकम्, न त्वाचार्यत्वकामाकृतमित्यु-
 च्यते । द्वितीये ननु 'न स पुनरावर्तते' इतिश्रुत्युक्तो ज्ञानमवस्थाः फलरूपः पुनरावृत्त्य-
 भावः किं सावधिक उत निरवधिक इत्याशङ्क्यायाम्, निरवधिक इति सिद्धान्त उच्यते ।
 नित्ये भगवद्भूत आत्मनि ब्रह्मविदो जीवात्मनः शुद्धजले जलसेव प्रवेशेन तादृकत्वस्यैव
 श्रुतावृत्त्यादिति, भक्तिमार्गेण च भगवतो मुक्तोपपद्यत्वेन सेवार्थं तन्निकटस्थितेरपि

नित्यत्वादिति । एवाम्बोपदेशस्यावान्तरफलत्वं तत्रापि समानम् । ततो द्वितीयसूत्रे प्रतीकोपासकानां न मोक्षः, अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनादिति । अतः सान कर्तव्येति बोधितम् । तृतीये सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः कर्तव्येति बोधितम् । तथा च सर्वत्रात्मभावनात् तथा स्फुरणाच्च दुःखस्य निवृत्तेः सास्याप्यवान्तरफलत्वम् । पूर्वपाद उक्तानां गृह्यत्यागिनां यदान्तरं बाह्यं च साधनं तदत्रोपदिश्यत इत्यत्रापि तेन सह प्रकारप्रकारिभाव एव सङ्गतिरिति बोधितम् ॥२॥

ततस्तृतीये पञ्चमसूत्रे आदित्यादिमतय इत्यधिकरणे प्रथमसूत्रे प्रतीकोपासना न कर्तव्या एव चेत्, ताः किमर्थमुपदिश्यन्ते, (नन्वेवमज्ञोपासना एव ?) सिद्धान्ते प्रतीकोपासना इत्याकांक्षायां, अवसरसङ्ख्या सिद्धान्ते अज्ञोपासना एव प्रतीकोपासना इति तत्स्वरूपमुच्यते । तांशोपासना जघन्याधिकारिणां फलदानद्वारा माहात्म्यज्ञापनेन भक्तिद्वारा धार्मिकसर्वोत्तमभावरूपज्ञान एवोपकुर्वन्तीत्युच्यते, अग्रिमसूत्रैस्तथैव प्रतिपादनात् । ततो द्वितीयसूत्रे भावनोक्तव्ये बहिर्भगवदव्यासरूपं प्राकट्यं फलमुच्यते । ततस्तृतीये ध्यानात्मनो मानसीमूर्तिसिद्धिरूपं फलमुच्यते । तत्रश्चतुर्थे लीला अपि भगवान् तथा प्रकटयतीत्युच्यते । ततः पञ्चमे अधिकारोक्तव्येन तेषां तत्रैव फलत्वं, नासत इति श्रीभागवतोक्तस्मृतिबलेनोच्यते । तस्मात् तासां ज्ञानोपकार एव फलमिति सिध्यति ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे यज्ञैकाग्रतैत्यधिकरणे बहिरन्तरभगवत्प्राकट्यवतोत्पासकयोर्नै तारतम्यमिति सिद्धान्तः प्रसङ्गेन कियते ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे एकसूत्रे आश्रायणेत्यधिकरणे भगवत्प्राप्तिरूपपरमफलवर्धनं तस्य वैवाक्यत्वा तिष्ठति । परमफलं च तस्य साक्षाद्भवत्सेवनरूपं सिध्यतीत्यनुप्रसङ्गेन पुष्टिमार्गीयस्योक्तम् । इदमेव च पूर्वं तद्ब्रह्मधिकरणे प्रतिपादितमज्ञोपासनाविषयेपि स्थायते । तेन पुष्टिमार्गीयस्य जीवत इदमवान्तरफलमिति बोधितम् ॥ ५ ॥

ततः षष्ठे चतुःसूत्रे तदधिगम इत्यधिकरणे मर्यादाभार्गीयस्यावान्तरफलवसरसङ्कलेशोच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे (चिराद्युद्धी) ज्ञानोदये सति पूर्वोपासनाशः, तदनन्तरं पाश्यास्तुत्पत्तिः । द्वितीयसूत्रे पूर्वपुण्यस्य नाशः, तदनन्तरं तदनुत्पत्तिः । कदाचित् प्रारब्धवशाद्भगवद्भवाद्युतो उत्तरकर्मण उत्पत्तिरित्युक्तम् । ततस्तृतीये ज्ञानात् कर्मनाशे सति कर्मजन्यदेहस्यापि नाशदाचार्याभावेन ज्ञानादिसंप्रदायोच्छेद इत्याशंक्य, अनारब्धकार्याणामेव तेषां नाशः, न प्रारब्धकार्याणामिति, तेषां भोगैकनाशयत्वादित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे ब्रह्मविदोऽग्निहोत्रादिकरणमपि प्रारब्धभोगरूपकार्योयैव, येनामग्निहोत्रकरणं प्रारब्धव्यस्ति तेषां तत्करणरूपेण भोगेन तत्रिवृत्तेः, न तु तस्य कर्मणः संश्लेष इत्युक्तम् । तेन मर्यादाभार्गीयस्य कर्मसंसर्गाभाव इत्यनेनाधिकरणेनावसराद्वा प्रसङ्गाद्वा साधितम् ॥६॥

ततः सप्तमे त्रिसूत्रे अनौत्पाधीत्यधिकरणे पुष्टिमार्गीयस्य 'तस्य पुत्रा दाय-मुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्याम द्विवन्तः पापकृत्या'मिति श्रुतिबलात् विनैव भोगं प्रारब्ध-

निवृत्तिरिति प्रथमसूत्र उच्यते । ततो द्वितीये 'यदेव विषये'ति श्रुत्या ब्रह्मविदः कर्मकरणप्राप्तौ तत्संश्लेषमाशङ्क्य, इदं वाक्यं कर्माङ्गुतोद्गीयोपासनाविषयम्, न तु ब्रह्मविद्याविषयम्, अतो न तस्य आषादयितुं शक्यते कर्मसंश्लेषो ब्रह्मविदः । किञ्च, यद्यनया कर्मकरणं प्रसक्तं कियते, तदा ब्रह्मविक्रमभोगायैव कर्म करोतीति तच्छ्रौताचार्यायैव तत् फलित्वतीति तु मर्यादाभार्गीयस्य समाधानम् । पुष्टिमार्गीयस्तु केवलं भगवत्प्राप्तौ, भगवत्प्राप्तौ च जीवगुणाः अंशाः, जीवनिष्ठ विद्यारूपं यज्ज्ञानं तद्भवत्प्राप्तौ संश्लेष इति सिध्यति । तथा सति जीवनिष्ठविद्यायापि चेत् न मर्यादाभार्गीयस्य कर्मसंश्लेषः, तदा भगवत्स्वरूपसकस्य पुष्टिमार्गीयस्य कर्मसंश्लेषः केषुचित्कन्यायेनैवापास्त इत्युक्तम् । ततस्तृतीये पुष्टिमार्गीयः पूर्वोक्तप्रकारेण स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा ततो यथाधिकारं भगवत्साक्षात्कारादिरूपेण फलेन सम्पद्यत इति परमफलमुक्तम् । अत्र क्षपणं च कुक्षेत्रप्रसङ्गे ब्रजभक्तानां जीवकोशश्वंसरूपम् । भोगश्च तदनन्तरदर्शनादिरूपो जीवत्-शायामेव भवतीत्यवान्तरफलपरिसमाप्तिरिति मम प्रतिभाति ।

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजगुरुभोक्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ द्वितीयपादे त्रियमाणस्य ब्रह्मविदोवान्तरफलव्यवस्था अवसरसङ्कलेशोच्यते । तत्र प्रथमे चतुःसूत्रे वाष्पान्तरसीत्यधिकरणे तत्र प्रथमसूत्रे 'अथाकात्मयमानं' इति वाजसनेयिश्रुतिमालम्ब्य त्रियमाणस्य पुष्टिमार्गीयस्य त्रियमाणदशयां बहिर्नैति वा दर्शनं वेणुनादश्रवणं वा भवति, तदा तस्य वाच्यनसि संज्ञा भवतीत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे पूर्वोक्तैरेव हेतुना अन्यान्यपीन्द्रियाणि मनसा सह सङ्गतानि भवतीत्युक्तम् । ततस्तृतीये सर्वेन्द्रियविशिष्ट मनः प्राणे सङ्गतं भवतीत्युच्यते । ततश्चतुर्थे तत्सर्वेन्द्रियशिष्टप्राणे हृदि वा बहिर्वा प्रकटे भगवति लीनो भवतीत्युच्यते । तथा चानेन क्रमेण तसेन्द्रियाणि भगवति लीयन्ते, आत्मापि लीयते, 'न तस्यात्प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेरित्युच्यते । तस्यालौकिकदेहप्राप्तिश्चतुर्थे पादे वक्ष्यते ॥१॥

ततो द्विसूत्रे द्वितीये भूतेष्वित्यधिकरणे त्रियमाणस्य मर्यादाभार्गीयस्य व्यवस्था अवसरगमैण प्रसङ्गेनोच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे तसेन्द्रियाणि श्रुतेषु लीयन्त इत्युच्यते, खयं तु ह्येवं भगवन्तं प्राप्य मुक्तो ऽतीत्यपि तेन सूच्यते । ततो द्वितीये सूत्रे भक्तो ज्ञानी च मर्यादाभार्गीयो भवतः । तत्रोभयोरियं व्यवस्था, उत भक्तस्य पुष्टिमार्गे प्रवेश इत्याशङ्क्य, द्वयोरीयं व्यवसेल्युच्यते ॥ २ ॥

ततस्तृतीये नवसूत्रे समाना चास्तृतीयधिकरणे उभयोर्मुच्यमानत्वेपि प्राणादिलयप्रकारे पुष्टिमर्यादाशयोः कुत एवं (विशेषादेवं) विशेष इति वक्तुं पुष्टिमार्गीयस्य मर्या-

दामार्गोदाधिक्यमुपद्रातेन विचारितम् । तत्र प्रथमसूत्रे साधनद्वारा मोक्षनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोक्षनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा । अतस्त्वैतौ संकरः कदापि न भवतीति निश्चिष्टेच्छया आधिक्यमुक्तम् । ततो द्वितीये पुष्टिमार्गीयव्यक्तिदशायां मर्यादामार्गीयमुक्तेः संसारतौल्यव्यपदेश इत्युक्तम्, तेन पुष्टिमार्गसाधिकायै सुस्पष्टम् । ततस्तृतीये यदि तस्याः संसातुल्यत्वं तदा तस्या हेतुत्वं सात्, तदोपकृत्यतेः अतस्त्वत्त्वं चेत्साधकत्वात्, पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं दुर्ज्ञेयम् । अतस्त्वदज्ञानान्मर्यादामार्गीय-मुक्तिरैवार्गीयस्तिता तान् प्रति तामेवोपायेवत्येन श्रुतिर्वदति, रागिणः प्रति स्वगीद उपदिश्यते (तद्वत् । ततश्चतुर्थे तर्हि ब्रह्मविदामिव ताच्छानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं कश्चिच्छ्र-वेत्), यतो नैवम्, अतो नैवमिलासकत्वात्, तदनुपदेशने बीजमाह । पुष्टिमार्गीयाणां हि अन्वयाह्वयम्, विरहः प्रियसङ्गो वा । तत्राथ स्वस्थ्याभावाच्चोपदेशः । द्वितीये तु य-गक्षन्निधानेन तदपे धार्ष्ट्यस्य कर्तुमशक्यवत्साधोपदेशः । अत उपदेशमावाप्त तस्या-सत्त्वा वक्तुं शक्येत्युक्तम् । ततः पञ्चमे अगवदीनानां विरह एव कथमित्यासङ्कत्वात्, पुष्टिमार्गे अगवतो रसात्मकत्वस्यैव प्राकट्यात् तैव तदुपपत्तिरिति युक्त्या समाहितम् । ततः षष्ठे विरदाज्ञीकारे श्रुतिविरोधमाशङ्क्य, श्रुतौ शरीरसंभन्धिन एव दुःखस्य निषेधो, न अगवद्विरहजन्यत्वस्यैवं समाहितम् । ततः सप्तमे श्रुत्या, अष्टमे च श्रुत्या तदुचीकृतम् । ततो नञ्चमे सर्वथां रसावस्थानां सत्ता श्रीगोकुल एव विद्यत इति श्रुत्या व्यवस्थापि-तम् । एवं पञ्चमिः सूत्रैः प्रमाणपूर्वकं रसावस्थास्थापनेन पुष्टिमार्गस्य सर्वोक्तत्वं अन्व-स्थापितम् । अतः पुष्टिमर्यादायामुपदेशेपि न कश्चिद् दोष इत्यर्थत् त् सृष्टिर्न भवति । ३ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे अविभागो चञ्चनादिव्यधिकरणे प्रसङ्गात् पुष्टिमार्गीयस्य निवृत्तीलारूपफलानुभवस्य निवृत्त्यं मर्यादामार्गात् फलतो विशेषप्रतिपादानाय विचारितम् ।

ततः पञ्चमे एकसूत्रे तदोक्तोऽप्रज्वलनाधिकरणे मर्यादामार्गीयस्य ब्रह्मण्डभये सभो मुक्तिप्रकारो विचारितः । तदग्रिमे च अवरजसहस्रत्वा मर्यादामार्गीयस्य जीवोत्क्रान्-त्यनन्तरं क्रममुक्तिप्रकार उच्यते । तत्र साधारणस्यापि जीवस्य इन्द्रियरूपाभिल्लेजोमा-न्वयिभिः सदैव येन केनचिद्द्वारेण निर्गमनम्, तथापि यस्य साधनेन (परमात्मा तुष्टः,) स जीवस्तु एकशतनाडीषु या शताधिका मूर्धन्या नाडी, तथा ऊर्ध्वं ल 'क्त्वा' निष्क्रमति, साधनेन तुष्टो यो हृदयवतीं परमात्मा तदनुग्रहाद्विद्यासामर्थ्याच्च या भगवत्स्त्वृतिपरंपरा, तथा तस्यानुग्रहः, तेन मूर्धन्यानाञ्च निष्क्रमणमित्युक्तम् । ५ ॥

ततः षष्ठे चतुःसूत्रे रदम्यनुसारैधिकरणम् । तत्र प्रथमसूत्रे यः क्रमेण मो-क्षाधिकारी रदम्यनुसारी मूर्धन्यानाञ्च निःसरति तस्यापि हृदयाग्रे प्रकाश इत्युक्तम् । ततो द्वितीये तृतीये च रात्रिकृतोऽननकृतो विशेषश्च नास्तीत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे

१ विद्यान्तरैवैककल्पा बुद्धितेति प्रतिभाति । २ ततः परं सूत्रत्रयं मिश्राधिकरणत्वेन श्रौतेश्चैव हृदयति, आनप्रकाशिकाभारः श्रीकृष्णभक्त्याम् ।

सूक्तौ धृममार्गसाधुक्तत्वात् तत्र च रात्रिदक्षिणायनादीनामुक्तत्वादर्चिरादिमार्गे च ज्यो-तिरुत्तरायणादीनामुक्तत्वानुस्यूयमानस्य कथं न विशेष इत्याशङ्क्य, स विशेषो योगिन एव, गती च ते स्मार्ते, अतो न ज्ञानिनः, तेन ज्ञानिन उक्तमपे सर्वोपि कालः समाज इत्युक्तम् । एतस्य कथप्रामाण्यमित्यस्तु यत्र प्रारम्भसमाप्तिस्तत्र मूलभवेव भविष्यतीति ज्ञेयम् । उपरान्ते तथैवोक्तत्वादिति । ६ ॥

एवमस्मिन् पादे पुष्टिमर्यादामार्गीयनोर्ग्रियमाणावस्था विचारिता ॥

इति श्रीब्रह्मभार्याचरणदासस्य श्रीपीताम्बरारत्नसूत्रपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्तव्यधिकरणभाष्यभाष्यां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ तृतीयापादे क्रममुक्तसाधिकायै ब्रह्मविदोर्विरादिमार्गेण गच्छतो व्यवस्थाप-सरप्राप्तोच्यते ।

तत्र प्रथमे चतुःसूत्रे अर्चिरादीत्यधिकरणे ज्ञानमार्गीयस्य भक्तस्य चेत्युभयो-रर्चिरादिमार्गेण गमनम्, उत सधोमुक्तिरतिरिच्यते, यथा ज्ञानिनो नियमावस्थाया भक्तसाधिकायै तदुपदेशे, पञ्चाभिधियां ज्ञानमार्गीयाभयोवोपक्रान्तत्वत्पेयामेव तेन मार्गेण गतिः, न तु भक्तसाधिकायै निश्चीयते । ततश्चिन्मिः सूत्रैस्त्वान्मार्गीयवर्तिधोः क्रियते । श्रुतिपेदेन पूर्वभेदानामनेकभोक्तत्वात् मार्गभेदे प्राप्ते देवयानस्य मार्गस्य श्रुत्यन्तरे यदेक्य-मुक्तं तद्विदोऽसंभवात् । पूर्वसु निर्धारितेषु तु पक्ष्य यत्पूर्वभोगो आसी तं प्रति तत् पूर्व, अन्यत्रत्यन्वत् । यथा महामार्गे नानाश्रामेषु सत्स्यपि कस्यचित् कस्मिंश्चिद् श्रामे अवान्तर-निवासः, अन्यस्यान्विसिन् श्रामे सः, तद्वत् । एवं पूर्वभेदेऽनुपपत्तौ ब्रह्मलोकमनस्यैक एवार्चिरादिमार्गो देवयानास्यः सिध्यतीति निर्णयितम् । १ ॥

ततो द्वितीये त्रिसूत्रे आतिवाहिकाधिकरणे तेन मार्गेण कथं गच्छतीत्या-कांक्षायामवसरामेण प्रसङ्गेन गमनप्रकारो निर्णीयते । तत्र पूर्वभूतविद्युलोकपर्यन्तं विद्या-सामर्थ्येनैव गच्छति । ततो विद्युल्लोके अमानवः पुरुषो ब्रह्मलोकगमयिता तत्रागस्य वि-सिद्युल्लोकस्य गतारं ब्रह्मलोकं प्रापयतीति श्रावितम् । एवं सति येषां विद्युल्लोकभोगोस्ति ते वरुणादिलोकं गच्छन्ति । तत्र सः ब्रह्मलोकप्रापयिता आयाति न वेति संशये, तत्रा-प्यायाति, श्रुत्यन्तरे प्रजापतिलोकानन्तरमपि ब्रह्मलोकस्योक्तत्वात्, ब्रह्मलोकप्रापयित्वां पुरुषाणां च बहुत्वात्, यस्य यल्लोकभोगेन प्रारम्भसमाप्तिस्त्वं तत एव लोकाद्ब्र-प्रापयन्तीति प्रथमसूत्रे निर्णयितम् । तेषां ब्रह्मलोकप्रापका ये पुरुषास्ते आतिवाहिकसूत्रे-नोच्यन्त इत्यपि । ततो द्वितीये सूत्रे अयुनरावृत्तिश्रुत्या देवयानं पन्थानं प्राधानं ब्रह्मवित्त्वोपां सधोमुक्तिरैवोचितेति तेषामवान्तरलोकभोगजनिका कामनैव कुतः । किञ्च, 'यत्कर्मभियत्सपते'ति भगवद्वाक्ये मर्यादाभक्तस्य या लोकान्तरकामनोक्ता सापि कुतः । तेषां

सद्योयुक्तेरेव प्रथमाधिकरणे निर्णारादित्याशङ्क्य, केवाशित् ज्ञानिनां मर्यादाभक्तानां व्यामोहितत्वात् सा । व्यामोहश्च लीलासिद्धयर्थ, येऽवान्तर्लौकाः कृतास्तत्त्वसिद्धिार्थ-
कत्वाय भगवतैव क्रियते । अतो नानुपपत्तिरित्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे ये. वरुणादि-
लोकं गतास्तेषां स्वत एव ब्रह्मप्राप्तिस्तु । आतिवादिकस्य विद्युल्लोकीयत्वश्रावणेन तेषु
लोकेषु तदभावादित्याशङ्क्य, श्रुतावातिवादिकस्य न विद्युल्लोकीयत्वमभिप्रेतम् । 'पुरुषोऽ-
मानव एत्ये'ति श्रावणाद्ब्रह्मलोकीयत्वम् । वैशुत्वत् तस्य विद्युल्लोकपर्यन्तमागमनात् । अतो
लोकात्तादापि ब्रह्मलोकासावातिवादिकापेक्षातीत्युक्तम् । किञ्च, वाजसनेयके 'ब्रह्म-
लोकात् गमयती'ति श्रावितम् । छान्दोग्ये तु 'ब्रह्म गमयती'ति श्रावितम् । तेन मर्यादा-
मार्गायं भक्तं वैकुण्ठलोकान् गमयति । ज्ञानमार्गीयं त्वश्वरब्रह्म गमयतीत्यपि तत्र निर्णीतम् ।
एवमेतेन गमनप्रकारो निर्णीतः ॥ २ ॥

ततस्तृतीये अष्टसूत्रे कार्यं बादरिरित्यधिकरणे पूर्वसूत्राधिकरणश्रुत्युक्तस्य
प्राप्तस्य ब्रह्मणः किमविकृतब्रह्मत्वम्, उत कार्यब्रह्मलोकत्वमिति संशये, प्रथमं पञ्च-
सूत्रैर्यद्वादरितमुक्तम्, तत्राधिभूतस्य परमश्रवणो व्यापकत्वादयोक्तं गमनं न सङ्गच्छते
तस्मात् । किञ्च, ध्रुवन्तरे 'ब्रह्मलोक'मिति 'तेषु वसन्ती'ति च बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन
च विशेषितत्वादपि तथा । तत्र ब्रह्मत्वव्यपदेशेषु ब्रह्मसामीप्यात् । कल्पसमाप्तौ
कार्यब्रह्मलोकस्य नाशे चतुर्गुत्वेन ब्रह्मणा सह तस्यापि चतुर्गुत्वत् परब्रह्मप्राप्तेः श्रुतौ
स्युतौ चाभिधानादपि प्राण्यब्रह्मलोकोऽपर एव, न तु परब्रह्मेति पूर्वपक्षत्वेनोक्तम् ।
ततस्त्रिभिः सूत्रैर्वैमिनिमतं सिद्धान्तत्वेनोक्तम् । तत्र प्रथमसूत्रे ब्रह्मशब्दस्य बृहत्त्वा-
दिगुणविशिष्टत्वेन परस्मिन्नेव मुख्यब्रुतत्वात् गोण्याऽपरब्रह्माङ्गीकारो न युक्त इत्यु-
क्तम् । ततो द्वितीये कौपीतिकश्रुतौ प्रजापतिलोकाद्ब्रह्मलोकस्य पार्यक्येनोक्तत्वात् छा-
न्दोग्ये अर्चिरादिमग्नैः प्राण्यत्वेन समत्वात् 'ब्रह्म गमयती'त्युक्तत्वात् प्रजापतिलोकादन्यस्य
कार्यब्रह्मलोकस्य कुत्राप्यश्रवणसमनस्य प्रारब्धहेतुकत्वेन विलम्ब्यप्राप्तेः संभवाच्च न गमना-
दिश्रुतिस्मृतिविरोध इत्युक्तम् । ततस्तृतीये 'ब्रह्मविदामोति पर'मिति श्रुतौ परमासियां
उक्ता सेवाग्निसर्वा विधीयते । तस्यां च ब्रह्मणा सह सर्वकाममोखलक्षणा या प्रतिपत्तिरुच्यते,
सा परैवेव सह । कुत्रापि श्रुतौ कार्यरूपे प्रतिपत्तेरनभिप्रेतत्वात् । अतो ब्रह्मशब्देन परब्रह्मैवो-
च्यत इति सिद्धान्तितम् । एवमष्टभिः सूत्रैः गन्तव्यब्रह्मस्वरूपं प्रसङ्गाच्चिरूपितम् ॥ २ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे अप्रतीकालम्बनाधिकरणे पूर्वोक्तकारेणातिवादिकप्रा-
पिता ब्रह्मप्राप्तिः किं सर्वेषामुपासकानाम्, उत केवाश्विदेवैति संशये, अप्रतीकालम्बनाने-
वातिवाहको नयतीति निश्चीयते । तत्र प्रतीकोपासका द्विधा । कैचिदतस्मिन्सत्त्वेनोपास-
काः, अन्ये तु तदङ्गेषु तत्त्वेनोपासकाः । तत्राद्यातुपासनैव व्यङ्गा । 'योऽन्यथा
सन्तमात्मना'मिति वाक्योक्तदोषप्रसङ्गात् । द्वितीयानां तूपासनव्यङ्गत्वामपि 'याव-

न्यनसो गतं तत्रास्य कामचारो भवती'त्यादिश्रावणेन तत्कृतून्यायतस्तत्रैव पर्यवसानेन
तेषां ब्रह्मप्राप्तेरनभिप्रेतत्वात् । पञ्चाश्विधियावास्तु अङ्गोपासनात्वेन प्रतीकत्वेपि वाचनि-
कत्वात् तेषां नयनम् । तस्मात् ये परब्रह्मोपासकास्तानेव नयतीति ज्ञानमार्गीया व्यवस्था ।
भक्तिमार्गीयस्तु निष्कामाङ्गोपासनकर्ता भक्तः सन् भक्तिबलादेवातिवाहिकं विनैव स्वयं
गच्छतीति तत्कृतुश्रेति सूत्रशेषेण निश्चीयत इत्युक्तम् । एवमत्र चतुर्विधिकरणैः सप्रकारा
गच्छद्ब्रह्मविश्रवस्थोक्त । सङ्गतिस्तत्रावसर एव ॥ ४ ॥

ततः पञ्चमे एकसूत्रे विशेषं च दर्शयन्तीत्यधिकरणे भक्तिमार्गीयाणां ज्ञान-
मार्गीयाणां चाविशेषैवेव ब्रह्मप्राप्तिः, उत गमने विशेषात् फलाप्राप्तपि कश्चिद्विशेषोस्तीति
सन्देहे, 'ब्रह्मविदामोति पर'मिति यज्ञव्याख्यानरूपायां 'सत्त्वं ज्ञान'मित्यस्यावृत्तिं ज्ञान-
मार्गीयस्य अक्षरप्राप्तिरेव, भक्तिमार्गीयस्य तु 'यमेवैव वृष्टे' इति श्रुत्युक्तवरणेन भक्त्या
हृदि अक्षरब्रह्मप्राप्तुर्गोवाचत्र स्थितेन पुरुषोत्तमेन सह भोग उच्यते । तत्र भक्तिमार्गः पुष्टि-
मर्यादाकेवलपुष्टिभेदेन द्विविधः । तत्राद्यस्य यथाधिकारं पुरुषोत्तमानुभवरूपो भोगः ।
द्वितीयस्य तु यथाधिकारं ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूप इति विशेषं श्रुतिर्दर्शयति ।
तस्मात् ब्रह्मप्राप्तपति तयोर्विशेष इति प्रसङ्गगर्भया पूर्वोक्तसङ्गलैव निर्णीतम् ॥ ५ ॥
इति श्रीवल्गुभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बराराममजुपुरुषोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

ततश्चतुर्थे पादे पञ्चमधिकरणैः प्राप्तफलस्य ब्रह्मविदो व्यवस्था वक्तव्या । तत्र
ब्रह्मविदो भक्तिज्ञानमार्गभेदेन द्विविधाः । भक्तिमार्गीया अपि मर्यादापुष्टिकेवलपुष्टिभेदेन
द्विविधाः । अथान्तरभेदास्तन्नेके । तत्र ज्ञानमार्गीयाः पुष्टिमर्यादाभार्गीयाश्च प्रायशः
क्रमेणैव मुच्यन्ते । अतिक्रमया तु केचित् सद्योऽपि । पुष्टिमर्यादास्तु सद्य एव । एव-
मेतेषु ब्रह्मवित्सु ज्ञानमार्गीया अक्षरोपासकत्वात्तत्रैव पर्यवसन्नाः सद्यः क्रमेण वा तमेव
प्रतिपत्तिः । पुष्टिमर्यादाभार्गीयास्तु सद्यः क्रमेण ना तिर्यं ब्रह्मलोकं प्राप्नुवन्ति । तेषां
लौकिकस्यामेव गृहायामक्षरम् । तत्र स्थितं पुरुषोत्तमं चातुस्य पुरुषोत्तमस्वरूपे प्रवि-
शन्तीत्येतावत्पूर्वपादान्ते सिद्धम् । ये पुनः क्रमेण नित्यं भगवद्भक्तं प्राप्नुवन्ति, ते तत्रैव
भगवन्तं भिन्नमीश्वरत्वेनानुभवन्तो यथाधिकारं सेवोपपिकदेहं प्राप्नुवन्तीत्यर्थोत् सिध्यति ।
तदपि तृतीयस्कन्धे 'अयो विगृति मम मायाविनस्ता'मिति कपिलदेववाक्याददर्शयते ।

अतःपरं पुष्टिमार्गीयस्य प्राप्तफलस्य 'मोऽश्रुते सर्वान् कामान्' इति श्रुत्युक्ता व्यवस्थाव-
शिष्यते । सा विशेषदर्शनेन संक्षेपेण सिद्धान्तस्मिन्पादे प्रपच्यते ।

ततः सम्पद्याविर्भाव इति चतुःसूत्रे प्रथमाधिकरणे प्रथमसूत्रे भगवत्स्वरूपे
लीनस्य पुष्टिमार्गीयस्य खलीलानुभावनार्थं भगवता बहिराविर्भावः क्रियते, अनुप-

हीतत्वात् । स चाविर्भावो भगवत्स्वरूपपदोन्वैव लीलाधिकरणे भवति, न तु प्रपञ्च इति श्रुतिषलालुक्तम् । ततो द्वितीये तस्यैवमाविर्भावेऽपि मुक्तत्वं नापैतौल्यमुक्तम् । ततस्तन्मृतीये एवं फलदातुः परमात्मत्वमेवेत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे 'सर्वं ज्ञानमित्यस्या ऋचः 'ब्रह्मविदा-
मोती' त्वनेनैकवाक्यत्वं व्याख्यान्वयास्येवभावादादस्ति, तस्मादयमेवार्थ इति निर्धारितम् ॥

ततो द्वितीये अष्टमसूत्रे ब्राह्मणोपलब्धिपरणे येन देहेनायं जीवो लीलातुषर्भं करोति तादृशो देह उपोदान्तावसरणे वा विचारितः । तत्र प्रथमसूत्रे सच्चिदानन्दआत्मके-
नैव देहेन ब्रह्मणा सह भोगान् गुरु इति स देहस्तादृशो ब्रह्मणा सम्पादित इति साधितम् । तत्प्रकरणे ब्रह्मात्मकानामेवात्रमयादिविभूतीनामुपन्यासादिति जैमिनिमतकथनमुखेन त-
स्सम्मतिश्च प्रदर्शिता । ततो द्वितीयसूत्रे प्रज्ञानचनशुभ्या केवलज्ञानात्मको ब्रह्मणो
विग्रहो बोध्यते । अतस्तादृशेन सह भोगकर्ता ज्ञानात्मकेनैव भवितव्यम् । नचैवमान-
न्दातुषर्भेन सर्वकामाशानवापः शङ्कनीयः । भगवतः पूर्णानन्दत्वात् तस्सम्बन्धेनैवा-
नन्दातुषर्भः सिद्धः । तस्माद्द्विग्रहं विनैव केवलस्वरूपेण गुरु इत्यौद्भुतोऽमिततमु-
क्तम् । ततस्तन्मृतीये सूत्रे 'सर्वं ज्ञानमित्यस्यामृचि गुहाया उक्तत्वात् तस्माश्च
विग्रह एव संभवत् श्रुतौ विग्रहत्वेनैवोपन्यासः । ते च विग्रहा भगवद्भासि
पूर्वमेव वर्तन्ते भगवद्भर्मरूपाः । तेषु कस्मिंश्चिदयं चिन्मात्र एवाविद्ययामिवाणं
कृत्वा भगवद्विच्छानुरूपलीलात्मकान् भोगान् गुरु इति तस्माच्च चिन्मात्रत्वस्य मित्यवि-
ग्रहत्वस्य च विरोध इति मतद्वयं संशुभ्य तादृशविग्रहेणैव गुरु इति स्वमतमुक्तम् । तत-
श्चतुर्थे सूत्रे तादृशदेहप्राप्तौ भक्ते भगवदनुग्रह एव हेतुरित्युक्तम् । तेन तादृशो भोगो न
सर्वेषाम्, किन्त्वल्पन्तभगवदनुग्रहादीनामेषेति वरणशुभ्या सिध्यति । ततः पञ्चमसूत्रे अतो
हेतोः भगवाननन्याविषयिणः । अनन्याश्च त एव ये साधनस्यन्ते (फलत्वेन) च भगवन्तमेव
ज्ञानन्ति । तस्मात्तदर्थमेव भगवतः सहस्य इत्युक्तम् । तेन तदेकतानतया तदाश्रयतया
च ते सर्वदा तिष्ठन्तीति सिध्यति । ततः षष्ठे सूत्रे मुक्तस्य देहाङ्गीकारप्रतिकूलं चादरि-
मतमाह । 'यत्र हि द्वैतमिदं भवती'त्यादिश्रुतिमुक्तिदशायां द्वैतदर्शनेयुक्त्या 'यत्र त्वस्य
सर्वमात्मैवायम्'दित्यादिना मुक्तस्य द्वैतदर्शने निषेधति । तथा सति द्वितीयदर्शनाभावे काम-
भोगवार्तव्यं द्रोति तदाशेष्यो देहोपि दूतरः । एतन्मते 'ब्रह्मविदाप्तोति पर'मित्यादि-
श्रुतिः पूर्वेकक्षाविश्रान्ता । ततः सप्तमे चादरिविरुद्धं जैमिनिमतमाह । जैमिनिस्तु
मुक्तस्य देहसर्वां मन्यते । 'ब्रह्मविदाप्तोति'ति श्रुतिः पूर्वेकक्षाविश्रान्तेत्यत्र भाषानाभावात्
चादरितं साधीयः । अनेन श्रुतिविरोधापत्तेः । श्रुतौ हि 'ब्रह्मविदाप्तोति'त्यत्र ज्ञानस्य
तत्प्राप्तिसाधनत्वमुच्यते, 'नायमात्मै'त्यत्र वःशैकप्राप्त्यत्वम् । अतः साधनबोधकश्रुत्योः
परस्परविरोधः । 'सोश्रुत' इत्यादिना परप्राप्तिसम्बन्धस्येत् । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र
ब्रह्मण जीवस्य लय उच्यते । अतः फलबोधकश्रुत्योर्विरोधः । एवं विरोधे सति तदभावात्

गतिरवश्यं कल्पनीया । तत्र पुष्टिमयोदाभ्यां मार्गमेवस्य सिद्धत्वात् तत्तन्मार्गीयस्य तत्ता-
देव फलं परममिति व्यवस्थितविकल्प एव ज्यायानिति नैकतरादरणं युक्तमिति । ततो-
ष्टमे भगवान् व्यासः स्वसिद्धान्तमाह । लोके हि शरीरं भूतजन्यं भोगायतनं च दृश्यम् ।
मुक्तस्य तु शरीरतदभावावाक्षेपलभ्यो न निवारयितुं शक्यौ । अतः शरीरमेव तादृश कल्प-
नीयं येन शुल्लविरोधः । तत्र भूमनिधाय 'मात्मतः प्राण' इत्युपक्रम्य 'आत्मत एवेदं सर्वं'
मित्यन्तेन भगवत एव सकाशाद्भोगोपयोगिसर्वसामग्रीश्रावणान्मुक्तस्य शरीरं न भूतजन्यम्,
तस्मादशरीरम् । तत्रैव 'आत्मतःतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' इति श्रावणात्तच्छ-
रीरं भोगायतनम् । तस्माच्छरीरमपि । एवमुपमविषयत्व आस्थिते श्रुतीनां न कश्चिद्विरोधः ॥

ततस्तन्मृतीये द्विसूत्रे तत्त्वभावाधिकरणे गुणोपसंहारापदोक्तं निर्दोषपूर्णगुणं भग-
वत्स्वरूपमेव फलमिति विचारितम् । तत्र पूर्वसूत्रे दोषरूपाणांमलज्ञादीनां भगवत्त्वया प्रती-
तिः, सा प्राप्ता, स्वप्रवदशोभावेऽपि प्रतीयते । तस्माद् ब्रह्म निर्दोषमित्युक्तम् । ततो द्वितीये
सूत्रे याः गौणगुहादयोवशाः, ये च गुणास्तो सर्वे सन्त एव मायापसाराद्भक्तानां प्रती-
यन्ते । तस्माद् ब्रह्मानन्दगुणपूर्णमवतारेपीत्युक्तम् । तथा चावसर एव सङ्गतिरित्यर्थः ॥३॥

ततश्चतुर्थे द्विसूत्रे प्रदीपश्चदिव्यधिकरणे फलतुषर्भोपकरणं प्रकृतत्वाद्विधार्यते ।
पूर्वाधिकरणयोः फलप्राप्त्युपकरणस्य फलस्वरूपस्य च विचारितत्वात् । अतोवस-
रोः सङ्गतिः । तत्र प्रथमसूत्रे मुक्तस्य भगवत्कृपाविषयकताभ्यां जैवज्ञानक्रियाभ्यां
योगेऽपि न ताभ्यां भगवता सह कामभोगकरणसमर्थो भवति, किन्तु यथा प्राचीनः प्रकृष्टो
दीपः श्लेष्टशुक्तायामवचीनीयायां बल्यां प्रविष्टलां समानकार्यक्षमां करोति, तथा भगवानपि
स्वदत्ते मुक्तदेहे जीवने सह प्रविष्टस्तं देहं स्वभोगरूपकार्यक्षमं करोति । यतो 'मृतो स'
क्षिति भर्तुमुक्तारम्भमेव भगवतः क्रीडाश्च बहुधा अवेष्ट उक्तः । तेनैवं ज्ञायते क्रीडोपयो-
गिभगवदवेश एव फलतुषर्भोपकरणमिति । ततो द्वितीयसूत्रे अस्त्युल्लिख्युतेः सर्व-
कामभोगश्रुतेश्च यो विरोधः स सुप्तुिक्षोक्षभेदेन भगवदाविर्भावप्रकारभेदात् परिहृतः ॥

ततः पञ्चमे षट्सूत्रे जगद्भाषापाराधिकरणे भोगप्रकारो विचारितः । तत्र प्रथ-
मसूत्रे 'सोश्रुते सर्वान् कामा'निति श्रुतिर्मुक्तिप्रकरणस्या । तस्मात्तत्र न जगत्संबन्धः ।
किञ्च, भगवल्लीला कालमायावतीति । तेन प्राकृतं जगत् ततो दूतरमिति न तत्संबन्धः ।
अतो लौकिकव्यापारादहितमेव मुक्तस्य भोगकरणमित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'सर्वं हि
पश्यः पश्यती'तिश्रुत्युक्तप्रलाक्षोपदेशेन तस्य जगद्भाषासाहित्यमाशङ्क्य, श्रुतौ सर्वपदेन
न जगदुच्यते, किन्तु लीलास्याः पदार्थो एवोच्यन्ते । तेषामेव दर्शनम् । अतो न श्रुति-
विरोधः । किञ्च, पूर्वोक्तश्रुत्यन्तरं 'स एकदा भवतीति भक्तस्य नानारूपबोधिका
श्रुतिः पश्यते । तेन नानारूपैर्नानालीलां भगवदनुभावितामनुभवतीति न लीलानामनि-
त्यत्वम्, नापि काचिदन्त्यानुपचिरित्युक्तम् । ततस्तन्मृतीये सूत्रे 'आयास' इत्यात्मन-

भविष्यत्त्वबोधकमगवद्वाक्याहीलानां भक्तरूपाणां चानिलत्वमाशङ्क्य, भगवत्क्रीला प्रकृत-
विलक्षणता भगवद्विच्छेद्यैवोपपद्यमाना न कुतैरन्यथा भाव्या, किन्तु श्रुत्या नित्यत्वेनो-
क्तत्वादलौकिकानुसरणमेव कर्तव्यमित्युक्तम् । ततश्चतुर्थसूत्रे अस्मिन् सूत्रे कुतैरकेणा-
न्यथाभावेन न कर्तव्यमिति यदुक्तं तदेव श्रुतिप्रत्यक्षान्नां साधितम् । ततः पञ्चमसूत्रे
जीवस्य भोगमात्र एव भगवत्साम्यम्, न तु सर्वथेति 'न तत्समश्चाभ्यधिकस्य दृश्यते'
इतिश्रुतेन विरोध इत्युक्तम् । एवमत्र पञ्चसूत्र्या भगवतः परमफलत्वमर्थादुक्तं भवति ।
ततः षष्ठे सूत्रे परमफलं प्राप्य भक्तानां ज्ञानिनां चावृत्तिर्नास्ति । तत्र प्रमाणं च शब्दः
श्रुतिरूपः स्मृतिरूपश्चेत्युक्तम् । एवं बह्विः सूत्रैरुक्तमोगप्रकारो विचारितः ॥ ५ ॥

वेदान्तीयन्यायमालामगुभाष्यानुसारिणीम् । सौकर्यायार्थबोधस्य चकार पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥
इति श्रीबल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बररामजगद्गुरुषोत्तमस्य कृता
वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥

परिशिष्टम् ।

श्रीगोपेश्वरकृता चतुर्थाध्यायाधिकरणमाला ।

पूर्वाध्याये साधनं निरूपितम्, इदानीं मुख्यमवान्तरं चेति द्विविधं फलमत्र निरू-
प्यते, कार्यकारणभावसङ्कलावसरसङ्कला च । तेन ब्रह्मणस्तत्सम्बन्धिप्राप्तेर्वा फलत्वेन
ब्रह्मविचाराद्ब्रह्मसम्बन्धिभ्या विचाराद्वा शास्त्रसङ्कृतिविषयविषयिभावः । अध्यायसङ्गतौ तूक्तं ।
सुत्रपादाधिकरणानां सङ्गतयोऽपि स्फुटाः । तत्र प्रथमे सूत्रे अभाववृत्तपथिकरणे
अवान्तरफलमुच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे 'आत्मा वा अत्र द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादिवाक्यैर्वि-
हितं श्रवणादिकं किं सङ्गदेव कर्तव्यमुत्पासकृदिति संशये, सङ्गदेव कर्तव्यम्, तावतैव
शास्त्रार्थस्य कृतत्वसिद्धेरिति पूर्वपक्षे, छान्दोग्ये 'पितृदात्म्यमिदं सर्वं तत्सर्वं स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति वाक्येन जडजीवयोर्ब्रह्मात्मकत्वस्य नवकृत्य उपदेशाच्छ्रवणा-
दीनामावृत्तिः कर्तव्येति सिद्धान्तः । ततो द्वितीयसूत्रे 'यथात्मा परिभ्रम्यतेसौ भ्रमण्य-
गाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा भ्रम्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यैवाजानसम्प्रयुक्तम्' इति
स्मृतिरप्युक्तार्थे लिङ्गम् । श्रुत्यनुमापकत्वास्मृतिलिङ्गम् । अत्र च परिमार्गस्य दृष्टद्वारा-
खनदृष्टान्तेन बोध्यत इत्युक्तम् । तेनात्र श्रवणादीनां खेन स्वरूपेण साधनत्वेपि तेषामा-
वर्त्यमानत्वेन रूपेण फलत्वम् । 'आत्मा वा अत्र' इति वाक्ये दर्शनकथनानन्तरं श्रवणा-
दिकथनान् । तेनात्मनः परोक्षज्ञानमभवान्तरं फलमिति सिध्यति । ततो द्वितीयवर्षके
श्रुती कर्मज्ञानभक्तीनामुक्तत्वेऽपि न त्रयाणां फलतत्त्वत्वम्, किन्तु ज्ञानभक्ती फलत

उक्त्ये इति ज्ञापयितुं कर्मफलजायन्त्यन्यत्र बोध्यत इत्याशयेन आवृत्तिः पुनः पुनर्जन्य
कर्मफलं तत्सङ्गदसङ्गदिति संशये, सङ्गदिति पूर्वपक्षे, वृहदारण्यके 'तथा वा तृणजलायुके'त्यु-
पक्रम्य 'एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यत्रवतरं कल्याणतरं रूपं
त्सुते, पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वात्येभ्यो वा मृत्युः'
इत्युक्त्या 'प्राधान्तं कर्मणस्तस्य पत्तिकेहेह करोत्यं, तस्माद्वोकायुनेत्यस्मै लोकाय कर्षणं'
इत्येवं पुनरुपदेशादसङ्गदिति सिद्धान्तः । द्वितीयसूत्रे च 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा' इत्या-
रभ्य 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्तः' इत्यादिस्मृतिलिङ्गमित्युक्तम् ॥ १ ॥
ततो द्वितीये त्रिसूत्रे आत्माधिकरणे प्रथमसूत्रे ज्ञानभक्तयोरेनावृत्तिसाधकत्वेनोत्तम-
त्वाय यत्कर्मणो जायन्त्यावृत्तिसाधकत्वात्तुक्तं, ज्ञानाद्यङ्गकर्मणस्तच्छेषत्वादावर्तकत्वं च,
तत्र 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतिवलेनोक्तम् । सां श्रुतिः ज्ञानिनां सर्वयानावृत्तिमाहोत
साधुषिकीं नाममरुद्भेदेन तत्रिवृत्तिमित्येति संशये, साधुषिकीमेवेति पूर्वपक्षे, सर्वथाऽनावृत्ति-
माहोति सिद्धान्तः । एवं विद्याया अवान्तरं फलं स्वतन्त्रकर्मफलं च विचार्य ज्ञानभक्तयोः
आत्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षरूपं फलं विचारितम् । अष्टद्वयत्वस्य दृष्टत्वस्य च विरोधपरिहारास्तु
जीवसामर्थ्येश्वरेच्छान्नां पुरैव कृत इति नाधिकमत्र निरूप्यम् । सर्वधर्मोश्रयत्वेपि यदा यं
धर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति तत्कार्यमेव तदा सम्पद्यते, आत्मत्वेन हितकारिस्वभावत्वात् ।
ततो द्वितीयसूत्रे आत्मत्वेन ज्ञानस्य न मोक्षसाधकत्वं, आत्मत्वेनोपासीतेत्यत्र तत्सोपासनार्थ-
त्वावगतैरित्याशङ्क्य, तदाशय उच्यते । अतद्रूपे तत्सोपासनं हि प्रतीकमित्युच्यते । तथा
च तादृशेन तेन मोक्षो न भवतीति श्रुत्या बोध्यते, न तु आत्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षो न
भवतीत्युच्यते । तत्तत्तृतीयसूत्रे 'आत्मैवेदं सर्वं'मिति प्रथमे आत्मदृष्टेश्च फलमुक्तम्, सा
च प्रतीकरूपैव कार्यविषयकारणदृष्टित्वेनातिसिद्धत्वाद्दृष्टिरूपत्वादित्याशङ्क्य, प्रथमस्य ब्रह्मा-
त्मकत्वेन न सा प्रतीकरूपेत्युक्तम् ॥ २ ॥ तत्तत्तृतीये आदित्याद्यधिकरणे पञ्चसूत्रे
अज्ञोपासनफलमुच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे छान्दोग्ये 'अथ होवाच सत्ययज्ञं गौतुषिभिर्यादौ
आदित्यवायुप्रभृतीनामात्मत्वेनोपासना उक्ता । तत्र प्रतीकोपासनत्वमस्ति न वेति संशये,
आदित्यादीनां प्रत्येकमुपास्यत्युत्पेक्षद्वयान्युक्तमुपासनं प्रतीकं भवितुं युक्तम् । न च सर्वत्र
ब्रह्मदृष्टेर्न प्रतीकत्वमिति पूर्वमुक्तं तद्विरोधः शङ्क्यः । उक्तश्रुतिविरोधात् । न च तच्छ्रुत्यनु-
वर्तनेदमेवावृत्तमिति वाच्यम्, ब्रह्मण एकत्वादिकप्रकारकेणावृत्तान्तेन सर्वेषां फलसिद्धेः
र्थकृष्टयुक्तौ गौरवात् प्रयोजनविशेषाभावात् । अतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नास्मितम्, किन्तु
यथा आदित्यादीनां प्रतीकत्वम्, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनादेव तत्तत्फलमिति
पूर्वपक्षे, वैशानरविद्यायां 'तस्य मूर्धेव सुतेजा' इत्यादिनादित्यादीनामङ्गतोका । अत्रस्य च
ब्रह्मत्वात्वेयं प्रतीकोपासनेति । तेनात्र फलदानोपादानेन भक्त्यङ्गभूतामाहात्म्यं ज्ञापितात्फ-
लदात् भगवत एव फलत्वमिति दृढीकृतम् । द्वितीयसूत्रे च बहिःप्राकृत्यबोधनेन

पूर्वोक्त एव सिद्धान्तः ससाधनः प्रकाशितः । ततस्तृतीये भावनीकप्रवृत्त्यां सततस्थितिरूपध्यानादपि द्विदि प्रकटः सञ्जासीनो भवतीत्युक्तम् । तेन सौख्यं भवति । तद्यत्पूर्वसूत्रे भक्तेच्छामपेक्ष्याचलत्वं चकाराश्रयत्वमपीत्युक्तम् । तथा च पूर्वोक्तच्छ्या प्राकृत्यं निरूपितम्; अत्र तु तद्विच्छानुसारेण लीलानामपि तदुक्तम् । ततः पश्चमे सूत्रे 'अथ ह वाच तव महिमे'ति स्मृत्युक्तमप्यवर्णितविस्मयणरूपं फलान्तरमप्युक्तम् । अथवा 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिस्मृतिः पूर्वोक्त प्रमाणमित्युक्तम् । तेनाहोपासनफलं निर्णीतम् । ३ ॥ तत एकसूत्रे यन्नैकाग्रताधिकरणे चरिारविर्भावो येभ्यो येयश्चातस्तेषां तेषां भावद्वैविध्यं सूचितम्, पूर्वप्राधिकरणे तत्र तयोर्द्वैविध्ये भावभेद एव हेतुरिति तयोर्मिथस्तारतम्यमस्ति, किंवा भावविषयस्य रूपसैक्यात् न वेति संशये, विषयैश्वर्येपि प्राकृत्यप्रकारभेदस्य भावभेदकृतत्वादस्तीति पूर्वपक्षे, उक्तमक्तयोर्मध्ये यस्मैकाग्रता तत्र मत्तन्तस्त्वबहिर्भूतविशेषाभावात्तयोर्भक्तयोरपि न तारतम्यम्, किन्तु तौल्यमेव । तेनार्थेकाग्रमेव भावतारतम्यम्, तेन तयोस्तारतम्यम्, तत्र प्राकृत्यप्रकारभेदादिति साधितम् । ४ ॥ ततो ह्येकसूत्रे पश्चमे आप्रायणाधिकरणे उक्तेर्ष्वेव अन्तः प्राकृत्यवतो वदा बहिःसंवेदने सत्यपि पूर्वानुभूतमगवत्संस्कारानुभवसादा पूर्वमन्तन्वभूतमनुना बहिरनुभवामीत्यनुव्यवसायो भवति न वेति संशये, देशकालात्मकविशेषणप्रयुक्तैलक्षणाद्बहिरनुभवेतीति पूर्वपक्षे, एकैवावस्था सार्वदिकी, न तु बहिःप्राकृत्येपि बहिर्द्वानुसन्धानमिति सिद्धान्तः । ततः प्रायणरूपे परमफले सातुज्यमवस्थं भनित्यतीति संशये, प्रयुणा सममालापावलोक्तमश्रीचरणलिनस्पर्शादिकं दृष्टमेव फलम्, न त्वदर्थं सातुज्यमिति अनुप्रसङ्गाच्चिणीतम् । तेन पुष्टिमार्गीयस्य फलं निरूपितम् ॥५॥ ततः षष्ठे चतुःसूत्रे तदधिगमाधिकरणे प्रथमसूत्रे मर्यादां मार्गं ज्ञानानन्तरं भक्तिरिति तादृशज्ञानार्थं चित्तशुद्धिः । चित्तशुद्धयर्थं कर्म । तत्र 'नाशुक्तं क्षीयते कर्मा'ति वाक्यादशुक्तं न क्षीयत इति भोगो वक्तव्यः । एवं च भोगानुकूलकर्मणा स्वसाधुकार्मजन्मानात्सन्तान्ते चित्तशुद्धयभावं, तेन च ज्ञानाभावाद्भक्तस्यभावे मुक्त्यभावा इति पूर्वपक्षे, ज्ञानेनैवोत्तराभ्यासत्वात्, पूर्वपक्षे च ज्ञानः, तेन मुक्तिरिति सिद्धान्तः । ततो द्वितीयसूत्रे पुण्यसाध्यसंश्लेष उक्तः । ततस्तृतीयसूत्रे उभयकर्मनाशे देहनाशापत्त्या प्रवचनानुपपत्तिस्तदसावे च ज्ञानभक्तयोरप्यनुत्पाद इत्याह, अनुत्पादितशरीरे एव पुण्यपापज्ञानेन नाशयेते । तेन देहजनककर्मसद्भावान्न तदनुपपत्तिः । यद्यपि सर्वकर्मनाशः श्रुत्युक्तस्तथापि भगवद्विच्छातोऽयं सङ्कोचः । ततश्चतुर्थसूत्रे वशिष्टादिभिर्ब्रह्मविद्विः कर्मकरणादुत्तरस्य कर्मणः संश्लेषमाशङ्क्य, तेषां तसु प्रारब्धनाशायैवेति । येषामप्रतिदोषादिकारकं प्रारब्धमस्ति तैरेव भोगवत्तत्क्रियते, न तु सनकादित्युत्पैरतो न तेनाद्यन्तरसंश्लेष इत्युक्तम् ॥ ६ ॥ ततः सप्तमे त्रिसूत्रे अतोऽन्याधिकरणे प्रथमसूत्रे पुष्टिमार्गीयस्य विनये भोगं प्रारब्धं नश्यत्युक्तं भोगेन वेति संशये, प्रारब्धस्य भोगैकनाशस्यभावत्वात्तं विना न नश्यतीति

पूर्वपक्षे, पुष्टिमार्गीयतां प्रारब्धाप्रारब्धे 'तस्य पुत्रा दास्युपयन्ति सुहृदः साधुकर्यां हितनः पापकृत्या'मिति श्रुतेर्भोगं विनये नश्यतीति सिद्धान्तः । ततो द्वितीयसूत्रे 'बन्धेव विषये'ति श्रुतौ ज्ञानिना कृतस्य कर्मणो वीर्यवत्तोक्त्वा ज्ञानिनोपि कर्मफलस्यावश्यं वाच्यत्वेन कर्मक्षेपमाशङ्क्य, अन्यकृतात्मकणस्तकृतकर्म वीर्यवत्तरमतः कर्मान्तरं निर्वायं स्वयमपि निरन्धनवह्नित्वस्यतीति न तेन श्लेष इत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तिप्रतिबन्धाभावमुक्त्वा तस्याप्रिकार उच्यते । इतरे अत्रे प्राप्यालौकिकदेहादिभ्यो स्मृतल्लिङ्गशरीरे ध्वपयित्वा पूर्वोक्तरीत्या कर्मनिवर्तनेन त्रीकृत्य अथ भगवत्सील्योपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते इत्युक्तम् । तेनास्मिन्मादेः ब्रह्मज्ञानवत्सत्तन्मार्गमेवात्यकारभेदेन कर्मक्षेपे स्पूलसूक्ष्मशरीरक्षणेप्योत्तरं ब्रह्मप्राप्तिरुक्तं भवति ॥ ७ ॥

इति श्रीचिदम्बण्डनगोकुलोत्सवाध्यात्मजगोपेश्वरचिकित्साध्याय-
मधिकरणमालायां चतुर्धाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

इदानीं स्पूलशरीरलागस्य स्फुटत्वात्सूक्ष्मशरीरलागप्रकारोऽस्मिन्मादे उच्यते । तत्र प्रथमे चतुःसूत्रे वाञ्छनोपिकरणे प्रथमसूत्रे भगवत्कृपास्य साधनद्वारा तद्रूपस्य वा साधनस्य मेदात् द्विधा सधोमुक्तिः । तत्र प्रथमायां किं प्राणा युगपुष्णीयन्त उत क्रमेणेति संशये विद्वेभे हेत्वभावाद्युगपदेवेति प्राप्ते क्रमेणेति वक्तुं वाञ्छनसि लीयत इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे अन्येन्द्रियाणां मनसि लय उक्तः । ततस्तृतीयसूत्रे सर्वेन्द्रियविशिष्टमनसः प्राप्ते लय उक्तः । ततश्चतुर्थसूत्रे सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टस्य प्राणस्य हृदि प्रत्यक्षविषये भगवति लय उक्तः । एवं पुष्टिमार्गीयवागादिलयप्रकार उक्तः ॥ १ ॥ ततो द्वितीये त्रिसूत्रे भूताधिकरणे ननु मर्यादामार्गीयाणामपि एवमेव वागादिलय उतात्पथ्येति संशये एवमेवेति पूर्वपक्षे तेषां तं भूतेषु लीयन्ते न तु भगवति । ततो द्वितीयसूत्रे ननु मर्यादामार्गीयो भक्तो ज्ञानी च भवतः, उक्तनिर्णयस्तु ज्ञानमार्गीयविषय एव । भक्तं तु तादृशमपि कदाचित्तुष्टावपि प्रवेशयतीति आशङ्क्य एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न किन्तु भयोपि ॥२॥ ततस्तृतीयसूत्रे नवसूत्रे समानाधिकरणे अतीताधिकरणद्वयेन पुष्टिमर्यादास्थयोः क्रमेण वागादिलयस्युत्पादान्ताद्वार्त्वार्यं तास्ताः शङ्का निराक्रियन्ते । तत्र प्रथमे सूत्रे पुष्टिमर्यादयोर्न कदाचिदन्यथाभावा इत्यत्र हेतुः क इत्याशङ्का निराक्रियते । साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा । विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमर्यादया । तथा सति सर्वैकरूपत्वं तयोर्मुक्तिमिति । एवं च 'एष उ एवे'ति श्रुत्युक्तेच्छाविषय 'स्ते नाधीतश्रुतिगणा' इति वाक्यविषयसत्तन्मार्गस्य रूपमेव हेतुः, यथैकनागरप्रपकयोर्मांगीयोस्तत्प्रापकत्वे मार्गत्वे च समानेपि कस्यचित्केवलपान्यप्रापकत्वं कस्यचित्सपरिकरपान्यप्रापकत्वं तद्वदित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे पुष्टिमार्गीयशुक्तिदशायां मर्यादामार्गीयाया मुक्तेः संसार इत्येव

व्यपदेशो भजनानन्दानुभवमावात्, 'नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन भिष्यति । स्वर्गोपवर्षण-
केष्वपि तुत्यार्थदक्षिण' इति वाक्यात् । ततस्तृतीयसूत्रे एतादृशवाक्यानां पुष्टिमार्गस्तुति-
परत्वमाशङ्क्य तत्र 'यतो वेति' श्रुतिरपि प्रमाणमित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे तर्हि ब्रह्मविद्यामिष
तादृशानां भक्तानामपि स्वर्गमार्गपदेशकत्वं कथितं श्रूयते, न वैषम्यतः पूर्वात् न सापीय
इति भातीत्युत्सृष्टमाशङ्क्य तत्र हेतुश्च्यते । ज्ञानिनामिव भक्तानां स्वास्थ्यामावात्रोपदेशः
सम्भवति । यतस्तेषां विरहिदशा म्रियसङ्गमदशा वेति दशाद्वयमेव । तत्र पूर्वस्वास्त्यास्तु
अतिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानामुपमर्देन तिरोधानात् उपदेशो न सम्भवति । सङ्गमे तु पुरः-
प्रकटपरमानन्दस्वरूपाद्भवत एव अन्यस्मै उपदेशो न सम्भवति । न हि भगवदप्रे उपदेशः
सम्भतीत्युक्तम् । ततः पञ्चमे सूत्रे आनन्दप्राप्त्यनन्तरं विरहस्य दुःसहत्वेनाशयवचनत्वं,
किञ्च तदानन्दतिरोभाव एव सिद्ध इति नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपादश्वरैक्यरूपाद्वा
मोक्षात्मकं तसाधिक्यमित्याशङ्क्यानन्दस्वैवायं धर्मो विरहतापरूपः इत्युक्तम् । ततः षष्ठे
सूत्रे 'न परयो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखता'मिति दुःखनिषेधकश्रुतिविरोधमाशङ्क्य तत्र
कर्मजन्यतापस्यैव निषेधो न तु कर्मजन्यविरहस्य । यदि चास्य दुःखत्वेन कर्मजन्यत्वम-
नुमीयते, तदा मोक्षसुखसापि सुखत्वेन कर्मजन्यत्वशङ्कया मोक्षसुखसापि विषय इत्युक्तम् ।
ततः सप्तमे लौकिकत्वस्य उपाधित्वसमर्थनाय विरहस्य कर्मजन्यत्वं श्रुतिमूलकमित्युक्तम् ।
ततोऽष्टमे सूत्रे 'भारयन्स्वतिङ्गच्छेने'ति वाक्येनोपष्टम्बं च तदित्युक्तम् । ततो नवमे सूत्रे
तादृशरसादुपवस्य फलत्वं कापि न श्रुतमिति साधनत्वमित्यत्याशङ्क्य 'ता वा वास्तुर्नी'ति
श्रुतावृत्तस्येति काम्यत्वलिङ्गात्फलत्वमित्युक्तम् । तेन गर्वीदामार्गीयतत्त्वापुष्टिमार्गीयं
तत्त्वसङ्ग्रहमिति साधितम् ॥ ३ ॥ ततश्चतुर्थं एकसूत्रं अविभागाधिकरणे तादृशली-
लाया नित्यत्वेन तन्मध्यपातिनां तदर्थेन यथा नित्यं तथा तादृकसाधनाभाषेपि निजानुक्र-
म्या कदाचित्कमपि भक्तं तत्र नयति चेत् तदा कंचित्कालं स्थापयित्वा ततस्तं वियो-
जयति न वेति संशये, तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या श्रुतिरपि तथैवेति वियोजय-
तीति पूर्वशेषे, नैव वियोजयतीति सिद्धान्तः । एतेनापि लीलानित्यत्वं सिध्यति । एतद्यथा
तथा रश्मिसाम्यप्रकाशान्यामवगन्तव्यम् ॥ ४ ॥ ततः षष्ठमे एकसूत्रं तदोक्तोधिकरणे
पुष्टिमार्गीयव्यवस्थां द्विविधं सद्यो मुक्तिप्रकारं च दर्शयित्वा ज्ञानमार्गीयस्य क्रमगुक्तौ निर्गम-
नप्रकार उच्यते । हृदयाग्रप्रबोधतनपर्यन्तं विद्वद्विद्वतोस्तुत्यं । निर्गमनमार्गः प्रकारश्च विदुषो
भिन्नः । तथा हि । जीवस्थानस्य हृदयस्य यदयं नाडीमुखं तस्य ज्वलनं प्रकाशं कियते ।
चक्षुरादिमिरिन्द्रियैः स्वस्वकार्यं विहाय पराज्ञावर्तेनैकैकीच्यते, अन्यथा श्रुतित्सेषां तेषो-
मात्रत्वं न वदेत् । तदा जीवस्तत्प्रकाशितनिर्गमनमार्गः सन् देहाग्निच्छति चक्षुषो वा
अन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्यः । इदं च सकलजीवसाधारण्यम् । विदुषवस्त्वेतावान्विशेषः ।
उपासनासामर्थ्यात् संन्यासाङ्गभवदनुस्यूतितैरन्तर्याच हृदि स्थितेन परमात्मनानुपदेहीतः

सन् एकशततम्या मूर्धन्यया नाङ्का निष्कामतीति ॥ ५ ॥ ततः षष्ठे एकसूत्रे रश्म्य-
धिकरणे ब्रह्मोभ्ये 'या एता हृदयस्य नाङ्क' इत्याख्य पठ्यते 'असौ वा आदित्यः
पिङ्गल' इत्यादि । अत्र च 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमत' इति । अत्र ज्ञानिनो यथा
निलक्षणा गतिरुक्ता, तथा रश्म्यनुसारित्वमपि लोकसाधारणं वा विदुष एवेति संशये,
रश्म्यनुसारी विद्वानेव निःकामतीति निर्णयः ॥ ६ ॥ ततः सप्तमे त्रिस्तुत्रे भिन्नवाचिकरणे
विदुष उक्तमणे ह्यनुग्रहकृतविशेषवत्कालकृतविशेषोक्ति न वेति संशयेस्तीति पूर्वपक्षे,
पूर्वोक्तभगवदहेतुस्तुतिसम्बन्धस्य देहोक्तिविपर्यन्तं सत्त्वात्कार्यत्वात्प्रहत्यापि तथात्वेन
कालोऽप्रयोजको नापेक्षणीय इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे दक्षिणापयनं कृष्णपक्षश्च न
वाचकमित्युक्तम् । ततस्तृतीये सूत्रे ननु गीतायामुत्तराध्यायदिकं गत्यनुकूलत्वेनोच्यते
इत्याशङ्क्य ज्ञानमार्गोद्योगमार्गो भिन्नः । तथा च योगिनमुद्दिश्यैव कालविशेषस्य गति-
विशेषहेतुत्वं स्मर्यतेऽतः कालप्रतीक्षावसौ गती स्मार्तं स्मार्तस्यैव, न तु ज्ञानमार्गीयस्य
श्रौतस्य, इतरनिरपेक्षत्वात् । तेन विभावतः क्रमेण मुक्तिं प्राप्नुवतीति न साधनान्तरापेक्षे-
त्युक्तम् । तेनास्मिन्नादे पुष्टिमार्गीयस्य ततो मर्यादामार्गीयस्य सद्योमुक्तिप्रकारः क्रमगुक्तौ
निर्गमनप्रकारादिकं च दर्शितम् ॥ ७ ॥

इति श्रीविद्वन्मण्डनगोकुलोत्सवात्मजयोगेश्वरविरचिताया-
मधिकरणेभाष्यायं चतुर्थोपनिषदस्य द्वितीयः पादः ॥

अस्मिन्नादे तु तेन द्वाराण निर्गतस्य ब्रह्मप्राप्तिमार्गः तल्लोकः तत्रासिप्रकारभ्योच्यते ।
तत्र प्रथमे चतुःसूत्रे अचिराद्यधिकरणे प्रथमसूत्रे ज्ञानमार्गीयस्यैव मर्यादामार्गीय-
भक्तस्याप्यर्चिर्दिमार्गेणैव गमनमुत् सद्योमुक्तिरेव भवतीति संशयः । तत्र यथा ज्ञानिनो
नियमाभावस्तथाऽत्रापीति पूर्वपक्षे ज्ञानी एव तेन मार्गेण गच्छति, भक्तस्तु प्रायशः सद्य
एव मुच्यत इति सिद्धान्तः । ततश्च क्रमगुक्तोभयकतचतुःपासनावाक्ये 'स एतं देवयानं
पशानमापयामिषिलोकानाम्' इति स वायुलोकं मिलेयं भिन्नभिन्नप्रकथनान्ज्ञानमार्गात्तरित्य-
त्याशङ्कार्चिर्दिनेत्येकवचनेन नानापूर्वविशिष्ट एको मार्ग इति ज्ञापनात् एक एव मार्ग इति
बोधनान्निरस्तेति च । ततो द्वितीयसूत्रे चायोरप्रवेशेन मार्गभेदमाशङ्क्य संवत्सरलोकान-
न्तरं वायुलोको निवेशनीय इति न मार्गभेद इत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे पूर्ववदाशङ्क्यां
तदिल्लोकोपरि वरुणल्लोको निवेशनीय इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे पूर्ववदाशङ्क्य वरुणल्लोके-
परि इन्द्रजगपतिल्लोको निवेशनीय इत्युक्तम् ॥ १ ॥ ततो द्वितीयो त्रिस्तुत्रे आनिवा-
हिकाधिकरणे प्रथमसूत्रे विदुषदन्तरं 'तस्युर्योऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र
भवति संशयः । उक्तश्रुतेर्गमयित्वैव ब्रह्मप्राप्तिरिति निश्चीयते । एवं सति यस्य वरुणादिल्लो-
कगमनं तस्य वचनाभावेन गमयित्प्राप्त्यभावात् ब्रह्मप्राप्तिर्भवति नवेति । वचनाभावेन

आपकाभावात् सा न भवतीति पूर्वपक्षे तत्राप्यातिवाहको भगवदीय एव ब्रह्म प्राप्नोति । त्रयापतिलोकोत्तरं ब्रह्मलोकस्य सत्यात्प्राप्तिरपि मार्गेत्यात् । प्रापकममानवं पुरुषमपेक्षतेऽतो यत्र स नोक्तस्तत्रापि सोवगन्त्यथ इति । ततो द्वितीयं सूत्रे अर्धिरादिमार्गगतानामपुराण-
तिश्रवणात् देवयाने पथि ब्रह्मविदाभेवाधिकाराच्च तादृशब्रह्मज्ञानेन सद्योऽनुकिसम्भवं श्रुति-
श्रवणां लोकानां परप्राप्तिकिसम्भजनकानां वाञ्छनायां 'यत्कर्मभिर्भयत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च य'दि-
त्युपक्रम्य 'सर्वं मङ्गलकियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसा । स्वर्गापूर्वर्गं मद्भाम कथञ्चिदधि वाञ्छती'ति
वाक्योक्तभक्तिसुखं हित्वात्यव्याख्यायां को हेतुरित्याकाङ्क्षायां खसृष्टदेवयानमार्गागन्तव्यक-
परिनिहीषया काश्चिज्ज्ञाननिभो भक्तांश्च व्योमोहयतीति ध्यामोह एव हेतुरित्युक्तम् । तत-
स्तृतीयं तद्विज्ञोकाद्वरणलोकादिप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिस्तस्य तल्लोकसम्बन्धी ब्रह्मप्रापकः
पुरुषोऽस्ति न वेत्याशङ्क्यायां विद्युलोकस्य ब्रह्मपुरुषेणैव वरुणादिलोकगतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः
न तु तल्लोकस्यात्, नापि पुरुषं विना 'ताम् वैशुतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गम-
यती'ति श्रुतेरित्युक्तम् । दृष्टौ स्वितरलोकन्यायेन विद्युलोकस्यातिक्रान्तत्वाद्ब्रह्मणलोकान्दि-
स्यैवैव ब्राह्मत्वेनास्तीति पूर्वपक्षोऽप्युक्तः।तेनाधिकरणान्तरत्वं सूचितम् । भाष्ये तु पूर्व-
पक्षो न दृश्यते । इयं च बाजसनयकं ब्रह्मलोकान् गमयतीति पठ्यते । आन्दोर्गदे तु
ब्रह्मेति पाठभेदेन पठ्यते । तत्रार्थं भावः । मक्तं तु वैकुण्ठलोकं नयति, ते वैकुण्ठा बृह-
विधा इति ब्रह्मलोकानित्युक्तम् । ज्ञानमार्गायै त्वश्रमब्रह्म प्रापयतीति ब्रह्मेत्युक्तम् । तेन
क्रममुच्ये मार्गो विचारितः ॥२॥ ततस्तृतीयोऽष्टसूत्रे कार्याधिकरणं क्रममुक्त्वा फलं
चिन्त्यते । तत्र प्रथमे सूत्रे 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेनाभिकृतं परब्रह्मोच्यत उत
कार्यरूपो ब्रह्मलोक इति संशये ब्रह्मपदेन परब्रह्मज्ञानोच्यते, तस्य व्यापकत्वेन देशविशेष-
गमयित्रोरनपेक्षितत्वात्कार्यब्रह्मलोकोत्र वक्तव्य इति बादरिराचार्यो मन्यते इत्युक्तम् ।
ततो द्वितीयसूत्रे 'ब्रह्मलोकान्गमयति तेषु तेषु लोकेषु पराः परावतो वसन्ती'ति श्रुतौ बहू-
त्वेन वासाधिकरणत्वेन च विशेषितत्वादपि कार्यरूप इत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे उपा-
सनाप्राप्त्यस्य कार्यत्वे ब्रह्मप्राप्त्योपमाशङ्क्य ब्रह्मसामीप्याद्ब्रह्मत्वव्यपदेशः । तल्लोकस्थि-
तानां ब्रह्मप्रासावन्त्यलोकान्वयचानात्सामोर्ग्यं, तेन लक्षणया ब्रह्मपदप्रयोग इत्युक्तम् । तत-
श्चतुर्थसूत्रे तस्य कार्यत्वे 'आश्रमभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽनुजैव'ति वाक्यततः पुनरा-
वर्तन्ते । अत्र तु 'न तेषामिह पुनरावृत्तिस्ती'त्युच्यत इति कथं तस्य कार्यत्वमित्याशङ्क्य
कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे चतुर्थखेन ब्रह्मणा सह ततोऽपि परं ब्रह्म प्राप्नु-
वन्ति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धस्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु
परान्तकाले पराश्रुतात्परिसुच्यन्ति सर्व' इति श्रुतेरित्युक्तम् । ततः पञ्चमे 'ब्रह्मणा सह ते
सर्वे संस्प्राप्ते प्रतिसम्भरे । परस्मान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि'ति स्मृतिरपि प्रमा-
णत्वेनोक्ता । एवं पञ्चसूत्रा पूर्वपक्षः । ततः षष्ठे सूत्रे गौण्या मुख्यवृत्त्यपेक्षया निर्बलत्वेन

मुख्यत्वा इत्या परमेव ब्रह्मोच्येत इति जैमिनिसिद्धान्त उक्तः । ततः सप्तमे सूत्रे
कौशीतकिश्रुतौ ब्रह्मप्राप्तिलोकवत्त्रयापतिलोकाप्रतिपुत्रत्वात् स ब्रह्मलोकमिति ब्रह्मलोकस्य
बहुपुत्रलोककारित्केण दर्शनात् ब्रह्मलोकः प्रजापतिलोक इत्युक्तम् । तेन 'वेदान्तविज्ञाने'ति
श्रुतेः 'ब्रह्मणा सह ते सर्व' इति स्मृतेश्च प्रलयविषयत्वेनात्र तद्विषयमात्राच्च ताम्यां 'न स
पुनरावर्तते' इति श्रुतिविरोध इति सिद्धम् । ततोऽष्टमे 'ब्रह्मविदाभ्योऽपि परमित्यस्य निवर्तन-
परैषैव ब्रह्मणा सह कामभोगलक्षणा प्राप्तिः फलत्वेन सिद्धा, अतः परप्रासावैव श्रुतितार्थव-
मित्यस्या अपि श्रुतेन कार्यलोके तात्पर्यम्, किन्तु नित्यलोक इति युक्तिरुक्ता । बादरिरतं
पूर्वपक्षत्वेनोक्त्वा सिद्धान्तत्वेन जैमिनियतकथनादयमेव पक्षो वेदव्याससम्मतः।तेनादावर्षिषं
ततोऽहस्ततः सितं पक्षं तत उदयनतः ततः संवत्सरं ततो वायुं ततो देवलोकं तत आदित्यं
ततथन्द्रमसं ततो विद्युतं ततो वरुणं तत इन्द्रं ततः प्रजापतिं ततश्चामानवेन उच्येतेव
ब्रह्मप्राप्तिरिति निर्णयः सम्पद्यते ॥३॥ ततश्चतुर्थं एकसूत्रे अप्रतीकाधिकरणे अर्धि-
रादिलोकप्राप्तिर्हि उपासनाफलम् । एवं सत्यमानवः पुत्रपुत्रान् सर्वान् ब्रह्म प्रापयत्युत कां-
श्रिदेवेति संशये अविशेषेण सर्वानेवेति पूर्वपक्षे, ये हि उपासेषु भगवद्भिर्मुतित्वं ज्ञात्वोपासते
ताव्रयति, न तु श्रुतिनैश्रवलेनोपासनायाः फलसाधनत्वमाह, न त्पासेषु ब्रह्मत्वमित्येवं
ज्ञात्वोपासते ताव वाऽस्तत्त्वमनुसन्धायाप्युपासनायाः फलत्वात् ब्रह्मत्वेन भावकात्रयतीति ना-
दरायण आचार्यो मन्यते । भक्तस्य तु अमानवपुत्रपेक्षामावात् स्वयमेव ब्रह्मलोकान् प्राप्नोति
इत्युक्तम् । तेनात्रोपासनायां लिङ्गबलेन ब्रह्मत्वं, तथा तदुपासने परम्परया साक्षाद्वा ब्रह्मप्रा-
प्तिरिति सिद्धम् ॥४॥ ततः पञ्चमे एकसूत्रे चिन्तोपाधिकरणे ज्ञानमार्गायानां भक्ति-
मार्गायाणां चाविशेषेणैव परप्राप्तिरुक्त कश्चिद्विशेषोऽस्तीति संशये, विशेषो नास्ति, उच्येतेरपि
परब्रह्मोपासकत्वादिति पूर्वपक्षे, 'ब्रह्मविदाभ्योऽपि परं सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं
गुह्याय परमे व्योमन्' सोऽभूते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति श्रुतिविशेषं दर्श-
यति । तथा हि ब्रह्मविदश्चरब्रह्मविदाभ्योऽपि सात्त्विक्यादश्रमेवाभ्योऽपि एतावन्वार्थो यो वेदे-
त्यन्तर्धेयोक्तः । अथ परमाभ्योऽतीत्यर्थोऽप्यन्ते निहितमित्यादिना । अत एव नक्तो
क्रियापदसुभयसम्बन्धित्वज्ञापकसुक्तम् । तत्रासिध्दं मर्यादापुष्टिभेदेन देवाः । तत्रादौ
मर्यादासुच्यते । इहायमाश्रयो ज्ञेयः । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुत्या भगवद्भार्यातिरि-
क्तसाधननिरासः कियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ । एवं सत्यश्रमब्रह्मज्ञानेन तत्साधनत्व उच्यमाने
निर्दोषः स्यात्, तेनैवमर्थो निरूप्यते । ज्ञानमार्गायाणामाश्रमज्ञानेनाश्रमप्राप्तिस्त्वेवं तदेक-
वैवसायित्वत्वात् । भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वत्वात् । तथा च ब्रह्मविदं चैत्रयावन्
शुभ्रुते तदा भक्तिरुदेति । तत्रपुराणैव सति स्वयं तद्दृदि प्रकटीभविव्युः स्वस्वामनूतं
व्यापिवैकुण्ठं तद्गुह्याय हृदयाकाशे प्रकटीकरोति तत्परमव्योमशब्दोच्यते । तथा च
गुह्याय परमे व्योमि निहितं यो वेद स परमाभ्योऽतीत्यर्थः सम्पद्यते । अथ शुद्धपुष्टिमार्ग-
ऽङ्गीकृतस्य व्यवस्थामाह—सोऽभूत् इत्यादिना । अत्रायमपिसिद्धः । यथा स्वयम्भकटी-

भूय लोके लीलां करोति, तथात्यनुग्रहवशात् खान्तःस्मितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्प्रेक्षा-
तिशयेन तद्वशः सन् स्वलीलासमानुभवं कारयतीति स भक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषो-
त्तमेन सह सर्वान्कामानश्नुत इति । चकारा'देवं सततशुका ये' इति प्रश्ने 'मन्यावेवय-
मनो ये मां' 'ये त्वश्वरमनिर्देश्यमि'त्यादिस्मृतिस्मरणः ॥ ६ ॥ एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामश्व-
रप्राप्तिरेव, भक्तानामेव पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ५ ॥

इति श्रीविश्वन्मन्यदण्डोक्तुलोत्सवाभजगोपेश्वरचरित्रचिताया-
मचिकरणमालायां चतुर्भाष्यायस्य तृतीयः पादः ॥

द्वितीयपादे सधोमुक्तिक्रममुच्यतेः प्रकारं दर्शयित्वा तृतीये प्राप्यस्वरूपं प्राप्तिप्रका-
रश्च क्रममुक्तौ दक्षितः । समाप्ती च ज्ञानमार्गीयभक्तमार्गीययोः सधोमुक्तावपि तत्कृत्या-
यादश्वरप्राप्तियुक्तोत्तमप्राप्तिरूपो विशेषः फले दक्षितः । इदानीं तादृशफलानुभवे प्रकार-
भिन्यते । तत्र प्रथमे चतुःसूत्रे सम्पद्याविभावाचिकरणे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'-
मित्युपक्रम्य 'सोश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्येवं सन्दिहते । किमन्त-
स्त्विति एषाश्रुत उत पुनर्नैन्म प्राप्येति । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेरन्तःस्वित एवेति पूर्व-
पक्षे प्रमोदत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्ददित्वायां तत्कृत आविर्भावो गुक्तानामपि
भवत्येव । भूमविद्यायां आत्मत आभिर्भावित्तोमावावितिश्रावणात् । न चापुनरावृत्तिश्च-
तिविरोधः । तत्रेति तदपेन प्रथम एव तद्विषेधात् । लीलायाश्च प्रपञ्चातीतत्वात् । तेनास्यां
श्रुतौ ब्रह्मणा सह भोगो जीवस्य शरीरमन्तरानुपपद्यमानस्तदाक्षिपतीत्युक्तम् । ततो
द्वितीयसूत्रे आविर्भूतस्य सृष्ट्यादाविष बन्धसम्भवमाहाङ्ग्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र
मुक्तिप्रतिज्ञानादाविर्भूतो मुक्त एवेत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे ब्रह्मणा सहेत्यत्र ब्रह्मणं सगु-
णपरमेव सुक्तं, भोगस्य गुणसाध्यत्वादित्याशङ्क्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य तत्प्रा-
दुष्पातीतस्य प्रकारमिति ब्रह्मणं गुणातीततत्परमेव । ततश्चतुर्थसूत्रे ब्रह्मविदिति भिन्नं
वाक्यं सर्वं ज्ञानमन्तर्गमिति भिन्नं वाक्यमतः कथं साकाह्वल्यमित्याशङ्क्यैतयोर्मध्ये तदे-
वायुक्तेति श्रुतिदर्शनादस्ति साकाह्वल्यमित्यभयोरेकार्थ्यमविवादमित्युक्तम् । तेन ब्रह्मसा-
युक्त्यं प्राप्तोप्यतिक्रमया बहिराविर्भूतो ब्रह्मणा सह सर्वान्कामानश्नुत इति पूर्वसूत्रद्वये सि-
द्धम् । अमिमसूत्रद्वये च तद्वन्न न सगुणं किन्तु परमेवेति सिद्धम् ॥१॥ ततो त्रिनीचेष्ट-
सूत्रे ब्रह्माचिकरणे प्रथमसूत्रे आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भजनानन्दं मुहुं
उताप्राकृतेनेति संशये, भोगस्य लीकित्वात्तदाद्यतनमपि प्राकृतमेव युक्तमतः प्राकृतेनेति
पूर्वपक्षे, अप्राकृतेनैव सत्वज्ञानानन्दारम्भेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्रुते इति जैमिनिराचार्यों
मन्यते । अश्वरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकेभ्यं शरीरं तस्य वक्तुमुचितं, न
तु प्राकृतम् । ततो द्वितीयसूत्रे चिन्मात्रेण रूपेण कामान् सुक्रे, न तु विग्रहेणेति औद्दलो-

निराचार्यों मनुते । ततस्तृतीयसूत्रे 'कृत्वः प्रज्ञानधनः' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्वे-
रविशेषेण प्राणाण्याद्ब्रह्मत्वचिन्मात्रत्वाभ्यां युक्तेन शरीरेणेति वादरायणाचार्यों मन्यत इति
सिद्धान्त उक्तः । ततश्चतुर्थं तादृशविग्रहप्राप्तौ ब्रह्मसङ्कल्परूपो हेतुरुक्तः । तथा च यस्य
तद्व्यसङ्कल्पविषयत्वं तस्य तादृशविग्रहप्राप्तिर्न सर्वस्य, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति
श्रुतेरित्युक्तम् । ततः पञ्चमे सूत्रे पुष्टिमार्गीयस्यैव तादृशविग्रहदत्तेन अनन्यापिचित्यरूपो
हेतुरुक्तः । ततः षष्ठे सूत्रे 'यत्र स्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्कलेन कं परये'दिति श्रुतिर्ब्रह्मविदो
द्वितीयज्ञाननिषेधमाहेति कामभोगासम्भवात्तदाक्षेप्यो देहोपि न सम्भवतीति वादरिराचार्यों
मनुत इत्युक्तम् । ततः सप्तमसूत्रे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानं परमासि-
धनमित्युच्यते, 'नायमात्मे'ति श्रुत्या तु वरणं तस्यासिद्धाचनमित्युच्यते । तत्रैव समवनीयन्ते
मस्यैव सन्मद्याप्येती'ति श्रुत्या लयः फलमुच्यते, सोश्रुत इत्यत्र कामभोगः फलमुच्यते । एवं
सति श्रुतिविरोधपरिहाराय ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाश्वरप्राप्तिः सा लरूप्या । पुष्टिमा-
र्गीयस्य तु भक्तस्य 'सोश्रुत' इत्यादिनोक्ता पुरुषोत्तमप्राप्तिरुपा । सा च वरणेन तत्सद्विदया
भक्त्या वेति श्रुतिव्यवस्थया पुष्टिमार्गीयस्य भक्तस्य भोगसाधनभूतविग्रहो लिप्स्यह्यः ।
'तत्लेन कं परये'दिति श्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानसाधनमित्येकीमवस्थामाहेति जैमिनिः
शरीरसङ्घावं मनुते । ततोष्टमे सूत्रे तच्छरीरं कीदृशमित्येषेक्षायाम् 'आत्मतः प्राण आत्मत आशे'-
त्यादिना प्राणाश्वरमाकाशतेजोधाविर्भावितोभावाच्चतुर्विज्ञानध्यानचित्तसङ्कल्पमेवोभावा-
मभक्त्यैतत्सन्धानानामुक्तत्वाद्भ्रमजन्वं केवलानन्दप्रधानमिति वादरायणाचार्यों मन्यते ।
तथा च युक्तस्य यच्छरीरं तदेवमात्मजन्मत्वेन भूताजन्मत्वाद्दशरीरं, विषयश्रुती तदायतं-
नत्वाच्च शरीरमित्युपभयविधमिति न पूर्वोक्तश्रुतिविरोधः । नन्वेकस्य युक्तजीवदेहस्य विद्-
जोभयधर्मवत्त्वं कथमिति चेन्न । द्वादशाहस्य 'यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण
यजेते'ति यजतिचोदनया द्विरात्रादिवदहीनत्वं, 'द्वादशहृदिकामा उपयु'रित्युपैतिचोद-
नया च सत्त्वं तद्वदविरोधादित्युक्तम् । तेनास्मिन्नचिकरणे सम्पद्याविर्भावस्योक्तो मुक्-
त्वाविर्भावो विचारितः ॥२॥ ततस्तृतीये सूत्रे तस्य भावाचिकरणे आत्माप्रकल्प-
दिति सूत्रद्वयोक्तब्रह्मस्वरूपं विचार्यते । तत्र प्रथमसूत्रे स्वयच्छरीरं अप्राकृतत्वं निर्णीयते ।
समे यथा वासनावशादविद्यमानानामप्यर्थानां दर्शनं भवति तथा भगवद्विच्छावशात्तत्रापि
प्राकृतानां अग्रश्रमादीनां दर्शनमिति ज्ञेयम् । भगवान् आसुराणां प्राकृतगुणे तमस्येव दुः-
खान्तके लयं चिकीर्षुः स्वस्तिम् प्राकृतत्वमुच्यते । तदनाय तादृशीमिव लीलां प्रदर्शयत्यतो
न प्राकृतत्वसङ्गानुगोप्यत्र । भगवति विपरीतलीलादर्शनं तु आसुरव्यामोहाद्य । 'निर्दोषधे-
क्त्यं विष्णुर्मनुष्येषु प्रजायते । चिन्ताश्रमव्रणज्ञानदुःखवृत्तद्वयते कथम् । एवं मे संक्षयो
ममन् हृदि शक्य इवार्पित' इति नारदप्रश्ने 'स्रोग्मलानुपपन्नारामा देहो नास्य विजायेते ।
किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुम् । प्रकाशयति सैवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरा ।

तथाप्यासुभोहार्यं परेषां च क्वचित् कश्चित् । दुःखाज्ञानत्रयादीन् दृश्येष्वुत्सङ्घः । क
 ऋणादि क चाज्ञानं स्वतन्त्राचिन्त्यसङ्घे । दौलम्भाच्चैव भोक्षस्व दृश्येताज्ञो हरिः ।
 कृष्णो ह्यस्तकदेहोपि त्यक्तदेहस्य देहवत् । लोकानां दर्शयामास स्वरूपसंश्लक्षितम्
 इति ब्रह्माण्डपुराणे ब्रह्मभवन्यस्य इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे एवमन्येयामपि धर्मणां दर्श-
 नमस्तिल्याशङ्क्य 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायेन ते सन्त एव प्रतीयन्ते, ये रिंगणादि-
 लीलासु परिनिष्ठत्वात्पदयः तेषां कैवल्य एव प्रवेश्येत्युक्तम् ॥ ३ ॥ ततश्चतुर्थे त्रिष्टुप्ते
 प्रदीपाधिकरणे प्रथमसूत्रे ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा सह अतुष्टशस्य भक्तस्य
 भोगकरणं सम्भवति नेति संशये 'न तत्सम्' इति श्रुत्या ब्रह्मात्मस्य ह्याप्यमावाञ्च सम्भ-
 वतीति पूर्वपक्षे भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा तदाऽयमपि तथैव भवतीति ब्रह्मभवेनेन
 तौत्स्यसम्पादनात्सर्वमुपपन्नते । यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्त्यां बत्थीमर्वाचीनाया-
 मानिष्टः स्वसमानकार्यक्षमां तां करोति, स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयं तथाभापीत्यर्थः ।
 तथा च श्रुतिः 'भर्ता सन् त्रियमाणो विभर्ति एको देवो बहुधा विनिष्ट' इति । न चात्रा-
 न्तर्थाभिरूपेण प्रवेशः शङ्कनीयः । तस्यैकविधत्वेन बहुधेतिपदव्याकोपात् । अतः
 'सोश्नुत' इति श्रुत्युक्तफलभोगो यथा भवति तदनुरूपो यः प्रवेशः सोऽत्र बहुधेति पदेन
 अभिप्रेयते । अत एव देवपदम् । स्वरूपानन्ददानाद्भगवोदीपनात् पदानादिमुक्तिदानेन
 स्वमाहात्म्यद्योतनाद्देव्युष्णदक्षिणेत्यर्थः । तदुक्तं निरुक्ते 'दिवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा
 पुष्ट्यानो भवतीति वा यो देव' इति । किञ्च, भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणाल्क्रीडा-
 यामेव जयेच्छाकरणाऋक्तेः सह स्व्युद्धारकणाऋक्तेषु स्वमाहात्म्येष्वद्विद्योतनात् 'अ परयेहं
 त्यादृशीं प्रणयिनी'मित्यादिभिः सुनित्करणाऋक्तप्रतिपत्तिदर्शनेन कालीयदमनादौ भोद-
 करणात् तेष्वेव भक्तिमदकरणात् ते स्वमेपि प्रियमेव पश्यन्तीति स्वप्रकरणात्तेषां कान्तिक-
 रणादिच्छाकरणाद्वा तत्रिक्रते गमनादपि देवः । तदुक्तं धातुपाठे 'दितु क्रीडाविगिगीषा-
 व्यवहारश्रुतिस्तुनिमोदमदस्वप्रकान्तिमतिषु' इति । ततो द्वितीयसूत्रे तादृशभोगाङ्गीकारे
 'न तदश्रुति कश्चन न तदश्रुति कश्चन' इति श्रुती भोगाभावकथनात्तद्विरोधमाशङ्क्य
 सुपुत्री ब्रह्मप्राप्तौ च ब्रह्माविर्भावत् सुपुस्त्रित्या विषयः, न तु ब्रह्मप्राप्तिरिति विषयभेदात्
 श्रुत्योर्विरोध इत्युक्तम् ॥ ४ ॥ ततः पञ्चमे षट्सूत्रे जगद्वापाराधिकरणे प्रथमसूत्रे
 ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारसुतमुत नेति संशये भोगस्य सर्वत्र लौकिकव्यापारसु-
 तत्वादिदमपि तद्युतमिति पूर्वपक्षे 'ब्रह्मविदाभोति परम्' इति युक्तेः प्रकरणात् 'न यत्र
 कालोनिर्माणं परः प्रभुः कुतो तु देवा जगतां य ईश्वरिरे न यत्र सर्वं न रजस्तमश्च न वै
 विकारो न महान्प्रधानं'मिति वाक्याश्रयतोऽसन्नहितत्वाच्च लोकसम्बन्धिव्यापारहितमित्यु-
 क्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'सर्वैरंहि पदयः पदयतीति मुक्तिप्रकरणे सर्वैविषयकदर्शनमुच्यते
 इति मुक्तस्य जगद्वापारराहित्यं नोपपन्नते इत्याशङ्कान्न सर्वपदं लीलासम्बन्धि यत्सर्वं तत्परं,

सर्वे प्राणया भोगमित्यस्या इतिवदिति जगद्वापारराहित्यं सुपपन्नम् । तेन मुक्तिप्रकरण-
 वेवाहरीलाभयपि नित्यत्वं सूचितम् । ततस्तृतीयसूत्रे लीलाधिपेषुषीभूतानां तत्प्रेक्षितत-
 त्त्वात्तत्तत्प्रकदेहानां नित्यत्वेन 'श्रुत्युत्सङ्घमायास्य' इति प्रभुषोक्ते तदास्यया तस्य मक्तस्य
 स्थितिर्नोपपन्नम् । लीलानां नित्यत्वेन द्वितीयदिनरूपस्य कालस्य तदागमनस्य पूर्वदिशत्
 उत्क्रियामपेयि सत्त्वात् । तथा च इति प्रसूक्तिरपि तत एव नोपपन्नत इत्याशङ्क्य 'सर्वना-
 भोति सर्वय' इति श्रुतिरकस्त्वैव भक्तस्य सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलासक्तिं वदति । तथा वैश-
 ष्ट्युत्तिप्रामाण्याद्यत्स्वरूपं प्रति 'श्रुत्युत्सङ्घमायास्य' इति वदति तस्य स्वनेद्रे प्रथमदिने भक्त-
 स्थितिज्ञानं न भवति । यथा नित्यव्यापकज्ञान्वादिजैमिनीयमते व्यञ्जकस्य वाचोर्व्यनेकी-
 उभावेन न वर्णात्यकज्ञान्दस्य सर्वत्र सदा ज्ञानं, तथात्र लीलादिव्यञ्जकमयधित्वाभावेन
 न भगवत्स्थित्यादिज्ञानं भवतीत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे सूत्रे एतद्वदे मुक्तिगम्यत्वाभाव इत्या-
 शङ्क्य 'नैवा तर्केण मतिरनेया, परास्य शक्तिर्विधिवेच श्रूयते स्वामाविकी ज्ञानवत्क्रिया
 चे'त्यादिश्रुतिः 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' 'न हि विरोधो उच्यते भगव-
 ती' इति स्थितिश्च तमेवार्थमाहेतीष्ट्यपत्तिरित्युक्तम् । तेन लीलाविशिष्टमेव ब्रह्म परमफलं 'रसो
 वै सः रसः रक्षेवायं लम्बानन्दी भवतीति श्रुत्येति साधितम् । ततः पश्ये सूत्रे लीलादि-
 शिष्टस्यैव परमफलत्वे हेत्वन्तरागुच्यते । सोऽश्नुत इति श्रुती भक्तस्य सर्वकामभोगे ब्रह्मणः
 सहभावः श्रान्त्यते । स च भोगभावे, भोग एव परासाम्यं भक्तानुरूपत्वेन तत्तौत्वं तस्य ज्ञाप-
 कम् । अतोपि फलं लीलाविशिष्टं ब्रह्मवेति सिद्धम् । भावपदेन 'न तत्समभ्याम्यधिकश्च दस्यत'
 इति श्रुतिविरोधोपात्तः । ततः षष्ठे सूत्रे कर्मफलभोगानन्तरमावृत्तिवदत्राप्याश्रुतिर्मिथ्यती-
 त्याशङ्क्य 'न तेषां पुनरावृत्तिरस्ती' इति श्रुत्येति निर्वाणं न सा, 'यमेवैव वृणुत' इति श्रुत्येवैरणलम्यः
 पुरुषोत्तमः फलं, स चाश्रयत्वरतः पर इति श्रुतेरश्रयत्वरत्वात्प्रतिषेधवित्यनेन नोपपत्तेः ।
 अत इदं वाक्यं परप्राप्तिप्रकाशनसामर्थ्येन भक्तानामनामावृत्तिं बोधयतीत्युक्तम् ।

अत्र भावावादिनो मोक्षे भोगं नाङ्गीकुर्वन्ति, ते त्वेवं निरसनीयाः । 'ससम्भोषं
 मोक्षं श्रुतिसिद्धं निश्चिन्त्याचार्येणार्थं विभगो दक्षितस्वामिं नास्तिक्वमवलम्ब्य प्राप्त्वा
 वा सुशान्तिन्यप्यकरणेन मान्यत्वम् । श्रुतीनां नार्थवादत्वम्, सर्वत्रार्थवादत्वप्रसङ्गात् ।
 निःसम्भोषे तु मोक्षे न प्रेक्षापूर्वकारी प्रवर्तते । संसारावस्थायां तावदेवलोकादिषु पर्या-
 येण सुखतारतम्यं लभन्ते, युक्तः पुनः सुपुष्वञ्च किञ्चित् । स्वरूपचैतन्यं तु विषयान-
 मन्मत्स्यसमभवेन । न हि तत्रैतन्मन्तरेण संवेद्यते । तस्यैवाभावात् । न च स्वचैतन्यतः
 संवेद्यत्सु । चैतन्यव्यतिरिक्तसंसिद्धिर्नान्युपपन्नात् । अन्त्युपपन्नं च भेदप्रसङ्गेन भावावाह-
 षान्तिरेव स्यात् । ससम्भोषे तु मोक्षे सर्वमाविर्भूतं सलक्षणं बोधस्य रूपम् । मनः सर्वज्ञं सर्व-
 शक्तिमिन्द्राभिन्नरूपं च । तेन तदवगतिर्नतोन्मयेति' । 'अनेतिसिद्धम् । ज्ञानमार्गीयार्था
 तत्रसिद्धस्यत्वविद्युक्तकारोभयने तत्कृतन्यायेन तादृशेक्षरे भवैव सन् ब्रह्मापेक्षीति श्रुत्यु-
 १० वेषः

क्तो लयः । अक्षरस्य 'तद्धाम परमं मम' इति वाक्योक्तमगवद्दामत्वज्ञानपूर्वकं मित्यमगवल्लो-
कत्वेन भगवदभिन्नत्वेन दहराद्युक्तरीत्योपासने यथाधिकारं सालोक्यादिचतुष्टयप्राप्तिः । आ-
दित्याद्युपासनानामङ्गोपासनात्वादर्चिरादिक्रमेण गत्याऽमानवेन पुरुषेण भगवल्लोकप्राप्तिरैश्व-
श्रयादिप्राप्तश्च । उपासनायां मर्यादामन्तिसाहित्ये वैकुण्ठादिलोकेषु भगवत्सेवकत्वमधिकम् ।
तदा भगवदनुभवः । तत्रापि भक्तेरुत्कटत्वे तु भगवच्चरणे कौस्तुभादौ वा प्रवेशेन भग-
वत्सामुज्यम् । अनुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तौ तु 'भक्त्या मामभिजानाति' इत्युक्तरीत्या
स्वस्मिन्प्रवेश्य भूयविद्योक्तरीत्या पुनः दृयमाविर्भाव्य भजनानन्दातुभावात्ने 'सोऽशुत' इति
श्रुत्युक्तरीतिकं भोगं कारयतीति ।

आचार्यकृपयैवायमध्यायार्थः प्रकाशितः । अतो विशेषविज्ञासा प्रकाशेन प्रपूर्यताम् ॥ १ ॥
फलमालामलम्ब्यास्य रचितां पुरुषोत्तमैः । कृता गोपेश्वरेणैयं नातो व्यर्थैः परिश्रमः ॥ २ ॥

इति श्रीविश्वम्भण्डनगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचिता-
यामधिकरणमालायां चतुर्थोप्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

वेदान्ताधिकरणमाला

भावप्रकाशिका

(सूत्रवृत्तिरूपा)



પ્રસ્તાવના ।

આ ગ્રન્થના પ્રયોજના શ્રીકૃષ્ણચન્દ્ર મહારાજ શ્રીદરકાંધીરાજના શુદ્ધમાં થઈ ગયા. એઓશ્રી શ્રીપુરુષોત્તમજીના શુદ્ધ હતા. આ બન્ને શુરુશિષ્યનું કટૌલ આ ગ્રન્થમાં બાસે છે. આ દૃષ્ટિને પ્રથમાબ્યાય ત્રણ ગ્રન્થના આધારે શોધ્યો છે. બે પુસ્તક પં. મહાસાલજીના સંપ્રદમાંથી પ્રાપ્ત થયા, અને એક શ્રીનાથદેવના સંપ્રદમાંથી પ્રાપ્ત થયું. ટિકેટ શ્રીગોવર્ધનનાલજી, શ્રીદોષાદેવસાલજી તથા તદ્દશિન સાબી નન્દશિરોરના તદ્દર્શ ઉપકાર માનીએ છીએ. રત્નગોપાલભટ્ટજીના સુદિત પુસ્તકમાં પછી નુદિએ હતી અને અમારી પાસેની પ્રતો પણ સંતોષપ્રદ ન હતી. તેથી શ્રીમનિરુદ્ધસાલજીને નમનમરના સંપ્રદમાંથી તે પુસ્તક મોકલી આપવા વિનવત કરેલી. તદ્દર્શ પત્ર પણ લખ્યાં; તથાપિ આવા નિરપેક્ષ સાંપ્રદાયિક કાર્યમાં આવા વિદ્વાન ગૌરવાભિપ્રાયકે શક્ય અને સરજ હોવા છતાં સાદાપ્ય ન કર્યું તેથી અમને ખેદ થાય છે. આ ભાગના શોધનમાં શ્રીપુરુષોત્તમજીનો નિજ શ્રીદરનાક્ષરચિત્રિત પ્રથમાબ્યાયનો પ્રકાશ અમને બહુ જ સહાયક થઈ પડયો. ચયાચરિત યયાચરિત વ્યને શોધન કર્યું છે. સાંપ્રદાયિક તથા ઇતરે વિદ્વાનોને આ ગ્રન્થ સાંપ્રદાયનું પાંડિત્ય કેટલું બહન હતું તે દર્શાવવાને સમર્થ છે. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજી ચરિત લેણાદ માસિકમાં આપ્યું છે એટલે અત્ર પુનરુક્તિ કરતા નથી.

સુરતવાલા શ્રીમજરતજી મહારાજ સંવત્ ૧૯૭૭ ના બાદપદમાં ભણ્ય પધાર્યાં હતા. શ્રીપુરુષોત્તમજીના ઉત્સવ દિવસે-બાદપદ-શુક્લ-એકાદશીને દિવસે આપશ્રીએ એક વ્યાખ્યાન ત્યાં કર્યું. સાંપ્રદાયિક નષ્ટ થતા સાહિત્યનું રક્ષણ કરવાને ઉપદેશ કર્યો. મહારાજશ્રીના ઉપદેશને માથે ચલાવી નીચે જણાવેલા શૈલ્યવૈભિ એ કાર્યમાટે નીચે જણાવેલું દ્રવ્ય આપ્યું. એ સંશુદ્ધિત દ્રવ્યથી આ ગ્રન્થનું શુદ્ધય થયું છે. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજીની લેખનપદ્ધતિ અત્યંત પ્રૌઢ છે અને તેથી શોધનાર્થે અમારા સર્વ પ્રયત્ન છતાં શોધ નથી જ રહયો એમ કહવું અસાધ્ય છે. એવા શોધનેમાટે ગ્રન્થપ્રયોજના મહાપુણ્યવતી ક્ષમા મામી આ પગ પરિશ્રમથી સિદ્ધ થયેલા ગ્રન્થ શીમપ્રણયચરણકમલમાં સમર્પીએ છીએ.

શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।

પાસણિકમ્ ।

પૂર્ણાધ્યાયદ્વયવક્રાવકાશિકાયાસ્તુતીયાધ્યાયસ્ય મુદ્રણવ્યયપ્રબન્ધઃ શ્રીમદ્દોસ્વાર્મિ-શ્રીમજરત્નચરણેઃ કૃતઃ । દિતીયાધ્યાયત્રયેતદધ્યાયસ્ય પાટયોજના શ્રીમત્પુરુષોત્તમચરણૈ-નિજશ્રીદરસ્તાક્ષરલિખિતપુસ્તકત એવ કૃતા । તત્રાપિ યૈતત્પુસ્તકં વર્ણાજલેન સંદિગ્ધં જાતમ્, વક્ષરાણિ ચોત્સતિતાનિ, તવાન્યલુસ્તકદ્વયસ્યાન્યુપયોગઃ કૃતઃ । તત્રૈકં શ્રીમદ્દેષ્ણવપરિપ-લ્સંગ્રહતો 'વાઢીલાલ નગીનદાસ શાહ વી. ઇ. ઇલ્. ઇલ્. ધી. વકીલ હાઈકોર્ટ' ઇત્યનેન દત્તમ્ । અન્યથ 'મનુલાલ ગણપતિરામ શાહાં, ઇમ્. ઇ. ડી. ઇ. ઇમ્, ઇસ. ડી. સી. ડી. ઇમ્. આર્. ઇ. ઇમ્, પ્રોફેસર ઓફ સંસ્કૃત, દક્કન કોલેજ, પુના,' ઇત્યેતેષામ્ । શ્રીદસ્તા-ક્ષરપુસ્તકપાંક્ષયેતત્પુસ્તકદ્વયમપિ પ્રાયોશુદ્ધમર્વાંચીનં ચ, તથાપિ યેષુ સ્થલેષુ મૂલપુસ્તકસ્ય વાચનમશક્યં સંદિગ્ધં વા પ્રાપ્તમ્, તેષુ સ્થલેષુ ઇત્પુસ્તકદ્વયેનાત્યન્તમુપકૃતમિતિ ।

મુમ્બઈ.
આપાહ કૃષ્ણ પ્રતિપદ્ ૧૯૮૨

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.

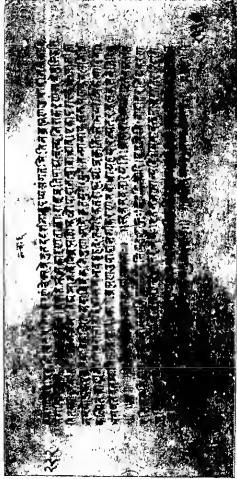
EDITORS' NOTE

The text of the present work is based on the Mss. written by the author's pupil Sri Purushottamaji in his own hand, except in a few places where the original was damaged. In such cases we had to consult other Mss. It seems our author always writes *નૈવાચક* instead of *નૈવાચિક*. We have accordingly retained *નૈવાચક*, though apparently the correct form should be *નૈવાચિક*. For the loan of Mss. we are obliged to Pandit Gattulalaji's Library and Srimad Vaishnava Parishad collection. We have to thank also H. H. Srimad Goswami Sri Vraja Ratnaji Maharaja of Surat and Seth Ichharam Pranjivandas for supplying us with funds for this publication. We offer this fruit of our labour of Love at the Lotus-Foot of Lord Sri Krishna.

16-6-24 }
Bombay, 4 }

M. T. TELIVALA

D. V. SANKALIA



श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणानां श्रीहस्ताक्षरलि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भावप्रकाशिका ।

श्रीमद्भाष्यानुसारिब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

शास्त्रविचित्रमश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रकृता ।



नत्वा श्रीबल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।

श्रीमद्भाष्यानुसारेण सूत्रवृत्तिं ब्रुवेऽधुना ॥ १ ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥ (१०-१-१.)

अस्यारम्भसूत्रत्वाद्वाचिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनरूपमनुबन्धवत्तुद्वयं बन्धव्यम् । शास्त्रप्रवृत्त्यावश्यकत्वहेतुभूता संगतिरपि निरूपणीया । शास्त्रस्य वैधत्वमपि विचारणीयम् । तत्र तावत् 'साध्यायोऽध्येतव्यः' 'अष्टवर्षं ब्राह्मणश्रुपनयीत, तमध्यापयीत' 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय' इति वेदाध्ययने त्रयो विधयः ।

तेषु भाटाः, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवेसानाङ्गीकारे अदृष्टकलकल्पनापत्तेरर्थज्ञानरूपदृष्टकलार्थत्वमङ्गीकृत्य, 'वसन्ते ब्राह्मणश्रुपनयीते' त्यादिवाक्येषु द्वितीयानिर्देशेन त्रैवर्णिकानां संस्कार्यत्वावगमात् संस्कारस्य च कार्यान्तरयोग्यतासम्पादनरूपत्वाद्दुपनयनसंस्कृतानां त्रैवर्णिकानां कार्यान्तरापेक्षत्वेन तत्सन्धिपठितस्याध्ययनस्य बानिर्दिष्टकृततया कत्रेपेक्षत्वेन परस्पराकांक्षासन्धिधियोमयत्वैरध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकानां यज्ञरूपकार्यान्तराधिकारनियमार्थत्वाजियमविधित्वे आधानादिविधयोऽपि त्रैवर्णिकानेव विद्युयोऽधिकुर्वन्तीत्यध्ययनविधिरर्थज्ञानमाश्लिषति, तच्च विचारशास्त्राधीनमिति तस्यापि वैचत्वमित्याहुः ।

प्राभाकरास्तु, संमाननोत्सृजनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु निय इत्याचार्यकरणे विहितेनोपनयीतेत्यात्मनेपदेनापनयनरूपस्य माणवकसंस्कारस्याचार्यत्वसिद्धिप्रयोजनत्वं लभ्यते, उपनीतो माणवकोपि न तृष्णी स्थितः संनिधिमन्त्रेणाचार्यत्वं साधयतीति तद्व्यापारापेक्षायां वाक्यान्तर उपनयनं प्रकम्य विहितमध्ययनमेवाध्यापनोपकारकत्वाद्दुपनीतव्यापारतयाध्यवसीयते, ततोऽध्ययनस्यापि प्रयोजने विचार्यमाणे स्वसमवेतत्वेनान्तरङ्गत्वादर्थज्ञानमेव तथात्वेन निश्चीयते, आचार्यत्वसिद्धिस्त्वध्यापनस्यैव

प्रयोजनम्, अध्यापकसमवेतवत्कृतम्, एवमेतन्मतेष्वर्थाज्ञानस्य विध्याक्षिप्तत्वात् तदाक्षिप्तस्य विचारशास्त्रस्य वैधत्वमित्याहुः ।

रामानुजाचार्यास्तु, अध्ययनविधिना स्वाध्यायात्वात्पर्यवेदस्याक्षरग्रहणमात्रं विधीयते, तत्रैतिकर्तव्यताकांक्षायांमध्यापनविधिना उपाकरणपूर्वकाध्ययनविधिना चाध्ययनेष्वेच्छितान्त्याह्नानि विधीयन्ते, तेनाचार्याचार्याणांभारणरूपमध्ययनमक्षरशिक्षणह्यफलकमित्यस्वगम्यते, तथाध्ययनं विधिविचारयोर्कर्तव्येन बोधितस्य चतुर्थीफलस्य स्वाध्यायात्पर्यवेदस्य संस्काररूपम्, ततश्चोत्तरार्जोत्तरश्रद्धायापनस्योक्तत्वात् तैः सह यथाविध्यधीयमानः स्वाध्यायः स्वभावादेवापाततोऽर्थे बोधयति, न तु सामस्त्येनेत्सर्वाश्चित्तौ विचार इति तच्छास्त्रस्यापि वैधत्वमित्याहुः ।

शाङ्करास्तु व्यवहारे वयं भाद्रा इति वदन्तीति तथैव वैधत्वम् । 'विजिज्ञासस्त्वे'ति विधिकारितं वा । एवं शैवमतोऽप्यर्थक्षिप्तमेव विचारशास्त्रवैधत्वम् ।

भास्कराचार्यास्तु, स्वाध्यायविधेरर्थज्ञानपर्यवसितत्वेपि तस्य ब्रह्मज्ञानाक्षेपकत्वं न वक्तुं शक्यम्, 'यज्ञेन दानेनेति, 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धाचित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्योपायान्तरसापेक्षत्वबोधनात्, 'श्रवणायापि बहुमिषो न लभ्य' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वात्, किन्तु 'श्रोतव्यो मन्तव्यः सोऽन्वेष्येष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः' इत्यादिवेदान्तविधिकारितैव ब्रह्मजिज्ञासेति तेन शास्त्रस्य वैधत्वमित्याहुः ।

माध्वा अप्येवमेवाहुः । मैश्वरेऽप्येवम् ।

सिद्धान्ते तु प्राथमिकमध्ययनमध्यापनविधिरैव प्रयुक्ते । माणवकोपनयनस्याध्ययनार्थत्वेपि तस्य बालत्वेनाध्ययने स्वतः प्रवृत्त्यभावात् । तत्र गुरुवारणानुसारणरूपं वेदाक्षरग्रहणफलकमेव । ततः सत्सङ्गादिवचनात् तत्र रुचावृत्त्यभ्यायं वयसा सामर्थ्यं च नातेऽप्येतन्न इति कृत्यप्रत्ययेन तस्यावश्यकता बोध्यते । ततस्तेन स्वाध्यायावर्तने पापापगमे 'ज्ञेयश्चे'ति धाक्चेर्भ्रंशानस्याध्यायकत्वात् बोध्यते । ततो ज्ञानं साक्षाद्भाक्योक्तमेवेत्याक्षेपलभ्यता इथैव खसृचिभिराद्रियत इति ।

तत्र वैदिकाः प्राचीनपरम्परया गुरुस्वादाङ्गैचार्यार्थज्ञानस्य सम्भवान्मीमांसानुसङ्गं बुधैवेत्याशङ्कन्ते । सिद्धान्तस्तु तत्करं तदा इया स्यादपि कालेन गुणक्षोभेण चाप्येतां स्वभावभेदो न स्यात् । जाते तु स्वभावभेदे एकादशस्कन्धीयवाक्यैश्रावगते सङ्गादिना सान्त्विकानामपि बुद्धिमात्रेण भगवान् वेदव्यासो वेदान्त विभज्य शिष्यैः शास्त्राविभागं च कारयित्वा तेषां परमपुण्यासिद्धये स्वयं वेदार्थं बोधयितुमतिकरुणया ब्रह्मविचारशास्त्रं प्रणीतवान् । तदेतत् प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्याये सूचितम् । अतो विरुद्धः शास्त्रसम्भेदजन्यबुद्धिदोषाणामाङ्गैर्निवृत्त्यसम्भवाद् गुरुस्वादादर्थश्रवणेपि कालान्तरे यथा पदादिपाठे वैलक्षण्यदशनेन संहितापाठसन्देहः, तदपदराराथं यथा प्रातिस्यात्पररूपा

लक्षणग्रन्था अवश्यमुपयुक्ताः, तथार्थसन्देहनिवृत्त्यर्थं विचारशास्त्रमप्यावश्यकम् । अत एव चरणस्यूहे परिशिष्टे तस्मा उपाङ्गेषु गणना । अतो विचारशास्त्रस्यार्थोक्षिप्तं वैधत्वं वा वेदान्तविधिकारितं वास्तु, तत्र नाग्रहः । उपयोगस्तु मन्त्रमध्यमान् प्रति सन्देहनिवृत्तौ दाढये च । उच्यमानं प्रति तु दाढये एव । एवं पूर्वमीमांसाया अप्युपयोगो बोध्य इति । एवं चात्र शास्त्रावतरणे भगवतो व्यासस्य कर्तव्ये सङ्गतिरिति सिध्यति ।

अत्र पूर्वमीमांसाकः, जैमिनिश्चा धर्मजिज्ञासा इतिवत्प्रायः द्वादशश्लोकया यज्ञादिरूपो धर्मो विचारितः, चतुर्लक्षया चोपासनासाक्षाणं प्रति षोडशश्लोकया सर्वोपि धर्मो वेदादर्थरूपो निर्विचिकित्सः सिद्धः । नच ब्रह्मज्ञानार्थमुत्तरमीमांसिति वाच्यम् । 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' । 'अयं हि परमो धर्मो यथोपेनात्मसदृशं'मिति श्रुतिस्त्वितिभ्यां तस्यापि धर्मत्वे निश्चिते तस्यापि विचारितप्रायत्वात् । नच सृष्ट्यादिवान्यार्थनिर्णयाय तदपेक्षा । तेषामर्थवादरूपत्वात् । मीमांसकमते प्रवाहनित्येत्त्वोपगमेन जगतः स्वातन्त्र्यात् कर्तुरभावेनोपासनाविषयस्यात्मनः प्रशंसार्थत्वात् । अत एव वाक्यान्तरे तदपवादोऽपि युज्यते । अत एव पूर्वमीमांसयैव गतार्थत्वात्तारम्भणीयोत्तरमीमांसिति प्राहुः ।

तत्रोच्यते । उपासनाया मानसक्रियारूपत्वेन धर्मत्वेपि न ब्रह्मणो धर्मरूपत्वम् । नित्यज्ञानस्वरूपत्वेन चोदान्तक्षणक्रियारूपत्वाभावात्, ब्रह्मण एव च सर्ववैदार्थत्वात्, 'सर्वं वेदा यत् पदमामनन्ति' 'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे, मां विषधेऽभिषधे मा'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवाक्यैभ्यस्तथा निर्णयात्, किञ्चनुना वेदे धर्मापि ब्रह्मात्मकत्वेनैव प्रतिपाद्याः, 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इतिवाक्यात् । 'यज्ञो वै विष्णु'रिति श्रुतेश्च । जैमिनिस्त्वेकदेशमादाय पुरःस्फूर्तिकमेवार्थमुक्त्वात्, अतो न तन्मीमांसया गतार्थत्वम् । जगत्स्वातन्त्र्यं तु 'सदेव सौम्येदमग्र आसी' दित्यादिस्मृष्टिवाक्यविरुद्धत्वादेवोपेक्षम् । नच तेषामर्थवादरूपत्वात्तेषां स्वार्थं प्राप्तायाभावेन तद्विरोधो न दोषायेति वाच्यम् । स्वार्थं तेषामप्राप्त्यस्य प्रतारकत्वप्रसङ्गकतया सर्ववेदप्राप्तायविषटकतया चासङ्गतत्वात् । अपौरुषेयस्य सर्ववेदसाधारणत्वादेक विस्वादे सर्वत्रैवाविद्याप्रसङ्गात् । अतो भूतार्थवादत्वेन तेषां स्वार्थं प्राप्ताप्ये जगतः सकर्तृकत्वसिद्धया तत्कर्तृभूतब्रह्मत्वरूपनिर्णयार्थमावश्यकैव तन्मीमांसिति । नच साधनस्य फलशेषत्वात् फलस्य कर्मणैव सिद्धौ किं ब्रह्मज्ञानेनेति वाच्यम् । मोक्षरूपस्य केवलेन कर्मणा सिद्धयभावात् । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवचरं भवती'ति श्रुत्या तथा निर्णयात् । नच 'तमेव विदित्वा अतिश्रुयतेती'त्यादिश्रुत्या केवलज्ञानादेव मोक्षोक्तः किं कर्मणेति वाच्यम् । उक्तश्रुतिविरोधात् । जरायमोत्रिहोत्रादिबोधकश्रुतिविरोधाच्च । ब्रह्मज्ञानवतां वशिष्टादीनामपि यज्ञकरणश्रवणस्मरणाभ्यां च । पूर्वस्य काण्डस्पोचरानुपयोगे उतरस्य पूर्वानुपयोगे च नैराकार्येणोभयोरैकशास्त्रमङ्गप्रसङ्गाद्, वेदान्तसमाख्याविरोधप्रसङ्गाद्, 'स्वार्थं मूर्धान'मितिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च । अतोऽधिकारिविचारेण ज्ञानकर्मसू-

अथस्यैवावश्यकत्वाद् ब्रह्म सर्वथा जिज्ञास्यमेवेति तदुपयोगितया वेदान्ता अपि विचारणीया इति सिद्धम् ।

तथाचार्यः सूत्रार्थः । अथशब्दोऽधिकारे । मज्जलस्य श्रवणमात्रेणैव सिद्धेः । अधिकारोऽत्र प्रारम्भः । अतःशब्दो हेतौ । ब्रह्मण इति शेषपट्टी । जिज्ञासापदे विचाररूढम् । 'अजिज्ञासितमद्भर्मां गुरुं मुनिमुष्पात्रजैर्दिस्यादप्रयोगात् । एवञ्च कर्मोद्भिन्तोऽधिकं ज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनम्, अतो हेतौब्रह्मज्ञानविषयाया इच्छायाः पूर्णाय ब्रह्मविचार आरम्भत इति । अत्र केचिद्ब्रह्मशब्दमानन्तर्यं व्याचक्षते । तत्र युक्तम् । अतिक्रिदानन्तर्यस्यार्थादेव सिद्धेवकल्पत्वात् । ब्रह्मणो वेदान्तैवेनानघीतवेदस्य तत्रानधिकारात् वेदाध्ययनानन्तर्यस्य ब्रह्मपदेनार्थादेव सिद्धिसंभवात् । नापि धर्मविचारानन्तर्यं युक्तम् । हृदयस्याग्रे अवद्यति 'अथ जिज्ञाया अथ वक्षस्य' इतिवत् क्रमनियामकस्याभावेन विषयैवस्थापि सम्भवात् । नापि पाठाद्वाचाराद्वा व्यवस्था । तत्राप्यनियमसम्भवात् । प्रत्यवायाश्रवणात् । यदि च धर्मस्य ब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् तद्विचारोपयुक्तत्वानां श्रुतिलिङ्गादीनां वेदचोदनार्थवादस्त्यत्वादिप्रामाण्यस्य ब्रह्मविचारोपयुक्तत्वाच्च धर्मविचारानन्तर्यं ब्रह्मविचारस्य नियतमिति विभाव्यते, तदापि न वक्तव्यत्वम् । अध्ययनवदावश्यकतयैव प्राप्तत्वात् । तथाच ततोऽव्यधिकाकांक्षा स्यात् । किमनन्तरमिति । नापि नित्यानित्यवस्तुविवेकः ऐहिकाग्रुभिकफल भोगविरागः श्रमादिसाधनसम्पन्नुद्युत्सवैति साधनचतुष्टयानन्तर्यं युक्तम् । श्रमादीनां पूर्वमप्रस्तुतत्वेन स्वयं शब्दानिर्दिष्टत्वेन च सूत्रकाराविवक्षितत्वात् । पूर्वमीमांसोक्तकर्मतरफलादिजाघन्यात्मनित्यत्वज्ञानाधीनतया शास्त्रद्वयविचारानन्तरभाविस्त्वेन पूर्वं वस्तुमशयत्वात् । तेषां पूर्वभावे विचारवैश्वर्थाषचेः । श्रमादीनां वेदान्तविचारानन्तरभाविस्त्वेन पूर्वं वस्तुमशयत्वात्, विचारस्य च तदनन्तरभाविस्त्वेनान्योन्याश्रयादसम्भवापत्तेः । अथादिरहितानामपीदान्तिनानानां निःसन्दिग्धवेदादीर्ज्ञानोपलब्ध्या प्रत्यक्षविरोधाच्च । तादृशस्याधिकारियः श्रवणमात्रेण कर्ताऽर्थात् समाधिनिरतत्वेन प्रवचनासम्भवाच्छास्त्रोच्छेदापत्तेश्च । नापि जातिकृतं गुणकृतं च ब्रह्मविद्यायामधिकारत्रैविध्यं साधनाध्यामासुताराणावाङ्गीकर्तुं शक्यम् । विचारान्तरभाविस्त्वेनभेदाभावात् । अतो माधेोक्तश्रुतिस्मृतीनामपि न विरोधः । अतोऽव्यथापेक्षितानन्तर्यस्य ब्रह्मजिज्ञासापदादेव त्राह्मेरधिककांक्षाऽभावाय अथशब्दोऽधिकारार्थं एव युक्तः । शेषपट्टया च ब्रह्मसम्बन्धिनां तज्ज्ञानोपयोगिनां सर्वेषां विचारस्य प्रतिज्ञातत्वाद्देवे वक्ष्यमाणेषु पदार्थेषु न कस्याप्यप्रतिज्ञातार्थत्वात् । नचैवं ब्रह्मसम्बन्धिनामेव जिज्ञास्यत्वे ब्रह्मणो गौणत्वमजिज्ञास्यत्वं वा स्यादिति शङ्कनीयम् । शब्दत एव गौणत्वेनार्थतो गौणत्वाभावात् । तत्संबन्धेनैव संबन्धिनां जिज्ञास्यतावोधनात् । 'सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति निःसन्दिग्धेन स्वरूपलक्षणं तत्त्ववशेष आसंसारं प्रसिद्धानुभावत्वेन तत्सत्त्वायां च सन्देहाभावेपि तादृशविवक्षितगुणवैशिष्ट्येन जिज्ञास्यत्वानुपायादिति ।

प्रतिज्ञोपरं कार्यलक्षणस्य तत्र प्रमाणस्य च सूत्रितत्वेन सूत्रकाराद्यवस्थाप्येवमेव सद्भावमात्रम् । वेदप्रामाण्यं त्वास्तिकतत्त्वं त्रिसिद्धत्वाज्जिनिना विशेषतो विचारितत्वाच्च श्रुतिलिङ्गादिवञ्च पुनर्विचार्यते । तस्माद् ब्रह्म जिज्ञास्यमिति सिद्धम् । सम्बन्धिनामेव जिज्ञास्यत्वान्नेन यथाधिकारं ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य भक्तिमार्गीयसवोत्सवभावस्य च साधनतयाभिप्रेतत्वं सूचितं भवति । तथा ब्रह्मजिज्ञासापदेन जिज्ञासुरधिकारी । ब्रह्म सम्बन्धिकं विषयः । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । ब्रह्मज्ञानं च फलम् । तस्यापि परप्राप्तिरूपो बोध्यश्च फलमित्यनुबन्धचतुष्टयमप्यत्र सिद्धं वेदितव्यम् ॥१॥ इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम् ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रमनोनिवात् ॥ २ ॥ (१. १. २.)

अत्र सर्वेऽपि योगविभागेन शास्त्रमनोनिवादिदिति सूत्रं भिन्नमभ्युपगच्छन्ति । तत्र युक्तम् । अग्रिमसूत्रेषु साध्यहेतुनिर्देशपूर्वकमेवाधिकरणपरचयदर्शनेनात्रापि तथैव युक्तत्वात् । सांख्ये ब्रह्मपदस्य प्रकृतिवाचकत्वाङ्गीकारात् तद्धारणार्थं ब्रह्मणि शास्त्रोक्तकर्तृत्वप्रतिपादनस्यावश्यकत्वाच्च । माध्याः शैवाश्च जन्माद्यधिकरणं शास्त्रमनोनित्याधिकरणं च मिथमङ्गीकुर्वन्ति । तेषामास्य हेतुशून्यत्वाद् प्रतिपादकाकांक्षिततया द्वितीयस्य च साध्यशून्यत्वात् प्रतिपादाकांक्षिततयाकिट्टित्वाद्द्विविधविक्षितप्रमेयासाधकत्वं वा हेतुशेन साधकत्वं वा बोध्यम् ।

रामानुजाचार्या भास्कराचार्याश्च जन्माद्यधिकरणं त्रिसूत्रमङ्गीकुर्वन्ति । तेषां मतेऽथशब्देन धर्मविचारानन्तर्यस्य ब्रह्मजिज्ञासायां बोधनात् ब्रह्मणो वेदान्तवेद्योपपत्तिहेतु, तथाप्यथशब्दस्यानेकार्थत्वेनानन्तर्यस्योपपत्तेर्कथितत्वेन चोपपादनसापेक्षत्वाद् द्रागनुपस्थितिरिति । समन्वयसूत्रस्यसाध्यनिर्देशासङ्गतिरिति च । अत एकसूत्रपथश्च एव श्रेयान् ।

शाङ्कराचार्यमते जन्माद्यधिकरणं दशमसूत्रम् । तत्र सूत्रद्वये प्रथमरूपनामप्रपञ्चकर्तृत्वप्रतिज्ञा । शेषेष्वष्टसु हेतुकैरिति । तदप्यसङ्गतम् । द्वितीयसूत्रे शास्त्रमनोनिर्व्येतावन्तं प्रतिज्ञापूर्तं त्वादित्यस्य त्वेवशब्दप्रसङ्गात् । समन्वयसूत्रे साध्यनिर्देशविरोधप्रसङ्गाच्च । तस्मादेकसूत्र्याङ्गीकारेणैकाधिकरणव्यपश्च एव युक्त इति ।

तथाचार्यः सूत्रार्थः । जन्म आदिः पूर्वोपधियेषां भावविकाराणां ते जन्मादयः । सुषां सुदुग्मिति जसो लुक् । अत्र कुटादिभ्य इतिवदव्ययसमासादतदुगुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । विकारान्तरज्ञानदशायां जन्मनः प्रव्यक्तत्वाभावात् । नच तदसंग्रहापत्तिः । अतएव पूर्वमेव तस्य बुद्धावरोहात् । यद्वा । जन्म आदि यस्य स्थितिभङ्गस्य तज्जन्मादीति तद्गुणसंविज्ञानः ! अस्येति पुरोवर्ती प्रपञ्च इदमा निर्दिश्यते । अनेकभूतभौतिकदेवतियेषामनुपस्थानिकलोकाद्भूतचनस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यस्यानेककोटिब्रह्माण्डयुक्तस्यानायासेनोत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं भावविकारादिकं वा यतः । तद् ब्रह्मेति

त्वधिकारबलादेवायति, न त्वध्याहारः । अथवा । आद्यस्याकाशस्य प्रधानस्य वा जन्म यत इति । शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिस्तस्य भावस्तस्मात् । योनिशब्दो निमित्तकारणे स्तः । 'तासां ब्रह्म महद्योनिर्हृद् बीजप्रदः पितेति मातृरूपत्वबोधनात् । मातृश्च भक्ताः स्वादिदि । तथाच शास्त्रोक्तनिमित्तकारणत्वादित्यर्थः । तच्च निमित्तत्वं स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वे पर्यवस्यति ।

शास्त्रास्तु शास्त्रस्य योनिरित्यत्र षष्ठीमासम्बन्धीकृत्य योनिपदे कारणसामान्य-
वाचकत्वं चाङ्गीकृत्य सर्वज्ञकल्पसर्वाधोव्योतिशास्त्रकर्तृत्वाद् ब्रह्मणि सर्वज्ञत्वं साधयन्ति ।
तदन्ये न रोचयन्ति । निःश्वासवदबुद्धिपूर्वकत्वात्पदे सर्वज्ञताया असम्भवात् । बुद्धिपूर्व-
कमर्थमवलोक्योत्पादने काणादादिशास्त्रानुसरणप्रसङ्गात् । पूर्वकल्पीयानुपूर्व्या एव यथा-
वस्थितायाः कथनेपि राजदत्तादिवत् सर्वज्ञताया असम्भवादिति । एतेन पुरुषास्वातन्त्र्य-
मात्रमेव वेदे अपौरुषेयत्वमिति वदतो वाचस्पतेरपि मतं न सावर्षयसाधनक्षममिति
बोद्धव्यम् । यत्तु, विमतं ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः, वेदोपादानत्वात्,
दीपगतप्रकाशनशक्त्याधारदीपोपादानवहिविचदिति विवरणोक्तमनुमानम्, तदप्यसङ्गतम् ।
ब्रह्म न वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः । निःश्वासात्मकवेदोपादानत्वात् । अबुद्धि-
पूर्वकनिःश्वासोपादानपुरुषवदिति प्रयोगान्तरेण सत्यतिपक्षत्वात् ।

अन्ये तु शास्त्रं योनिः कारणं मूलप्रमाणमस्येति पृथग्रथं बहुव्रीहिमङ्गीकुर्वन्ति ।
तदप्युक्तम् । लक्षणाप्रसङ्गात्, स्वार्सिकार्थत्यागाच्च ।

विज्ञानेन्द्रमिश्रस्तु ससम्बन्धं बहुव्रीहिमङ्गीकृत्याह । अत्र शास्त्रादिति वक्तव्ये
शास्त्रयोनित्वादिति यदुक्तं तच्छास्त्राविरुद्धानुमानस्युत्तियोगिप्रत्यक्षाणां संग्रहायेति ।

तदप्यसङ्गतम् । अत्यन्तापरिच्छेद अनुमानसाक्षात्प्रकत्वात् । तथाहि । जगत् कार्यं
सावयवत्वात्, महत्त्वे सति क्रियावत्त्वात्, महत्त्वे सति भूतत्वाच्च, षटादिवदित्यनुमा-
नैर्जगतः कार्यत्वं साधयित्वा, जगत् स्वीयादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनामिश्रपुरुषकर्-
तृकम्, कार्यत्वात्, षटादिवदित्यनुमानेन जीवात्मविलक्षणः सकलजगत्कर्ता परमेश्वरोऽ-
नुमेयः । सोऽनुमात् न शक्यते । जगद् न तु जगतः । अशक्यक्रियत्वाद्दशक्योपादानविक्षा-
नत्वाच्च, आकाशवदिति साधनाभ्यां सावयवत्वस्य सत्यातिपक्षत्वेन कार्यत्वस्य विप्रति-
पक्षत्वेन साध्यसमत्वात् । एवं श्रित्यादिवाद्युपपन्थानि अकार्याणि । महाभूतशब्दवाच्य-
त्वात् । आकाशवदित्यस्यापि प्रतिपक्षत्वं बोध्यम् । नचाकाशे निरवयवत्वस्य साधकत्-
कस्य सत्त्वाद् अस्वाकाशस्य तथावत्त्वं, न तु जगतः, तदभावादिति वाच्यम् । साव-
यवानामपि महामहीधराणां कार्यत्वाददर्शनात् । किञ्च । कार्यत्वेन कर्तृजन्यत्वमप्यनुमा-
तुमशक्यम् । तस्याङ्कुरादियु साधारणत्वात् । नचाङ्कुरादीं साध्यसन्देहस्यान्याहितत्वेन
तस्य पक्षसमत्वमिति वाच्यम् । शरीरजन्यत्वस्योपाधेः शरीराजन्यत्वस्य प्रतिपक्षस्य च
विद्यमानत्वेनान्याहितत्वात् । किञ्च । श्रित्यादिकं नैककर्तृकम्, विलक्षणत्वे सत्यनेक-

कार्यत्वात्, षटपटस्तम्भादिवदिति । नैककर्तृकं, विचित्राद्भूतसमिधेशत्वात् । महाभौ-
कामवनादिवदिति सत्यतिपक्षत्वेन तस्यैकेश्वरासाधकत्वात् । एवमन्यदपि भाष्यविभा-
गाद् दूषणान्तरं बोध्यम् । यदपि श्रीभाष्यते । अत्र 'मां मांयन्त्यद्वा युक्ता हेतुमि-
रीश्वरम् । शुद्धमाणगुणैर्लिङ्गैश्चाहमनुमानत' इत्यत्रानुमानतो मार्गणप्रकार उक्तः, सोऽपि
दर्शनामयिक इति नातु तद्विरोधः । एवं स्मृतियोगिप्रत्यक्षयोरप्यविरुद्धयोः सन्देह-
वारकत्वमेव, न तु प्रमितित्यनकत्वम् । अनन्या 'तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति
श्रुतिस्थमोपनिषदपदं कृष्यते । इतः पूर्वम्, 'अपुत्रो न हि गृह्यत' इत्यत्र केवलैन्द्रिया-
श्राव्यत्वे विवक्षिते तद्वैयर्थ्यस्य दुर्वारत्वात् । नच 'सर्वे वेदा यत् पदमाभनन्ति,' 'वेदेषु
सर्वैरहमेव वेद्य' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वेदेवत्वकथनानुपनिषन्मूलप्रमाणकत्वं वा
उपनिषन्महातात्पर्यमिषयत्वं वा तदर्थं इति न तद्वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । एवमपि पूर्वकाण्डवे-
द्यत्वमात्रमधिकमायाति, नतु लौकिकप्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्येवमेवाङ्गीकार्यत्वात् । अनन्या
यस्य कस्यापि प्रमाणस्य प्राक् प्रवृत्तौ वेदानामधिगतार्थगन्तव्यत्वेन प्रामाण्यमङ्गयसङ्गात् ।
नच प्रमाकरणत्वमेव प्रामाण्यमित्यदोष इति वाच्यम् । तदापि गुणयोगाय करणशुद्धयर्थं
साधनबोधकश्रुतेरेवाधर्षणीयत्वेन प्रामाण्यस्य तत्रैव पर्यवसानात् । अत एव 'नच वेदोऽंते
किञ्चिच्छास्त्रं ब्रह्माभिधायक' मिति कौर्मै, 'विदुराकाशाय ब्रह्मः कृयोगिना' मिति श्रीमा-
गवते चोक्तम् । तस्माद् ब्रह्मणः श्रुत्येकगम्यत्वमेवेति सिद्धम् ।

तथा सत्येवमत्राधिकरणे सन्देहः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति त्वस्वरूपलक्षणं शु-
साधुक्तम्, तथा 'नित्यशुद्धबुद्ध्युक्तस्यभाव' मिति च । तत्र कर्तृत्वादिप्रापञ्चिकधर्मराहित्यं
प्रतीयते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जलानि जीवन्ति, यत् प्रयत्यभिर्सिं-
धिति, तद् विजिज्ञास्य, तद् ब्रह्मेति । इदं कार्यलक्षणम् । अत्र च जगज्जन्मादिकर्तृत्वं
प्रतीयते । तत्र सन्देहः । किं ब्रह्म कर्तुं ? आहोस्विकर्तुं ? किं तावत् प्राप्तम् । अक-
र्त्रिति । तथाहि । 'ब्रह्मविदाऽनोति परं' मिति प्रधानवाक्यम्, फलसम्बन्धात् । जैमि-
निना 'कर्म फलार्थत्वा'दिति कथनेन साधनेन फलशेषत्वबोधनात् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,
यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽनुते सवोऽनु कामान् सह ब्रह्मणा विपणिते'-
ति व्याख्यानभूतार्थापि फलार्थं ब्रह्मज्ञानस्योक्तत्वाच्च । कर्तृत्वं तु परिविवरणतया उक्तम् ।
परं किमियुक्ते, यः सवोन्तर आनन्दः । कथं तस्य सर्वोन्तरमित्याकाश्यायां तत्प-
रिचायनाय भूतभौतिकछिद्युक्त्वा गौणान्तर्गत् परिहृतम्, गौणोपासनाफलं च प्रधान-
शेषतयोक्तम् । स च सर्वोन्तरः परो ज्ञेयद् ब्रह्मणो भिन्नः । तस्य सत्यज्ञानात्मकत्वाद्
अनन्तत्वात् । एतस्य कर्मादिकल्पानन्दात्मकत्वात्, सर्वोन्तरत्वेन परिच्छिन्नत्वाच्च ।
ब्रह्मपदप्रयोगस्य साधारण्येऽपि स्वरूपभेदाच्छक्यतावच्छेदकभेदाधोभवोर्भेदः । आद्ये
ब्रह्मरूपं व्यापकत्वं शक्यतावच्छेदकम् । द्वितीये तु सर्वान्तरत्वेन ब्रह्मण्यत्वरूपं पोषक-
त्वमिति । एवं सिद्ध उभयोर्भेदोऽप्यगतकर्तृत्वोपायोऽपि सम्भवति । ततश्च 'युगै

वारुणि' रित्युपाख्याने गौणमेव कर्तृत्वमन्यते । फलाश्रवणात् । तस्मादकर्तृ ब्रह्मेति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु, कर्तृ ब्रह्म, वेदेन ब्रह्मशब्दोक्तिपूर्वकं निरङ्कुशस्य कर्तृत्वस्य तत्र बोधितत्वात् । वेदस्य परमात्मत्वेनाश्रयमात्रेऽपि मिथ्यत्वात्स्य वक्तुमशुचित्वात् । अन्यैकत्र तथात्वे ज्ञाते, अन्यत्रापि तथा शक्या सर्वत्रैवानाम्यासप्रसङ्गेन सर्वतन्त्रार्थ-विद्युत्वात्तात् । नच कर्तृत्वाङ्गीकारे स्वरूपलक्षणविरोधः शक्यः । सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि वेदेनैव बोधितत्वात् । अचिन्त्यैश्वर्यवत्त्वेन तस्योपपद्यमानत्वाच्च । अत एव 'यतो वेति श्रुता विमानि भूतानि' इत्याकाशादीन्यन्तर्भाव्य पूर्वप्रपाठकोक्तं दृढीकृतम् । ह्यत्रकृता चैतद्विप्राशेषेणैवाप्येति पदशुक्तम् । नचकाशस्थले गौणीति युक्तम् । संभूत इति सकृत् प्रयुक्त एकस्मिन्नेव पदे गौणशुक्लवृत्त्यङ्गीकारे वाक्यभेदप्रसङ्गात्, कल्पना-वैरूप्यप्रसङ्गाच्च । नच सर्वथा निर्धर्मकत्वं ब्रह्मणः शक्यवचनम् । सत्यज्ञानादिपदानां सामानाधिकरूप्यभङ्गप्रसङ्गात् । धर्मभेदाभावे सामानाधिकरूप्यानुपपत्तेः । नचासत्यज-डसान्त्व्याहृत्वात्वेनैक एवार्थस्तैरुच्यते इति बाध्यम् । व्यर्थं पौनरुक्त्यापत्तेः । तत्र जे-दधर्मकत्वसिद्ध्या षट्कृत्यां प्रमाताच्च । नचास्य कर्तृत्वस्य संसारिधर्मत्वं शक्यम् । अलौकिकत्वात् । तस्य च लोकविलक्षणत्वात् । नच लक्षणद्वयस्यैकपरत्वे सर्वत्रो-श्रुतिष्वेकमेव ब्रह्म निरूप्यत इति सिद्धम्, तथा सति अस्पृहादिवाक्येषु यावद्दर्शन-धृतिनिर्धर्मकत्वस्य बलादापचिरिति बाध्यम् । तत्र लौकिकधर्माणामेव निषेधदर्श-नेन श्रौतधर्माणां विषेधानर्हत्वाच्चदमापत्तेः । सत्यत्वादीनामपि लौकिकत्वाद्दण्डेन सर्व-निषेधाङ्गीकारे तु स्वरूपलक्षणस्याप्यशोचकत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्याभावेनैतस्याः श्रुतैर्वैधर्म्य-स्वभावात् । यदि च प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वात्प्रास्त्येव लोके सत्यत्वम्, किन्तु कार-णमेव तत् प्रतीयत् इत्युपेयते । तदा कर्तृत्वमपि तत्राभ्युपेयताम् । तत्र च 'कर्ता कार-यिता इति' इति कल्पस्मृतिरपि स्वीकृता अस्ति । नचागत्या सत्यत्वादिर्कं तथास्तु, न तु कर्तृत्वमपि, आरोपन्यायेन तस्य ब्रह्मणि वक्तुं शक्यत्वादिर्कं बाध्यम् । तथा सत्य-शब्दस्य स्यात् । तत्रान्यः को वेति विचारणीयम् । यदि कर्मादिकभूत आनन्द एव पर-शब्दे प्राप्यत्वेनोक्तोऽन्यत्वेन विभाव्यते, तदा त्वसङ्गतम् । तस्य जन्यत्वे निरङ्कुशस्य कर्तृ-त्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । अजन्यत्वे ब्रह्मान्तरापातेन 'एकमेवाद्वितीयं' मित्यादिश्रु-तिविरोधात् । तस्य प्रकृतिरूपत्वे परत्वविरोधात् । ब्रह्मज्ञानप्राप्त्यत्वोक्तिविरोधाच्च । तस्याः परार्थत्वेनेव सांख्यैरूपगतत्वेन तस्याः यत्त्वाभावाच्च । तत्रात्तेनैश्वर्यत्वेन तैरुपगततया तस्या अशोभत्वापत्तेश्च । तस्या जडत्वेन विश्रितकर्तृत्वस्याशक्यवचनत्वात् । नापि जीवोऽन्यत्वेनात्र वक्तुं शक्यः । अस्वतन्त्रत्वात् । अत एव न बहवोपि, ऐकमत्यासं-भवाच्च । नापि तपोयोगादिबलोपपन्नो हिरण्यमार्गदिः । प्राकृतशरीरविशिष्टस्य तस्यापि ऋण्यत्वात् । अशरीरत्वे कर्तृत्वस्यैवाशक्यवचनत्वात् । अतो 'विश्वतश्च' रित्यादिश्रु-

त्युक्तशरीरं ब्रह्मैव श्रुत्युक्तं कर्तृ । तद्वत्मेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रपञ्चे भासत इति मन्वन्वयम् । न वा काश्चित्श्रुतिः कर्तृत्वं निषेधति । विरोधमानात् कल्पया तु लौकिक-परा । सांख्योक्तानां कर्तृदोषाणामपि न संसर्गः । नाप्यनुमानेन प्रदर्शितानामपि दोषा-णाम् । तस्मादचिन्त्यैश्वर्यवत्त्वेन श्रुत्युक्तात् कारणत्वाद् ब्रह्म कर्तृ इति सिद्धम् ॥२॥

इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥

ततु समन्वयात् ॥ ३ ॥ (१-१-३-)

ननु कार्यलक्षणबोधिकायां 'यतो वा इमानी'ति श्रुतौ पञ्चमी श्रूयते । पञ्चम्या-स्तसिलिति । 'आत्मन आकाशः संभूत' इत्यत्रापि आत्मन इति पञ्चमी । सा च 'विभाषागुणेऽस्त्रिया'मिति सूत्रे अकारप्रक्षेपेण अनुगुणदपि हेतोरङ्गीकृता । यथा धूमा-द्दहिमाहित्यादिषु । अन्यत्रापि ब्रह्मणो निमित्तत्वे सन्देहाभावात् तान्मात्रमङ्गीकार्यम् । तच्च तदन्त्यत्वेपि सम्भवतीति तत्रान्मात्रमङ्गीकार्यम् ॥

उपादानत्वं कर्तृत्वे च सन्देहः । तदाचकपदाश्रवणात् । नच तदुभयं कल्पयितुं शक्यम् । प्रमाणाभावात् । समवायित्वे तु सुतरां सन्देहः । अग्रे समवायस्य दृश्यत्वात् । अस्तत्तदस्यकारणत्वमेव युक्तम् । तावतैव श्रुत्युपपत्तेः । कल्पनागौरवाच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते । ततु समन्वयात् । तः पूर्वपक्षनिरासे । निमित्तत्वमात्रस्य श्रुतिसिद्धत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मण उपादानत्वे कर्तृत्वे च न सन्देहः शक्यमित्येतेषु तु शब्द आह । तत् समवायि कारणं जगतो ब्रह्मैव । कुतः ? समन्वयात् । अस्तिभातिमित्यत्वात्केनानागन्तुकानारोपितरू-पेण सर्वत्रानुबृत्तत्वात् । प्रापञ्चिकेषु सर्वेष्वेवार्थेषु घटः सन् पटः सन्नित्येवं सर्वत्रास्ति-त्वात्तुष्टेर्देशेनात्रास्तिमित्यर्थोऽत्रानुबृत्तेषुसंप्राप्यमानत्वाच्चेत्यर्थः । नच 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'ति श्रुतौ सर्वत्र नामानुबृत्तेरुक्तत्वालोके प्रतिनियतरूपेण तेषामनुबृत्त्य-भावेऽपि नामत्वादिना तथा दर्शनाच्चानुबृत्तेर्न समवायितागमकमिति बाध्यम् । तेषामेवं कार्यस्वरूपत्वात् । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्राविश्य नामरूपे व्याकृताणी'ति श्रुतौ नाम्नां रूपेषु नियमने कृत एव जगतेः कार्यत्वस्य प्रतीतिरिति तथात्वनिश्चयात् । एवं निश्चिते तेषां पश्चात्त्यत्वे तदनुबृत्तेरानन्तुकत्वेन समन्वयरूपत्वाभावात् । नच स्वस्वरजस्तमसां कार्य-मात्रेऽनुबृत्तिदर्शनात् प्रकृतिसमन्वयस्येः । सिद्धत्वेन अस्तित्वादिसमन्वयस्य न ब्रह्ममात्र-समवायितागमकत्वमिति शक्यम् । सिद्धान्ते प्रकृतेरपि ब्रह्मांशत्वेन तदन्वयस्यावापक-त्वात् । नचात्र मानाभावः । प्रकृतिर्ब्रह्मोपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्मेतन्नित्यं त्वम् । तस्मादापकलरूपेण केवलं निर्बिकल्पितम् । बाह्यमनोभौष-रातीतं द्विधा समभवद् बृहत् । तयोरेकतरो ब्रह्मैः प्रकृतिः सोमयास्मिका । ज्ञानं त्वन्व-तमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते' इति चैकादशे भगवतैवांशत्वबोधनात् । नापि प्रकृ-त्यन्वये मानाभावः शक्यः । प्रीत्यतीतिविधादात्मकानां प्रकृतिस्वरूपभूतानां गुणाना-

मनुष्यैरनुमानादिसिद्धत्वात् । महदादि कार्यम्, सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यजन्यम् । कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यत्वात् । मरुत्सपत्नीपुरुषान्तरादिसुखदुःखमोहजनकस्त्रीव-
सिनादिबदित्यनुमानेन सिद्धत्वात् । नच सुखादीनामन्तरत्वेनानुभवानु स्यादीनां सुखा-
दिगुणकत्वे मानाभावः शङ्क्यः । स्त्रीचन्दनवसनादिजन्यस्य सुखस्य तत्तदवयवेषु बहि-
रेवानुभवात् । अन्यथा 'देहे मे सुखं शिरसि मे वेदना' इत्यनुभवपलायनप्रसङ्गात् । तथाच
प्रयोगः । सुखाद्ययो न साक्षादात्मविकाराः । बाह्यत्वे सत्यात्मनि प्रतीयमानत्वात् ।
गौरत्वादिवदिति । नचैवं सति स्यादीनां सुखादिजनकत्वमेव, न तु तद्गुणकत्वमिति
शङ्क्यम् । विमताः सुखादिगुणकाः । सुखादिजनकत्वात् । प्रकाशशैत्यादिजनकवहि-
चन्दनादिवदित्यनुमानसिद्धत्वात् । एवं तेषां तद्गुणकत्वे सिद्धे तेषां ब्रह्मणा तद्गु-
णात्मकत्वमप्यनुमेयम् । विमताः सुखाद्यात्मकाः । सुखाद्यविनाभूतत्वात् । तन्मात्रावि-
नाभूतमहाभूतवत् । तथा, सुखाद्ययो ब्रह्मसूत्रभावस्यात्वात् । तदविनाभूतत्वे सति तज्ज-
नकत्वात् । महाभूताविनाभूततज्जनकत्वमात्रवदिति । नच प्रथमशरणे ब्रह्मं याचन्नुप-
श्लेष्यमेवेति वाच्यम् । श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षबाधितत्वेन अभ्युपगमैकशरणत्वात् । अपाकस्य
रूपादिरूपसिद्धशायामप्यनुभवादिति । एवं सुखादात्मि नोद्ब्रह्म्यम् । पुत्राणुत्पाधिकाल एव
पुरुषभेदेन सुखाद्युत्पादनदर्शनेन तस्य बालादेस्तदानीमपि सुखादिगुणकत्वनिश्चयेन
तदविनाभावनिश्चयादिति । 'तमो वा इदमेकेश्वरे आसीत्, तत् परं स्यात् । तत्परेणेति'
विषमत्वं प्रयाती'त्यादिमैश्रायणीये, तथा श्वेतम्बरपारादीं च श्रासितात् । पुराणेषु मन्वादी
च तथा स्मरणाच्च । तस्मात् प्रकृतेरन्वयो निःसन्देहः । नचैवं सति तेनैव रूपेणान्वयोऽ
स्तु, किमस्तिभातिप्रियत्वाग्रहेणैति वाच्यम् । प्रकृतिरपि जन्मत इति तदपरस्यापि
आगन्तुकत्वात् । पुरुषादौ तद्गुणत्वात्तद्व्यवभावाच्च । नच भातिप्रियत्वयोरननुवृत्तिः शङ्क्या ।
पदार्थमात्रस्य ज्ञानेनैव प्रकाशात् । प्रापञ्चिकपदार्थमात्रस्य ज्ञानजनकतया सांख्योक्तप्रकारेण-
व ज्ञानाविनाभावज्ञानात्मकत्वयोः सिद्धौ सम्यगनुवृत्तेः सुखेनैव सिद्धेः । प्रियत्वात्तुविस्तु
सुखाद्युत्पत्त्यैव साधितवत् । तथापि सात्र नोपयुज्यते । ज्ञानेन तद्वाभावात् । निरुपाधिप्रियत्व-
स्यात्मनि सर्वं निश्चाय्य तत् 'इदं सर्वं यदयमात्मने'ति श्रावणेन त्रेत्रेयीब्राह्मणे आत्मर-
पतयैव सर्वत्र प्रियत्वस्याभिप्रेतत्वबोधनात् । नच सर्वस्य ब्रह्मोपादेयत्वे परिच्छेदोऽ-
पियत्वं च न भासिताम्, कारणधर्माणां कार्यं भानस्यावश्यकत्वादिति वाच्यम् । नियमाभा-
वात् । विभागेनापरिच्छेदतिरोभावस्य साङ्ख्येनाप्यङ्गीकारात् । संयोगेन महत्त्वस्य नैया-
यिकैरप्यभ्युपगमात् ।

सिद्धान्ते तु 'वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केनोपजायते' इति वाक्योक्तरीतिक-
ज्ञानेन विकल्पबुद्धेर्बाधस्य भेदकेत्वादिति सिद्धत्वात् परिच्छेदादिमानस्य भ्रान्ततया ब्रह्मो-
पादेयत्वमङ्गाभावात् । नच परिच्छेदस्याज्ञानिकत्वे 'सर्वं सर्वमयं सर्वं जीवाः सर्वमया-
स्थाप्यन्व' इति तापनीयस्याव्यपदेश व्याकरोप इति वाच्यम् । विश्वत्वाविरुद्धत्वं

तस्य तत्र विवक्षितत्वात् । सर्वमयपदोक्तया तथावगमाद्, युक्तिविरोधस्याव शूण्यत्वात् ।
अतो विश्वत्वविरुद्धत्वं तस्याज्ञानिकत्वमिति न कश्चिद् दोषः । नाप्येकत्वविरुद्धस्य नाना-
त्वस्य भानान्न ब्रह्मोपादेयत्वमिति शङ्क्यम् । तथापि 'बहु स्वा'मिति भ्रुत्वैच्छिकत्व-
श्रावणात् । एवमुचनीचत्वादिभानेऽपि बोध्यम् । 'प्रजायते'ति श्रुत्या तस्याप्यैच्छिकत्व-
बोधनात् । अत एवैकादशस्कन्धे विशंकाविंशत्योर्गुणदोषदर्शनस्य कर्मनियमार्यत्वव्युक्तम् ।
तथा 'किं वक्षितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः । गुणदोषदृष्टिदोषो गुणस्तूपयवचित'
इति वाक्य उक्तम् ।

यदा । किमनया कुशष्टया । प्रजापयेतीच्छयेनोचनीचभावसिद्धौ जडे सर्वज्ञस्य
जीवे चिदंशस्थान्तर्पामिष्यान्नान्द्रांशस्य प्राकट्येन समन्वयस्य सिद्धत्वेन अन्तान्तरस्य क्वचि-
त्कश्चिदप्रतीतो, गुणभावेन प्रतीतो वा ब्रह्मणः समवायित्वस्य दुरपोहत्वमेवेति ।
नचैवं प्रकृतिपरमात्मादीनां समवायित्वमङ्गप्रसङ्गः । एतादौ सूत्रादीनामिवावान्तरसम-
वायिताया अङ्गीकारात् । नापि परमात्मादिभिरेव निर्वाहे किं ब्रह्मणः समवायित्वाङ्गी-
कारेणैति शङ्क्यम् । एकस्मिन् सर्वाणुत्पृष्टे समवायिनि सम्भवति सत्यनेकतत्त्वपनस्य
गौरवादोषप्रस्तत्वेन न्यायविरुद्धत्वात् । परमात्मादीनां नैयायिकादिरीत्या सत्ताङ्गी-
कारस्य श्रुतिप्रत्यक्षविरुद्धत्वात् । अनवस्थापरिहाराय तदुपगमस्यापि कल्पनामात्रशरण-
त्वात् । आदिष्टष्टैर्भागजन्यत्वस्यैव श्रुत्यादिसिद्धत्वेन ह्यशुक्तिज्जातौ स्यामिकेष्ट वास्तोत्यादिप्रतीतेस्तु सदन्यवो वक्तव्यः,
इतस्तादिति । नच शुक्तिज्जातौ स्यामिकेष्ट वास्तोत्यादिप्रतीतेस्तु सदन्यवो वक्तव्यः,
तथा सति तस्यापि ब्रह्मकार्यजगत्स्यतया सत्यत्वापत्तिः । सा तु प्रत्यक्षबाधिता ।
तस्मिन् ब्रह्मकार्येणैव वाधत इत्यकार्येऽपि सदन्यत्वात् कथं ब्रह्मणः समवायित्वं तेना-
वगन्तुं शक्यमिति वाच्यम् । तादृशेषु सत्ताया आरोपितत्वात् तजरोपितरूपेण यः
सदंशान्वयस्तस्य समन्वयरूपत्वाभावेन समन्वये दोषसंसर्गाभावात् ततः समवायित्वस्य
सुखेनावगन्तुं शक्यत्वादिति । अयमेव समन्वयोऽसात्त्वस्थाने समवायपदेन परिभाष्यते,
न तु वैशेषिकप्रतिपक्ष इति बोध्यम् । अन्येस्तु तादात्म्यपदेन आगन्तुकत्वेण भेदसहि-
ष्णुत्वेऽन्यभान्तुकत्वेणामेदादिति । एतस्य समन्वयत्वमैच्छिकमेदोत्तरे द्विनिष्ठत्वे
विशिष्टेषु द्विनिभासकत्वाद्भवान्वयम् । नचात्र विषयव्याभावात् ब्रह्मणः । एतस्य
सर्वस्वार्थस्य 'तदात्मानं स्वयमकुरुते'त्यधिकृतस्यैकस्यैव कर्मत्वबोधने स्पष्टीकृतत्वात् ।

नच सत्तात्मपदेन चिदचिद्रूपं ब्रह्मणः शरीरमेव परामुत्पत्ते इति वाच्यम् । विरु-
धर्माश्रयत्वेनैवोपपत्तौ लक्षणाया अनुचितत्वात् । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाग्रि-
ती'मित्यादिष्वादिष्टिप्राक्कालवृत्तान्तवोधकावश्येण एवकारादिमिदतरव्यवच्छेदेन
तदानीं चिदचिच्छरीरस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच तत्र तैः शरीर्यन्तरं ह्यस्यान्तरं
मिथश्चन्तरं वा व्यवच्छिद्यते, न तु शरीरमप्युत्पत्तमिमिच्छेति वाच्यम् । एककारणेणैव स्ववि-
क्षितानां व्यवच्छेदसिद्धेरद्वितीयेपदवैधर्मात् । 'आत्मेवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः,

सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽप्यश्वेतित्यनुवीक्ष्यामान्यदर्शननिषेधस्य विरोधापत्तेश्च । नच तत्रान्यपदेन शरीरी वा विशिष्टो वा पराद्युच्यते, अतो न विरोध इति वाच्यम् । तत्र तादृशपरामर्शस्याशक्यवचनत्वात् । तथाहि । तत्रात्मा स्वशरीरं किं शरीरत्वेन वा विशेषणत्वेन वामिषत्वेन वा पराद्युच्यते, आत्मत्वेन वा । नाद्यात्मस्य । तस्य पार्थक्ये सत्यात्मानुवीक्षणस्य श्रमत्वत्पत्तेः । स्वान्यादर्शनेनात्मनोऽज्ञत्वापत्तेश्च । नतुरीयः । अत्रान्तस्य तथा ज्ञानानुपपत्तेः । नच सौभाग्यस्य प्रलयप्रकरणे 'तमः परे देवे एकीभवती'त्येकीभावश्रावणेन स्वशरीरतया निर्विद्वान्नात्सिद्धमदशापत्तौ पार्थक्यस्य शरीरत्वस्य चाभावेन नात्मत्वप्रकारकज्ञानानुपपत्तिमिति वाच्यम् । तस्य शरीरत्वाभावे शरीराविनाभावोपगमवाच्यप्रसङ्गात् । तादृशज्ञानस्य श्रमत्वे तस्य वामदेवादीनां ज्ञानिनां च भ्रान्तत्वस्य प्रसङ्गात् । प्रमात्वे स्वात्मत्वेनेव जानातीति तेन प्रमाणज्ञानेनैवाभेदसिद्धौ भेदापादकप्रमाणाभावेन केवलब्रह्मादेवतादस्यैव सिद्धेः । सौभाग्यवाक्य एव 'प्रथिवी अप्सु लीयत' इत्यारभ्य 'अक्षरं तमसि लीयत' इत्यन्तं लयपदमुक्त्वा, अत्रे 'तमः परे देवे एकीभवती'त्येकीभावश्रावणेन शब्दान्तरात् सिद्धे प्रलययोः स्वरूपभेदे प्रथमस्य नादियसाद्भद्रसलिलयदविभागापचिररूपताया द्वितीयस्य करकानां जलैरयवत् पूर्वभावापचिररूपताया एव युक्ततयापि तथैव सिद्धेश्च । नच वैपरीत्येपि प्रलयस्वरूपभेदे सिद्धे नैवमिति वाच्यम् । 'लीङ् श्लेषण' इति धातुपाठोऽकेल्यस्य श्लेषरूपत्वेनाविभागरूपतायाः पूर्वत्रैव युक्तत्वादिति । विशेषस्तु भाष्यविभागादवधातव्यः । किञ्च, गागीब्राह्मणे भूतत्वस्यस्याकाशे आकाशस्य चाक्षरे ओत्प्रोत्तवद्वै श्रावितम् । तत्र समवायित्वस्यैव लिङ्गम् । दशमस्कन्धे 'नैतच्चित्रं भगवति हनन्ते जगदाक्षरे । अतोऽप्रोत्तवद्वै विश्वं तन्तुष्वङ्गं यथा पट' इत्यादिपु तन्तुपटदृष्टानतात् । आपर्वणानां गोपथब्राह्मणारम्भे च 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, स्वयं चैकमेव, तदैक्षत महद्दे यश्च तदैकमेवास्मि, हन्तादं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं तदेव निर्मम' इति द्वितीयस्य ब्रह्ममात्रत्वश्रावणपूर्वकं सृष्टिरुक्ता । तृतीयस्कन्धे च 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायुषा' इति विश्वस्य ब्रह्मनमात्रत्वमुक्तम् । मात्राशब्दस्तन्मात्रशब्दश्च द्रव्यसूक्ष्मे रूढः । 'तस्य मात्रागुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टव्ययोरिति । सर्वज्ञरूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनमिति पाराणिकप्रयोगात् । अतोऽत्रापि केवलस्य ब्रह्मण एव जगत्पूर्वरूपत्वबोधनेन 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसी'दित्यादि न्यात्मपदस्य केवलत्वमाचकतया विशेषणान्तरसंग्रहाक्षमत्वे शब्दं ब्रह्मेव समवापि । नच तदानीं निर्विशेषत्वनिराकारत्वाद्यापत्तिः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति लक्षणवाक्येन धर्माणां 'कृत्स्नः प्रज्ञानघनं' 'आनन्दरूपमयूतं यद्विभाती'त्यादिभिः सिद्धिदानन्दाकारस्य च बोधनादिति । तस्मादात्मकरणश्रुत्या शुद्धस्य ब्रह्मणः समवायित्वं निष्प्रत्ययमिति सिद्धम् । नन्वरोपादानव्यवहारं परित्यज्य समवायिपदेन कृतो व्यवहार इति चेद् ? उच्यते । उपादानव्यवहारस्य परिच्छिन्ने कर्तृक्रियया व्याप्त एव प्रायो दर्शनात् । श्रीभगवते

'गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतीतितः । त्वयस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽञ्ज'दिति । 'प्रतीतिर्ब्रह्मोपादानमात्राः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकःकालो ब्रह्मेतत्प्रत्ययं त्वहम्' इति स्वांशविशेषस्य कालस्य तादृश्याः प्रकृतेश्च पर्यायेणोपादानत्वकथनेनापि तयावसायाचेति न किमप्यनुपपन्नम् ।

नन्वभिसान्निध्यचोपादानावादिभिः सर्वैरकदेशिभिः शास्त्रयोर्निवृत्तविषयवाक्येषु 'सदेव सौम्येति छान्दोग्यवाक्यस्युपन्यस्य तद्विचारणेन सर्वविधां कारणतां ब्रह्मणः समर्थद्विरस्मिन्' श्रुते समन्वयपदेन वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्येण सम्यगन्वयो व्याख्यातः । स एव चाग्रे सूत्रेषु दृश्यते । अयमाध्यायोऽपि समन्वयाध्याय इति सर्वेषु सत एव प्रसिद्धः । तत् कथं सोऽत्र नान्द्रियत इति चेद् ? उच्यते । योनिशब्दो निमित्तकारणै रूढः । 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' । 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' 'एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी' 'असानन् योनिरुदावाचाम्' इत्यापि पौरुषे च ग्रन्थे तत्रैव प्रयोगात् । अतस्तस्मिन् श्रुते छान्दोग्यादिवाक्यानां विषयत्वेनोपन्यास एवास्ङ्गतः ।

किञ्च । निर्विशेषवादिमते वेदान्तवाक्यसमन्वयो निर्विशेषे वक्तव्यः । स तु श्रुते न रूढोद्रे दृश्यते । अत उपादानेन समवर्तीयकम् इति साध्यसमत्वेन प्रतिवादिनिग्रहसामर्थ्यः । एवं भ्रान्तान्तेऽपि सर्वस्य वेदस्य साध्याधर्परत्वे मन्वानानां मीमांसकानां तदनुसारीनां च निरासाय प्रयुक्त इति रूढमिति । तत्रेदं विवेचनीयम् । किमयं हेतुरविप्रतिपन्नः, सिद्धा, उत साध्यः । तत्र नादः । तथा सति पूर्वपदस्यैवानुत्पत्त्यसङ्गात् । नेतरः । अस्मिन् तथैव सन्देहिनिकारयाद्वारा तस्यैव प्रतिपाद्यत्वात् । अग्रिमग्रन्थवैधर्म्यप्रसङ्गाच्च । न तृतीयः । अनुपयोगात् । नापि समन्वयप्रतिज्ञानार्थितहेतुत्वम् । प्रतिज्ञाया बुद्धिस्थत्वेन वादिनिग्रहत्वेलायां साधनाभावेनासिद्धतयानुपयोगात्तदवस्थत्वात् । अतस्तथा व्याख्यानस्यानुत्पत्त्यान्नाद्रियत इति । एवं भ्रान्तान्ते बोध्यम् ।

ननु ब्रह्मणः साध्यात्समवायित्वमयुक्तम् । विकृतत्वापादकत्वात् । कार्यस्मानर्थरूपत्वेन कश्चित्कृतितत्त्वभावेनासङ्गतत्वाच्च । अतो मायाया वा, शरीरस्य वा, मिथ्याया एव प्रकृतेर्बो, भूतानां वा तथात्वं वक्तव्यम् । ब्रह्मणस्तु तादृश्येन वा, किञ्चिद्द्वारा वा तत् । न वा श्रुतिसमन्वयस्य, कथञ्चिन्निमित्तमात्रेणापि सिद्धत्वात् । अतो नारम्भणोभवेवैतत् श्रुतं भवन्तं स्वादिति चेत् ? न । श्रुतकारस्य सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तत्वेन 'स आत्मनं स्वयमकुरुते' 'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यादीनां पूर्वोक्तानामन्वेषां च विचारस्यावश्यकतया सूत्रारम्भस्योचितत्वात् । नच विकृतत्वापत्तिः । अविकृतस्यैव परिणामात् । युक्तिविरोधस्यात्र भ्रूणतया अग्रिमधिकरणे वक्तव्यत्वात् । 'तदेजति तत्रैजति, आसीनो दूरं ब्रह्म, श्रयानो याति सवेतः' । यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तरः' 'प्रादेशमात्रमभिविमान'मित्याद्यनेकश्रुतिसिद्धस्य विरुद्धधर्मोधारत्वस्य युक्ति-

त्वेन स्फुटत्वाच्च । नापि कृत्स्नतत्त्वापत्तिः । तस्य भ्रान्तबुद्धिक्लियततायाः प्रागेव दर्शितत्वात् । नचैव यथाश्रुतार्थग्रहणे सूत्रप्रवृत्तिसैवैर्यथ्यमिति शङ्क्यम् । प्रपञ्चवैलक्षण्यप्रतिपादकानामस्पृष्टादिवक्तव्यानां दर्शनेनोक्तवचनानां तद्विरुद्धत्वे भाते स्वरूपापेक्षया कार्यस्य गौणत्वात् प्रपञ्चस्वरूपप्रतिपादकानां कश्चिद् बाधे कल्पयेदिति तन्निवारणार्थास्य प्रवृत्तत्वेन सार्थक्यम् । किञ्च । अन्यप्रदार्थस्यैव वैषम्यनिवृत्तये स्याताम् । जीवकामाद्यधीनत्वे 'सापेक्षमसमर्थं भवती'त्यनीश्रुता च भवेत्, तथा सर्वमाहात्म्यनाशश्च स्मार्ददित्येतन्निवारणार्थापि तथात्वादिति । विशेषो भाग्यविभागे प्रपञ्चित इति उपरम्यते ॥३॥
इति तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

एवं जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय किलक्षणं ब्रह्मेत्याकांक्षायां जन्मादिघ्न-
द्वयेन वेदप्रमाणको जगत्कर्ता तत्समायवी येत्युक्तम् । तत्र पूर्वसूत्रे जिज्ञासापदमिदं ब्रह्म
ज्ञानेच्छास्मारणेन 'अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानता'मिति ब्रह्मस्वरूपपर्यादात्मो-
धनाद् ब्रह्मज्ञानोत्तरमपि तस्याः सर्वदेव कर्तव्यता बोधिता । द्वितीयसूत्रे स्वरूपलक्षणपञ्च-
नव्यतिरेकेणैव कार्यलक्षणकथनेन तस्य गौणत्ववारणत्वात् तत्करणत्वव्यकृता एव चिन्ता ।
तृतीयसूत्रे समापयित्वा निर्यायकहेतुकथनेन विरुद्धधर्मोच्चारणबोधनाद् विचारकरणत्वव्य-
कृता च एव चिन्तिते त्रिचक्ष्यां सर्वोऽपि शास्त्रार्थः संग्रहेणोक्तः । स एवाग्रे विस्तारेण वक्ष्यते ।
तत्र ब्रह्मणि चतुर्धा विचारबोधनाय शास्त्रे चत्वारोऽप्यायाः । तत्र ब्रह्मस्वरूपस्य सर्वोप-
जीव्यत्वात् प्रथमेऽप्याये स्वरूपविचारः प्रमाणवलेन । ततः स्वरूपे विचारितेऽपि यदि
प्रमाणयोस्तिरेतरविशेषः स्यात्, यदि च मत्तान्तरिकारण्येन न क्रियते, तदोक्तं वक्ष्य-
माणं च न हृदीभवेद्, अतो द्वितीये प्रमाणविरोधपरिहारेण मत्तान्तरिकारण्यं च । ततो
हृदीभूते पूर्वोक्ते तदनन्तरं तृतीये साधनानि । तत्सूर्योपेक्षे फलमिति अप्यायार्थः । तत्र
प्रथमार्थाये स्वरूपवाक्यानि विचार्याणि । तानि सन्दिग्धनिःसन्दिग्धभेदेन द्विविधानि ।
तत्र निर्यायस्य सन्दिहिनिरासार्थत्वाग्निःसन्दिग्धेषु च तद्भावात् तथिर्णयो न वक्तव्य
इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादीनां स्वरूपवाक्यानां विचारोत्र न क्रियते । सन्दि-
ग्धानि तु चतुर्विधानि । कार्यप्रतिपादकान्यदन्वयोमिप्रतिपादकान्युपास्यरूपप्रतिपादकानि
प्रकीर्णकानि चेति यथाक्रमं प्राथमिकेषु चतुर्षु पादैषु विचार्यन्ते । तत्र सच्चिदान्दरूपेण
कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानि, आकाशवयुतेजोवाचकशब्देन कारणं निर्दिश्य कार्य-
प्रतिपादकानित्येवं षड्विधानि कार्यद्वारा स्वरूपबोधनायाग्रे पादे विचार्यन्ते । तेन लोके
शक्तिसङ्घोषेनान्यवाचकान्यपि पदानि साहजिकया शक्या ब्रह्मोपासिदधतीति श्रुतेस्ता-
त्पर्यायनिर्णयेन फलिष्यति । तत्र विचारश्च शास्त्रार्थत्वाजिज्ञासासूत्रे विषयविषयभावः
शास्त्रसङ्गतिः । शास्त्रस्याध्यायेषु, तेषां पादैषु, पदानां स्थावयेषु च सामान्यविशेष-
भावः । अधिकरणानां परस्परं मिथ्याः सङ्गतयः । सङ्गतित्वां सत्त्वधानेन पुंसा प्रयु-
ज्यमानं यद्वाक्यं तत्प्रयोजकत्वेन योऽर्थः स्मृतः, तस्योपेक्षानिर्देवमेव । उपेक्षानिर्देवा च

कचिद्भेदतया कचिदुपोदानेनेत्येवमनित्यर्थैर्धर्मैः । वेदान्तदर्शने तद्विद्यतानियामकस्या-
क्तत्वादिति । अधिकरणं तु विषयसंशयपूर्वकश्चिद्विचारस्तद्व्याख्यपञ्चाङ्गद्वयं वाक्यम् ।
तत्रापगतः प्रतीतः सन्दिग्धोऽर्थो विषयः । संशयश्च एकधर्मिकं विरुद्धनामकोऽथैवगादि
ज्ञानम् । पूर्वपक्षः प्रतिवादिमतम् । उत्तरं तन्निवारणेन निर्णयः । सङ्गतित्वस्तुकेत्येव
बोधयम् । तत्रोक्तविषेषु वाक्येषु पूर्वसूत्रान्यां कृते लक्षणविचार एव कार्यस्य सत्त्वा-
बोधनात् तत्कारणे सदास्वरूपत्वमर्थादेव सिद्धम्, अतः 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दिति
निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वादिवोधके वाक्ये सत्यदेन ब्रह्मबोधयत इति तद्वाक्यं ब्रह्मस्वरूपपरमिति
निर्णयः सिद्धः । अतः परं चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्य कर्तृत्वादिनिर्णयार्थं शीघ्रत्यधिकरणमा-
रभ्यते । तत्र षड्विन्द्रियाणामां चैति सत्त ज्ञानजनकानि, अतस्तत्र सत्त सूत्राणि । तेना-
न्वयस्वप्नसद्वारज्ञानवाचका अपि शब्दा वेदान्तवाक्यविशेषेषु परब्रह्मवाचका इति फलिष्यति ।

पूर्वसूत्रे ब्रह्मणो विचार्यत्वं साधितम् । तत्रैवं सन्देहः । 'तमेव भ्रान्तमनुभाति
विश्वं'मित्यादिश्रुतियुतु ब्रह्मणः स्वप्रकाशतया निरूपितत्वेन प्रमाणानामपि तदेवागुप्राहक-
मिति सर्वप्रमाणानां प्रकाशयत्वेन तदविषयत्वात्, तत्प्रकाशयत्वाङ्गीकारे स्वप्रकाशत्वविरो-
धाद्, विचारस्य च मनसा कर्तव्यतया तद्विषयत्वाभूत्युपगमे, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति
श्रुतिविरोधाच्च न विचार्यम्, आहोस्विद् विरोधपरिहारेण विचार्यमिति । तत्र किं
सावत् प्राप्तम् । न विचार्यमिति । कुतः ? प्रमाणानि प्राप्यप्रकाशकारीणि सत्कारि-
सापेक्षणि च । प्राप्तिस्तु सत्कार्येण सहकार्यनुग्रहेण च । ब्रह्मणस्तु स्वप्रकाशत्वेनैवरा-
ष्ट्रकल्पस्त्वानमनोनिर्दिष्टचित्तशुभ्या च सर्वप्रमाणविषयत्वाद् 'यं न स्पृशन्त न विदुः' इत्यादि-
स्पृष्ट्या चासन्निकृष्टत्वाद् वाक्निर्दिष्टशुभ्या सत्यज्ञानादिपदैरप्यवाच्यत्वेन तद्वक्ष्यत्वाद्,
प्रमाणानां मनोमात्रेन्द्रियप्राणजन्मपुरुषप्रवृत्तिरूपव्यापारात्त्वव्यवहारेणैव सर्वव्यवहा-
रतीते ब्रह्मणि तेषां प्रवृत्तिरादित्याच्च । एवं ब्रह्मणोऽविचार्यत्वे सिद्धे तत्प्रमितिकला
वेदान्ता अप्यविचार्यम् । ननु ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वमाह्वानमसतोत्तरत्वं च वेदा-
न्तेभ्य एवत्वगम्यत इति ब्रह्मणोऽप्रेत्यत्वज्ञानार्थैव तेषां विचारोऽस्त्येति चेद् विशा-
ष्यते, तदा तु स्वव्यापारेण ब्रह्म समर्थयन्तोऽपि ब्रह्मणोऽवाच्यत्वं वदन्तीति बाधिता-
र्थत्वादेवाविचार्या इति पूर्वपक्षे । उच्यते ।

ईक्षतेनांशब्दम् ॥ ४ ॥

न वियते शब्दो बोधकन्यापारवान् पदसम्बुधो यत्रेत्यशब्दं सर्ववेदान्ताप्रतिपाद्यं
ब्रह्म न भवति । कुतः ? ईक्षतेः । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं'मित्युपक्रमम्,
'तदेक्षतं बहु स्यां प्रजायेयेति, तत् तेजोऽञ्जजतेति । तथाञ्जते, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र
आसीत्प्रान्यत् किञ्चन मिषत्, स ऐक्षत लोकानुसृज्या इति, स इमांलोकानञ्जजतेति ।
तथेतरत्र, 'स ईक्षां चक्रे, स प्राणमसृजतेति । एवमेतेषु छान्दोग्ये तरेणश्रोतनिष्प्रा-

कथेयु 'इदमेवं करिष्यामी'त्यव्यवसायात्मकालोचनरूपा या ईक्ष्वा तत्प्रत्यायकादीक्षिति-
धातुनिर्देशात् । तथा च ब्रह्मणः सर्वप्रमाणानां नरत्वादेरीक्ष्वात्प्रथमं ध्रुतिसिद्धत्वेन समान-
बलतया चैकतरवाच्यस्यानुचितत्वाद् विरुद्धधर्माधारत्वस्य 'तदेजति तन्नैजति, अन्यदेव
तद्विदितादयो अविदिता'दित्यादि श्रुतिभिन्नेष्वणि मोषितत्वेन भूषणत्वात्, स्वात्मानमे-
वैनं नानाभूतं नानाभूतं करिष्यामि, सर्वव्यवहारप्रमाणातीतौपय लोकासृष्टिद्वारा व्य-
वहाराय भविष्यामीतीक्षाकारसिद्धौ तादृशेष्वयं विरोधे परिहृते सुखेनैव ब्रह्मणो विचा-
र्यत्वसिद्धिः । वेदान्ताश्च भगवद्वाच्यरूपाः । भगवोस्तु यथा यथा कृतवर्त्तस्तत्तथोक्त-
वानिति वेदान्तानामपि बाधितार्थवक्तृत्वाभावेन विचार्यत्वसिद्धिः । एवञ्च यत्र
यत्रैवं पूर्वमव्यवहारापत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावात्प्र तत्रैवमिच्छित्त्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावात् इति
व्याप्तौ सिद्ध्याय, ब्रह्म पूर्वं सर्वव्यवहारप्रमाणाघातीतमपि पश्चात्प्रियम् । एवमिच्छित्त्वात् ।
यत्रैवं, तत्रैवम् । जीववत् । यद्यपि, ब्रह्म पूर्वोक्तयकारम् । ईच्छित्त्वात् । यदेवं, तदे-
वम् । जीववदिति केवलान्वयी हेतुर्वक्तुं शक्यः, तथापि जीवस्यैवं प्रकारेण ध्रुत्यानु-
क्तत्वात् प्रकारपूर्वकः केवलव्यतिरेकव्य हेतुर्गुण इति बोध्यम् । उक्तपूर्वस्थाया आकारस्तु
ईश्वरैच्छायाः फलबलकल्पत्वात् तत्तत्त्वकर्णोक्तकार्येभ्य उन्नीयते इति च । तथा सर्व-
व्यवहारातीतत्वादिकं चिद्रूप एवेति तस्य कारणत्वसमर्थने चिद्रूपस्य तथात्वमित्यपि ।
नच भवत्वैवमीक्षणो न भूलकारणत्वं चेतनत्वं च । तथा सति, भूलकारणं ब्रह्म चेतनम् ।
ईच्छित्त्वात् । जीववदित्यनुमानात् प्रकृतिवाच्येण साङ्ख्यनिराकृतिरेव सत्त्वस्य, न तु
व्यवहार्यत्वमपि । अपरिच्छेद्यमानत्वाद्भ्रुतत्वात्सिद्धेति वाच्यम् । खांशभूतजीवोपयोगि-
प्रजाशब्दवाच्यशरीरानां तत्पुणार्थसाधकानां लोकादीनां च सृष्टया तत्कृत्वेन तत्त-
त्कृत्वात्त्वेन च व्यवहार्यत्वस्य सुखेनैव सिद्धेः । एवं सृष्टिप्रकरणविचारेण व्यवहार्य-
त्वस्य सिद्धाधीक्ष्वाया एव हेतुत्वं सिद्धमिति प्रमाणविपर्ययेऽपि सेव हेतुरिति बोद्धव्यम् ।
ततश्च प्रमाणबलेनाविषयः, स्वैच्छया विषयश्रेयस्युक्तं भवति । ननु सर्वप्रमाणविपर्यये
दृष्टिते यदिच्छया तथात्वं साध्यते, तत्र द्रव्यकृतः संनतम् । यदि तथा स्यात्, तदा
नामयेवमीक्षतेरिति सूत्रवृत्तिः । अतोऽत्र नाशब्दमिति साध्यनिर्देशात् प्रधाननिरास एव
सूत्राशय इति चेत् ? न । वेदमिच्छानां सर्वेषां प्रमाणानां प्रत्यक्षोपजीवकत्वेन तस्यामा-
प्यस्य च गुणसापेक्षत्वेन गुणस्य च सत्त्वजन्यत्वेन सर्वेषां प्रमाणानां सत्त्वगुणसापेक्ष-
त्वात् सत्त्वशुद्धेश्च वेदोक्तकरणेन भवनात् सर्वेषां तेषां वेदोपजीवकत्वेन अनपेक्षप्रमा-
प्यस्य गुणातीते भगवन्निःश्वासरूपे वेदे एव व्यवस्थितेस्तत्त्वेव साध्यत्वेन निर्देशस्यो-
चित्यात् । ननु तर्हि नावेदमित्येवोक्तं स्यादिति चेत् ? न । वेदव्याख्यानात्प्रत्यक्षोपजीवकत्वेन तस्यामा-
नानामपि भगवन्निःश्वासस्वभावत्वात् तत्समर्थाय तथाजुक्तेः । एवमत्र शुद्धशब्दप्रति-
पाद्यत्वसमर्थनेन 'मनसैवानुदृष्टव्यं' इति श्रुत्युक्तं शुद्धमनोदृष्टत्वं, 'कश्चिद् धीरः
प्रत्यगात्मानमेव'दित्युक्तं शुद्धचक्षुर्दृश्यत्वमपि समर्थितम् ॥ ४ ॥

एवमनेन सूत्रेण ब्रह्मणो वेदान्तानां च विचार्यत्वे साधिते किञ्चिदाशङ्क्य परि-
हरति । ननु वेदे 'स आत्मानं स्वयमकुत' इत्यादिपु कर्तृत्वादिकं ब्रह्मणः प्रतीयते ।
'निष्कले निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरञ्जनंमित्यत्र समापित्विच्छेदे निष्कलत्व-
निरवद्यत्वे, कर्तृत्वविच्छेदे निष्क्रियवशान्तत्वे च प्रतीयते । तत्र सर्वभवन्समर्थत्वादिक-
द्वधर्माश्रयत्वेन निर्णयः, अन्यत्रवायेन वेति प्रकारद्वये संभवति सत्यप्यलौकिकाशङ्कया
लौकिकस्य जन्मत्वालोकासिद्धकर्तृत्वादेवोप एव युक्तः । अन्तरङ्गचिद्विज्ञान्येनोत्पत्ति-
शिष्टोत्पन्नशिष्टान्येनोपजीव्योपजीवकभावविचारेण बुद्धादिवरोहत् । ततश्च सत्यस्वरू-
पाद्यदेव शबलं स्वरूपं कर्तृत्वादिवाक्येषुच्यते । ईक्ष्वात्वादेर्गुणसम्बन्धेनापि शक्यवच-
नत्वादिति स्वयमेवाशङ्क्य परिहरति सूत्रकारः ।

गौणश्चेत्, न, आत्मशब्दात् ॥ ५ ॥

ईक्षतिना युक्तः परमात्मा, गौणः प्रकृतिगुणभूतं यत् सत्त्वं तत्संबन्धानिति
चेत् । तथा वक्तुं न शक्यते । कुतः ? आत्मशब्दात् । 'आत्मा वा इदमेक एवाय
आसी'दित्युपक्रम्येक्षितेश्रावणेनेक्षितार्थत्वशब्दप्रयोगात् । सर्वत्र वेदान्तोप आत्मशब्दो
निर्गुणवाचकत्वेनैव सिद्ध इति गुणसंबन्धस्यात्मपदेन निवारणे जगत्कर्ता गौण इति न
वक्तुं शक्य इत्यर्थः । नन्वेवमङ्गीकारे कल्पनाबाहुल्यादन्तरवाधपक्ष एव युक्त इति चेत्,
न । कारकमात्रस्य सव्यापारं प्रति स्वातन्त्र्ये सत्यापि यत् कर्तृत्वश्रयताया स्वातन्त्र्यस्य
कीर्तने तत् कारकान्तर्नियामकत्वेव, अतो गुणानां कर्तृत्वप्रयोगकत्वाङ्गीकारे तेषामेव
सृष्ट्यादिकार्यां स्वातन्त्र्येणात्मनियामकतया सगुणस्य स्वातन्त्र्याभावेनकर्तृत्वापादक-
त्वात् । नच गुणानां जडत्वेन चेतनाधीनत्वात् सगुणस्य स्वातन्त्र्यहानिरिति वाच्यम् ।
तथा सत्यादिश्रेष्ठेपि प्राकाले गुणसाप्तिद्रया 'सदेव सौम्ये'त्यादिवाक्यस्य विज्ञेय-
निवृत्तकारविरोधापत्तेः । नच कालवाचकप्रपदेन तस्याप्युक्तत्वादेवकारो नान्ययोग-
व्यवच्छेदक इति वाच्यम् । अत्रपदस्य शिष्यबोधनार्थत्वात्, अन्याया सूद आसीत्,
कालोऽप्यासीदिति वाक्यमेदमसङ्गात् । आदिसृष्टिवाक्येषु कापि कालत्वेन कालसत्त्वाया
अनुक्तत्वात् । अयाधिकरणत्वेन कालस्योक्तत्वात् कालविशिष्टब्रह्मबोधकत्वं वाक्यस्येति
विभाष्यते । तदसङ्गात् । विशिष्टानिमोत्तरप्रपदेनात् । इतरव्यवच्छेदस्य पूर्वधिकरण
एव साधितत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वाच्च । अतः श्रेष्ठधनन्तरप्रतीयमानकालोपर्यवनेनैव
तदुक्तिरिति नैवकारस्याप्ययोगव्यवच्छेदकत्वहानिः । किञ्च । अस्तिमातिप्रियत्वादिवद्
ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वं लोके प्रतीयते । कार्यत्वात् । तेन कर्तृत्वं वस्तुतोऽलौकिकमेवेति न
बाधयोग्यम् । तस्माच्छ्रुतिसिद्धे ब्रह्मणः सागः व्यसंभवान्येव निर्णयो युक्त इति ॥ ५ ॥

ननु मास्तु गुणसंबन्धाद्गौणत्वम्, तथापि आत्मपदस्य लोके भगवता भद्रसेन ह-
त्वादिपु गौण्यापि प्रयोगदर्शनाद्वापि तथास्तु । तथा सति नात्मपदमात्रेण तादृशनि-
र्णयसिद्धिरिति शङ्क्यां हेत्यन्तरमाह तस्मिन्हेत्यादि ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥

‘असद्वा इदमत्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानः स्वयमकुरुते’ त्युपक्रम्य, पठ्यते ‘यदा शेषैव एतस्मिन्नदृष्टयेऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवती’ति । एतदर्थस्तु असदिति लोकविलक्षणमव्याकृतं, यदा यस्मिन् काले, शेषव निश्चयेनैव, एष साधकः, एतस्मिन् पूर्वोक्तब्रह्मणि, अस्त्ये नामरूपशून्ये, अनात्म्ये आत्मन इदं आत्म्यं शरीरं तद्रहितं, अनिरुक्ते विकारो हि विशेषणवशाभिरुच्यते, न त्वविकार इति विकारशून्यत्वादनिरुक्ते, निदिताधिदितात् परत्वेन निर्वक्तुमशक्यत्वाद्वाऽनिरुक्ते, एवंभूते ब्रह्मणि अभयं यथा स्यात् तथा, प्रतिष्ठां ‘यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाती’त्येवंरूपा स्थितिः, विन्दते प्राप्नोति, अथ तदनन्तरमेव, स जीवः, अभयं गतो भुक्तिं प्राप्नोति भवतीति । अत्र होतस्मिन्नित्यनेन पूर्वोक्तं जगत्कर्तारं पराशुच्य, अदृश्यत्वादिधर्मवैशिष्ट्यकथनेन विरूद्धधर्मोभ्रयत्वं तस्य बोधयित्वा, तादृशे परिनिष्ठितस्य जीवस्य मोक्ष उच्यते । यदि जगत्कर्ता गौणः स्यात्, तन्निष्ठस्य संसार एवोच्येत, न मोक्षः । उपदिश्यते तु मोक्षः, अतः फलबलेन ज्ञायते, स प्रयोगो नोपचारिक इति ॥६॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥

हेतोर्निर्गुण एव जगत्कर्ता । सर्वत्र वेदान्तावकायेषु यत्र मोक्षसाधनान्युपदिश्यन्ते, ‘किं प्रजया करिष्यामः,’ ‘अमृतत्वस्य तु नाशास्तित् विचिने’त्यादिमित्यत्र पुत्रादीनां हेयत्वमुच्यते । यदि जगत्कर्ता सगुणः स्यात्, पुत्रादिबद्धेयत्वेनोक्तं स्यात् । उच्यते तृपास्यत्वेन, ‘तज्जलानिति, शान्त उपानीते’त्यादिषु । अतो न सगुणः । अत ईक्षत्यादयो न सगुणधर्मा इति सूत्रत्रयोक्तहेतुभिः सिद्धम् । सूत्रत्रयस्यैककार्यकारित्वबोधनाय चकारः । एवं सूत्रचतुष्टयेनेशनिहेतुना जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या सृष्टिवाक्यानां शुद्धब्रह्मपरत्वमुपपादितम् ॥ ७ ॥

अतः परं प्रलयादिबोधकानां तथायं साधयितुं हेतुन्तराण्युच्यन्ते सूत्रत्रयेण । साध्यं तु नाशब्दमित्येव ।

स्वाप्न्यात् ॥ ८ ॥

ब्रह्म नाशब्दम्, न सर्वव्यवहारातीतम् । कुतः ? स्वाप्न्यात् । स्वस्मिन्नात्मन्यप्याज्जीवस्य लयात् । अपिपूर्वकं एतिल्लयार्थः । एवं हि छान्दोग्ये श्वेतकेतुपाष्याने भूषते ‘यत्रैतत्सुषुप्तः स्वपिति नाम, सता सौम्यं तदा सम्प्रभो भवति, तस्मादेते स्वपितीत्याचक्षते, स्वः श्वपीतो भवतीति । स्वपितीति न क्रियापदम्, किन्तु जीवस्य नाम । स्वस्मिन्श्वपीतिल्लयो यस्यासौ स्वपितिः । एषोदरादित्वादिपीतिशब्दस्वाकारनाशे ईकारस्य च विकृतौ सत्यां स्वपितिनान्नः सिद्धिः । वस्तुतस्तु यौगिकत्वेन नामत्वाद्योगरूढ एवायं श्रौतः शब्दः । स्वपितिनामत्वं च न केचल्ले स्वापे, किन्तु सत्स्वप्नयोः । स्वः-

श्वेन चाभेदः । अर्थतः सच्छब्दसामानाधिकरण्याभिर्गुणत्वं च । तेन गुणातीतोऽयमात्मा यत्र लीयते यत्र तादृशं, यद् ब्रह्म सत्पदवाच्यं, उद् गुणातीतमेव । न होतादृशस्य स्वसम्बन्धेन कर्मसम्बन्धनिर्मुक्तपरमसुखातुभवसम्पादकं सगुणं मथितुमर्हति । अतः स्वाप्यसम्पादकत्वाच्च सर्वव्यवहारातीतम्, नापि सगुणमित्यनेनापि हेतुना सिद्धमित्यर्थः । अत्र लये वक्तव्ये सुषुप्तिकथनं कर्मसम्बन्धाद्देशाद्यामपि तद्विधायुः तादृशसुखसम्पादकत्वात्सामर्थ्यबोधनायेति ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥

गतिर्मोक्षः । सामानस्य भावः सामान्यं, तस्मात् । मोक्षे सर्वस्य भगवत्पुण्यत्वेनैव निरूपणात्, तदावृत्तेन न सर्वव्यवहारातीतं, सगुणं वेत्यर्थः । गतिशब्दः फले रूढः । ‘अन्ते या मतिः सा गतिः,’ ‘सा काष्ठा सा परा गति’रित्यादौ तथा दृष्टत्वात् । अत्र चाप्यथोत्तरमेतत्कथनं ‘यतो वा इमानिं कश्चिदुत्थिस्थस्यामिनिवेशानस्य निर्णयार्थम् । एतद्विषयवाच्यं तु बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रुयते । ‘स यथा सर्वोसामपः समुद्र एकायन’मित्यात्मन्, ‘विज्ञानापरमे केन विजानीया’दित्यन्तम् । अत्रायमर्थः । यथा अवादीनामज्ञानां कार्याणामवाघातकाः समुद्रादयो लयाधिकरणभूताः, तथा सदात्मकस्य सर्वस्य सदात्मकं कारणभूतं ब्रह्मैव लयाधिकरणभूतमिति दृष्टान्तैर्निरूपितम् । नच स्पृशादीनां त्वगांधशत्वस्य प्रत्यक्षधाधितत्वेन केचल्ले लयस्थानत्वमेव विवक्षितं, न तु तस्य कारणत्ववैशिष्ट्यमपीति शक्यम् । ‘त्वगस्य स्पृशाद्योग्ये’ति, ‘भूत्वस्ताला निर्भिर्भं जिह्वा तत्रोपजायते । ततो नानारसो जज्ञे जिह्वा योऽधिगम्यत’ इत्यादिश्रीभागवतद्वितीषस्त्वभावक्येषु तथा दृष्टेनेनात्र वैराजानामेव तेषां दृष्टान्तत्वेन विवक्षितत्वात् । यथा सर्दशानां कार्वाणानां लयस्थानं ब्रह्म, तथा चिदशानां जीवानामपि लयस्थानं ब्रह्मैवेति वक्तुं, ‘स यथा सौम्ये’त्यादिना यथा सामुद्रलवणसंग्रह उदके प्रक्षिप्त उदकमेव लक्ष्मीकृत्य विलीयते, न तु तस्य खिल्यत्वेन ग्रहणाय कोपि समथः संभाव्यते, किन्तु यदमाहस्माद्देशादादीयते, तत्र तत्र लवणरस एवास्वाद्यते इति तत्र तत्सत्ता निर्धीयते इत्येवं लयदृष्टान्तं निरूप्य, तत्र ‘यवं वा अरे इदं महद् भूतम्, अन्तमपारमरे मैत्रेये इदं जीवात्मनैवानुभूयमानं महत् पूर्वोक्तैः श्वोऽजादिभ्य उक्तृष्टमनन्तमविनाश्यापरमनादि, तस्य विज्ञानघने चिदेकत्वत्परे ब्रह्मण्येवैतेभ्यः स्थूलसूक्ष्मशरीररसमकेभ्योऽनुपलसितेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पृथग्भूय तान्मेव भूतान्यनु तद्व्योत्तरं विनश्यति, विशेषेणादर्शनं प्राप्नोति, ब्रह्मणः पृथक् न ज्ञायते । तत्र हेतुः । ‘न प्रेत्य संशास्ती’ति । लयोत्तरं जीवसंज्ञैव निवर्तते । ब्रह्मैव भवतीति । ततो लवणरसस्य सर्वत्रोदकेनभावान्नवगत्वेन वर्तते एषोदग्रहणमिति कुतो निषिध्यते संज्ञा ? इत्येवं मैत्रेय्या मोहे पुनः संज्ञामावन्तक्यपरमर्थं, ‘यत्र हि दैत’मित्यादिना मेदकधर्मसत्तायां दैतदर्शनेकधनपूर्वकं ‘यत्र त्वस्य सर्वंभ्रतमैवाभूत्त्वेन के पश्येकमिमे-

भिवदेच्छुभयान्मन्वीत विजानीयाद्, वेनेदं सर्वं विजानन्ति तं केन विजानीयाद् विज्ञा-
तारमरे केन विजानीयादित्यन्तेन । यत्र तु यस्मिन्नाधिकार्ये तु अस्य जीवस्य सम्बन्धि
सर्वं स्थूलं सूक्ष्मं च आत्मैवाभूद् आत्मरूपैवाभूत्, तत् तदा कारणस्य विषयस्य च
लयाद् एकरूप्ये कारणविषयभावगुणगतौ केन कं पश्यदित्यादि निरूपितम् । ततो यद्य-
प्यन्वयहीनं, तथापि विज्ञाता तु तिष्ठति । स यथा खन्दे खयञ्ज्योतिः पश्यत्येवं स्वयं
कुतो न विजानातीत्याकांक्षायां विज्ञातः स्वरूपस्यापि समुद्रे लक्षणस्थेवात्मत्वाद्, किंवा
निरमित्यादिना । तथाच तदानीं सोऽपि न विज्ञातृरूपेणास्ति, किन्तु गुणातीतेनात्म-
रूपेणातो न विजानातीत्येवमुच्यते न सर्वस्य ब्रह्मतीत्यं निरूपितम् । तेनात्र ब्रह्म न
सर्वदा सर्वव्यवहारातीतम् । मोक्षे तथात्वेन श्रावितत्वात् । यदेवं तदेवम् । मैत्रेयीब्राह्म-
णश्रावितसर्ववदित्येवमुपायानसिद्धेरस्य हेतुत्वं सिद्धम् । तेनात्र सर्वस्य कारणे लयने कीमा-
वबोधनात् सर्वस्य ब्रह्मत्वमपि दर्शितम् । तेनादौ अमृतत्वलिङ्गेन, मध्ये आत्मदर्शना-
दिना सर्ववेदनप्रतिज्ञाभारम्भ, बागेकायनमित्यन्तेनावेसाने सर्वस्यात्मभावकथनेन चेत्ये-
वमादिमध्यावसानेन शुद्धब्रह्मण एव सर्वरूपत्वेन सर्वकर्तृत्वेन चोपपादान्द ये केऽपि
वेदान्तास्ते सर्वं येन केनचित् रूपेण ब्रह्मैव वदन्तीति सर्वेषां वेदान्तानां तात्पर्येण ब्रह्मणि
समान्य इति तत्र फलितम् ॥ ९ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥

श्रुतद्वारण्यके द्वितीयस्य वंशब्राह्मणस्यानन्तरं परिशिष्टलक्षणखिलकाण्डारम्भे श्रूयते
‘पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते’ इति । एत
दर्थस्य, अदः परोक्षं ब्रह्म पूर्णम्, आकाशवद् व्यापकं निरन्तरं निष्पाथिकं, पूर्णमिदम्, इदं
नामरूपाभ्यां व्यवहियमाणमवतारारदिरूपमपि पूर्णं पूर्णैकरूपमेव । एवं व्यवहाराभ्यां
वहार्थस्वरूपयोर्निरुपाधिकत्वमुक्त्वा कार्यरूपेऽपि तथात्वमाह ‘पूर्णात् पूर्णमुदच्यते’ ।
पूर्णात् कारणात् सकाशात् पूर्णमुदं पूर्णानन्दं सत् अच्यते, ‘अञ्चु गतिपूजनयोः’ ‘अच
इत्येकं’ इति पाणिनिः, पूर्यते, पूर्णं सद्मुदच्यते उदगच्छति वा । एवं स्थितितदशायां
कार्यस्य ब्रह्मरूपतामुक्त्वा प्रलयदशायां तथात्वमाह । पूर्णस्य ब्रह्मणः पूर्णं निरुपाधिक-
मेकरसत्त्वलक्षणं स्वभावं प्रलयदशायांमादाय पूर्णं ब्रह्मैव सन्नवशिष्यते । अव्यवहारेत्वेन
रूपेण तिष्ठतीति । अत्रानन्दिगर्भं यथा भवति तथा ब्रह्मण एव सर्वकार्यकर्तृत्वस्य सर्वकार्य-
रूपत्वस्य च श्रुतत्वाद् ब्रह्म सर्वव्यवहारातीतत्वमप्यहायेव सर्वव्यवहारविषयमिति प्रति-
पादितम् । अत एव पूर्णज्ञानिनों शुक्तसनल्लुमारदीनां व्यवहारदशायामपि कार्यं गुणा-
तीतं ब्रह्माभिन्नमेव । व्यवहारस्तु भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वाद् ‘बहुं स्यां प्रजापेयेत्यादि-
रूपपेच्छयैव । अत एव श्रीभागवते ‘दृष्टानुयान्त’मित्यत्र विविकटदृष्टित्वं परीक्षितदुपदे-
शादिकं श्रीभागवताभ्यासश्रेयुभयमप्युक्तम् । एवमस्मिन्नाधिकरणे विरुद्धमभांशव्यव-
स्थापनेन सर्वव्यवहारातीतत्वं तद्विषयत्वं चेत्युच्यते मपि समर्थितम् ।

केचित्तु अत्राधिकरणे प्रधाननिरासेव मन्यते । मूलकारणत्वेन प्रतिपाद्यं ब्रह्म
नामद्वयं; शब्दाप्रतिपाद्यानुमानिकत्वेन साहचर्यरूपगतमचेतनं प्रधानं भवितुं नास्ति ।
कुतः ? ईक्षतेः । चेतनयमस्य ईक्षणस्य तस्मिच्छावणात् । नचात्रे ‘तचेज ऐश्वर्य, वा आप
ऐश्वर्ये’त्यचेतनेष्वपि, ‘कूलं पिपतिवपती’त्यादिवत् गोष्ठा प्रयोगदर्शनात् प्रायपाठबलेन
गोष्ठा ऐश्वर्यप्रयोगोऽस्तितिशङ्कायां परिहारोऽस्मिन्नक्षेत्रेण क्रियते । आत्मशब्दादि-
त्यनेनात्मशब्दो गोष्ठा इति शङ्का तृतीयदिशिः परिश्रित्य तत्त्वेवमाहः । तद्व्यानुष-
ङ्गिकत्वेनास्माकमभिमतम् । द्रव्यं तुक्तमेव । इदं यथा मत्तान्तराणां दृष्यं च
भाष्यविभागादवगन्तव्यम् । एवमस्मिन्नाधिकरणे व्यवहारेत्यादिरूपेणावगतस्य चिद्-
पस्य कारणतासमर्थनेन सर्वेषां वेदान्तानां शुद्धब्रह्मपरत्वं साधितम् । तेन ब्रह्मणि सम-
न्यः सर्वेषां फलितः । पूर्वाक्तकार्यलक्षणगतोऽप्यासिद्धोऽपि वारितः ॥ १० ॥

इति षट्थंमीश्वर्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

अतः परमवसरेणानन्दरूपस्य कारणतां प्रतिपादयितुमस्मिन्नाधिकरणारम्भः । तेना-
नन्दोपधकाश्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपादनीयम्, न तु पूर्ववत् सर्वेषामिति । तैत्तिरीये यद्
ब्रह्मयुगप्रपाठकद्वयं तदत्र विचार्यते । तत्र षडिन्द्रियात्मपरत्वात्ममेदेनाष्टमिजोयमाने
यत् सुखं तदाचक्रोऽन्यत्रानन्दशब्दः, सोऽत्र ब्रह्मवाचक इत्यतोऽत्राह सूत्राणि ।

ननु ब्रह्मवित्प्रपाठके सत्यज्ञानानन्तलक्षणं ब्रह्म प्रस्तुत्य, ‘तस्माद्वा एतस्मादि-
त्यादिना कार्यं निरूप्यते । अग्निरे च ‘यतो वा इमानी’त्यादिना ब्रह्म लक्षयित्वा,
‘आनन्दाद्ध्येवे’ त्यादिना तन्निष्कृत्यते । अत उभयत्रापि ब्रह्मकार्यत्वे आनन्दकार्यत्वे च
सन्देहारसम्भवाद् व्यर्थोऽयमधिकरणारम्भ इतिचेत् । न । पूर्वस्मिन्नाकाशादीनां ब्रह्मकार्य-
त्वमग्रेसरि मध्ये आनन्दमय इति सन्दिग्धशब्दप्रयोगेण आनन्दे कारणत्वसन्देहात्,
द्वितीये चानन्दे कारणत्वसन्देहाभावेऽप्यानन्दे चेतनत्वस्याश्रावितत्वेन तस्मिन्जडत्वसन्दे-
हादभयत्र यथायथमानन्दे कारणत्वचेतनत्वयोर्बोधनायाधिकरणारम्भस्यावश्यकत्वादिति ।

ननु आद्ये आनन्दकारणतैव प्रतिपादादियित्तेत्यत्र किं गमकमितित्चेत्, उच्यते ।
अत्रारम्भे ‘ब्रह्मविदाग्नोति पर’मिति वाक्येन ब्रह्मविदः परप्रार्थि फलत्वेन प्रतिज्ञाय तद्-
व्याख्यानभूतायाम्प्यानन्दांशे कारणत्वस्याभिप्रेतया ज्ञेयस्य ब्रह्मणो लक्षणे आनन्दाद्य-
मप्रवेशे लोके प्रकृत्यादेः कारणस्य जडत्वदर्शनात् तद्विलक्षणत्वमानन्दांशे बोधयितुं
विषयिद्ब्रह्मपदानाभ्यां सर्वज्ञानन्दरूपं फलयुगत्तार्षं सर्वकामाशनकथनेनोपपाद्य तदव्य-
वहितोत्तरं ‘तस्माद् एतस्मादि’त्यादिना आकाशादिष्टिरुक्तेत्येवदेव गमकमिति
जानीति । नच तत्रात्मपदाविश्रुपेणैव कारणताभिर्संहितेति शङ्क्यम् । तस्य नैकत्वबोध-
नार्थत्वात् । अन्यथाग्रे आत्मनः सर्वान्तरत्वं न वदेत् । ज्ञानरूपत्वे विवक्षिते तस्मिन्
सर्वान्तरे आनन्दमयत्वं न वदेत् । अन्ते च ‘आनन्दमयमात्मानमृषत्सकामती’ति पर्यवसि-

तकलतां च न निगमयेत् । ऋगुतरावर्षोक्तकलरूपस्वैतोपक्रमे तदेतत्पदान्यां कारणतया परामृष्टत्वात् । अतः प्रकारान्तरेण सन्देहामावेऽपि मयट्प्रयोगमात्रेणैव सन्देहः । तत्र पूर्वपक्षे अक्षमयादिप्रायपाठवलेनानन्दमयोऽपि न ब्रह्म । फलसिद्धिस्त्यासात्प्रायः प्रकृतत्वाद्ब्रह्ममयादिभ्य इवानन्दमयादिव अभिव्यतीति फलं तस्य न ब्रह्मतानिर्णयकमिति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ ११ ॥

आनन्दमयः परमात्मैव, नानन्दमयादिवत् पदार्थान्तरम् । कृतः ? अभ्यासात् । अभ्यस्यते पुनः पुनः कीर्त्यते इत्यभ्यासस्तस्मात् । पूर्वतन्त्रे शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानां षण्णां कर्मभेदकत्वेन सिद्धत्वाद्ब्रह्म भेदकत्वेन तस्य ग्रहणम्, पूर्वोत्तरतन्त्रयोरेकशास्त्र्यात् । तत्र हि सभिधो यजति, तदनुपातं यजति, इडो यजति, बर्हिषेजति, स्वाहाकारं यजतीति पञ्चकृतवो यजत्याष्टौ बीमांसितम् । किमत्र तदनुपादादिषु चतुर्षु पूर्वयागानुवादः, उत यागान्तरविधानमिति । तत्र पूर्वपक्षिणा धात्वर्थप्रत्यभिज्ञानाद् इडादिगुणविधानार्थं सभिधायानुवादे अङ्गीकृतं, सिद्धान्तितम् । भेदाभेदसाधारण्या यजिभ्रुत्या यागमात्रप्रत्यभिज्ञानेन ध्रुतेयागान्तरपक्षेऽपि तुल्यत्वाद् गुणविधानपक्षेऽपि चतुर्थीतद्विद्युत्तत्त्वात् भवेन देवताया वक्तुमशक्यत्वात् तृतीयया अभावेन ग्रन्थस्य च वक्तुमशक्यत्वाद् द्वितीयया चाभिद्वेषं छुडोतीत्यादिवत् तेषां कर्मनामत्वेनिश्चयात् पदान्तरसमभिव्याहृतेन यजतिना यागान्तरमेव बोध्यते इति । ननु हेतुना साध्यं व्याप्तिवलेन साध्यते । प्रकृते चाभ्यासत्वेन कर्मभेदत्वेन व्याप्तिः परमात्मात्वेन व्याप्त्यभावाद्सिद्धोऽयं हेतुरिति चेत् । न । यत्र यत्र वाक्ये पदान्तरसमभिव्याहृतस्य यस्य पदस्याभ्यासः, तत्र तत्र तस्य पदस्यान्तरसमभिव्यक्तिमिति स्यात् : सवैनासिद्धेः प्रमाणात् । नचाभ्यासस्यैतद्भेदमयं फलम्, तत्र शब्दान्तरादेव सिद्धमिति किमनेनेति वाच्यम् । वैलक्षण्यसाधकत्वेनोपयोगात् । नन्वभ्यासस्याक्षमयादिश्लोकेऽपि दर्शनाद्द्वैव कथं वैलक्षण्यसाधकत्वमिति चेद्, इत्यम् । अत्र श्लेवमभ्यासः श्रुतेः । 'को श्लेवान्यात्, कः प्राण्याद्, यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्, एष श्लेवानन्दयाती'ति । अत्रायमर्थः । पूर्वानुवाकेऽक्षमयादीनां प्रयोगाद्ब्रह्मत्वापि, को श्लेवान्यादिति वाक्ये किंशब्दद्वयेन यत् पूर्वोक्तं सर्वं परामुच्यते, तेन तदननादिकं प्रति व्यतिरेकश्लेखानानन्दस्यैव हेतुता बोध्यते । तेनास्मादीनामपि यत् स्वार्थं सामर्थ्यं तद्व्यन्तःस्वित्तानन्दान्दाभिनि मूच्यते । अतोऽनेनैवं स्तुत्या सर्वोपजीव्यत्वेनानन्दरूपो योऽर्थः स एव सर्वत्राभ्यस्यत इत्यतोऽस्य वैलक्षण्यसाधकत्वमिति जानीहि । नचास्याभ्यासस्य वैलक्षण्यसाधकत्वेऽपि लैङ्गिकत्वान्मयट्श्रुत्यपेक्षया निर्बलत्वात् प्रायपाठेन विकाराथं ग्रहणस्यैवोचित्यादिति वाच्यम् । मयटोऽर्थान्तरंऽपि साधारण्यात्, प्राणमये प्राणदीनां वृत्तीनामेव कथनेन प्रायपाठः यैवाभावादिति । नवानन्दमयस्य ब्रह्मत्वसाधने

तस्य क्रियेव शिव' इति सम्बन्धपठ्या भेदनिरूपणात् 'नेह नानास्ती'ति धृतिविरोधो, हेतापत्तिश्चेति वाच्यम् । 'यदा श्लेषेव एतस्मिन्दुरमन्तं कुरुते, अथ तस्य भवं भवती'त्यभिमतवाक्ये दोषश्रावणेन तस्येत्यत्र 'राहोः शिव' इतिवदभेदपक्षोऽपि बोधनात्पदात्तत्वात् । उपचयापचयशक्तिनामसत्परिहारस्तु गुणोपसंहारपादे ध्रुवकृतैव कार्यं इति चोधान्वकाशः । अतः किमः पुनर्वचनेन बोधितो य आनन्दस्वार्थिकोऽभ्यासस्तेन मयदादिद्विबाह्यादन्दिभ्यस्य भेदे साधिते तस्य ब्रह्मत्वं निष्पद्युमित्याचार्याणामाशयः । अस्मिन् वर्णनेऽक्षमयादीनां ब्रह्मकार्यत्वेन पदार्थान्तरत्वमङ्गीकृत्यानेन दे फलत्वस्य वक्तव्यत्वात्तन्त्रे ब्रह्मण्यानन्दं शनिवेशमनुपगम्य पुनर्वचनमृचितार्थिकाभ्यासादानन्दमयस्य तेषो भेदः साधितः ।

प्रधुचरणास्तु अक्षमयादीनामपि साधारणकार्यान्निश्चयेन ब्रह्मविभूतित्वमानन्दस्य राधनशेषभूतश्लेषोक्तिनिवेशोऽपि रूपभेदेन फलत्वकारणत्वयोरनपार्थं चाभिनेत्यापिदेविकवादे चाभिव्यानन्दमयस्य तेषो भेदं वर्णकान्तरेण साधयन्ति । तथाहि । 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकान्की न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानासरे'त्यादिश्रुत्या क्रीडेऽल्लेव सद्यो हेतुः । तत्र यदु सामित्यादावपि प्रकारभेदेन तैवोच्छते । तेन सर्वं भगवानेवेति समन्वयेऽल्लेखित्याभ्यासां व्युत्पादितम् । तथा 'एष उ एवे'त्यादिश्रुत्या नासाकर्मफलदोऽपि स एवेति सिध्यति । तेन भगवान्भगवद्रूपेणाविर्भूय स्वाऽर्जुनैस्तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददत् क्रीडतीति सिध्यति । तत्र फलं सुखमेव । तदंश्वेतस्वीचानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ती'ति श्रुत्या ब्रह्मानन्दस्यभूतमेव । तेन निरवध्यानन्द एव परमं फलमिति बोधनाय 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति खलुरूपलक्षणोऽनन्तपदेन ध्रुतिः सूचितवती । नचानन्तमिति सत्यज्ञानयोर्बिभेक्ष्यमिति शङ्क्यम् । 'सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म, 'सच्चिदानन्दविग्रह' मित्यादिश्रुत्यन्तरे भित्तयसाहचर्योक्त्यापि तद्ब्रह्मदेव तस्याऽसारावश्यकत्वेन विशेषणान्ते तत्राप्यानन्दस्य विशेषणतया अनुक्तसिद्धत्वात् । 'यो वै भूमा तसुखं, नान्ये सुखमस्ती'ति श्रुत्यापि तथा निश्चयात् । किञ्च, इयमृत् 'ब्रह्मविदानोति परमि'ति ब्राह्मणविवरणभूता 'यो वेदेऽस्यन्ते तत्र ब्रह्मवित्पदं साधनशेषतया व्याकृत्य, अत्रे 'आप्नोति पर'मिति फलायं विज्ञपेति । तत्र 'यमेवेव दृष्टते तेन लभ्य' इति श्रुत्या वरणेतरसाधनप्राप्त्यत्वेन बोधितमिति तद्विरोधपरिहारेण उपयसासङ्गस्यायमेवं निर्णयम् । अत्राश्रयज्ञानेनाविधानिष्ठस्य प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोचमप्राप्तां खलुरूपयोग्यता सम्पाद्यते । तत्र ताच्छे जीषे स्वीयतया वरणेन भक्तिरूपः सहकारी सम्पाद्यते । ततः सहकारिणो धीम्यता-बाध सम्पत्त्या पुरुषोचमप्राप्तिर्भवतीति । नच मध्ये भक्तिनिवेशोऽश्रुतत्वाद्ब्रह्मवित्पद इति शङ्क्यम् । 'अकथाऽद्भेकया प्राप्नो', 'अकथा त्वनन्यया शक्य' इत्यादिस्मृतिभित्तया निर्भातत्वात् । तेन भक्त्यभावे केवलेन ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभाव एव फलम् । 'ब्रह्म केद

ब्रह्मैव भवतीति श्रुतेः । स चात्र स्वरूपयोग्यताकोटी निविशत इत्युक्तम् । नचाक्षरपर-
 थोरैक्यमिति शङ्क्यम् । 'अक्षरात् परतः पर' इति श्रुतेः, 'अक्षरादपि चोत्तम' इत्या-
 दिजातीयगीतावाक्यानां च विरोधात् । नचाक्षरपदेनान्यथाक्या प्रकृतिरेवोच्यत इति
 शङ्क्यम् । 'द्राविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव चेति पुरुषत्वोक्तिविरोधात् । 'पर-
 प्रधानममृताक्षरं हरः', 'क्षरात्मानवीशते देव एक' इत्यात्मत्वश्रुतिविरोधाच्च । तेन पर-
 देवत्वं प्रकृतेश्च भिन्नमेवाक्षरम् । अत एव क्रम्यायाख्येये ब्राह्मणेऽपि ब्रह्मेति पर इति च
 शब्दान्तरेण निर्देशः । अन्याया 'ब्रह्मविदाप्नोति तद्वित्येव ज्ञायात् । एतेन पुरुषोपमस्य
 लक्षणमप्युक्तप्राप्यम् । निरवधिसत्यज्ञानरूपत्वे सत्यक्षरात्कृत्वस्वैव लक्षणत्वेन सिद्धेः ।
 तद्योत्कृत्वज्ञानानन्दमीमांसायां 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति कथनोचरं 'यतो वाचो
 निवर्तेते अप्राप्य मनसा सह' इति श्लोके गणनापरिच्छेदराहित्येनावान्धनसगोचरान-
 न्दरूपतया सिद्धं भविष्यति । प्राप्तिस्तु व्रजरेतानामिव भगवद्रोम्यतया भगवता सह
 सर्वकामभोगरूपा । 'अश भोजन' इत्यस्य 'बहुलं छन्दसीति विकरणपदयोर्व्यत्ययेनाद्युते
 इति प्रयोगात् । प्रस्थानान्तरेऽपि भोजनार्थस्यैवाङ्गीकारात् । तदिदं सर्वं गुणोपसंहारपादे
 लङ्गभूयस्त्वाधिकरणे प्रपञ्चयिष्यते । एवञ्च फलत्वं परस्यैव, प्राप्तिस्त्वेवप्रकारकतदनु-
 भवरूपेति पर्यवस्यति । तत्र परस्मिन्नित्यवधानान्दात्मकत्वेन फलत्वं व्युत्पादयितुमन्तर-
 क्त्येभ्योऽप्यन्तरङ्गत्वं 'चक्षुषथङ्ग'रित्यादिश्रुतिरिति सर्वस्य सर्वरूपत्वेन सर्वाधिकार-
 पत्वं च ज्ञापयितुमाभिधीयते इत्यारूपेण भगवताविश्रुत इत्याशयेन 'तस्माद्वा एतस्या'-
 दित्यादिना आकाशादीनां भूतानामौपच्यदीनां भौतिकानां च संभवनक्रियायां कर्तृ-
 त्वमाह । न तु 'तत् तेजोऽञ्जते'तिवत् सज्जनक्रियाकर्मत्वम् । एतेनाकाशादीनामनु-
 विधितरूपत्वं ज्ञाप्यते । ततोऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्या उचरोचर-
 मन्तरङ्गभूता आत्मस्वरूपा उक्ताः । नचैते विकाररूपा वस्तु शक्याः । अग्रिमप्रापठके
 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वैति वरुणोपदिष्टतपोरूपेण ब्रह्मज्ञापकेन साधनेनाश्वादीनां
 ब्रह्मत्वेन ज्ञातत्वात् । नच तर्हि पुनर्ब्रह्मविषयकप्रश्नोद्युत्पत्तिः । तेषां परिच्छिन्नकार्य-
 कर्तृत्वेनापरितोषादधिकारिकारमपदानार्थत्वाद्वापत्तेः । एव'मन्नात् पुरुष' इत्यन्तेना
 पश्चिरूपमाह । वाजसनेयिशाखायां 'पुरुश्चेद्विपदः, पुरुश्चेद्विपदः, पुरः स पश्ची
 भूत्वा पुरः पुरुष आविश'दितिपश्चिरूपेणाध्यात्मिकस्याभिधीयतेऽपि प्रवेशश्रावणात् ।
 वस्तुतस्तु पुरुष एव, परन्तु पुरः सम्बन्धी सन् पश्ची भूत्वा पुरः शरीराभ्याविशदिति
 तदर्थम् । नच तस्येदमेव शिर इतीदमः प्रत्यक्षविषयस्यैव शिर आदेः परामर्शोत्
 प्रत्यक्षविषयस्यैव पश्चित्वं कल्पनयोपदिश्यत इति वाच्यम् । पश्चिरूपस्यैव पश्चित्वं
 कारे पश्चादिपदेऽपि लक्षणाग्राह्यत्वादिदम्पदमात्रे लक्षणायाः सत्त्वेऽपि श्रुत्यन्तरस्वारेत्वेन
 तस्या अदुष्टत्वात् । नचोक्तश्रुतावैक्यस्यैव प्रवेशोक्तः सर्वेषु पश्चिरूपत्वोपगमो न युक्त

इति वाच्यम् । अजमयादिषु पञ्चस्यैव पश्चादीनां पश्चिच्छिद्धानां तौल्येन तयोपगमे वा-
 चकाभावात् । नचैवं पश्चिरूपत्वेन प्रवेशप्राप्तावपि प्राथमयादिष्वन्तर आत्मेति श्रावणात्
 तेषां चतुर्णां तत्तदन्तःप्रवेशोऽस्तु, अन्नमये तु तदाश्रावणात् तस्य प्रवेशो न शक्यवचनः ।
 वस्तुतस्तु प्रवेशश्रुतौ पूष्टे द्विपञ्चादिश्रावणेन तान् स्पृष्टत्वबोधनात् तास्यैव प्रवेशो
 भासते । प्राणमयादिषु तु तल्लिङ्गाभावेन विवाहितपृष्टुत्वाभावात् तेष्वप्यशक्यवचनः ।

किञ्च, श्रुतौ प्रवेशमात्रश्रुक्तम्, न तु ययोजनं तस्य । अतः प्रयोजने विचार्यमाणे आध्या-
 त्मिकस्याभिमानितया प्रसिद्धेस्तथा भूत्वा पूर्येव प्रयोजनत्वेनायाति । सा चैकेनापि
 भवतीति सर्वेषां प्रवेशो वैयर्थ्यादप्यशक्यवचनः । नाप्येकस्यैवास्तित्वपि वस्तु युक्तम् ।
 अविशेषात् विनिगमकाभावाच्च कस्येति निर्णेतुमशक्यत्वात् । अत एव तस्याः प्रवेशश्रु-
 तेरुक्तिविषयत्वाभावेन प्रकृतोपपद्यमस्य वस्तुमशक्यत्वात् परिदश्यमाने पश्चित्वस्य कल्प-
 नोपदेशपक्ष एवात्र युक्तः, न त्वेतदतिरिक्तविभूतिपक्ष इति वाच्यम् । अतिरिक्तविभू-
 तिविज्ञानङ्गीकारे 'अस्माद्विष्णोः कात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंकापती रथाद्यग्निमवाचय-
 श्वावित्तयेतल्लोकत्यागस्य तदुचरभाविन्या अन्नमयादिप्राप्तेश्च बाधापत्तेः । कल्पनोपदेश-
 पक्षेऽन्नमयादीनामेतल्लोकान्तःपातित्वात् । नच 'संक्रमः प्रतिसंक्रम' इति पूर्वोपदेशोपे-
 रित्यादिषु प्राप्तावपि प्रयोगदर्शनेन परित्यागान्तरप्रयुक्ते तस्मिन् प्राप्यर्थकत्वस्यैव
 निश्चयात् । पूर्ववाक्येऽपि प्रतिपूर्वकस्य संक्रमस्य प्रलयवाचितया प्राप्यर्थ एव पूर्ववसा-
 नेनोपपूर्वकेऽपि तथात्वस्यैव उक्तत्वाच्च । अतो विभूतिपक्ष एव ज्ञाप्यायात् । तथा सति
 प्राकृत्युत्पत्तयमयं प्रपञ्चमतिक्रम्य गुणातीतं भगवद्ब्रह्मोपयोगिनं प्रपञ्चं प्राप्नोतीति लोक-
 त्यागपूर्वकोपसंक्रममावार्थः सिध्यति । तेन पूर्ववाक्येषु यदन्नमयादीनां पश्चित्वश्रुक्तम्,
 तदपि लीलापूर्वदर्शनायां साधनसंपत्तिरिद्वये लौकिकान्नमयादिः कोशानां रक्षार्थं तेषु तेषु तेन
 तेन रूपेण प्रवेशशोधनाय । अन्याया लौकिकैः कोशैर्विशेष एव क्रियेतेति सेवादीनि साध-
 नानि न संप्रधारन् । सेवासम्पन्नावुत्कटे विरहभावे तेषां स्थितिरपि न स्यात् । अतः
 पश्चानां स्थित्यर्थं तत्तत्सजातीयानां तेषु तेषु 'ने'न आश्रयकः । 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षु-
 षश्चक्षुः' इत्यत्र साजात्यस्यैव सिद्धत्वात् । एवञ्चान्नमये द्विपत्वेन तत्तदन्तरेष्वपि मृषानि-
 षिकप्रतिमान्यायेन प्रतिष्ठापदेन पादयोक्ततया च तेषामपि तादृशपृष्टुत्वात् तेषु प्रवे-
 शोऽन्यतापि निष्पत्युहा ।

तेनायं सन्देहः । उक्तप्रकारादानन्दमयोपि विभूतिः, उत सर्वान्तरत्वात् परमात्मेति ।
 तत्रोक्तयुक्तैः प्रबलत्वात् प्रायपाठेन विभूतिरेव युक्तः । सर्वान्तरत्वं तु विभूतिश्रुत्यल्प-
 कर्ममिति पूर्वपक्षे प्राप्ते । अविधीयते आनन्दमयोऽन्यात्वात् । आनन्दमयः परमात्मैव ।
 कुतः ? अन्यासात् । 'तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्यै'त्यन्नमयादिषु सर्वेष्वानन्दमय-
 स्यैवात्मत्वेन कथनात् । ननु कथमेतदवगम्यते ? इत्यम् । अत्र अन्नमयाभिमानिनः पूर्वमनु-

कृत्वेऽपि 'यः पूर्वस्ये'त्यनेन योऽन्वयस्य शारीरः शरीरसम्बन्ध्यात्मा तस्यैव सर्वात्सल्यम-
भ्यस्तम् । तेन तत्रात्मत्वेन जगत्कर्तृवै 'तस्माद्वा एतस्मादत्तम' इत्यनेनोक्तः पराश्रयत्व
इति ज्ञायते । स च सन्निहितत्वाद्रूपकान्तराच्च परं ब्रह्मैव विधिद्विज्ज्ञापदार्थां यदुक्तम्,
तेनात्मपदघटितवाक्याभ्यासस्तस्यैव सर्वान्तरात्मत्वं बोधयति । तस्यानन्दरूपतां तु
'सो वै स' इत्यारभ्य 'आनन्द्याती'त्यन्ता श्रुतिर्गमयति । 'एतस्यैवानन्दस्ये'ति मात्रो-
पजीवनश्रुतिश्च प्राचुर्यम् । तच्च किमपेक्षयेत्याकाङ्क्षायां सन्निदिशापेक्षयेति प्रकृतत्वत्
सिध्यति । अतस्त्रिविधाद्भ्यासादानन्दमगः परमात्मा । अभ्यासादित्येकवचनं तु
जात्यपेक्षया ।

ननु येषु तदा आनन्दमये 'तस्यैव एव शारीर आत्मे'ति भेदं न वदेदिति चेत्, न ।
तस्येति षष्ठ्या 'राहोःशिर' इतिवदभेदबोधकत्वेन यः पूर्वसाक्षमयस्य शारीर आत्मा उप-
क्रमेण जगत्कर्तृत्वेनोक्तस्तदभिन्न इति निगमनस्य तयोक्तदोषाभावात् । अन्यथा 'तस्माद्वा
एतस्मादानन्दमयादन्योन्तरात्मा ब्रह्मे'त्यपि वदेत् । नचनैवं विभूतिप्रायपाठविरोधो दोष
इति चेत् । न । सर्वान्तरात्मत्वादिद्रुपमुक्त्यपेक्षया तस्य निर्बलत्वेनाकिञ्चित्करत्वादिति ।
अयं प्रकारोऽपि 'योगोपसंहारे आरमगृहीत्यधिकरणे कार्योख्यानाधिकरणे च व्यक्तीभ-
विष्यति । तस्मादानन्दमयः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

ननु 'मयश्चैतयोर्भाषाया'मित्यनेन लोके मयटो विकाराधिकारे विहितत्वात् 'द्व्यचच्छ-
न्दसी'ति नियमस्य 'मृण्मयं शुद्धं राज्ञश्चैव गम'मित्यादि मन्त्रेषु व्यभिचारादिकारायै द्व्यचो
भवत्येव, अन्यस्मात्तु विकारो भवति, न भवति चेति व्यवस्थितविकल्पाश्रयणेन व्यचोऽपि
आनन्दशब्दात्तस्य विकारार्थं सुवचत्वादित्याद्यद्वय परिहरति ।

विकारशब्दात्त्रेतिचेत्, न, प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥

विकारवाची मयश्च यस्मिंस्तदाद्यं पदं विकारशब्दम्, तस्माद्विकारशब्दादानन्दमयप-
दाच्च, विकारशून्यम् अधिकारि ब्रह्म महीतं न शक्यमितिचेत् । न । इयमाशङ्का न कार्या ।
कुतः ? प्राचुर्यात् । पाणिनिनापि 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इति सूत्रं प्रणयता प्राचुर्येऽपि
विहितत्वादित्यर्थः । ननु कथमत्र प्राचुर्यं विनिगमनादिति चेत् । उच्यते । 'द्व्यचच्छन्दसी'ति
नियमस्य विकारत्वप्रकारकबोधविधायार्थं ब्रह्मचः परस्य मयट्प्रत्ययस्य असाधुत्वज्ञापना-
र्थत्वेनावयवकतयात्र विकल्पाश्रयणे बोजाभावाद् वारिते आनन्दशब्दान्मयट्प्रत्यये प्राचु-
र्यार्थस्य सुखेन विनिगन्तुं शक्यत्वात् । नच प्रायपाठविरोधः । तस्य प्राणमयस्थल एव
निष्ठत्वत्वात् । तत्र प्राणादीनां त्रयाणां श्रुत्तित्वेनानाद्यप्यिष्योश्च भूतान्तरत्वेन तदवयव-
कल्पनाश्रयादेव मयटः स्वार्यिकस्यैव भास्कराचार्योक्तरीत्या निश्चयात् । नच षटाकाशस्य
घट्टे विकारत्ववत् प्राणाद्युपाध्ववच्छिन्नस्य प्राणविकारत्वं वाचस्पत्युक्तरीत्या सिध्यतीति
वाच्यम् । अवच्छिन्ने विकारप्रत्ययसाभावात् । शास्त्रेष्वपि तथा प्रायोगाद्देशनादिति दिक् ।
विशेषतश्च भाष्यविभागादवगन्तव्यः । अतः सम्मगुक्तं प्राचुर्यादिति ॥ १२ ॥

शब्दबलविवारेण मयटो विकारार्थत्वे निराकृतोऽपि शब्दशेषित्वेनार्थस्य शब्दापेक्षया
बलिष्ठत्वात् तद्विरोधे पूर्वसूत्रसापि त्रया स्यादिति तदभावायार्थबलेनापि विकारार्थतां
निराकरोति ।

तद्भ्रतुत्यप्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥

हेतुत्वेन व्यपदेशो हेतुव्यपदेशस्तस्य हेतुव्यपदेशस्तद्भ्रतुत्यप्यपदेशस्तस्मात् । आनन्दमयं
प्रकृत्य 'एष खेवानन्द्याती'ति श्रावणात् । अत्र यकारस्य 'इहकारस्य दीर्घादेशः । तथा-
चानेनः पूर्व 'रसो वै सः; रसं खेवायं लब्धवानन्दीभवति' इति रसत्वेनानन्दमयस्य सिद्धत्वात्
तद्भ्रानेनानन्दवचाश्रावणेनैव रसरूपस्यानन्दमयस्यानन्दकारणताया अर्थवत् सिद्धावपि
यत् पुनस्तत्कथनं तस्य कारणत्वेनाविकृतत्वबोधनायैव । अन्यथेतस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।
तथाच यथा विकारभूतस्य जगतः कारणभूतं सच्चिद्रूपं ब्रह्माविकृतम्, तथा सर्वस्यापि
विकारभूतस्यानन्दस्य कारणभूत आनन्दमयोऽप्यविकृत इत्यर्थविवारेणापि नात्र विकार-
ार्थं मयडित्यर्थः । अत्र चकारः समुच्चयं वदन् हेतुद्वयेन मध्ये विकारार्थनिरासः प्रति-
पादित इति बोधयति ॥ १३ ॥

नवानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेन निरूपणे किमित्याहः क्रियते । अक्षमयादिविदुषासना-
परत्वेनापि निरूपणे श्रुत्युपपत्तेः । नचात्रोपासतेरश्रवणात्तथा न वक्तुं शक्यत इति वाच्यम् ।
'विद्युद्वज्रश्चेत्यादिषु विद्युदाद्युपासनासु तदभावेऽपि प्रकण्ठलेन तदङ्गीकारात् । प्रकृते
तु पक्षुपच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनाश्रुक्ततया वाग्नेयुपासनवत् काल्यनिकरवृत्तिलिङ्ग-
स्यापि सत्त्वात् सुखेनान्गीकर्तुं शक्यत्वात् । अत आवनयकोपपत्त्यभावादानन्दमयस्य ब्रह्मता
न वक्तुं शक्येति शङ्कानिराकरणाय तामाह मान्त्रेत्यादि ।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १४ ॥

शामीष्टं यं कश्चनार्थमिन्द्रियैः तदर्थशक्यसम्बन्धानां नानातवात्पेयं यं कश्चन
आदाय लक्षणया यत्किञ्चिदुच्यते तत्र मान्त्रवर्णिकम्, किन्तु मन्त्रेणाभिधेया पद-
शक्त्या यत्प्रतिपाद्यते, तन्मान्त्रवर्णिकम् । संपूर्णं प्रयात्के तदेव गीयते, उपपाद्य निर्धार्यते ।
कथमितिचेत् । इत्थम् । अत्र हि 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्येतद्विवरणत्वेन 'सत्यं ज्ञानमनन्दं
ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे स्थोमन्, सोऽञ्जुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चि-
तेति मन्त्र उक्तः । तत्र यो वेदेल्यन्तेन ब्रह्मवित्पदं विदुष्यत् । संपूर्णेन पूर्वार्थेन वा । उप-
रार्थं त्वाप्नोति परमिति । तज्जानोतिरन्वुत इत्यनेन, परमिति तु सर्वान् कामान् इत्यादिना ।
केवलानां कामानां ज्ञेयब्रह्मणः सकाशात् परत्वस्य वक्तुमशक्यत्वेन ब्रह्मसहितात्मानमेव
तवात्वात् । तथास्य ज्ञेयाद्विज्ञानं तु शब्दान्तरादेव सिद्धमिति । ततः परत्वं द्वितीयोक्तं
फलत्वं च विभक्तभेदेन सन्दिग्धत्वाद्दुपपादनीयम् । तत्र कार्यलक्षणे स्वरूपलक्षणे च
विशेषाभावे सन्देहसातुदायत्रापि कथिद्विशेषोऽभिप्रेत इति ज्ञायते । तत्र कार्यलक्षणे तु

सृष्टीच्छायाशगत्वाभाव एव विशेष इति बोधनाय सृष्टौ कर्तृत्वमनुक्तवा हेतुत्वमात्रमुच्यते ।
 व्यापारादिवत्त्वं स्वाकाशादीनां पुरुषान्तानाम् । संभूत इति क्रियाया एव सर्वानन्वयात् ।
 अतः परं स्वरूपलक्षणं वक्तव्यम् । तत्र निरवधिमादिदानन्दरूपत्वस्योभयत्र तौल्येऽपि
 फलत्वस्यानन्द एव पर्यवसानं 'भूमेव सुखं'मित्यत्र सिद्धमित्यत्रापि 'को ह्येवान्या'
 दित्यादिनाभ्यामादा स्तुयते । तथाचमयादिभ्य आन्तरत्वकथनेनापि 'भोश्रवा एव
 पशुनोऽप्ये त्वपशव' इतिवदन्नेत्यानन्तरत्वात्प्रधानात् स्तुयते । तथा भोगोपासनाफलानां
 विवक्षितानन्दोपेक्षया न्यूनत्वबोधनादपि स्तुयते, इत्येवं सर्वैः प्रकारैः स्तुत्या फलत्वमु-
 पपाद्य, ज्ञेयानन्दोपेक्षया विशेषं बोधयित्त्वानन्दमीमांसायां प्रश्नान्तरं बोधयित्वा, ततः परस्यानन्दस्य
 ब्रह्मानन्दोपेक्षया विशेषं बोधनाय 'यतो वाच' इति श्लोकेन बाह्यमनसोरभोचरत्वं तस्याह । एवं
 लक्षणद्वयेऽपि विशेषबोधनेन तस्य परत्वं परमफलत्वं चोपपादितम् । तथा कार्यनिरूपणे
 योऽन्तिमः पुरुष उक्तस्तस्य शिरःपाण्यादिकं यदिदमा परामुदं तदानन्दमपस्य पुरुषत्वेन
 अन्येऽपि पुरुषविधत्वायानन्दस्य स्तुत्यर्थमेव । तथाहि । लोके ह्यन्तर्भूतं बहिर्विहितं च
 तदाकारं भवति । तत्रान्तर्भूतस्य तदाकारता मृषानिपिक्तप्रतिमादौ दृष्टा । बहिर्विहित-
 तस्य तदाकारता तुपदेहे सीवितवसनादौ च । प्रकृतं योषात् पुरुष उक्तः सोऽन्नरसमयः ।
 देहस्य रेतोजन्यत्वात् । रेतसभाश्ररसत्वात् । तत्र मृषानिपिक्तप्रतिमान्यायाद्वीकारेऽपि
 तदन्तर्वर्तिनं आकारस्य मधुस्यनिमित्तप्रतिमोपरि संवेद्येन शुष्काया सृष्टौ मृषात्सिद्धया
 आन्तरमधुस्याकाराधीनत्वादिदितिन्यायस्यैव सिद्धेयं यादृशश्चित्साधयित्वा तेनान्तराकारा-
 द्भीकारेऽपि 'नैनैव पूर्णः', स वा एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधताम्, अन्यं पुरुष-
 विधः, तस्य प्राण एव शिर' इत्याकारकवाक्ये तु 'नैनैव' इत्यत्र तच्छब्देन प्रकृतपुरामर्थः ।
 मध्ये 'स वा एषः', तस्य पुरुषविधतामित्यत्र पूर्णस्यैव, इतन्तस्य प्राण एव शिर इत्यादौ
 पुनः प्रकृतस्यैव परामर्थे इति प्रकान्तत्यागदोषाच्च । अतस्तदुभयरहितो बहिर्विहितपक्ष
 एव साधीयान् । तथा सति सर्वत्र पुरुषाकारसम्पणं सर्वान्तरस्यानन्दमपस्यैव कारण-
 त्वाद्विदमा शिरःपाण्यादिपरामर्शोऽपि तस्त्वत्यर्थ एव । एवं पक्षित्वेन कल्पनमपि तस्य
 स्तुतावेव पर्यवस्यति । तथाहि । उक्तमत्र 'सोऽन्तु' इत्यनेन जीवः फलाशने कर्तृत्वेन
 व्यपदिष्टत्वात्प्रवृत्तः स्रुत्यः । स च 'द्रा सुपर्णा' इति श्रुत्या, 'एवं स मानसो हंसो हंसेनेव
 प्रबोधित' इति स्मृत्या च वस्तुतो हंसाकारः । शाश्वं तु पुष्पाधिकारेण प्रवृत्तमिति जीवं
 प्रति तदप्रवृत्तो तस्य ब्रह्मविद्यायभावेन वेदानादिकस्याप्यभावाच्छब्दवैयर्थ्यं स्वादिति
 फलार्थं शाश्वसार्थकार्यं च जीवस्य पुरुषरूपभावव्यक्तम् । किञ्च । समतां सत्तां फलाशु-
 भवदोषोऽप्याह 'न तत्सम' इति श्रुत्या ब्रह्मममताया निषेधात् फलाशुभवानर्थ समतायै
 ब्रह्मणोऽपि पुरुषरूपभावव्यक्तम् । अतः पुरुषरूप एव भगवान् । 'य आत्मनि तिष्ठ'शि-
 त्यादिश्रुतेर्थादा हंसरूपेण जीवान्तरादिकं तु पुरुषरूपेणानन्तरितत्वात्तदा तद्वेदानेन पुरुष-

रूपो जीवः सर्वं लौकिकालौकिकफलमुभवति । परमात्मा च हंसेऽन्तर्भूतो हंसाकारश्च
 सन् फलमुभावयतीति श्रुतिरपि तं हंसरूपेण प्रयोवेद्योत्तरं वर्णयति । तथाच स्वयमति-
 महानपि जीवस्य फलभोजनायमेवं करोतीति भक्तवात्मन्यबोधकत्वात् स्तुतो पर्यवस्यति ।
 नच यथेवं स्यात् तदा अन्तर्मप्य एव तथा वक्तव्यं स्यान्नानमयादिष्वपि, प्रयोजनमा-
 वादिति वाच्यम् । अत्र प्राणमयादीनां चतुर्णां व्याख्याने 'तस्यैव एव शरीर आत्मै'ति
 कथनादेकस्यैव भोक्तृरुत्स्रयादीनां प्राण्यानां पञ्चानां फलानां स्वशरीरतया भोग्यत्वस्य च
 विवक्षितत्वेन तदुद्बोधनस्यैव प्रयोजनतया पञ्चस्यापि तथा कथनस्य युक्तत्वात् । नचैवं
 सति पञ्चानां कोशलत्वमेव सिद्धमित्य शङ्क्यम् । 'असालोकात् प्रेत्ये'ति कथनस्य विरोधात् ।
 न चोक्तवाक्ये स्थूलशरीरत्याग एव विवक्षित इति शरीरान्तरमादाय तेषां कोशलत्वं न
 विरोधावहमिति वाच्यम् । तथा सति ब्रह्मकारणशरीरोपेत्यागाभावेन प्राणमयाद्युपसं-
 क्रमणश्रुतिविरोधापत्तेः । नचैवं भेदेऽपि शरीरत्वेनैव भोग्यत्वे कोशेभ्यः सकाशात् को
 विशेष इति शङ्क्यम् । 'अन्तर्मपस्यमानान्तमुपसंक्रामती'त्यादिवाक्योक्त्यात्मत्वरूप-
 स्यैव विशेषस्य तेषु सत्त्वात् । लौकिकानां कार्यत्वेनान्तमुपसंक्रामतीत्यादिवाक्योक्त्यात्मत्व-
 रूपाणां तौल्यात्मपदयोगेन व्यापकत्वस्यापि विशेषत्वात् । कार्याणां प्रत्यात्मं मिश्रत्वेन
 परिच्छिन्नत्वात् । नच भोक्तृत्वस्यैवैवं शरीरत्वेन भोग्यत्वस्य च विवक्षितत्व इदं वाच्य-
 मन्वयमपि वक्तव्यम्, तत् कृतो नोच्छ्वेद इति शङ्क्यम् । अथमयकोशे एकालमभोग्य-
 त्वस्य शरीरत्वस्य चाप्यश्रित्तत्वेन तत्त्वत्वे विभित्त्वेऽन्तर्भवेपि तयात्वस्यान्दिष्यत्वात् ।
 न चैवं सत्यन्वेष्येपि तत्त्वतोऽशरीरत्वेन तथात्वस्य शक्यज्ञानत्वात् तत्रापि नोच्येतेति श-
 ङ्क्यम् । अन्तर्मपस्यमानान्तमुपसंक्रामतीत्येव सर्वत्रादिदेष्यत्वेन तद्वाट्यार्थे तत्र तत्त्वथनस्या-
 वश्यकत्वात् । एवञ्चान्तमयकोशे पञ्चावयवकत्वस्याप्यश्रित्तत्वाद्ब्रह्ममयविभूतावपि
 तथात्वमसन्दिग्धमिति बोधयितुमिदप्रयोगाद्देश्यत्वेन प्रदर्शयति । कोशात् तस्य
 मिश्रत्वज्ञानान्यायान्तमयब्रह्मोपासनायां सर्वान्तरात्वात् वाद्यं लौकिकं भोगरूपं फलं च बोध-
 यति । अन्तमयादान्तरः प्राणः, सोऽन्न प्राणादिविद्युत्प्रवृत्तिकः, पञ्चबुक्तिकाभियतद्वदा-
 दिदेशवर्तिनः कोशरूपादिब्रह्म इति ज्ञाननाय तत्सञ्चाराध्यात्मकायां तदात्मत्वेन पृथिवीं
 च प्रतिष्ठादिरूपत्वेन वदति । तदुपासनया फलाशुभयार्थं फलं च वदति । इदं च
 रूपद्वयं लौकिकस्य मनोमात्रेन्द्रियप्राणव्यापारान्तकस्य ब्राह्मण्यन्तरभेदेन द्विविधस्य
 यथायथं सिद्धार्थम् । ततो लौकिकव्यवहारेण यथःप्रभृतिभिः सामर्थ्यं जाते वैदिकका-
 र्याथं प्रवर्तत इति वैदिको व्यवहारस्तदन्तरभावी । तस्य च लौकिकाऽद्देशे देवतावि-
 प्रहाधिकरणे व्यवस्थाप्यः । तस्य व्यवहारस्य सिध्यर्थं मनोमयः पुरुषो वैदात्मकः ।
 वेदस्य मनोमयत्वं 'स एष जीवो विवरप्रभृति'रित्यत्रैकादशस्कन्धे भगवतोक्तम् ।
 तस्य कोशाद्भेदः स्फुट एव । तदुपासनया ब्रह्मानन्दज्ञानात् सर्वदा भयभावावरूपेण
 फलेन च । एतदप्येषु क्रगादयः स्फुटाः । आदेशोऽर्थवादसहितानि कर्मविधा-

यकानि वाक्यानि । अथवाङ्मिसे प्रतिष्ठान्तं तु चातुर्होत्रविधाने ब्रह्मणः कृताकृत्यावेक्ष-
कत्वेन तत्कर्मणोऽप्यर्थसिद्धस्य कर्मस्यैवसम्पादकत्वात् । शान्त्यादिरूपशेषकर्मबोधकत्वात्
पुच्छत्वं च बोधितम् । तदनु वैदिकव्यवहारेण नानाविधयागादिसाधनकृतोः फलं
विज्ञानमयः । तस्यावयवेषु पञ्चाग्निविधायौ चतुर्वर्षीयाभूतान्तोऽनुयायापापः पुरुषवचसो भूत्वा
समुत्थाय वदन्तीति प्रस्तादः, निरूपणभागे च प्रथमाहृतौ 'देवाः श्रद्धां जुहतीति श्राव-
णाच्च श्रद्धारूपा आपो मुख्या इति सा एव शिरः । अयमर्थस्तृतीयोऽप्याये रहत्यधिकरणे
विस्तरेण वक्ष्यत इति नास्य काल्पनिकत्वम् । ऋतसत्यशुद्धवाच्यो तु प्रमीयमानाणु-
ग्रीयमानावासाध्याको धर्मो । योगस्तु चिन्तानिरोधरूपत्वेन मुख्यत्वादात्मा । महलोकस्या-
धोभागत्वं तु पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहस्य तनोर्वाकृतंमूल्यभावात् । एतस्यापि कोशाद्भेदः
स्फुट एव । एतस्य ज्ञाने तस्मात् प्रमादाभावे च सति पापनाशपूर्वकसर्वकामातिरूपफलं
च । एतेषामुपासनादिकथनं तु यथोक्तरीत्यादेवकृतैः क्रमेण मुक्तिरिति ज्ञापनार्थम् ।
अत एव तुरीयस्य फलकथने मध्ये प्रमादाभावो निवृत्तेः । प्रमादे सत्ये ब्रह्मज्ञानं
न भवतीति । एतादृशस्य ज्ञानप्राप्त्या ब्रह्मविद आनन्दमयः फलम् । तत्स्वरूपं
सङ्गतारूपत्वाभावादिकमिति धर्मभेदेनैव शिरःपाण्यादिकं निरूप्यते । यथा 'प्राणश्चैव
प्राणो भवति, यदनु वागित्यत्र कार्यभेदेन व्यपदेशभेदः, तथात्र धर्मभेदान्नयवभेद
इति ज्ञापनाय । तत्र मुख्यास्मत्त्वेन निरुपाधिर्भूतिविषयत्वं यो धर्मस्तदेव शिरः । अय-
रितिष्ठितपरिनिष्ठितवानन्दतिशयो धर्मो मोदप्रमोदौ । तौ दक्षिणोचरौ पक्षौ । आन-
न्दस्तु श्रुतम् । ज्ञेयतया साधनशेषत्वात् साधनभूतं यदक्षरं ब्रह्म तत् पुच्छम् । धामा-
दिरूपत्वात्तदेव प्रतिष्ठा, 'स्वे महिन्नि प्रतिष्ठित' इति श्रुत्यन्तरात् । एतेन च मन्त्रे द्विती-
यान्तेन कामपदेनोक्तं एत एव धर्मोः, आनन्दमयस्तु विपश्चिद् ब्रह्म । धर्मधर्मिणोः
प्रकाशाश्रयवद्भेदेऽप्यभेदादेतादृशमेव मन्त्रव्याख्येयवाक्योक्तं परमिति बोधितम् ।

तावतापि तस्य विविधज्ञानवचं लक्षणोक्तं सन्निवेश्यैव च सम्यक् नावगम्यत
इति तत्त्वमसिधो ग्रन्थः । तत्र सर्वशवेनैष्टयज्ञापनाय 'असवेव स भवतीति श्लोकः ।
'तदप्येष श्लोको भवतीत्यत्र तदित्यनेन पूर्वश्लोकेष्वन्नमयादिवदन्तानन्दमयत्वेन लक्ष्य-
करणात् । 'तस्यैव एव शारीर आत्मै'ति भोक्तारं परामृशतीति प्रागेवोक्तम् । द्वितीय-
वर्णके त्वस्यापि वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वम् । तथा सति 'सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ती'त्यादिवाक्येषु
साधकत्वेन भोक्तृत्वेन जीवस्यैवोक्तत्वादर्थादेव सर्वत्र तदैक्यलाभः । मध्ये भोग्यत्वे-
नानन्दमयविभूतिलाभश्च 'तद्धितोऽविभवस्यः सम्बन्धा'दिति न्यायेन बोध्यः । सोऽप्यत्र
साधनभूतस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठालक्षणनेन बोधितः । 'यदक्षरे परमे प्रजा' इति श्रुत्यन्तरे
तत्रत्यानां ब्रह्मात्मकत्वश्रावणात् । अतो न किमप्यनुपपन्नम् । साधकांश्चे त्वयं श्लोकः
सन्निधायार्थः । किमयमब्रह्म सचानिषेधकः ? उत परमाग्निनिषेधकः ? किं वा किञ्चि-
ज्ज्ञस्य प्राप्तिनिषेधकः ? उत सर्वज्ञस्य प्राप्तिबोधक इत्यभिप्रायेण 'अयातोऽनुपपन्न' इति

प्रश्ने बहुवचनम् । 'कश्चन गच्छती'त्यत्र चोपयर्थे । एवं साधकस्वरूपस्य तस्य फलप्राप्तेश्च
सन्देहेन प्रश्ने, साधकस्य सर्वज्ञत्वं तदेव, यदा विपश्चिदं सन्निदानन्दात्मकत्वं च ब्रह्मणः
सम्पद्येति, नो चेत् किञ्चिज्ज्ञत्वमेवेति वचनं 'मोऽकामयते'त्यादिना स्रष्टृत्वादिकमाह ।
ततः सृष्टिस्वरूपं निष्कृष्टु'मासेद'ति द्वितीये श्लोके सृष्टयन्तरमाह । तद्व्याख्यानने ब्रह्मणः
सम्पादित्वं चाह । ताभ्यां ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं चिदंशवेष्टित्यर्थं च बोधितम् । ततो 'यदा
खेवच' इत्यादिना पूर्वोक्तरीत्या सर्वज्ञस्य परप्राप्तिपूर्वं नित्यं फलम्, किञ्चिज्ज्ञस्य यदभा-
वम् । ज्ञानानन्तरमपि मननाभावे किञ्चिज्ज्ञत्वमेव, न सर्वज्ञतेति बोधितम् । ततो 'भी-
पास्मा'दिति श्लोके वागोचरं ब्रह्ममाहात्म्यमुक्तम् । आनन्दमीमांसायां च ब्रह्मानन्दस्य
सर्वोपशयोत्कर्षा बोधितः । इदं सर्वं ज्ञेयंऽप्यस्तीति ततोऽप्युत्कर्षस्य बोधनाय 'यतो
वाच' इति श्लोकेनावाच्यमनसोचरानन्दतामकत्वं ब्रह्मण उक्तम् । तेन ज्ञेयस्य गणिता-
नन्दत्वम्, परस्य स्वबाह्यमनसगोचरानन्दत्वमित्यश्रुतात्तन्मत्वमिति बोधितम् । ततो
विदुषः परप्राप्तिपूर्वकज्ञापनेन प्रश्नोचरं पुरायितु 'मेतं ह वाच न तपती'त्याद्युक्तम् ।
तस्मात् सर्वस्मिन् प्रपाठके मान्त्रवर्णिकमेव प्रतीयते । अतो मुख्योपपत्तेर्विद्यमानत्वेना-
नन्दमयः परमात्मैवेति सिद्धम् । चकारस्य सूत्रमध्ये प्रयोगो विधिमुख्यविचारेणाधिकर-
णपूर्तिद्योतकः । अयमर्थः श्रीभागवते वेदस्तुतो 'पुरुषविद्योऽन्वयोऽन्न चरमोऽन्नमयादिपु
य' इत्यनेनोपहृंहितः । 'अन्नमयादिपु चरम आनन्दमयो भवत्वानि'ति ॥ १४ ॥

निषेधमुख्येन चतुःसूत्र्येदमधिकरणं पुनर्विचार्यते, सुदृढत्वाय । नच सन्देहानां
विचारितत्वाच्छैविश्याभावे दाढयेत्यावधिे सिद्धत्वात् किमर्थं पुनर्विचारः कृत इति
शङ्कयम् । आनन्दमये साधितस्य फलत्वस्यैव सन्देहजनकत्वात् । पूर्वतन्त्रे 'फलं पुरुषा-
र्थत्वादिति सूत्रेण फलस्य पुरुषशेषत्वबोधनात् । आनन्दमयेऽपि 'तस्यैव एव शारीर आ-
त्मै'त्यनेन भोक्तृत्वकथनवाक्येनानन्दमये भोग्यताया एव दृढीकरणात् । नच मन्त्रवर्णवि-
रोधः । सः ब्रह्मविद् सर्वान् कामानश्नुते, विपश्चिता ब्रह्मणा सहानन्दमयो भवतीत्य-
र्थोक्तौ तदभावात् । अतः प्रपाठक एतदनुगुणतया नेतव्यः, पूर्वोक्तरीत्या वेति सन्देहे,
आद्य एव पक्षो युक्तः । पूर्वान्शानुपपन्नरूपक्याधिक्यादिति प्राप्ते आह ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥

नेतरः । इतरो जीव उक्तरीत्या फलत्वमात्रेणानन्दमयो न वक्तुं शक्यः । कुतः ?
अनुपपत्तेः । अत्र जगत्करणादिभिः कार्यैर्महामाहात्म्यमानन्दमये ब्रह्मणि प्रतिपाद्यते ।
जीवस्यानन्दमयत्वे सति तस्यापि स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वं चकव्यम् । तथा सत्यलौकि-
कमाहात्म्यस्यान्यागामित्वेन ब्रह्मालौकिकमाहात्म्यबोधकश्रुत्यनुपपत्तेः । एवं स्वात-
न्त्र्येण साम्ये 'न तत्सम' इत्यस्या अप्यनुपपत्तिः । अतो जीवो नानन्दमय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥

इतोपि न जीव आनन्दमयः । 'रसः श्लेषायां लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतौ रसरूपानन्दस्य लब्धव्यत्वेन, आनन्दिनो जीवस्य लब्धत्वेन भेदो व्यपदिश्यते । यदि जीव आनन्दमयः स्यात्, तदा लब्धव्यत्वाद्भेदेन न व्यपदिश्येत । अतो भेदव्यपदेशादपि तथेत्यर्थः । न 'चात्मलामात्र परं विद्यते' इति श्रुत्यन्तरे स्वरूपव्येऽपि लब्धुलब्धव्यव्यपदेशदर्शनेनास्य व्यपदेशस्य न भेदगमकत्वमिति शङ्क्यम् । 'एष श्लेषानन्दयाती'त्यग्निमवाक्ये आनन्दनीयानन्दकत्वेन भेदनिर्देशाजीवब्रह्मभेदे सिद्धे आनन्दीत्यस्मापि निर्देशस्य भेदोपोद्बलकत्वे बाधकामावात् । आत्मलामश्रुतावपि न जीवस्वरूपलभमस्तात्पर्यविषयः, किन्तु परमात्मलभ एव । तत्र सनस्कृतांगेन नारदं प्रति श्रूयन् एवामात्मलभकृत्यातत्वादिति । एवं सूत्रद्वयेन जीवस्यानन्दमयत्वं निराकृतमिति बोधनाय चकारः ॥१६॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥

तर्हि जड एवानन्दमयो भवतु । तादृशमाहात्म्यस्यान्यैर्जडेऽप्यङ्गीकारादिति चेत् । स किं कार्यरूपः, कारणरूपो वा । नाद्यः । आन्तरत्वेन श्रावणात् । कार्यस्य कारणाद् बहिर्भाव एव कारणाद्ब्रह्मत्वावगमनान्तरं तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अतः कारणरूपो वक्तव्यः । स स्वमते तु नास्त्येव । ईश्वर्यधिकरणे निराकृतत्वात् । सांख्यदिमते तु प्रकृतिर्भवेति । सात्र प्रकरणभेदोपगमेनाङ्गीकार्यो । अथवा 'तस्य भियमेवै'ति कल्पनावान्क्यान्यथानुपपत्त्या सत्त्वपरिणामरूपाङ्गीकार्या । उभयथापि सातुमानापेक्षा, न तु शब्दगोचरेत्यतो नोपपद्यते । कुतः ? कामात् । चकारेण तपसः । उभयोरपि चेतनधर्मत्वात् । आनन्दमयवाक्यनिरूपणानन्तरं श्रूयते 'सोऽकामयते'ति 'स तपोऽज्यप्यते'त्यादि । तथाचानन्दमयवाक्यश्रवणानन्तरम्, आनन्दमयपदोक्तः प्रकृतिः, सुखधर्मकत्वात् । सांख्यसिद्धमूलकारणत्वं । अथवा, सत्त्वपरिणामः । आनन्दविकारत्वात् । लौकिकसुखवदिति यावदनुमीयते, ततः पूर्वमेव कामादिश्रवणात् तत् प्रतिहन्यत इति ॥१७॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥

इतश्च न जड आनन्दमयः । अस्मिन्नानन्दमये अस्य जीवस्य तद्योगं तेनानन्दमयेन रूपेण योगं शास्ति । 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती'ति वाक्ये फलत्वेन वदतीति । न हि जीवस्य जडापत्तिर्भूतिकत्वेन वक्तुं युक्तम् । संसारापादकत्वात् । तथाच यथा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माभ्येती'ति वाक्ये ब्रह्मभावापत्तौ ब्रह्मणि लय उच्यते, तथाचानन्दमयत्वं आनन्दमयावाप्तिरिति फलबलादपि वाक्यतात्पर्यं प्रपञ्चयेव सिध्यतीति जीवाज्जडाच्च निवृत्ते वाक्ये पारिशेष्याद् ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इति पञ्चममानन्दमयाधिकरणम् ॥ ५ ॥

पूर्वाधिकरणविषयवाक्ये 'ब्रह्मविदानोति परं'मित्युपक्रम्य, आनन्दमयस्य फलत्वमुक्त्वा, अत्र, 'स यश्चायं पुरुषे यथासातादित्ये स एकः, स य एवंवि'दिति साधनोक्तिपूर्वकं

श्रीब्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रकृता ।

क्रमेण तत्फलमुच्यते । तद्यदादित्यन्तः पुरुषान्तश्च वर्तमानस्य स्वरूपं ब्रह्मत्वेन न विचार्यते, तदा 'तत्त्वेव मयं विदुवोऽम्बानस्ये'त्यविचारकस्य मयश्रावणात् फलं न भवतीति तत् सर्वथा विचारणीयम्, अतो हेतुतामर्षेण प्रसङ्गेन इदमधिकरणमारभ्यते । तत्स्वरूपं च छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यमभ्रहिरण्यकेशः आप्रणस्तात् सर्वः सुवर्णः, तस्य यथा कृपायां पुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्योदिति नाम, स एव सर्वेभ्यः पापभ्य उदितः, उदेति ह वै सर्वेभ्यः पापभ्यो य एवं वेद, तस्यच्चं नाम च गेष्णोः, स एव य चागुम्मात् पराश्वो लोकास्तेषां वेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् । अथ य एषोऽन्तरादित्ये पुरुषो दृश्यते, सैवर्षत्ताम तदुक्वं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदगुम्भ्य रूपं यावदगुम्भ्य गेष्णोः तौ गेष्यौ यन्नाम तन्नाम यः स एव, ये चैतस्वादवाञ्छो लोकास्तेषां वेष्टे मनुष्यकामानां चैति, तद्य इमे वीणायां गायत्येते ते गायन्तीत्यादि ।

तत्र संशयः । किमधिष्ठाददेवताशरीरमत्रोच्यते ? उत ब्रह्मेति ? ब्रह्मणो वा शरीरमिति ? संशयबीजं तु हिरण्यशब्दः । विकारप्रत्ययस्य भ्रमोत्पादकत्वात् । तत्र हिरण्यशब्दो विकारवाची । केशनखादयश्च शरीरधर्माः । 'मृता वा एषा त्वगमेभ्या यत्केशमशु' इत्यशुद्धसम्बन्धः शरीरमन्तरेण नोपपद्यते । अधिष्ठानकृतः पत्तिकेह आधिदैविकादिवचनं च व्यापकत्वविरोधाद् ब्रह्मत्वस्य बाधकम् । दृश्यते इत्यनेनोक्तं बाधुपत्वमपि तथा । 'यत्तद्दृश्यमग्राह'मिति श्रुतिविरुद्धत्वात् । इन्द्रियवत्त्वं च तथा । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति श्रुतिविरोधात् । कृपासमिति केषारासनमारक्तं भवतीत्यसम्भ्यतुष्यता च तथा । अतो देहेन्द्रिययोर्विद्यमानत्वात् कोपि जीवोऽधिकमनी स्यैमण्डलान्तःस्थोत्रोच्यते । नच तत्कथनस्य प्रयोजनाभावः शङ्क्यः । 'ब्रह्मण सह सुच्यन्' इतिवदधिकारिसायुष्ये तदधिकारसमाप्त्यनन्तरं तेन सहास्यं हृत्किं बोधवित्तं तत्कथयनात् । अथापहतपाप्मत्वं जीवस्य न सम्भवतीति पूर्वोक्तं नाङ्गीक्रियते, तदापि परिच्छिन्नत्वादीनां दोषाणां विद्यमानत्वं तस्य ब्रह्मशरीरत्वमस्तु । तस्य कर्मजन्मत्वाभावाद्दच्छिकलीलाशरीरत्वाद्दृश्यतयाप्यमत्वं सुवर्णमयत्वं चोपपन्नतरम् । शरीरवदिरुद्धया लीलायामिन्द्रियपतिश्रद्धोऽपि युज्यते । वर्णमात्रसाम्याच्चासम्भ्यतुष्यत्वात् । अल्लुक्षेण इत्यस्मादधिकरणे यत्र कृते अस्यते प्राप्सोऽस्मिभित्वास्य आस्यं कपेऽल्लुक्षमिति तदुच्यता वेति न दोषः । किञ्च, अत्र कृपायामिति पुण्डरीकस्य विशेषणम्, नास्म्योः, अतोऽपि तथा । एवमपि कथनं सर्वस्य ब्रह्मभावाय श्रुतिवैदतीति ब्रह्मण एषेदं शरीरमिति प्राप्ते । अमिधीयते ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥

अन्तर्दृश्यमानः परमात्मेव । कुतः ? तद्धर्मोपदेशात् । तस्य ब्रह्मणो धर्मा उदित्यादौऽत्रोपदिश्यन्ते, 'स एव सर्वेभ्यः पापभ्य उदित' इति, तस्मात् । नन्वहत्वपा-

प्राप्तं स्वाध्याये आसन्धे च श्रूयते, देवानां च, न ह वै देवानां पापं गच्छतीति, तत्कथं तस्य ब्रह्मासाधारणत्वमिति चेत्, न । तस्येतन्नाममात्रसाम्भेदोऽपि स्वरूपतो भिन्नत्वात् । स्वाध्यायो देवप्रवित्रमिति, 'य एवंविदो पापं कामयत' इति, तत्र तत्र लिङ्गेन स्वाध्यायादिर्ना तस्य पापनाशरूपतया, अत्र तु 'अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाशये' इति श्रीभागवतवाक्ये कर्ममात्राञ्जनराहित्यरूपतयोक्तत्वेन तथावसायात् । न च पुण्यकर्माञ्जने को दोष इति शक्यम् । 'कर्मणां जातयशुद्धानां' मिति भगवद्वाक्येन कर्ममात्रस्याशुद्धत्वनिश्चयात् । सुष्ठुपूर्णां पुण्यफलान्दारेणोपापि तथा निश्चायाच्च नन्वेवं नामसाम्भेदोऽपि कथं स्वरूपभेद इति चेत्, उच्यते । ब्रह्म कारणम्, जगत्कार्यमिति पूर्वाधिकरणे निर्णीतम् । तत्र कार्यासाधारणधर्मो यथा न कारणे गच्छन्ति, तथा कारणासाधारणधर्मो अपि कार्ये । इह हि लोके दृष्टम् । न हि घटपटादेः प्रावरकत्वजलहाकत्वादिस्तन्मुत्पिण्डयोर्दृश्यते, न वा पटघटजनकत्वं कारणगतं पटे घटे वेति । एवमंशुधर्मो अयंशे । न हि 'सोऽकामयतेत्यादिनोक्तः कामादिर्जीवधर्म इति, अतोऽसाधारण्यदेव स्वरूपभेद इति नामसाम्यमात्रं न तदवाधकम् । नचैवं नामसाम्भेदो सिद्धेऽत्र जीवधर्मग्रहणमेवास्तु, ब्रह्ममोक्षे कौ वीजमिति शक्यम् । कारणधर्मोणां बलिष्ठत्वात् । उक्तरूपोपासनया जीधेऽपि तथाभवनभावणेन तथावसायादिति । अन्यथा तत्र बदेत् । अतस्तस्याः कथनेऽप्येतज्ज्ञापनमेव प्रयोजनम् । अतः सर्वसादयोऽपि ब्रह्मस्वरूपनिष्ठा एव धर्मोः । ये पुनरस्फुलादिवाक्ये नियोजिते, ते तु लौकिकाः कार्यधर्मो एव । तेन 'अणोरणीया'नित्यादौ कारणधर्मो एव । तेनेदं सिद्धम् । यदंकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् सान्द्रयान् धर्मो ब्रह्मधर्मत्वेनैव गमयति । अन्यथा तस्यान्यगामित्वे असाधारण्यं भवेत् । इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वैवाधिकरणसूत्रेषु ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह सूत्रकारः । अन्यथा आदित्यन्तरद्वन्द्वेनैव ब्रह्माधिकरणं विशिष्यात् । तेनेदं सिद्धम् । यत्र निश्चितं कार्यत्वे तस्य कारणाभेदेन स्तुतिः क्रियते, यथेन्द्रप्रतदनसंबाद इन्द्रेण स्वस्य, तत्र नैवं रीतिः । तद्व्यतिरिक्तस्थले स्वैवमेवावगन्तव्यमिति । न चैवं परिच्छिन्नेषु नानास्यानेषु नानापरिमाणेन स्थितौ ब्रह्मणोऽनेकत्वापत्त्या 'एकमेवाद्वितीयं'मित्यादि श्रुतिविरोधः शक्यः । सर्वे ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति लक्षणवाक्ये अनन्तत्वेन ब्रह्मणोऽनन्तमूर्तिताया अपि प्रतिज्ञातत्वात् । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति श्रुत्यन्तरेऽप्युक्तत्वात् । अनन्तमूर्तिताभावे ब्रह्मणो व्यापकतया सर्वस्य तदन्तःस्थत्वेन 'निर्दिष्टं गुहाया'मिति हृदयाकाशनिधानोक्तिविरोधापाताच्च । तस्माद् ब्रह्मणो व्यापकत्वेनैकत्वेऽप्यनन्तमूर्तिवत्त्वेन साकारत्वादेदकेष्वेवात्वाच्च यादृशं यद्वाक्ये यत्र स्थानो व्यापकत्वे, तादृशं तत्र तद् ब्रह्मेति मन्तव्यमिति सिद्धम् । ननु किमित्येवं ब्रह्मस्वरूपस्य निर्वन्धेन साकारत्वं निरूप्यते । सायकानुग्रहायै निर्दुष्टलीलाविग्रहाङ्गीकारपक्षस्याप्यदुष्टत्वादिति चेत् । उच्यते । तच्छरीरे केन कृतम् । ईश्वरणाग्नयेन वा, नित्यं वा

तत्र द्वितीयस्यामङ्गतत्वाद्यद्येवादत्तव्यम् । तथा सति तादृशस्यातिसमर्थस्य का वा अनुपपत्त्येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत्, किन्तु लीलाया व्यामोहनार्थं नटवदन्यथा प्रदर्शयेत् । 'यया मस्यादिरूपाणि जले छायाया नट'इति श्रीभागवते नटदृष्टान्तयोक्तत्वात् । अतः शुद्धसत्त्वात्मकं वा, प्राकृतं वा, मायिकं वा, यन्मूलरूपेऽप्यनीयं तदपङ्क्तमेव । अथ नित्यम्, तथादि सच्चिदानन्दात्मकम्, तदा तु ब्रह्मेन, अचिदात्मके तु तादृशकारां प्रलययोधकसौवालयाक्येभ्यो विरुध्यत इति, तदप्यसंगतम् । तस्मात् पुराणादिविषयि यत्रोपपत्तिपूर्वकं ब्रह्मधर्मो उच्यते, तत्र ब्रह्मेवेति मन्तव्यम् । ब्रह्मणो वैदेकमवधिगतत्वात् । श्रीमोसायाथ तदर्थनिर्णयार्थत्वाच्चान्नायानामन्त्रत्राप्यतिदेषु शक्यत्वमिति । न च हिरण्य इत्यत्र विकारप्रत्यय इति भ्रमित्यम् । हिरण्यशब्दस्य प्रकृतिभूतस्य व्यचत्वात् । यकारलोपस्य छान्दस्तत्वात् । हिरण्यशब्दज्ञानानन्दवाची । यद्यपि लोके तथा न प्रसिद्धः, तथापि लोके हिरण्यस्यानन्दसाधकत्वात् सिद्धे तद्गुणकत्वे, यद् यद्गुणकं, तत् तदात्मकमितिव्याप्तौः समन्वयाधिकरणे साधितत्वात्, कार्यभूतस्यापि तथात्वे कारणभूतस्यानन्दत्वे सन्देहाभावात् तद्बोधके शब्देऽपि तदाचकत्वस्यासन्दिग्धत्वादिति । अतः केशाद्योऽपि सर्वे आनन्दमया एवेति धर्ममण्डलान्तःस्थः परमात्मैव । एवमक्षिप्तियतेऽपि परमात्मत्वं बोध्यम् । 'तस्य तदेव रूपं यद्गुण्य रूपमित्यादिना सर्वशक्येत्कर्मोपदेशाच्च, सर्वकथेषुचित्यादिना तथे इमे वीणायां गायन्तीत्यादिना सावर्त्तम्योपदेशाच्चेति ॥१९॥

भेदव्यपदेशाच्चाण्यः ॥ २० ॥

'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरा, यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमपत्येव त आत्मान्तयोऽन्मृतम्' इति श्रुत्यन्तरे सूर्यमण्डलात्तदमिमानिनः सकाशाच्च भेदेन कथयन्त । न च पूर्वमूर्धो कहेतुनैव सिद्धे ब्रह्मत्वे हेतवन्तरोपन्यासस्य वैयर्थ्यं शक्यनीयम् । तथा सत्येतेनैव निबन्धे अन्तःपरमत्र निधायैकमेव सूत्रं प्रणयेत् । नन्वत्र भेदव्यपदेशमात्रेण कथं परमात्मलाभ इति चेत् । इत्यम् । अन्तर्गामिब्रह्मणे हि जडसजीवाच्च भिन्नत्वेनान्तर्गामी प्रतिपाद्यते । तत्र 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तर' इति जडस्य मण्डलस्य स्थानत्वेन कथनात्ततो भेदः । आन्तरत्वं मण्डलाज्ज्ञेदध्यामिमानिनोऽप्यस्तीति ततोऽपि भेदं वक्तुं 'यमादित्यो न वेदे'त्युक्तम् । तेन मण्डलधर्मैरमिमानिधर्मैश्च न सम्बन्धते । अभिमानी चेत् ज्ञानीयान्मुक्तः स्यात्, अतः सर्वैव्यक्तिपरिहारय स्वधर्मज्ञानादिमिस्तं न योजयति । एवमयमस्माज्ज्ञेद सिद्धेऽपि तत्र स्थितेः किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां 'यस्यादित्यः शरीरं यः आदित्यमन्तरो यमपतीति' इत्यमाह । तथाच जगद्ज्ञानं, दिविभागो, धर्मप्रवृत्तिभेदादिलीलासिद्धयर्थं तच्छरीरम्, तस्य नियमनं च तादृशीलासिद्धयर्थम् । यतो 'मीणास्मा'दित्यादिश्रुत्या सर्वोऽपि भगवतो विभेति । मीथित्व नियमनादिति । किञ्चात्र । पुनरप्यन्तरपदम्, अन्तरयतीत्यन्तर इति

सर्वान्तःस्थापकत्वबोधनार्थम् । एवमत्र चत्वारोऽर्थो उच्यन्ते । तस्माच्च भेदव्यपदेशः सर्वविलक्षणत्वव्यपदेश इति । ततः सुखेन परमात्मलाभ इति । नन्वेवं सत्यत्र हेतुसाध्य-
बोधिप्रयोगः कथनादधिकरणान्तरत्वमेव कुतो नाङ्गीक्रियते । चकारेण पूर्वज्ञोक्तोक्त-
सम्यग्वादिति ब्रूमः । नच साध्यान्तरनिर्देशासङ्गतितः शङ्कया । तस्य 'नेतरोऽनुपपत्ति-
तिवदुपचारव्यावृत्त्यर्थत्वात् । अतो नाधिकरणभेद इति । नन्वत्र पूर्वसूत्रविषयवाक्ये 'य
एवं वेदे'त्युपासनालिङ्गात् तस्या 'वाच्यं वेतुगुणास्तीते'तिवत् कल्पिताकारेणापि सिद्धेः
किमर्थं ब्रह्मस्वरूपाकाराराह इति चेत् । उच्यते । उक्तहेतुभ्यामाचार्येण साधिते ब्रह्मत्वे
उपासनाज्ञानयोश्चभयोरेक्येकविषयत्वेन तुल्यफलत्वबोधनायेति बुध्यस्व । नन्वतस्मिन्स-
द्धर्मानारोप्य तत्त्वेन चिन्तनस्युपासना, तस्य तत्त्वेन निश्चयो ज्ञानमिति स्वरूपभेदात्
कथं तुल्यफलतेति चेत् । इत्यम् । वेदे हि सर्वत्र 'अन्नं ब्रह्मोपासत' इत्यादौ कार्यं कारणध-
र्मारोपेण फलश्रावणात् । लोकेऽपि निष्कृतोत्कृष्टधर्मारोपेण फलदर्शनाद्विपरीते वैपरीत्यद-
र्शनाच्च कारणे कार्यधर्मारोपस्त्वयुक्त एव । कार्यं कारणधर्मारोपस्तु कार्यस्य कारणात्म-
कत्वेन तद्धर्मोधिकरणतया भवति युक्त इति तयोपासना तु यथोक्तफलसाधिका, तस्या-
रोपस्यादुष्टत्वादिति ॥ २० ॥ इति षष्ठमन्तर्द्वयमधिकरणम् ॥ ६ ॥

आकाशस्तलिङ्गात् ॥ २१ ॥

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । 'अस्य लोकस्य का गति'रिति, आकाश इति होवाच ।
सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यावभृशश्रादेव ससृष्ट्यन्त्ये, आकाशे प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो हेवै-
भ्योऽप्युपासन्, आकाशः परायणम्, स एव परोऽनीयान्तुःप्रीतिः स एव अनन्त' इति ।
तत्राकाशशब्दे संशयः । किं लोकप्रसिद्धया भूतकाशो प्राणो ? उत आकाशो वै नमरूप-
योनिर्ब्रह्मा ते यदन्तरा तद ब्रह्म'त्यादिवैदिकप्रसिद्धया ब्रह्म वा श्राव्यमिति । तत्र लोकेऽ-
वगतस्यान्वर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायेन वैदिकपदशक्तिग्रहस्य कोशान्ब-
ह्वादि रूपलौकिकशक्तिग्रहसाधनामीत्यात्, सृष्टिक्रियायां ' तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः समभूत'इत्यादौ भूतकाशोऽपि वैदिकप्रयोगदर्शनात्, ब्रह्मणि तच्छेदकसम्भवेन
तत्र लक्षणया वा योगस्य वा आदरणीयत्वात्तयोश्च शक्यस्येक्षया नैर्ब्रह्मत्वात् भूतकाश
एव ब्रह्म इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु । आकाशः परमात्मैव । कुतः ? तलिङ्गात् ।
लिङ्गं श्रुतिसामर्थ्यम् । अन्यानपेक्षतया स्वरसेनार्थबोधकत्वमिति यावत्, तस्मात् । श्रुति-
लिङ्गादयोऽत्राप्यर्थनियामकत्वेन पूर्वतन्त्रवदात्रिन्त्ये । श्रौतत्वेनोभयोस्तन्त्रयोर्नैकसा-
क्ष्यम् । अयमर्थः । पूर्वाधिकरणेषु 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्यादिवाक्यविचारे
निश्चिजडजीवकारणत्वं ब्रह्मणि सिद्धमितीहापि सर्वपदेन तान्येव सर्वानुगुदिस्य,
'इमानि भूतानि'ति पदयोस्तद्वाक्यसम्बन्धप्रत्यक्षमिज्ञानेन तानि देहविसिद्धजीवतया
महाभूततया च निष्कृष्य तत्कारणत्वमाकाशो बोध्यते । तथा एष्य इत्यनेन ताभ्ये

परामृश्य ततो ज्यैश्वस्त्वं परायणत्वं च बोध्यते । तस्माद् भूतानामत्रो श्रूयते, उदा सर्व-
पदार्थसङ्कोचेन भूतादिपदानामपि तत्सङ्कचेत् । सङ्कोचस्तथैवाकल्प इति सर्वपदसा-
मर्थ्यत्वाधेवापे बहूनां तथात्वम् । तच्चानुवितम् । बहुषु पदेषु दोषप्रसङ्गात् । किञ्च ।
'सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिश्रुत्या सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमवधारितम् । तद्यदि
निरङ्कुशं सर्वजगत्कारणत्वमस्मिन् भूतकाशाशयोच्येत, तदार्थभेदादिप्रागे साक्षात्त्वाना-
वाचास्य वाक्यस्य भेदादुपस्था सर्वस्य भेदस्यैकवाक्यतापि भव्यते । तत्रत्वं सर्वोदमपि
सङ्कचेत् । किञ्चेदं शालावत्त्वेन एतल्लोकगतेः प्रग्ने जैबलिना तदुपपादनायोक्तम् ।
तत्कोपकमादिविचारे सामादिसर्वगतविधौकथयता पयैवस्यति । सर्वगतित्वं च ब्रह्मण एव ।
एवं सर्वोत्कृष्टत्वरूपं परोचरीयस्त्वं त्रितयपरिच्छेदराहित्यरूपमानन्त्यं च तस्मिन्नेव ।
अत उक्तोपपत्तिरूपात्तात्पर्येति लिङ्गादपि परब्रह्मैवाकाशः । नच लक्षणापत्तिः । ब्रह्मणः
सर्वशब्दाव्याच्यत्वस्य समन्वयादिव्यवहार एव साधितत्वादिति । तस्मात् परमात्मैवा-
काश इति सिद्धम् । तत्र 'यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दित्यानन्दमयाधिकरणविषयवा-
क्यगतत्वाकाशशब्दार्थस्य विचारादुपोद्घातरूपाधिकरणसङ्गतितः । एतेन व्योमादिसङ्घटनस्य
'अक्षरो अक्षरे परमे व्योम'भित्यादीन्पि वाक्यानि विचारितानि ॥ २१ ॥ इति तस्मात्
तलिङ्गाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । 'कतमा सा देवता, प्राण इति होवाच, सर्वोऽपि
ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिह्वते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वा-
यचेति । तत्र संशयः । आसन्यो ? ब्रह्म वेति ? पूर्वप्रकृतिसिद्धान्तो तु पूर्ववदेवेत्यतिदि-
शति । अत एवेति । पूर्वोक्तोभयरूपाचलिङ्गादेव प्राणशब्दाच्च ब्रह्मत्वर्थः । नन्वधि-
करणानां न्यायरूपत्वादन्वयत्रापि तत्प्रभूतस्तलिङ्गाधिकरणैव तथा भवन्तात् किमिस्वेत-
स्त्वत्रणयनमिति चेत् । उच्यते । 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तदां हि वाग्वेति प्राणं
चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनो, यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्त' इति श्रुतावेव
स्वापे सर्वभूतसंवेक्षणं मुख्यप्राणपर्यन्त्वेन प्रतिपाद्यत इति प्राणविद्याया यथा न ब्रह्म-
रत्वम्, तथास्यापीति शङ्कानिवारणायास्तान्यक्तत्वात् । नचात्र वागादीनामिन्द्रियाणाह-
कत्वेन भूतानामनुक्तत्वात्प्रास्य प्राणविद्यातुल्यत्रमिति शङ्कयम् । 'दीपश्चक्षुःसा रूपं
ज्योतिषो न प्रथमभेद' इति पुराणवाक्ये इन्द्रियाणां भूतप्राणकत्वस्योक्तत्वेन भूतविश्ले-
षत्वे प्राणविद्यासाधारण्यस्य शक्यशङ्कात्वादिति । एतेन वाधकात्मक एव वाक्यानां
ब्रह्मपरत्वम्, न तु तत्सम्बन्धेऽपीति देवान्तररोपासनात्तुच्छेदाद्येदमपि हरणमिति बोधितम् ।
तेनोपोद्घातोऽत्र सङ्गतितः ॥ २२ ॥ इत्यष्टमन्तर्द्वयमधिकरणम् ॥ ८ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥

छान्दोग्ये पञ्चमपाठके श्रूयते । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विद्यतः श्रेष्ठेषु सर्वतः श्रेष्ठेष्वनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेष्विदं वा व तद्यदिदमन्तःपुरुषे ज्योतिरिति । विश्वतः श्रेष्ठेष्विति, सर्वेषामुपरितनेषु । अथ च विश्वशब्दो न सर्वोत्पत्सह इति ज्ञापनाय तदर्थकं शब्दान्तरं सर्वतः श्रेष्ठेष्विति । अनुत्तमेष्विति । नास्त्येभ्योऽन्य उत्तम इत्यनुत्तमस्तुषु । शेषं स्फुटम् । अत्र सन्देहः । ज्योतिःशब्देन किमत्र प्राकृतं तेज उच्यते, उत ब्रह्मेति । तत्र तावद्भोके तमोविरोधिपदार्थादित्यादेर्ज्योतिःशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धेः, प्रस्तुतवाक्येऽपि 'दीप्यते' इति प्रत्ययलिङ्गेन, तदग्रे च 'तस्यां वा दधि-वैत्रैतदस्मिन्शरीरे संस्पन्दे'नोपिमानं विज्ञानाति तस्यैवा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदपुत्रिवाप्रेज्वलत उपभृगोती'ति जाठस्वाभेलेङ्गेन च तदुभयकारणभूत-तेजःसामान्यस्वात्र गृहीतं शक्यत्वात् । जगत्कर्तृत्वादिरूपब्रह्मधर्मस्यात्रानुपलम्बेन, तदग्रे च 'तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चैत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतश्च भवतीत्यप्यफलकयनेन च ब्रह्मणो गृहीतुमशक्यत्वान्वात्र प्राकृतं तेजःसामान्यमेवोच्यत इति पूर्वं पक्षः । सिद्धान्तस्तु ब्रह्मेवात्रोच्यते । कुतः ? चरणाभिधानात् । 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूषः । पादोऽन्व सर्वो भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिव्यंति पूर्ववाक्ये चरणाभिधानात् । ननु वाक्यान्तरस्यो धर्मः कथं वाक्यान्तरे गृहीतं शक्य इति चेत् । एकवाक्यत्वाद्गृहीतं शक्य इति । तदेव कथमिति चेत् । इत्यम् । अत्र हि 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यद्विदं किञ्चे'ति गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यां प्रकृत्य, 'वाग् वै गायत्री'त्यादिना भूतश्रुतिवीथी-रीरहृदयानि तदभिज्ञत्वेन निरूप्य, चतुष्पादस्य ब्रह्मणस्त्वयोपासनार्थं 'सैषा चतुष्पदे'ति प्रतिज्ञाय, श्रुत्यन्तरे 'चतुर्विंशत्पञ्चरा निपदे'ति धातुनात् कथं चतुष्पदेत्याकांक्षापर्यवैक-कल्प पादस्य पदविधत्वे सर्वाक्षरसामान्यात् चतुष्पदेत्याशयेन पदविधेत्पुक्त्वा, त्रिप-दार्थां पदभ्राराः पादा न कल्पयितुं शक्यन्ते, यतिभङ्गादिदोषादित्याकांक्षायां वाचकभू-ताया गायत्र्या वाच्याभेदमनुसन्धाय, ब्रह्मपादस्तद्विद्यामिथ तस्यास्तयात्वं सम्पाद्यमि-त्याशयेन तदेतद्वाच्यमनुकमित्याह । तत्र पदविधत्वेन चतुष्पादत्वं वक्ष्यमाणयो गाय-त्रीमभिप्रेष्यतीत्यत्र ब्रह्मपादाहं लक्ष्यीकृत्योक्तमित्यर्थः । तदुपादत्वं वक्ष्यमाणयो गाय-त्रिविद्योति । यद्वैतदित्यारभ्य, य एवं वेदेत्वेनेन । तथाच दहरविद्यायां भागेष्वं च यदभिप्रेतं तदेव स्वरूपमत्रापिती बोधितम् । अतः परं पादा विचार्याः । तत्र सर्वभूता-त्मक एकः पादः, स गीतायां 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'इति वाक्याद्विराहदेहविशिष्टजी-वसमाप्तिरूपो भवति । तथाप्यत्र 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति कथनात् स न गृहीतं शक्यः । किन्तु सर्वपदे सङ्कोचं विधाय, भूलोकस्था व्याप्तिजीवा एव पादत्वेन ग्राह्याः । अस्य मन्त्रस्य पुरुषसूक्तोक्तमन्त्रवाजात्यदशनेन तद्व्याख्यानभूतपुराणवाक्योक्तपादाना-मेवात्र ग्राह्यत्वात् । तत्र च 'पादास्तयो बहिःसामन्नप्रजानां य आश्रमाः । अन्तर्बिलो-क्यास्तपरो गृहमेघोऽद्भुद्भवत' इति, 'पादेषु सर्वा भूतानि पुंसः स्थितपदो विदुः ।

ामृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽप्यायि पूर्वेषु'इति वाक्यद्वयात् तद्विचारणे च भूरादिलोक-थानां गृहस्थजीवानाम्, जनस्तपःसत्यलोकस्थानान्दवतामाश्रमान्तरज्जीवानां पूर्वैर्लोकै-र्यथैतद्विशिष्टानां भूरादीनां लोकानां च द्वितीये पादत्वेन सिद्धिः । एवं सिद्धेषु पादेषु त्वां पदविधत्वं विचारणीयम् । तत्रैवम् । अत्र हि पूर्वं भूतश्रुतिवीथीरीरहृदयान्युक्त्वा, अतः पादान् ब्रह्म चोक्तवाग्रे 'तस्य वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवतुषय'इत्यादिना पञ्चपु-रुषां पदेषु ज्योतिष्योक्तम् । तेन भूतश्रुतिवीथीरीराणां न पादत्वम्, नापि तन्मूल्यस्थानत्वम्, किन्तु मूल्यस्थानपरिचायकत्वमेव । हृदयस्य तु 'हृदयन्त्योतिःपुरुष'इत्यादिश्रुत्या जीव-पुरुषस्थानत्वम् । तथा सति भूतश्रुतिवीथीरीरपरिचायितहृदयस्थानां जीवानां पादानां पञ्चभिः स्थानविधाभिः पृष्टेन स्वान्तर्वायिणा ब्रह्मणा ज्योतिषा च पदविधत्त्वमिति सि-ध्यति । तेनात्रैवं प्रकरणेणै सिद्धे मन्त्रब्रह्मणयोः परस्परसाक्षात्कृत्यादयैक्याचैकवाक्यत्वम् । एवं सिद्धे तस्मिन्नात्र चतुर्षु ब्रह्मपादो निरूप्यते इति सिद्धम् । अनर्थेव दिशा पादान्तराथा-मपि पदविधत्त्वम् । तथाच यथा प्रणवविद्यायां ब्रह्मणः पादसंख्यापूरकत्वम्, तथात्र वि-द्यासंख्यापूरकत्वमिति ब्रह्मधर्मोणां पादानामत्राभिधानाज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यर्थः । पूर्वपक्षोक्तदोषपरिहारस्तु 'तमेव मान्'मिति 'यदादित्यत्वं तेज' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्, 'दीप्यते' इत्युक्तस्य प्रकाशत्वस्य 'अहं वैश्वानरो भूत्वे'ति स्मृत्योपिमादेशे वस्तुतो ब्रह्म-धर्मत्वात्, 'चक्षुष्यः श्रुतो भवती'त्युपासनाफलवाच्यस्यापि 'अपवर्गेमात्यन्तिकं परम-रूपाथर्मपि स्वयमासादितं नो एवान्द्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वाथी' इति श्रीभागवतोक्तरीत्या भगवदीयत्वेन ह्ययो विख्यातश्च भवतीत्यनेन महाफलत्वात् । 'वतन्ते ज्योतिषा यजेत, वाचैव ज्योतिषा कर्म कुर्वते' इत्यादिश्रुत्या ज्योतिःपदस्याप्यनेकार्थ-त्वेन तमोविरोधिपदार्थमात्रवाचकत्वाभावादेव सिद्धं इति नात्र किमप्यनुपपन्नम् ॥२३॥

छन्दोभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्षण-
निगदात् तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥

ननु यत् प्रकरणेण्यमङ्गीकृत्य पादानां ब्रह्मधर्मत्वं साध्यते, तदसङ्गतम् । उपक्रमे गायत्र्या उक्तत्वेन तस्या एव प्रकरणित्वात् । उपक्रमस्यासंज्ञातविरोधत्वेनामान्तरवाक्या-पेक्षया प्रकल्पत्वात् । एवं सति गायत्र्याः सर्वव्यवृत्तपुण्यस्य तामेव भूतश्रुतिवीथीरीरहृदय-भेदेऽर्थोक्त्याय, 'सैषा चतुष्पाद पदविधे'ति प्रतिज्ञायोदाहृतो मन्त्रः कथं तात्पर्यलि-ङ्गोपष्टम् विना चतुष्पाद ब्रह्मभिदःयात् । नच ब्रह्मपदविरोधः । ब्रह्मोपनिषदितिव-च्छब्दब्रह्मेतिवच छन्दःपरत्वेनापि तस्य शक्यवचनत्वात् । अतश्छन्दोऽभिधानात् ब्रह्म-धर्मः पादाः । तथाच स्वरूपादिदो हेतुरितिचेत्, न, नैष दोषः । कुतः । चेतोऽर्षणनि-पदात् । तथा गायत्रीरूपेण ब्रह्मणि चेतोऽर्षणस्य निगदात् कथनात् । कथमितिचेत् । त्वम् । अत्र वृत्तपुण्य एव गायत्र्याः सर्वत्वं प्रतिज्ञायुत्तम्, गायत्री च वर्णसमाप्त्यारूपा

तस्याश्च सर्वत्वमनुपचारेण न सम्भवतीति उपक्रम एव विरोधभानम्, अतो न स प्रबलः । अतो ज्ञायते न सर्वत्वादिरूपमाहात्म्योत्थदीप्यत्वबोधनाय तत्कीर्तनम्, किन्तु मन्त्रस्य देवताप्रकाशकत्वात् तद्द्वारा तत्र चेतोऽपेक्षायांमेव । तथाच यथा सूचीद्वारा-सूत्रप्रवेशः, तद्वारायत्रीद्वारा ब्रह्मणि चिचं प्रविशेदिति । तदर्थं तत्कीर्तनम् । ननु कुत एवं ब्रह्म प्रतिपाद्यत इति चेत्, तत्राह, तथा हि दक्षेणमिति । तेनैव प्रकारेण ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मज्ञानं भवति । तथाच ब्रह्मज्ञानाय तथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । हि युक्तोऽयमर्थः । लोके यत् स्वतो न प्रविशति, तदुपायेन प्रविशतीति स्थूलाया बुद्धिर्ब्रह्मणि प्रवेशाय तथोपाय इत्यर्थः । अतो गायत्र्याः प्रकरणित्वामावेन ब्रह्मण एव तथात्वात्सर्वैव पादा इति न खल्वपा-
सिद्धिरित्यर्थः ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥

भूतादीनां पादव्यपदेशस्योपपत्तिरस्मात्, ततश्चा, ब्रह्मणस्तादृशत्वात्, एवं, ख मतोपपत्तिरिति । अयमर्थः । गायत्र्याः प्रकरित्वमङ्गीकुर्वता भवता सप्तैहितत्वाद् भूतपृथिवीशरीरहृदयान्येव पादत्वेन वाच्यानि । तानि च स्वारस्येनासम्भवन्ति गौण्य व्यापदेशेन वक्तव्यानि । तथा व्यपदेशस्यैवैक वास्तवत्वेऽप्यय सम्भवति, नान्यथा । अतस्त्वं वा खमतोपपादानाय ब्रह्मणरतथात्वमवश्यमादरणीयम् । अत आवश्यकत्वाद्ब्रह्म णादिदोषाभावाच्च ब्रह्मवाक्यत्वमेव युक्तमिति पादानां ब्रह्मधर्मत्वमेवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

उपदेशभेदाज्जैति चैत्रोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥

ननु तथापि पादानां ब्रह्मधर्मत्वं नोपपद्यते । कुतः । उपदेशमेदात् । अयमर्थः । अस्मिन् वाक्ये तु पादा एव नोक्ताः, किन्तु मन्त्रैकवाक्यतया व्युत्पाद्यन्ते । एकवाक्य-
ता त्वर्थक्ये भवति । प्रकृतवाक्ये तु दिव इति पञ्चमी अन्तर्भावत्वबोधिका । मन्त्रे तु दिवीति सप्तमी आधावत्वबोधिका । एवमुपदेशमेदात् । किञ्च, मन्त्रे अमृतपदम्, ब्राह्म-
णवाक्ये तु ज्योतिःपदम्, अतोऽप्युपदेशमेदः । तथा प्रकृतवाक्यस्य हृदयप्रकल्प्य प-
ठितत्वात्तत्र हृदयं चतुर्थपादः सिध्यति । मन्त्रे तु सर्वभूतानि वा, भूतलोको वा । अतोऽ-
प्युपदेशमेदः । अत एव त्रिषोपदेशमेदादेकवाक्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वे पादस्य ब्रह्मधर्म-
ताया वक्तुमशक्यत्वात्परिभाषाभिधानं हेतुर्न इति चेत् । नैव दोषः । कुतः ? उभयस्मिन्
विभक्तिमेदादिना मिश्रविधेऽप्युपदेशो ब्रह्मवाक्यत्वस्याविरोधात् । अयमर्थः । विभक्ते-
र्भेदेऽपि पञ्चम्या सर्वत्र सत्त्वं बोध्यते । अतो दिव इत्यस्य ल्यबलोपपञ्चमीत्वेन तुलोको-
मारभ्य 'सर्वतः पृष्ठेभिव'त्वाद् मान्त्रः सप्तमीनिर्देशो न विरुध्यते । एवममृतपदज्यो-
तिःपदयोर्भेदेऽप्युभयोर्ब्रह्मवाचकत्वात् सोऽपि न विरुध्यते । तथा पादभेदेऽपि सर्वभू-
तोपलक्षकस्य हृदयस्य सर्वभूतान्तःस्थस्य ज्योतीरूपस्य च सर्वत्र विद्यमानत्वाद्दयमपि न
विरुध्यते । तथाचैवमर्थेभेन विभागे साक्षात्त्वेन च मन्त्रब्राह्मणयोरैक्यत्वत्वात्परिभाषणस्य

सिद्धे ब्रह्मधर्मत्वे ज्योतिर्ब्रह्मैवेति सिद्धमित्यर्थः । अत्र ज्योतिषोऽन्तःपुष्प उपसंहृतत्वेन,
'स यथायं पुष्प' इत्यानन्दमवाधिकरणविषयाक्त्ये आनितस्य पुरुषान्तःस्थत्वात् निर्णयान्द
उपोद्घात एव सङ्गतिरिति बोध्यम् ॥ २६ ॥ इति नवमं ज्योतिर्ब्रह्मणाधिकरणम् ॥ १९ ॥

प्राणस्तथानुगमिताम् ॥ २७ ॥

कौशीतकिञ्चाम्गोपनिषदि श्रूयते । 'अन्तःो ह वै दैवीदाति' रित्यात्म्य, 'एष लोकपालः
एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः, स म आत्मेति विद्या'दित्यन्तः सर्वोऽप्याय इन्द्रप्रदत्तनसं-
वादः । तत्रोपक्रमे वरदानमुपपक्षिप्य, 'मामेव विजानीहि, एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्य'
इति स्वोपासनं विधाय, तत्स्वाष्ट्याद्युपादाना आत्मानं प्रशस्य, स्वोपासनायाः फलं सर्वपा-
पामां प्रतिपादितवान् । ततः कस्त्वमिति विवक्षायां, 'प्राणो वा अहमस्मि ब्रह्मात्मानं
मामायुरमृतमित्युपासवै'ति प्रज्ञात्मप्राणगुणकां द्वितीयां स्वोपासनां विधाय, आयुषः
प्राणत्वं प्राणस्यामृतत्वं चोपपाद्य, तेन किञ्चाशक्तिं प्रशस्य, 'प्राणेन क्षेवाद्युत्पिन् लोके
अमृतत्वमामोती'त्यमृतत्वपूर्वकं फलं प्राणसंयोगेन प्रतिपादितवान् । ततो 'जीवति वागपेत'-
इत्यादिना 'प्राण एव ब्रह्ममेदं शरीरं परिपृक्षोऽत्यापयती'त्यन्तेन ज्ञानशक्तिमत्त्वं प्रशस्य 'एत-
देव उक्थमुपासीते'ति तस्यैवोक्थयुगणकाद्युपासनां विधाय, ततो 'न वाचं विजिज्ञा-
सीत बक्तारं विद्या'दित्यादिना ज्ञानशक्तिमत्त्वं प्रशस्य, अग्रे 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा'
इत्यारभ्य, 'न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सित्ये'दित्यन्तेन किञ्चाज्ञानशक्तयोः परस्पर-
सापेक्षतया स्वविषयभूतज्ञानसाधकत्वं प्रतिपाद्य, ततो, 'नो एतन्नाने'ति प्रतिज्ञाय,
'तद् यथा रथस्वारेऽयु नैमिरर्षिता, नाभावरा अर्षिताः एवमेवैता भूतमात्राः ब्रह्ममात्रा-
सर्षिताः, ब्रह्ममात्राः प्राणेऽर्षिताः, स एव प्राणः ब्रह्मात्मानन्दोऽजरोऽमृत' इत्यादि-
ब्रह्मधर्मोक्तत्वा, 'स म आत्मेति विद्या'दित्युपसंहृतम् ।

तत्र संशयः । किमनेन्द्रस्यात्मा वा, मुख्यः प्राणो वा, सामान्यतो जीवो वा,
परं ब्रह्म वा, प्रतिपाद्यत इति । अथवा आन्तं प्राणस्यैव प्रशास्यत्वदर्शनात् प्राणो वा, ब्रह्म
वेति द्विकोटिकः । नच 'अत एव प्राण' इति पूर्वोपपत्तये तद्विज्ञानब्रह्मत्वं प्रतिपादितमि-
तीहापि तेनैव सन्देहनिवृत्तेः किमित्यधिकरणान्तरारम्भ इति शङ्क्यम् । तत्र प्राणशब्द-
मात्रे सन्देहाहिल्लस्य बहिरुत्वेन बाधकाभावाच्च तावन्मात्रेण सन्देहनिरासस्य सम्भवात् ।
इह तूपक्रमस्यान्तविधत्वेन प्राणस्य प्रज्ञात्वाद्युपबोधोपपत्तेर्न प्राणशब्दार्थत्वापि सन्दि-
ग्धत्वादन्यलिङ्गरूपवाचकत्वापि सत्त्वावाच्यलिङ्गेन निर्णयस्यासम्भवाद्युचित आरम्भ इति ।
पूर्वपक्षस्तु, अस्मिन् वाक्ये प्राणस्य ब्रह्मतासाधकं किमपि न दृश्यते । वाचकानि
तु प्राणपरिभाषादिरूपाणि बहूनि दृश्यन्ते । अतोऽत्र प्रतिपाद्यस्य प्राणस्य न ब्रह्मत्वमिति

सिद्धान्तस्तु, प्राणः परमात्मैव । कुतः ? तथानुगमात् । पौर्वापर्येणालोच्यमाने
वाक्ये परार्थानां ब्रह्मण्येव समन्यतात् । तथाहि । उपक्रमे तावद् 'वरं हृणीष्व' इत्युक्तः
प्रवदन् 'त्वमेव हृणीष्व यत् त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति परमपुरुषार्थत्वं

वरमुपक्षिपेति तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात् । न हि परमानन्दरूपात् परमात्मनोऽन्यः कोऽपि जीवस्य हिततमो भवति । ततः स्वज्ञानेन भ्रूणहत्यादिरूपपापनाश उक्तः, सोऽपि ब्रह्मपरिग्रह एवोपपद्यते । 'धीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर' इति श्रुतेः । प्रज्ञात्सत्त्वं च वेतनरूपत्वात् तस्यैव सम्भवति । जीवानामपि तदशंत्वाद् । उपसंहारेऽप्यानन्दोऽजरोऽमृतः, एष लोकपाल इत्यादि । एतदपि निःकुञ्जं ब्रह्मपरिग्रह एवोपपद्यते । तथा 'एष उ एव साधु कर्म कारयती'त्यादिनोक्तं सर्वप्रैकत्वं च, कर्मलेपराहित्यं च । अतः सर्वत्रातुगमात् प्राणो ब्रह्मेति ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदप्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२८॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति । तन्न युज्यते । कुतः । वक्तुः इन्द्रेण 'मामेव विजानीही'त्युपक्रम्य, 'प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं, तं मामाश्रयश्रुतमित्युपास्वे'त्युपासनाविषयत्वेन स्वात्मन एवोपदेशात्, उपक्रमस्य चासञ्जातविरोधत्वेन प्रबलत्वादन्येषामपि पदार्थानां वाचो धेतुत्वबलददुगुणत्वेनैव नेयत्वाच्च । अतो नास्य ब्रह्मोपास्त्वानन्वमितिवेत्, न । कुतः । अभ्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् । हि निश्चयेन अस्मिन् प्रकरणे अध्यात्मसम्बन्धस्य भूमा । आत्मानं चर्पि ब्रह्माधिकृत्य यः सम्बन्धो धर्मस्तस्य बाहुल्यं प्रतीयते । आदावेव परमहितत्वं, स्वज्ञानेन भ्रूणहत्यादिरूपमहापापानिर्वृत्तकृत्यम् । उपसंहारे च लोकपालत्वादिकम् । न ह्येतदिन्द्रे सम्भवति । श्रुत्यन्तरे 'विश्वरूपो वै त्वाद्दुः पुरोहितो देवानाम् आसीदित्युपक्रम्य, तस्मादिन्द्रोऽविभेदः, तस्य वज्रमादाय शीघ्रोऽप्यच्छिनत्, तस्मान्जलिना ब्रह्महत्यापापमुद्धृत् । तं संस्तरमविभसन् भूतान्यभ्यक्रोशन्, ब्रह्महन्तित्यादिना ब्रह्महत्याविभागश्रावणात् । षष्ठस्कन्धे तदुपसंहृष्ट्याद् । वृत्रवधेऽपि ब्रह्महत्यास्मरणेण । तथा लोकपाललोकेशलोकाधिपतिपदानामाशीवृत्त्या उपचारः साङ्गत्वं च तत्र दार्थ्ये । तदपि तथा । इन्द्रस्य स्वर्वापालकत्वात् । एवं स्वातन्त्र्येणायुदौतुल्यं चर्पि ब्रह्मण एव धर्मो, नेन्द्रस्य, नाप्यात्मस्य । 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यां जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतासुपाश्रिताः' इति श्रुत्यन्तरात् । तथा प्राणाभिन्नप्रज्ञात्मत्वमपि तस्यैव, सर्वकार्यकर्तृत्वाद् । किञ्च, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या'दित्युपक्रम्य, 'तद्यथा रथस्थारोषु नेमिरर्षिता, नाभावर अर्षिता, एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्त्वर्षिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणोऽर्षिताः, स एव प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कर्त्तव्या' इति सर्वविधसर्वेन्द्रियव्यापारे अरनाभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । न हि इदमपि इन्द्रे सम्भवति । ब्रह्महत्या कर्त्तव्यस्य प्रागेव दर्शितत्वात् । अतः 'स म आत्मै'त्युपसंहारोऽप्येतादृशमेवात्मानमिन्द्रसम्बन्धिभवेन पराश्रुति, न तु देवताजीवम् । अतोऽत्र परमात्मसम्बन्धवाहत्वाद् ब्रह्मोपदेश एवायम् । देवतात्मपक्षे सर्वत्र गोप्याद्यापक्षेचेति हिशब्देन सूच्यते ॥ २८ ॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेवत्व ॥ २९ ॥

ननु यथेवं ब्रह्मण्येवाभिप्रायः स्यात्, तदा अहङ्कारवादेन नोपदिशेत्, अतो नेदं समाधानमिति शङ्कां युवाद्दः परिहरति । अयमेवं वादो न ब्रह्मवाक्यत्वविषयकत्वात् विभावनीदः । एतस्य वादस्य व्यवहारदृष्टावेव दोषत्वेन शास्त्रदृष्ट्या दोषत्वाभावात् । उपदेशस्तु शास्त्रदृष्ट्या आर्षज्ञानेन स्वात्मानं ब्रह्मात्मकमवगन् इन्द्रेण कृत इति भासमानोऽप्यहंकारवादेन न ब्रह्मवाक्यत्वविषयक इत्यर्थः । ननु 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्येषु जीवस्य ब्रह्मत्वं बोधयते, तत्र प्रत्यधिकारं शास्त्रप्रवृत्तिरिति न्यायेन स्वात्मन एव ब्रह्मत्वज्ञानं मुख्यमिति प्रतर्दन्नेन्द्रात्मज्ञानमुपासनं वा न पुनर्याय । यदि च भागवत्यालक्षणया केवलस्य चैतन्यमात्रस्य ज्ञापनादिकमत्रोच्येत, तदा ब्रह्मर्षमां अत्रोक्ता विरुध्येरन् । अतः शास्त्रदृष्टिर्पि नैवंविधा ।

किञ्च । कचित् सिद्धेऽहङ्कारवादात्स तथात्वेऽपि तथाङ्गीकर्तुं शक्यते, न तु तस्मिन्नासिद्धे इत्यत आह वामदेववदिति । यथा बुद्धदार्ण्यके पुरुषविध्वन्नाम्णे 'तद् वैतत् पश्यन् कृत्विर्वांमदेवः प्रतिपेदे अहं मनुभवमतम् हं स्यैषेति वामदेवस्याहङ्कारवादा उपदिश्यते, तद्वत् । अयमर्थः । यत्र वामदेवस्याहङ्कारवादा उक्तः, तत्रैव 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यतायर्षिणां स सर्वमभव' इति प्रतिबुद्धानां सर्वोत्समावोऽप्युक्तः । तत्र सर्वेषां सर्वभावे सर्वानन्यप्रसङ्गात् सर्वमकमेवेति वक्तव्यम् । तादृशं च सर्वोपादानत्वात् सर्वोत्सर्कं ब्रह्मेति प्रतिबुद्धानां तत्र लयेन 'मत्तमभाषो वक्तव्यः' । तथा सति 'मनुभवमहं स्यैषेति' इति वाक्योक्तौ योऽप्युत्साऽनुवादः स्वसर्वत्वविषयं श्रुत्यवकृत्य मन्वाप्यनुवादरूपः सोऽनुपपन्नः स्यात् । 'न प्रेत्य संज्ञान्ती' इति श्रुत्यन्तरेण ब्रह्मणि लये स्यानुसन्धानाभावबोधनात् । अतस्तस्य योऽहङ्कारवादाः स ब्रह्मात्मभावेनैव, न तु स्वात्मभावेनेति सिद्धम् । अतस्तत्र यथा स न ब्रह्मवाक्यवाचकः, तथात्रायमपीति, न ब्रह्मचर्मोक्तौ नामपि विरोधः । ब्रह्मण एवात्रोक्तत्वात् । नच सचयं शास्त्रदृष्ट्या ब्रह्मोपदेशः, तदात्र जगत्कर्तृत्वादयः कुतो नोक्ताः । इन्द्रकर्तृत्वात्त्वाद्वाद्येव एव च कुत उक्ता इति शङ्क्यम् । त्वाद्वाच्यस्यापि ब्रह्मधर्मत्वात् । 'नन्वेव वज्रस्तव शक्त तेजसा हरेर्देधीचेत्सपता च तेजितः, तेनैव शक्त जहि विष्णुयन्त्रित' इति षष्ठस्कन्धे वृत्रवाच्यते तथावसायात् । नन्वेतदसत्कृतम् । 'सायुषसम्पन्नोरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही' इति सूत्रे सुषुप्तिब्रह्मसन्धिदशयोरेव ब्रह्मधर्माविर्भावस्य सूत्रकृतोपगतत्वादावस्यान्तरे तदोद्घोकारस्य श्रुतिविरुद्धत्वादितिचेत् । न । वाक्यानां सूत्रोपजीव्यत्वेन तदविरोधाय सौत्रे सम्पत्तिपदे उच्यते उच्यते उच्यते उच्यते उच्यते । अपि संग्राहत्वेनाविरोधात् । अन्यथा 'मय्येव सकलं ज्ञातं मयि सचं प्रतिष्ठि'मित्यादीनां विरोधापयोः । नन्वत्र ब्रह्मधर्माविर्भावमात्रेण वामदेवदृष्टान्तो न युक्तः । तस्य पूर्णज्ञानित्वा-

दिन्द्रस्य चावेशित्वेन तद्वैषम्यात् । नचेन्द्रस्यापि पूर्णज्ञानित्वं शक्यम् । तथा सतीन्द्र-
स्यापि वामदेववद ब्रह्मभावापत्तेः । ज्ञानिनोऽपि ब्रह्मभावं विना मुक्त्यभावात् । 'इहैव
समवनीयन्ते प्राणा ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति युक्तिबोधकश्रुती ब्रह्मभावे सत्येव बोधक-
यनात् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुत्यन्तरे ज्ञानेन ब्रह्मभावश्रावणाच्च । एवं सिद्धे
ज्ञानेन ब्रह्मभावे मुक्त्यनुक्तावपि तस्य सिद्धत्वेन वैषम्याभावात् । नच ब्रह्मभावस्य
तदव्याप्तितत्त्वादात्म्यनिष्पन्नतदभेदान्यतमस्फूर्तिरूपतया उपदेशप्रयोजकत्वमिति
शक्यम् । तस्य स्वस्मिन् ब्रह्मधर्मापि भोवपुत्रकब्रह्माभेदस्फूर्त्यत्मकत्वेनादोषात् । न
चात्र मानाभावः । सर्वभावस्फूर्तिबोधकश्रुतेरेव मानत्वात् । अतो वैषम्याभावाद् युक्तौ
दृष्टान्तः । एतावान् परं विज्ञेयो यन्मुक्तस्य सार्वदिकः, आवेशिनस्तु कदाचित्को भग-
वद्विचारितकार्यकाल एवोद्गच्छति, नान्यदेति । तस्मात् सूत्रोक्तमुपपन्नतरम् ॥ २९ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासार्त्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥

अत्र बाधकद्वयमन्यदाशङ्क्य परिहृयते ।

ननु यथा ब्रह्मधर्मा अत्र भूयसः श्रुताः, तथा जीवधर्मा मुख्यप्राणधर्माश्च बाधकाः
सन्ति । तत्र 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या'दित्यादिर्गोदादिक्रमणार्थं जीवं विज्ञेय-
त्वेन बोधयति । 'अथ खतु प्राण एव ब्रह्मवैदे शरीरं परिपृक्षीत्याप्यप्यतीति च प्राणधर्मम् ।
'मा मोहमापद्यथा अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विचारयामीति
श्रुत्यन्तरेण शरीरधारणस्य प्राणधर्मत्वनिश्चयात् । बाणं शरीरम् । नचैवं परस्परं बाधकानां
बाध्यबाधकभावेन न कस्यापि प्रकरणित्वनिश्चय इति बाध्यम् । 'यो वै प्राणः सा ब्रह्मा,
या ब्रह्मा स प्राण' इति वाक्येन जीवमुख्यप्राणयोर्ब्रह्मकारे प्राणब्रह्मयोः सहवृत्तया तयो-
स्तत्त्वज्ञोपपत्तारसौकर्येण, 'स यदास्माच्छरीराद्ब्रह्मकामतीति सहैवैतैः सर्वैस्त्कामतीति
वाक्योक्तोक्तान्तितास्यज्ञस्येन च जीवमुख्यप्राणयोर्केपरिग्रहस्योर्वित्याद्, ब्रह्मणस्तु
व्यापकत्वेनोत्क्रान्त्यसामञ्जस्यात् । अतो जीवमुख्यप्राणलिङ्गादस्य न ब्रह्मवाक्यत्वमि-
ति चेत् । न । उपासार्त्रैविध्यत्वात् । आपाद्यमानत्रैविध्यत्वात् । कथमिति चेत् । इत्यम् । अत्र हि
वक्तृजीवमुख्यप्राणब्रह्मणां लिङ्गान्युपलभ्यन्ते । तत्र वक्तृलिङ्गस्य ब्रह्मपरत्वं पूर्वसूत्रयो-
रुपादितम् । अतस्त्रयाणां स्वतन्त्रत्वं वा, लिङ्गद्वयस्य ब्रह्मपरत्वं वावशिष्यते । तत्र लक्ष-
णादोषराहित्यरूपया युक्त्या आद्याङ्गीकारे मामित्यस्वार्थत्रयकल्पनेन, विजागीहि इत्य-
स्वाह्वया वाक्यभेदः प्रसज्येत । एवकारार्थविरोधश्च स्यात् । अत आपाद्यमानत्रैविध्य-
दोषादत्र जीवमुख्यप्राणयोः परिग्रहो न युक्त इत्यर्थः । ननु सत्यं न युक्तः, तथापि
जीवमुख्यप्राणधर्माणां ब्रह्मण्यनुपपत्तिरित्यत आद्रियत इति शङ्कायां तदुपादानयाह ।

१. एव तथाद्वरयोर्विध्यादिति पाठः ।

आश्रितत्वादिव तद्योगादिति । इह ब्रह्मवादे 'अस्यावयववस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जग'दिति
श्रुत्यन्तरे जीवस्य ब्रह्मावयवत्वबोधनेन जीवस्य ब्रह्माधेयत्वात् । श्रुतौ विभागोदुत्पत्त्य-
ङ्गीकारेण अवयवानामवयव्याश्रितत्वम् । एवं सति हस्तपुस्तकसंयोगस्य पुरुषधर्मत्वव-
जीवधर्माणां भगवद्भर्मत्वं निर्विवादम् । मुख्यप्राणस्य तु ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्माश्रितत्वम् ।
तदधर्माणां भगवद्भर्मत्वं तु 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यां जीवति कश्चन । इतरेषु तु
जीवन्ति यस्मिन्नेतायुषाश्रिता'विति श्रुत्यैवोक्तम् । अत आश्रितत्वकृताद् ब्रह्मसम्बन्धाद्
ब्रह्मवादे तेषां ब्रह्मधर्माप्यामनुपपत्त्यभावाद्दत्र तदुभयपक्षया ब्रह्मण एवाविक्रम्यमवगम-
यितुमनेन प्रकारेणैव ब्रह्मोपासना विहित्वा । तस्मान्जडजीवादि सर्वोत्तमं सर्वतोऽधिकं
च ब्रह्मैव महावाक्यार्थ इति सिद्धम् ॥

इदं चाधिकरणं पूर्वाक्तस्य सर्वस्यार्थस्य निगमनाय बोध्यम् । तथाहि । पूर्वं शास्त्रा-
रम्भे ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तुता । सा सर्वदा कर्तव्या, अन्यथा विनाशः स्यादिति । विषय-
वाक्यारम्भे 'अरन्मुखात् यतीन् शालाहृकेभ्यः प्रायच्छ'मित्यनेन बोधितम् । ततो
जन्मादिभूयसिद्धकर्तृत्वं समन्वयसूत्रसिद्धं सर्वोपादानत्वं चोपपादितम् । तत उपसंहारे
ब्रह्मात्मात्मानन्दपदाभ्यामीहत्यानन्दमयाधिकरणसिद्धोऽर्थः संगृह्यते । ब्रह्म-
धर्मोपदेशेन लोकपालत्वादिबोधनेन प्राणब्रह्मोक्त्या 'स म आत्मे'त्युपसंहारेण च
यथायथमन्तस्तद्वर्माधिकार्यादित्तुष्टयार्थः संगृहीतः । तेन नास्य पुनश्चकत्वं शक्य-
नीयम् ॥ ३० ॥ इति दशममनुगमनाधिकरणम् ।

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रार्थचरणनखचन्द्रकिरणसुधासंसिद्धद्वयश्रीभ्रजनायास्यज-
तीकृष्णचन्द्रनिरचितायां त्रिकृष्णपुरुषोत्तमसंगृहीतायां
भावप्रकाशिकाभिधायाम् ब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

शास्त्रारम्भे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय सर्वेषां वेदान्तात्मं ब्रह्मणि समन्वयस्य बह-
व्यत्वात् पूर्वं ब्रह्म कथं जिज्ञासामित्याकाङ्क्षायां जन्याधिकरणे लक्षणं प्रमाणं च दर्शि-
तम् । ततो लक्षणस्य कर्तृविधया नैरात्म्ये विधानत्वेणात्मस्यापि कारणत्वेन प्राप्त-
लक्षणश्रुतिसङ्कोचः श्रुत्यन्तरपीडा च स्यादिति तद्वारणाय समन्वयाधिकरणे ब्रह्मणः
समावृत्तित्वं विचारितम् । ततोऽधिकरणद्वयेन लक्षणे अव्याप्यादिदोषाः परिहृताः ।
ततोऽधिकरणपञ्चकेनोद्गीयायुपासनावाक्यानां फलोपकर्षस्यैव विचारितम् । तथापि

तद्विज्ञादिद्वयेन नामान्तरकृतः सन्देशोऽपि परिहृतः । अन्तमेतन् च चिदचित्संश्लेषरहितस्य साक्षात्स्य केवलस्य कारणत्वं बोधयितुं तत्संश्लेषनिवारणेन सर्वं निगमितम् । प्रत्ययप्रकृतिरूपशब्दकृतास्सन्देशाश्च वारिताः ।

अतः परं अर्थसन्देशव्यवहारार्थं द्वितीयोदधिपादा आरभ्यन्ते । केवलजीवजडतत्त्वशुद्धाद्यभेदेनार्थस्य नैविष्यात् । तत्र द्वितीयं जीवपुरस्कारेण सन्देशा निवार्यन्ते ।

तत्र छान्दोग्ये पञ्चमप्रश्नादके इदमाश्रयते । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तं उपासीत, अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन्नल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्यात्, मनोमयः प्राणशरीरो भाारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्याप्तोऽत्राक्यनादर एष आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहिरित्यादि । अत्र वाक्योपक्रमे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यनेन सर्वस्य ब्रह्मत्वं प्रतिज्ञाय, कथं सर्वं ब्रह्मेत्याकांक्षायां ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मेति बोधयितुं तज्जलानिति सर्वविशेषणम् । जायत इति जम्, लीयत इति लम्, अनितीत्यम् । जं च तद्धं च, तच्च तदन् च जलान् तस्माज्जलान् तज्जलानिति तदर्थम् । तेनेदंशुपासन् वाचो धेनुत्ववच्च कल्पितैर्धर्मैरिति सिध्यति । इतिश्च हेतौ । तथा शान्तं इत्युपासकविशेषणम् । अत्रे च, स ऋतुं कुर्यादिति । ऋतुर्विधीयते, तदूर्पं च मनोमयत्वादिवाक्येनोच्यते । तेन तस्योपासनात्मकत्वमवगम्यते । तथा सत्यत्र वाक्यद्वये एकस्यान्यदोषत्वं वा, स्वतन्त्रत्वं चेति विमर्शं, यदि पूर्ववाक्ये जगत उक्तत्वात् तत्र सर्वत्र रामद्वेषरहितो भूत्वा कथ्यमाणोपासनं कुर्यादित्येवं बध्यमाणानुवादेन तच्छेषतया श्रमविभिरङ्गीक्रियते, तदा विध्यनुवादवैरूप्यं, पूर्ववाक्यत्वेनानुवादासम्भवः । बध्यमाणोपासनार्थं श्रमं सम्पादयेदित्यर्थकल्पने, शान्तं उपासीतिति पदद्वये लक्षणप्राप्त्या वाक्यार्थस्य लाक्षणिकत्वप्रसङ्गः । वक्ष्यमाणोपासनाया जीवात्माविषयत्वे 'शान्तो दान्त' इत्यात्मदर्शनावकाशसामान्येन शमस्वाभावशिरोधात् विध्यानर्थक्यप्रसङ्गश्च स्यात् । नाप्युच्यतवाक्यस्य पूर्वशेषत्वम् । फलवाक्यशिरोधात् अत उभयोः स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । तथा सति पूर्ववाक्ये जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनं विधीयत इति स्थितम् । एतदेव च पुराणेषु विराडुपासनमित्युच्यते । अतः परम्युत्तरवाक्यार्थं सन्देशः । तत्र 'स एष जीवो विवरप्रभृतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः । मनोमयं सूक्ष्मशुभ्रैल्य रूप'मित्येकादशश्रीवाक्यात्मनोमयत्वं वेदलिङ्गम् । प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्ट इति प्रवेष्टव्यत्वेक्यनात् कारणभेदोपचारेण तस्य प्राणशरीरत्वम् । अत्रे सत्यसङ्कल्पादिचेतनधर्माणाम्, 'एष म आत्माऽन्तर्हृदय' इति च कथनाद् विज्ञानमयो जीवो वेदप्रतिपाद्यब्रह्मत्वेनोपास्य उच्यते ? उत ब्रह्मधर्मबाहुल्यादन्तर्यामित्वेन पुराणेषु प्रतिद्धं ब्रह्म वा उपास्यमुच्यत इति । तत्र पूर्ववाक्ये जडस्य

जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तमिति द्वितीयवाक्येऽपि जीवस्य ब्रह्मत्वेन उपासनमेव युक्तम्, न तु ब्रह्मवाक्यत्वम् । प्रबलहेतुं विना तथाङ्गीकर्तुमशक्यत्वात् । न च जीववाक्यत्वाङ्गीकारेऽत्र कः प्रबलो हेतुरिति शङ्क्यम् । शास्त्रान्तरे 'विज्ञानं ब्रह्म वेद्रेदे'ति जीवस्य ब्रह्मत्वेनोपासनायाः स्पष्टतया, अत्र च भारूपत्वकथनेन तत्प्रत्यक्षविज्ञानस्यैव हेतुत्वात् । न च पदान्तरानन्वयः शङ्क्यः । वेदेषोऽपि तत्त्वान्मनोमयपदस्य सति अतङ्कल्पत्वात् सत्यसङ्कल्पपदस्य प्राणोपाधिकत्वात् प्राणशरीरपदस्य चान्वये शेषाणामुपासनार्थानुवादात्तयान्वयस्य सुवर्तत्वात् । अतः कार्यकारणयोरभेदात्जीव एव ब्रह्मत्वेनोपास्य इत्येवं प्राप्ते ।

उच्यते । इदं ब्रह्मवाक्यमेव । कुतः ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । परमशान्तस्य पूर्वोपासनाया शुद्धान्तःकरणस्य सर्ववैदान्तप्रसिद्धकब्रह्ममनानात्मकपरमहितानुशामनस्यैव युक्तत्वेन तदुपदेशादित्यर्थः । न च शास्त्रान्तरसाक्षात्जीववाक्यत्वं शङ्क्यम् । तत्रापि आनन्दमयस्योपदेशव्यवत्वेन जीवोपासनाया उचितत्वेऽप्यत्रापि उपदेश्यान्तरादर्शनेनात्र तदङ्गीकारस्यायुक्तत्वादिति । नन्वस्मिन् सूत्रे पश्चात्तत्त्वत्वात्पदसादर्शनात् कथमेतस्यैव विषयवाक्यतयाधारणमितिचेत् । उच्यते । प्रथमपादे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय, जन्मादिद्वये ब्रह्म लक्षयित्वा, आनन्दमयान्तरैरधिकरणैस्तत् परीक्षितम् । ततस्तस्य बाह्यत्वे प्राप्ते, अन्तःसद्भाधिकरणेन तस्यान्तरत्वं साधितम् । तच्च परीक्षणीयम् । अन्यथा आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वं न सम्भववगतं स्यात् । तदस्मिन् पादे परीक्ष्यते । आन्तं तस्यैव प्रपञ्चदर्शनात् । नच तदुच्येति शङ्क्यम् । आनन्दमयविषयवाक्यसन्दर्भं 'तत्त्वेव भवं विदुः'पोऽन्मानस्ये'त्यमन्तुदोषिकथनेन तन्मननस्वावश्यकत्वात् । तच्च मननमत्र 'अथ खल्वित्यादिसन्दर्भादवगम्यते इत्यन्ते विषयत्वात्तुः । किञ्च, जगत्कारणत्वं निरवध्यान्दात्मकत्वं यथा श्रौतं लक्षणम्, तथा 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्व्यः परमात्मेत्युदाहृतः, यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यभ्यय ईश्वर' इत्यपि स्मृतं लक्षणम् । तत्र किं लोकत्रयम्, कथमावेशः, किं भरणम्, कथं च भरणम्, कथमव्ययत्वम्, ईश्वरत्वं चेति । तदप्येतेन विमृष्टं भविष्यति । किञ्च, मननं ह्यनपेक्षितानुवापेनापेक्षितानुवापेन च वाक्यार्थनिर्धारणे भवति । तत्र पूर्ववाक्योक्तं जगज्जनकत्वं 'एत इति वै प्रजापतिर्दिवानामसज्जते' त्यादिभ्युतिमिदं चतुर्भूत्वे चास्तीति किमात्मकत्वेन जगदुपास्यमिति सिद्धायां 'अस्य महतो भूतस्य निःश्रुतं यद्वेदो यद्वेदो यद्वेदो' इत्यादिभिः 'यो ब्रह्माण-मिस्थानिमिश्र तपोऽन्यत्वेऽन्वचारिते तादृशस्य सङ्कथजनकत्वेस्वीहापेन 'यतो वै'त्यादिभ्युर्युक्तस्य तस्वावापेन च ब्रह्मपदस्य परवाचकत्वं निर्धार्य तदात्मकत्वेनोपास्यमिति वाक्यार्थो यथागतो भवति । तथा एतद्वाक्येऽपि सत्यसंस्कल्पादिपदोक्तानां धर्माणं वेदे हिरण्यमर्भं जीवान्तरे च असम्भवाच्चक्षिष्टे मनोमये मन्तव्ये, 'मन्तैवाणुप्रह्वयः' 'त मानसीन आत्मा जनानां,' 'मनसा तु विशुद्धेने'त्यादिभ्युतिभिस्ताच्छमनोप्राज्ञत्व्यादिना

प्राणुर्धीर्धावापेन विकारार्थोद्भावेन चानन्दरूपो मनोमयः । 'यस्य प्राणः शरीर'मित्यन्तयोर्भिन्नभाषणे श्रावणेनान्त्यधीर्धी प्राणशरीर इत्यन्वयभाषणेनान्तरात्मा आनन्दमय ईदृशो मतो भवतीति स एव वाक्यार्थ इति सिद्धम् ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

ननु पूर्ववाक्ये ब्रह्मोपासनकथनेऽप्यथेति प्रकृतच्छेदेनाग्रे उपासनान्तरद्वयव्यत इति गम्यते । तथा क्रतुमय इत्याश्रय, तथेतःप्रेत्य भवतीत्यनेन लोकांतरे सङ्ख्यानुसूपदेहप्राप्तिरूपफलकथनात् फलस्य च तात्पर्यनिर्णायकत्वात् तद्विचारे तस्य प्राकृतत्वेन जघन्यतया अत्रोक्तोपासनाया ब्रह्मविषयत्वं न वदते । अतस्तादृशदेहप्राप्त्यर्थं वेदाभिमानिदेवताया वा, क्रतुमय इत्यादिना साधकत्वोपक्रान्तत्वात् स्वजीवस्यैव वोपासना युक्ता । नच स्वोपासनया कथं तादृशं फलमिति शङ्क्यम् । भावनया पेशकृतो रूपान्तरस्य प्राप्त्यसिद्धत्वेन अत्युत्कृष्टारलौकिकरूपान्तरस्य भावनामप्रचयतायां बाधकामावात् । यद्यप्येवं फलं ब्रह्मोपासनायामपि सम्भवति, तथापि देहत्वेन प्राकृतत्वेन व्याप्त्या 'तमेव विदित्वा अतिरुच्युमेति' 'ब्रह्मविदानोति पर' मित्यादिश्रुत्युक्तफलविरुद्धरूपत्वाद्ब्रह्मोपासनायां तादृशकलांगीकरणमयुक्तम्, विषयकथेन तस्या अपि ज्ञानतुल्यत्वात् । अतोऽत्र मनोपदेशादुपाधिकारो न युक्त इत्याशङ्क्य परिहरति । विवक्षितेत्यादि । विवक्षिता वन्तुमिष्टा उपादेयत्वेनाभिप्रेता वा या गुणरूपा लोकान्तरीयातादृशदेहप्राप्तिस्तस्या ब्रह्मज्ञानपक्षेऽपि भगवत्स्वरूपलाभेन सारूप्यलाभेन वा उपपद्यमानत्वात् । नच 'यथा क्रतु'रित्यादिना लोकान्तरप्राप्त्यत्वेन सङ्ख्यानुसूपत्वेन व्याप्तेकत्वात् कुर्वीतित्युपदेशोचितः क्रतुः प्राकृतदेहस्य च हेतुरिति वाच्यम् । परमशान्तस्य पूर्वापासनया शुद्धान्तःकरणसाधुद्वयसङ्ख्यायोगात् । तस्मात् प्राकृतदेहस्याप्ययोगात् । सत्यसङ्ख्यादिवचनेनापि प्राकृतदेहायोग इति चकारार्थः ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

न 'न्यात्मानं चेद्विजानीयादन्नमस्मीति पूष' इत्यादौ ज्ञेयतया प्रसिद्धस्य जीवस्य मन्तव्यत्वोपदेशो लोकान्तरे विवक्षितदेहप्राप्तिः । 'न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गति'रिति वाक्यात् सति असङ्ख्यत्वाद्वा सत्यसङ्ख्यत्वम्, व्यापकत्वादाकाशात्मत्वम्, पर्यायेण सर्वत्रेदमानितया वा सर्वकर्मत्वादि कं हिरण्यगर्भे च संगच्छते इति सूत्रद्वयोर्केर्जावे ब्रह्मविषय इत्युत्पत्तिरिति च ब्रह्मवाक्यत्वनिर्णय इत्याशङ्क्य परिहरति । अनुपपत्तेरित्यादि । अस्त्वेवमनुपपत्तितोष्यम्, तथापि शारीरः शरीरसम्बन्धी जीवो न वाक्यार्थो भवितुमर्हति । कुतः ? अनुपपत्तेः । प्राणशरीरत्वस्यानुपपद्यमानत्वात् । प्राणशरीर इत्यन्तानन्दरूपं ब्रह्मण्यद्वैतं च स्वरूपं तदभिप्रेयते । अतो मनोमय इत्यत्र यथा विकारार्थोद्भावेन

प्राणुर्धुपदेशमोचरः, तथा प्राणशरीर इत्यत्र लौकिकप्राणोद्भावेनानन्दात्मकप्राणस्वरूपत्वं तदोचरः, तस्मानुपपत्तिस्तु प्रकृते स्फुटवेति । नच लौकिकप्राणोद्भावे मानाभावः शङ्क्यः । लौकिकस्य शरीरतायाः आध्यात्मिकत्वेनेदानीमाध्यात्मकस्य प्राणशरीरत्वाच्चोपासनोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गस्यैव मानत्वात् । पूर्वपक्षस्यात्रैव निवृत्तत्वात् तुयम्बः ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

ननु प्राणशरीरपदविरोधात् न जीववाक्यत्वव्युत्पादो न युक्तः । तस्य प्राप्त्यन्वतादृशरूपात्मकफलाभिप्रायत्वादित्याशङ्क्य परिहरति । कर्मत्वादि । प्राणशरीरविरोधो नैवं परिहर्तुं शक्यः । कुतः । कर्मकर्तृव्यपदेशात् । एतमित्ये 'भ्रैत्यामिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्वा न विचिकित्सास्तीति ह साह शाण्डिल्य' इत्यग्रे पदावाक्ये एतमित्यनेन प्राणशरीररूपं ब्रह्म प्राप्तिकर्मत्वेन ध्यानकर्मत्वेन च व्यपदिशति, यस्य स्यादित्यादि ध्यातृत्वेन प्राप्तृत्वेन च शारीरम् । तयोर्मध्ये कस्य प्राधान्यमित्येवंप्राधान्यां यद्यपि फलस्य पुरुषशेषत्वं पूर्वतन्त्रसिद्धम्, तथापि तदचेतनस्य, न तु चेतनस्येति स न्यायो नाम प्रवर्तते । किन्तु लोकन्यायः । लोके हि यस्य चेतनस्य महत् आशाशक्त्यत्वं, तस्यैव शेषित्वमिति वरणीयस्थले ऋटम् । तथा ध्येयस्य न ध्यातृशेषत्वमिति तु पूर्वतन्त्रेऽपि । प्रकृते तुभयमपि ब्रह्मणीति कथमपि जीवशेषत्वं तस्य न युज्यते । एवं ब्रह्मणः प्राधान्ये तस्यैव प्रकरणित्यादिदं ब्रह्मवाक्यमेव । किञ्चात्र कर्मकर्तृपदेन सेवकत्वं बोध्यते । अतोऽपि न शेषित्वम् । किञ्च, अजनीयरूपं यदि न कल्प्यते, तदा तादृशं फलं न सिध्यतीत्यतोऽपि तस्य मूल्यत्वमिति ज्ञापनायाधिकरणसम्पूर्णत्वव्योतनाय च चकारः । एवमनेनाधिकरणेनानन्दमयस्यान्तरस्य मनोमयत्वादयो धर्मो विचारिताः ॥ ४ ॥ १ ॥

इति प्रथमं सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरणम् ।

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इदं वाजिनं समानप्रकरण आम्नायते । यथा मीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्य इति । अत्र प्रसङ्गादिदं विचार्यते । हिरण्यमः पुरुषः किं जीव उत ब्रह्मति । नन्वत्रापि पक्षानुष्ठेखात् पूर्वाधिकरणशेषत्वमेव युक्तम्, नाधिकरणान्तरत्वम् । नच विषयवाक्ये पदान्तरदर्शनापथेति वाच्यम् । अन्तस्तद्बोधिधिकरणेनैव चारिसाध्यादितद्विचारस्यैव व्यर्थत्वादिति चेत्, न । अत्र तद्बोधिपूर्वश्लासकृत्त्वेन ततो गताधीनाया अभावे विषयभेदस्य स्फुटत्वेनाधिकरणान्तरत्वस्य युक्तत्वादिति । एवं सिद्धेऽधिकरणान्तरत्वे उपक्रमसाप्तज्ञातपिरोधत्वेन प्रबलत्वाच्च च सूक्ष्मपरिमाणश्रावणेन जीववाक्यत्वमेव युक्तम् । यद्यप्ययं न नियमः, आभिधावि-

करणादानुपक्रमगतस्यापि वैश्वदेवत्वस्य वाजिनयागादा(बुत्पत्तिशिष्टादिन्यायेन वाक्यदर्शनात्, तथाप्युपक्रमोपसंहारयोरनन्तरस्थानपरत्वकल्पने न वाक्यस्यैकार्यता सम्भवति । विप्रतिपत्तिनिरासेन वाक्यभेदो न भवति, तस्यैव बलीयस्त्वमिति पूर्वतन्त्रे सिद्धम् । तदैकशास्त्र्यादात्राप्यादरणीयम् । तत्र छान्दोग्ये त्रीण्येव तेषां बीजानीति श्रावणादत्र जरापुत्रज्वेदजाण्ड्यजोद्विज्जभेदेन चतुर्विधानां जीवशरीराणां ब्रीह्यादिदृष्टान्तैर्निरूपणार्थमौपाधिकपरिमाणप्रतिपादकमिदमन्तर्हृदयचचनम् । आराग्रश्रुतावौपाधिकपरिमाणस्यापि बुद्धिगुणेनोक्तत्वात् । नच हिरण्यमयस्त्वविरोधः । पूर्वाधिकरणसिद्धेन तत्कृतुन्यायेन तादृशुपासनार्था फलतो हिरण्यमयत्वस्य शक्यवचनत्वात् । नच तथापि ब्रह्मवाक्यत्वाङ्गीकारे किं बाधकमिति वाच्यम् । ब्रह्मणो निरवद्यत्वेन जीवाध्यस्यमानन्तरीयवादिरुपशरीरसाम्यस्य तत्रायुक्तत्वात् । अतो जीवप्रतिपादकभेदेनैव वाक्यमिति प्राप्ते ।

ब्रूमः । शब्दविशेषात् । शब्देनोक्तो विशेषः शब्दविशेषस्तस्मात् । हिरण्यमयस्यानन्दमयत्वं तद्धर्मोपदेशाधिकरणे सिद्धम् । तत्र ब्रह्मासाधारणम् । नच तज्जीवस्य फलरूपबोधनायेति वाच्यम् । तस्मामेव लय इति नियमाभावात् । तैत्तिरीये 'आदिरयो वा एष' इत्यनुवाक्ये मध्ये पूर्वस्मिन् हिरण्यमं पुरुषं प्रस्तुत्य, द्वितीये 'आदिरयो वै तेज' इत्यादिना तदिभूतिभूता देवताशोक्त्या, तदन्ते 'ब्रह्मणः सायुज्यं स लोकात्तामीत्येतासामेव देवतानां सायुज्यं साधितां समानलोकात्तामीति य एवं वेदेति श्रावणेन तत्कृतुनियमाभावात् । नच तत्कृतुश्रुतिवापः शक्यः । यथा क्रतुरित्यत्र पुरुषविशेषणस्याधिकारस्यापि प्रकारंशे निवेशेन तदभावात् । एतदनिवेशे श्रुत्योः परस्परविरोधपरिहारस्यासम्भवात् । अतः शब्देनैव विशेषस्योक्तत्वात् हिरण्यमः पुरुषो जीवः, किन्तु ब्रह्मैव ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

ननु हृदये वर्तमानत्वं जीवासाधारणम् । हिरण्यमयश्रुतित्तु 'विभ्रद्रूप हिरण्यमय' इति उग्रप्रसङ्गे वाक्याज्जीवसाधारणा । अतो जीववाक्यत्वमवस्थितित्तिचेत्, तत्राह । स्मृतेरिति । 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽज्ज्जेन तिष्ठतीति गीतास्मृतौ तैल्लिङ्गसाधारणत्वाभावाच्च तेन जीववाक्यत्वनिर्णय इत्यर्थः । गीताया भगवद्वाक्यत्वे यथा स्मृतित्वं तथा भाष्यादवगन्तव्यम् । चकारः स्मृतिमूलभूतभगवन्निःस्वामात्मकश्रुतिसम्बन्धायकः ॥६॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न

निचाव्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

उपक्रमबलीयस्त्वमाशङ्क्य परिहरति । अर्भकौकस्त्वादित्यादि । अर्भकम् अल्पकम् । वर्षाविषयैः । तादृशं ओकः स्थानं यस्य तादृशत्वात् । तस्य ब्रीह्यादिरूपत्वस्य व्यपदेशात् कथनात् । अत्र व्यापकः परमात्मा प्रतिपाद्यो नेतिचेत्, न । कुतः । निष्पा-

व्यत्वात् । निदिध्यासनानन्तरं हृदये साक्षात्क्रियमाणत्वात् । तथाच । व्यापकत्वेऽपि हृदयस्य तद्बुत्तिलामस्थानत्वेन स्थानत्वव्यपदेश इति न तत्परमात्मत्ववाचकम् । तर्हि द्वितीयस्य का गतिरित्यत्र आह । व्योमवदिति । यथा चत्वार उपरवाः प्रादेशमात्राः बिलविशेषास्तादृशः । ते हि 'दक्षिणस्य हविर्धानस्याभस्तात् पुरोधो' चतुर उपरवान्वान्तरदेशेषु प्रादेशान्तरालान् करोतीति कल्पश्रुत्या विधानादध्वर्युयजमानयोः किमत्र भद्रमित्यादिमन्त्रैः परस्परहस्तप्रहणाय किञ्चनते । तैर्विलैः प्रादेशमात्रमाकाशस्वरूपमभिव्यक्तौक्रियते । तावता किमाकाशस्य व्यापकता भङ्ग्यते, अपितुन । तथा चतुर्विधभूतान्तर्हृदये वर्तमानत्वस्यापनाय ब्रीह्यादिरूपत्वमुच्यते । 'अतः पराश्रान्यदणीयत्वं हि परात् परं यन्महतो महान्त'मित्येकस्यैव तैत्तिरीयेऽनेकपरिमाणश्रावणात् । अतः परिमाणविरोधस्याप्यभावाच्च ब्रह्मवाक्यत्वमङ्ग इत्यर्थः । पूर्वपक्षसिद्धान्तयोश्चकारद्वयमेवादाश्रवाक्यान्तरे पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्लक्षणस्य तदुपपत्तीनां च समुच्चयार्थम् । तेन 'अत एव प्राण' इतिवदधिकरणान्तरत्वमिति स्मृतित्वम् ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

जीवतुल्यतापत्तिरुपायवाक्यमाशङ्क्य परिहरति । सम्बन्धनिवेशेन भोगः सम्भोगः, सम्बन्धभोगो यस्मादिति च सम्भोगस्तयोः प्राप्तिः संभोगप्राप्तिः । यदि सर्वेषां हृदि जीववद्भगवत्सिद्ध्ये, तदा जीवस्वैवायम्गि सुखदुःखसःक्षात्कारस्तरसाधनपरिग्रहश्च तयोरोपत्तिः स्यादितिचेत्, न । कुतः ? वैशेष्यात् । विशेषण्य भावो वैशेष्यम्, तस्मात् । सर्वरूपत्वमानन्दरूपत्वं स्वकर्तृत्वं विशेषस्तस्य भावः सत्ता, सा ब्रह्मणि वर्तते, न जीवे, अतो जीवस्यैव भोगो, न ब्रह्मण इत्यर्थः । अत्र वैशेष्यपदेनाविवाक्षितो भोगो नेति सूच्यते, न तु यावद्भोगाभावः । अन्यथाप्रिमाधिकरणविरोधप्रसङ्गादिति ॥ ८ ॥ १२ ॥

इति द्वितीये शब्दविशेषाधिकरणम् ।

अत्र चराचरश्रवणात् ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे हृदयान्तर्हिरण्यस्य ब्रह्मत्वसमर्थनेन 'यथायं पुरुषे यथासावादित्वे स एव' इतिश्रुतिर्विचारिता । तेन सच्चिदानन्दरूपत्वं सिद्धम् । अतः परं तत्र स्थितेः प्रभोजनं विचारयति । तत्र कठवल्लीषु द्वितीयवल्लीसमाप्ती श्रूयते । 'यस्य ब्रह्म च श्वरं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्वस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र स' इति । अस्मिन् वाक्ये ब्रह्मसूत्रयोरोदनत्वं वदन् मृत्युर्वस्येच्छब्दार्थस्य योक्तृत्वमाह ।

तत्र संशयः । किं जीवो ब्रह्म वेति । नन्वत्र सन्देहो न घटते । ब्रह्मसूत्रवदयो-रसंकुचितवृत्तित्वेन यावत्तद्प्राहकत्वात्वावतोस्तयोः सर्वमारकस्य मृत्युशोष सकृदे जीवत्वस्य सम्भवावयितुमशक्यतयादिति चेत्, उच्यते । अत्र पूर्ववर्तवत् ओदनोपसेचनरूपकेण जीवत्वेनोत्पत्त्यस्य स्थानाज्ञानकथनेन स्वहृदये अभासमानत्वस्य च सूचनेन सम्भवा-

नोपपत्तेः । एवं सिद्धे संशये निषिद्धस्य भोग्यत्वकथनेन भोजनस्य लौकिकतुल्यत्व-
सूचनेन स्थानज्ञानकथनेन चोपासनोपचितलौकिकसामर्थ्यः कश्चिन्माहादेवादिर्वा
भवितुमर्हति । न तु भगवान् । अकिल्मशकर्मत्वेन तद्विरुद्धधर्मत्वादिति प्राप्ते ।

अभिधीयते । अनेत्यादि । अन्ना भगवानेव । कुतः? चराचरग्रहणात् । चरः सर्वप्रा-
णिवधार्थं परिभ्रमन् मृत्युः, अचरं प्रवाहन्नेत्यात्वा केनाप्यचाल्यं ब्रह्म क्षत्रम् । तयोर्ग्रहणात् ।
अन्तःप्रवेशनात् । न हीदं जीवेन कर्तुं शक्यते । ननु मास्तु जीवः, तथापि मृत्युञ्जय-
त्वेन संहारकत्वेन ज्ञानदातृत्वेन च महादेवस्य प्रसिद्धत्वान्मृत्युत्वविभूतिरूप एव सोऽयम्,
न तु परमात्मैतिचेत्, न । 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वाधीनतिलङ्घना'दित्याद्येन
तावत्सामर्थ्यस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । यथा ह्यमात्यो वा, युवराजो वा, राजकार्यं
कुर्वन्नापि सर्वेभ्योऽतिशयवानपि, न राजभोग्यं श्रद्धके, तदसाधारणं कार्यं वा करोति,
तद्वदिति लोकन्यायाच्च । नच स एव परमेश्वर इति वाच्यम् । नृसिंहदृष्टत्वापिनीये
अनुपनीतशतमेकेनोपनीतेन तत्समं मित्यारभ्य, गृहस्वभावान्प्रत्ययतिरुद्रजाप्यधर्मेश्वरः-
शिखाध्यायिपर्यन्तस्य कृत्वा, 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन
तत्समं'मिति विधावदुत्कर्षस्य नृसिंहमन्त्रराजजापक एव विश्रान्तिश्रावणेन विधावदुत्कर्-
षस्य च विद्योत्कर्षाधीनत्वेन तदुत्कर्षस्य च तत्प्रतिपाद्योत्कर्षाधीनत्वेन नृकेसरिणि
भगवत्येव विश्रान्त्या तथा वक्तुमशक्यत्वात् । अतः परमेश्वर एवात्ता । नच बाधकारिणां
तर्हि का गतिरिति शङ्क्यम् । भोजने लौकिकतौल्यस्यास्मदादिप्रतिपत्त्यर्थत्वेन, 'सदेव
सोऽप्येदमस्य आसी'दित्यत्र ब्रह्मणः केवलत्वेऽभिसिद्धितेऽप्यप्रेषदेन तत्प्रतिपत्त्यर्थंकाळो-
परञ्जनवद्बाधकत्वात् । नच भोग्यस्य निषिद्धत्वमपि बाधकम् । निषेधस्य जीवेऽपि देह-
सम्बन्धानन्तरमेव प्रवृत्तेरनुष्ठापनिर्हारश्चेत् बन्धमागत्वात् । अशरीरे ब्रह्मणि तदप्रवृत्तिर-
स्ति निषिद्धत्वाभावात् । अन्यथा प्रलयेऽपि हिंसायास्तौल्यत्वात् प्रलयकर्तृत्वस्यापि अयुक्त-
त्वापत्तेः । प्रलयभावापत्तेश्च । अतः प्रलयवद्भोजनस्यापि नायुक्तत्वम् । नापि स्थानाज्ञानं
बाधकम् । सर्वत्र विद्यमानत्वेऽपि 'हन्त तिरोज्ञानी'ति श्रुतेः सृष्टयनन्तरं तिरोधाने-
नाज्ञानमागततया तस्यादोषत्वात् । नच 'किष्कर्मत्वं शङ्क्यम् । मोक्षणीयानामेवात्राद-
नीयत्वेन अभिप्रैततया, तेषां देहसम्बन्धस्य निवर्तनीयतया यथा तण्डुलानां बह्यादि-
सम्बन्धेनावयववैधित्ये विकृतावोदनत्वम्, तथात्र मोक्षणीयानां भोक्तरी भगवति प्रवेश-
मात्रेण योग्यरूपत्वमेव ओदनत्वम् । यथा कंसादीनां कुरुपाण्डवसैन्यानां च । अत एव
'तदेव रूपं दुरवापमाप' 'यास्तस्यदशममर्लं बलमीमाषाभ्यंयाज्ञह्येन हरिया निलयं
तदीय'मित्यादीनि वाक्यानि । लौकिकेऽपि मिषककृतस्य दुष्किस्त्वब्रह्मादिविदारणस्य
क्लिष्टत्वेऽपि परिणामसुखदत्त्वेन यथा न किष्कर्मत्वम्, तद्वदस्यापि तिन दोषलेशोऽपि ।
नचैवं मृत्योरुपसेचनत्वासम्भवः । अज्ञानाया मृत्युरेवैत्येकमृत्युपक्षे बुध्यमानब्रह्मक्षत्र-
प्राप्तानाम्, 'अत्रैव समवनीयन्ते प्राणा' इति श्रुतेर्ब्रह्मण्येव लयेन प्राणधर्मात्मकोऽज्ञानादि-

रूपो मृत्युरपि तेषां जन्ममरणायभावाय भगवत्येव प्रविशतीति तस्योपसेचनताया अपि
सुखेन सम्भवात् । अतो दोषाभावाद्दत्र भगवानेवाचेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

प्रकरणार्थः ॥ १० ॥

ननु विषयवाक्ये पश्चाद्विबोधकपदामावेन चराचरादिपदैर्भूत्व्यादिगतं धर्मं भोगे-
नादाय तदग्रहणस्य लिङ्गत्वं कल्पयित्वास्य ब्रह्मवाक्यत्वकल्पनापेक्षया पूर्वपक्षोक्तानां
निषिद्धत्वादीनां शीघ्रं युक्तावरोहाज्जीव एवात्र ग्रहीतुमुचितः । स चेत् साधारणो न समर्थः,
तदा संहारोऽधिकृतो यमो देवतारूपं मृत्युं साधनीकृत्य, देवतारूपो मृत्युर्ब्रह्मं रोगादिभूतं
मृत्युं साधनीकृत्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं सर्वं प्राणिजातं वशीकरोतीत्येव युक्तमिति जीववा-
क्यत्वमेवासाधारणीयमित्याशङ्क्याह । प्रकरणादिति । अत्र हि जीवप्रश्नोत्तरश्रवणानन्तरं
'अन्यत्र धर्मोदन्वत्राधर्मो'दिति प्रश्नानन्तरं कृते, 'सर्वं वेदा यत् पदमामनन्ति' इत्यादिना
प्रकरणान्तरं प्रवृत्तवत् इदं ततोऽतिरिक्तस्य ब्रह्मणः प्रकरणम् । तत्र 'सर्वं वेदा यत्पद'-
मिति मन्त्रे संक्षेपेण कथनं प्रतिज्ञाय, 'अकारस्य संक्षेपरूपताशुक्त्वा, एतदेवाश्वरं ब्रह्मेत्या-
दिमन्त्रद्वये सर्वफलदायकत्वादिना तं प्रशस्य, 'न जायते न म्रियत' इत्यादिभिरदृष्टमि-
त्रैस्तत्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो माहात्म्यं वदन्तते, तस्यैवापुत्वं मृत्युरेवाह । तद्यदि देवता-
रूपो मृत्युर्यो यमो वा अनुत्वेनाभिप्रैतः स्यात्, तदा 'न जायते न म्रियत' इति मन्त्रे तस्य
जननमरणभावो न वदेत् । श्रुतिपुराणेषु उभयोरपि अन्यत्वादिकथनत्वात् । तथा 'आसीनो
दूरं ब्रजति' इति मन्त्रे, 'कस्तं भदामंदं देवं भदमनो ज्ञातुमर्हती'ति स्वस्य तस्य च भेदेन
ज्ञातृत्वेयमावं च न वदेत् । अत इदं मृत्युत्वादिवेदात्प्रातिरिक्तस्य ब्रह्मण एव प्रकरणम्,
अतो यथा आसीनादिमन्त्रेषु विशुद्धधर्माधारत्वादिरूपं तन्माहात्म्यसूच्यते, तयान्वैविधा-
पुत्ररूपं माहात्म्यशुच्यते । ततः प्रकरणानुरोधादि ब्रह्मवाक्यत्वमिति । अन्यथा प्रकृ-
तहानाप्रकृतकल्पने स्यातामिति चकारार्थः ॥ १० ॥ ३ ॥

इति तृतीयमन्त्रा चराचरत्वधिकरणम् ।

गुहां प्रविष्टावात्मानो हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

एवं पूर्वाधिकरणे भोगः प्रतिपादितः । स भोगो व्यापिविकृष्टे वा ब्रह्माण्डे
वास्तु, न त्वन्तर्हृदयेऽपीत्याशङ्क्यावारणायोपोद्घातसङ्केदमधिकरणमात्रभ्यते । तत्र
काठक एव तृतीयवच्छारमन्त्रे श्रूयते, 'ऋतं पिबन्ती सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टी
परमे पराणं छायातपी ब्रह्मविदो वदन्ति तन्नाभयो ये च शिणाषिकेता' इति । अत्र
पुरःस्कृतिको वाक्यार्थस्तु, ऋतं सत्यं सुकृतस्य सत्यकृतस्य कर्मणः फलं पिबन्ती
ब्रह्मज्ञानी लोके अस्मिन् शरीरे । गुहामिति सत्यस्यैवं द्वितीया । गुहायाः विशेषणं परमे
पराणं इति । परमत्वं स्थानान्तरापेक्षया उत्कृष्टत्वं, परार्थत्वं ब्रह्मणः स्थानत्वम् । तत्र
हि शङ्कानिमिषत्वात्कैश्च ब्रह्मोपलभ्यते इति, तौ छायातपी संसारित्वासंसारित्वाभ्यां

धर्माभ्यामितरेतरविलक्षणौ ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलं त एव कथयन्ति, किन्तु पञ्चाभ्युपासकास्त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृतो नाचिकेतोऽपि यैश्चितस्तादृशः कर्मिणस्तेऽपि वदन्तीति । मुख्योऽर्थस्त्वयं भाष्यानुसारी वक्तव्यः ।

तत्रायं संशयः । किमिदं जीववाक्यमाहोस्विद ब्रह्मवाक्यमिति । ननु कथमत्र संशय इति चेत्, इत्थम् । इदं वाक्यं यत्स्वयारम्भे पठितम् । इतः पूर्वं तु ब्रह्म प्रकृतम्, अथे तु जीवः । एतस्य तु मध्ये पाठात् किंशेषत्वमिति निर्णयाभावादेवं सन्देहः । नच पूर्व-वक्ष्याः समासत्वाद्स्यामिभेदोपपत्तमेव युक्तम् । 'सार्थबोधे समाप्तानागङ्गाङ्गित्वा-द्येषया । वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते' इति पूर्वतन्त्रे निर्णयान् कथा-चित्तसङ्ख्या पूर्वशेषत्वस्यापि शक्यवचनत्वात् । नचैवं सति समासः प्रागेव पठितं स्याद, अत उपदेशत्वमेव युक्तमिति शक्यम् । तथा स'त्यात्मानं रथिनं विद्धी'त्येतदनन्तरमेव पठितं स्यात् । अतो न प्रकरणेन निर्णयः । तत्र च प्रकरणपेक्षयाथस्य बलिष्ठत्वाद्-र्थेन निर्णयोऽस्त्विति वाच्यम् । तस्यापि सन्दिग्धत्वात् । तथाहि । अत्र द्विवचननिर्दे-शाद् ब्रह्मवाङ्गीकार्यौ । तत्रास्य पूर्वशेषत्वे बद्धस्यक्तौ जीवो शक्यवचनौ । 'हन्ता चेम्-न्यते हन्तु'मित्यनेन बद्धजीवस्य, 'मत्या धीरो न शोचती'त्यनेन धृक्कस्योक्तत्वात् । तद-नन्तरपठितमन्त्रगतस्य द्विवचस्य तद्विषयत्वप्रत्यभिज्ञानाद्, न तु जीवपरमात्मानौ । अनश्रमिति धृत्या परमात्मानो भोगनिषेधादिति । एवञ्चतरोशेषत्वे इन्द्रियमनसौ शक्ये । 'यस्त्वविज्ञानवान् भवती'त्यादौ तयोरेवायं निरूपणात् । नच पिबन्ताविति पातकदौल-व्यपदेशस्यानुपपत्तिः । एधांसि पबन्तीतिवत्करणे कर्तृत्वोपचारेण तदुपपत्तेः । येऽत्र पूर्वपक्षे बुद्धिजीवावाङ्गीकुर्वन्ति । तन्मते केवलानां बुद्ध्याविरामममत् इन्द्रियमनसोर्द्वयो-रपि कर्तृत्वोपचारात् । अत्र गौडित्तीयोऽन्वेषण इत्यादौ संरूपापूरणस्य सजातीयैर्नैव दर्श-नेन सिद्धान्ते बुद्धिग्रहणवदत्रापि जीवग्रहणानौचित्यात् । अतः पूर्वशेषत्वे वा उपदेशत्वो-वे वा न ब्रह्मवाक्यत्वम् । नच येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये इति जीवस्य, अन्यत्र धर्माद-न्यत्राधर्मादिति ब्रह्मणश्च पूर्वं पृष्टत्वात् पूर्वशेषत्वाङ्गीकारे जीवपरमात्मानौ सुखेन सम्भवि-ष्यत इति युक्तम् । असङ्गतत्वात् । तथाहि । अत्र ब्रह्मणो धृष्टवत्त्वेन भोक्तृत्वप्रतिपत्तये परमात्मनिरूपणमत्राङ्गीकार्यम् । सा तु द्रव्योस्तुल्यतया मुख्यत्वप्रतिपादनाद् दुष्येते-वे वृषुणमनस्यापार्थक्यादिति । नचोपनिषदां ब्रह्मवित्यात्पाशु निधौरितमेवोच्यत इति द्रव्यो ऋतपाहृत्यमन्यत्रानिर्णयतमत्र निर्णेतं प्रवृत्तं वाक्यमिन्द्रियमनसोर्ग्रहण उपचारदोषेण दुष्येदिति तदभावात्स्य जीवब्रह्मपरत्वाङ्गीकाराचयोभावस्याभेदेनैव मिश्रतया वस्तु-तेष्याद्वाक्यस्योभयपरत्वेपि न ब्रह्मत्वहानेरित्यपि युक्तम् । प्रकरणसार्थस्य चोक्त-रीत्या सन्दिग्धत्वेन तयोरनिर्णायकत्वात् विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अविचारे च ब्रह्मवाक्यत्वानिर्धारान् । नचायस्युपचार एव निर्णायक इति शक्यम् । अभेदे भेदोप-चारस्य सिद्धान्तेऽपि सत्त्वात् । नच तुल्यतायामपि छायातपश्चार्थविचार एकसा-

पकर्ष इतरस्योत्कर्षश्च प्रतीयत इति तदर्थविचारे पदशक्या विशेषप्रतिपत्तौ सत्यामास्य ब्रह्मवाक्यत्वनिर्णय इति शक्यम् । तदापि अमुक्तमुक्तजीवौ वा जीवपरमात्मानौ वेति सन्देहानिरापात् । उत्कर्षाद्युत्कर्षयोरेवमपि प्राप्तेः । अतः कथमप्यनिर्णयान् किं जीवा-दिवाक्यमुत ब्रह्मवाक्यमिति संशयो दुर्हृदः । तत्र यद्यस्मिन्मन्त्रे ब्रह्म प्रतिपाद्यं स्यात्, तदा पूर्ववत्त्व्यामिबैतन्मन्त्रेऽप्युपास्यत्वेन प्राप्यत्वेन च ब्रह्मोच्येत, न तु सामन्त्रे भोक्तृ-त्वेन ब्रह्मप्रतिपादकमिदं, किन्त्वेत्रे, यस्तु विज्ञानवान् भवतीति यस्त्वविज्ञानवान् भव-तीतिवत् । विद्वद्विद्वद्वाजीवयोर्वकत्वत्वाच्चदर्थमयविद्यजीवविदंश्च एव प्रथमं युक्तः । नच मन्त्रवर्णासङ्गतिः । मन्त्रे ऋतपदेन स्वर्गापवर्गलक्षणं द्विविधं सुखमुच्यते । प्रवृत्तिनिवृ-त्तिलक्षणस्य मार्गद्वयस्यापि विहितत्वात् सुकृतत्वेन तज्जन्मवीरस्य लोकत्वम् । तत्र तत्-दुपयोगी विचारे गुहेव गुहेति । यदि गौणी नाद्रियते, तदा हृदयाकाशोऽस्तु । नच विचारादिभेदत्वाद् द्विवचनं शक्यम् । ज्ञात्यपेक्षयैकवचनस्यापि युक्तत्वात् । तां प्रविष्टौ परमे परार्थे इति । परश्रुतुसो मीयते ज्ञायत इति तादृशे परार्थे उच्यते सत्यलोके । ततोभयोः शतजन्मीनस्यकर्मशुद्धस्य कर्मिणो वैदान्तविज्ञानयुत्निधितार्थस्य संन्यासिनश्च भोगादिति । अविद्यया विहितप्रकाशात्वाद् विदुष्यपश्यास्तु, ब्रह्मज्ञानेनातिप्रकाश-त्वाद् विदुष्य आतपस्यम् । अत एव विदुष्यः स्वरूपं ब्रह्मविदो वदन्ति । पञ्चाप्र-यस्त्रिणाचिकेताश्चेतारमित्येवं सङ्गतेः । तस्माद् बद्धमुक्तजीवपरमिदं वाक्यम्, न ब्रह्म-परमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते ।

उच्यते । गुहां प्रविष्टावात्मानवित्यादि । गुहा हृदयाकाशस्तत्र सकृद-कदैव प्रविष्टौ जीवपरमात्मानावेव । कुतः । तद्वैतान् । 'अनेन जीवेनात्मानानु-प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीस्युभयोर्जीवब्रह्मणोरेव मह प्रवेश्य ध्रुवो दर्शनात् । नचात्र सहपदाभावाज्जीवरूपेणैव ब्रह्मप्रवेशात् कारणार्थं तृतीयास्त्विति वाच्यम् । 'गुहाहितं गहरंष्टं पुराणं, यो वेद निहितं तु गुहायां परमे श्याम'त्रियादौ श्रुतितस्य गुहाहितत्वादेः स्वस्वरूपेण प्रवेशं विनानुपपद्यमानतया सहपदामावेऽपि तथाङ्गीका-रस्यावश्यकत्वात् । नचात्र जीवेनेति ज्ञात्येकवचनाज्जीवद्वयप्रवेश एवास्त्विति शक्यम् । एकनैव कार्यसम्भवे द्वयोः प्रवेशस्य वैयर्थ्यात् । ननु भवतुभयोः प्रवेशः, तथापि 'द्वा सुपर्णो'त्यत्र ब्रह्मणो भोगाभावकथनान्मन्त्रार्थस्य कथं सङ्गतिरिति चेत् । इत्थम् । पूर्वाधि-करणे वेदोप्येण भोगस्य साधितत्वाद् द्वा सुपर्णमन्त्रेऽपि न यावद्भोगनिषेधः, किन्तु जीवज्जोगस्यैव निषेधः । सिद्धे च भोगे मन्त्रार्थ एव कोप्यः । ऋतं सत्यं परं ब्रह्मेति, तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति श्रुतिभ्याम् ऋतं सुकृतं च ब्रह्मेव । पृष्टी तु राहोः स्मि इतिवद्भेदेऽपि भेदोपचारात् । लोकोऽन्तरम् । परमे परार्थं इति सामीप्ये सप्तमी । सत्यलोकासमीपे । छाया अतिवह्यत्वं, साधुज्यं प्राप्तस्य जीवस्यापि तथाकाशतोऽपि विमिश्रितं ब्रह्म प्रकटानन्दत्वात्तपः । तथाच परमपरार्थस्यकसत्यलोकोपरितमे अन्तर-

त्मके ब्रह्मशरीरे गुहां हृदयाकारं प्रविष्टौ सुकृतात्मकब्रह्माभिर्भक्तं क्रतुं स्वरूपाभूतं पिबन्ता-
वसुभवन्तौ सुकृतीवपरमात्मानौ ब्रह्मवित्प्रभृतयश्चायातयो वदन्तीति । एतस्याभ्यस्य
युक्तत्वाय सूत्रे हिंस्रद्वयः । नन्वस्त्वेवं तथापि तयोरभ्यासकृतत्वाच्छब्देनासंशब्दितत्वाच्च
कथं तल्लभ इति शङ्क्यम् । धृते तद्दर्शनादित्यस्य तयोर्दर्शनं तद्दर्शनमित्येवं विषय-
वाक्यस्ययोर्वैयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्य इति, अन्वय चर्माहन्वत्राचर्मादिति मन्त्राभ्यां
पृष्टयोर्जीवब्रह्मणोर्मध्ये पूर्ववत्त्वात् ब्रह्मणो निरूपितत्वाद्ब्रह्मो जीवस्य निरूप्यत्वाच्चो-
भयोः सिद्धावेतन्मन्त्रे तुल्यतया महाभोगनिरूपणार्थं तयोरेव स्वरूपकीर्तनस्य लाभा-
दिति । तस्माद् ब्रह्मवाक्यमेवेतदिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पूर्वबल्लघामणोरणीयानित्यादिमन्त्रेषु द्रष्टृदृष्टव्यत्वप्रसाधप्रसादाहर्त्वरणैकलभ्यत्व-
वरणीयत्वरूपोभयविशेषणाद्, अस्यां बल्ल्याभारमानं रक्षितं विद्धीति सन्दर्भे, 'सोऽध्वनः
पारमान्नोति तद् विष्णोः परमं पद'मिति प्राप्तृत्वप्राप्यत्वरूपाद्दिशेषणाचंद् ब्रह्मवाक्य-
मेवेत्यर्थः । हा सुपर्णति श्वेताश्वतरमन्त्रस्तु न सन्दिग्धः । 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
अनीशया शोचति मुद्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्मसीशस्य महिमानमिति वीतशोकः'
इति समनन्तरमन्त्रे जीवपरमात्मनोर्बोक्तत्वेन पूर्वस्मिन्नापि तयोरेव निश्चयादिति । धृते
चकारस्तु प्रकरणोक्तसर्वोपपत्तिसमुद्भावाय कः ॥ १२ ॥ ४ ॥

इति चतुर्थे गुहां प्रविष्टावित्यधिकरणम् ।

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अतीतेषु त्रिभ्यधिकरणेषु प्रथमे वैशेष्येण भोगवाक्यं परिहृत्यात्रिमे चराचरब्रह्म-
ण्युपपत्तुभयप्रवेशाभ्याम्भयविधौ विवक्षितो भोगः साधितः । तत्र किं वैशेष्यमित्य-
त्पाकङ्क्यायां तन्निर्णेतुमुपोद्घातेनेदमधिकरणमारभ्यते । तत्र ङान्दोषेण वक्ष्यमाणकोप-
कोशलविधायार्थं भ्रूयते । 'य एषोऽन्तरिक्षिणः पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होमायैतदय-
त्तमभयमेतद् ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्बोद्धं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छती-
त्यादि । वाक्यार्थः कं ब्रह्मेतीत्यन्तं पुरःस्फूर्तिकः स्फुट एव । अत्र तु पूर्ववाक्ये यदा-
चार्यणोक्तम् । 'अहं तु ते तद् वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश जापो न श्लिष्यन्त एवमेवो-
वंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत' इति फलम् । तत्र निदर्शनं च स आह । तद्यद्यपीत्यादि ।
तत् तत्र इदं निदर्शनम् । यद्यप्यस्मिन्नाक्षिपुरुषस्यान भूते अक्षिणि सर्पिर्वा उदकं वा सि-
ञ्चति, धारया भूयः पातयति, वर्त्मनी अरूपावरणादिभूते पक्ष्मणी एव गच्छति प्राप्नोति ।
ते एवाहं स्निग्धे च भवतो, न त्वञ्चि । तथाच यत्स्थानस्येदंशां माहात्म्यं तस्य ज्ञाने
सति पापं न श्लिष्यते इत्यत्र किं वाक्यमित्यर्थो बोध्यः । इदं वाक्यं प्रतिबिम्बपुरुषस्य ब्र-
ह्मत्वेनोपासनापरम् ? उत ब्रह्मवाक्यमिति । नचात्र दृश्यत इति पदेन दर्शनविषयत्वस्यो-

कत्वाद् ब्रह्मणश्चादृश्यत्वात् संशय एव न घटत इति वाच्यम् । अमृतत्वादीनां ब्रह्मधर्माणं
श्रावणेन तत्त्वज्ञानजनितालौकिकसामर्थ्यकृतदर्शनस्य शक्यवचनतया तदुदयसम्भवात् ।
तत्र दृश्यत इति वचनाद्, एष सोम्य तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या चेत्युपनीनां वाक्ये ब्रह्म-
विद्योपसंहारदर्शनाच्च प्रतिबिम्ब एवायमिति युक्तम् । अन्यथा उपसंहारदर्शनविरो-
धापातात् । नचाभयादिपदविरोधः शङ्क्यः । उपासनार्थतया सुखेनान्वयादित्येवं प्राप्ते ।
अभिधीयते । अन्तर इत्यादि । अन्तः अक्षिमध्ये स्थितः परमात्मेव । कुतः ?
उपपत्तेः । सर्वत्र ब्रह्म पश्यतः स्वसन्निधाने अशिरूपस्य स्थानस्य जलाद्यसंक्षेपेण माहात्म्य-
बोधकतयोः कृष्टत्वात्तत्र भगवन्तद्व्यपदिशतीति दर्शनेन स्वल्पस्यास्य चोपपत्तेः । नचो-
पसंहारदर्शनस्य वाक्यत्वं शङ्क्यम् । उपकोसलेन ब्रह्मोपदेशेऽपहृतेऽपीमे नूनमीदृशा
अन्यादृशा इति वदता आचार्येणामिकृतोपदेशे ज्ञाते, तत् उपकोसलेनाचार्योद्भावाज्ज्यु-
क्तेऽनुदिते, आचार्यः कं ब्रह्म सं ब्रह्मेति अत्रिवाक्यस्य 'लोके वाव किल तेऽबोच'मित्य-
नेनात्मप्रमाणं ब्रह्मार्थत्वेनोचता, 'अहं तु ते तद् वक्ष्यामि'ति प्रतिज्ञाय, य एषोऽक्षिणि
इत्यादिना तत्प्राप्तिप्रकारं चोक्तवानिति महता प्रवचनेन भूतप्रक्रमेणोपसंहारविरोधस्था-
भावात् । नच प्रकरणस्य श्रुत्यपेक्षयातिदुर्बलत्वात्तदुपोधेन दर्शनेनश्रुतितङ्कोचोऽनुचित
इति वाच्यम् । दर्शनेविषयस्य पुरुषत्वानियमात् । अन्येषामपि प्रतिबिम्बदर्शनेन तथा
निश्चये विषयवशेन दर्शनेनश्रुतिसङ्कोचस्य पूर्वपक्षिमतेऽपि लौक्यात् । प्रकरणविरोधस्या-
धिक्याच्च । अतो विरोधाभावादिति ब्रह्मवाक्यमेव ॥ १३ ॥

स्थानादित्युपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोर्बादकवलितात्प्राद्वेत्वन्तरमाह । स्थानादिति । स्थानमादि-
येषाम् । अतदुपसर्गसंविज्ञानः । तेषां व्युपदेशात् । अक्षिपुरुषमेव निर्दिश्य, 'एतं संयद्वाप्त'
इत्याक्षयते, एतं हि सर्वाणि वामान्यमित्यन्ति, एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि
वामानि नपति, एष उ एव भागनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भातीति कथनात् । कर्मणां
फलार्थं करणात् । तेषां मनोहरत्वेन वामत्वम् । संयन्ति वामानि यत्रासौ संयद्वाप्तः ।
शेषं स्फुटम् । अत्र कर्मफलं कर्मफलदानं च, ततः सर्वेषु लोकेषु भातं च तयोक्तम् ।
न हीदं प्रतिबिम्बत्वात्तः सम्भवति । तथाच पूर्वां कहेतोर्बादकवलितात्वेऽपि तेभ्योऽसा-
धारणधर्मैर्भ्योऽत्र ब्रह्मैव मन्तव्यमित्यर्थः । चकाराच्छान्दोष्य इन्द्रविरोचनसंवादेऽपि
प्रथमपर्याये, य एषोऽक्षिणीत्युपक्रम्यैतद् ब्रह्मेत्यन्तमेवमेवोपदिष्टत्वात् तत्राच्येवमेव
बोधमिति सूचितम् ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

ननु किमित्येवं ब्रह्मवाक्यत्वं निर्बन्धेन प्रतिप्राप्यते, उपासनापरत्वमेवाविराट्प्राप्तम्,
प्राञ्जलत्वादित्यत आह । सुखविशिष्टेत्यादि । एतद्दृष्टमभयमेतद् ब्रह्मेति सुखविशि-

धामिधानात् । छान्दोग्ये भूमानं सुखस्वरूपमुपक्रम्य, यो वै भूमा तदसृत्तमिति श्राव-
णादसृत्तमानन्दः । बृहदारण्यके ज्ञानोपदेशोत्तरमभयं वै जनक प्राप्तोऽसीत्युपसंहारादभयं
ज्ञानम् । तस्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यत्र प्रथमं सत्यपदात् ब्रह्म सत्, अत्र हेतुद्विषेणत्रयं पूर्व-
मभिधाय, तदनन्तरं संयदत्रामत्वादीनां तद्वर्णानां कथनाद्यदश्रिमिः कंपदेन सुखविशिष्टं
ब्रह्मरूपमुक्तं तद्वैष इत्यनेनाऽक्षिपुरुषं निर्दिश्य एतद्वाक्यं प्रवृत्तमित्येतद् ब्रह्मवाक्यमि-
त्यर्थः । यद्यपि सच्चितोरपि ब्रह्मात्मकत्वम्, तथापि तयोर्विधाययं जडे जीवे च प्रत्यक्तत्वे-
नानेकान्तिकत्वात्तदनुक्तः । एषा मुख्योपपत्तिरिति बोधनाय ह्यत्र एवकारः । चकारः
सच्चितोरपि समुच्चायकः । तस्माद् ब्रह्मवाक्षिपुरुषः ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कर्मण्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

एवं स्वरूपतो निर्णयं फलस्य तात्पर्यलिङ्गत्वात् फलतो निर्णयमाह । श्रुतेत्यादि ।
अत्रा उपनिषद् ब्रह्मविद्या येन, तस्य ब्रह्मविदो या मतिश्छान्दोग्ये एव, अथ यद् वैवा-
स्मिन् श्रयं कर्म कुर्वन्ति, यदि च न, अविषमेवाभिसंयन्तीत्युपक्रम्य चन्द्रमसो विद्यु-
तमित्याद्युक्त्वा तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति, एष देवयो ब्रह्मण्य एतेन
पतिष्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते इति । इयं चाग्निविद्यायामुक्त्वा तस्या एत-
न्नात्राक्षिपुरुषमुपक्रम्याभिधानादप्यक्षिपुरुषो ब्रह्मेवेति । चकारस्तत्त्वतसमुच्चायार्थः ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

इदमेवाधिकरणं पुनर्निषेधमुखेन विचारयति । नन्वत्र प्रतिविम्बपुरुषस्योपासना
ब्रह्मत्वेन कर्तव्योच्यते । सा च ब्रह्मधर्मव्यपदेश एव सिध्यति, अतः असृत्तत्वमारभ्य गत्य-
न्ताः सर्वा अष्टुपपचयो गौण्या व्यपदेशेन सङ्गता भवन्तीति नेदं ब्रह्मवाक्यमिति प्राप्ते
अभिधीयते । नेतर इत्यादि । इतरः प्रतिविम्बपुरुषो न वाक्यार्थः । कुतः । अन-
स्थितेः । अस्थिरत्वात् । अयमर्थः । स्वया हि दृश्यत्वकथनानात् प्रतिविम्बपुरुषो वाक्या-
र्थत्वेनापाद्यते । तत्रेदं विचारणीयम् । किमाचार्येण स्वच्छन्दोत्त उपदिश्यतेऽप्यचक्षुर्यतो वा
। आद्ये वस्तुस्तददर्शनेन तत्कथने यथादृष्टार्थत्वाभावाद्ब्रह्मवस्तुरनाम्नत्वादुपदेश-
स्याप्रमाणतया अस्थिरत्वम् । द्वितीयो तु द्रष्टरि तस्यैव मानात् तदपगमे चापगमात्
प्रतिविम्बस्यैवास्थिरत्वम् । द्रष्टरि सद्वितीये प्रतिविम्बस्यापि तथात्वेनेकत्वोपदेशविरो-
धादस्थिरत्वम् । उपासनाकाले चिन्त्यैवोपाक्षिन्नीमूलने प्रतिविम्बमात्रस्याभावोपा-
स्याभावादुपासनायाः सुतरामस्थिरत्वम् । यदि च द्वितीयं विना तदसम्भवात् पत्नीद्वितीय-
स्याग्निहोत्रादिवदेकत्वं मुख्यपरमङ्गलकृत्य सद्वितीयस्यैवायोपासनोपगम्यते, तदा तु
वाक्यश्रवणकाले श्रोतुरेकत्वादुपासनाकाले च तस्य सद्वितीयत्वाच्छ्रवणमननयोः प्रकार-
भेदेनोपासनाया वैरूप्यादस्थिरत्वम् । यदि च श्रवणदशानां वस्तुः सत्त्वादिरूपं परिधिद्यते,
तदा तु वक्त्रैव सद्वितीयत्वाद् गुरोर्निर्भेषापचया तस्याः कर्तुमशक्यत्वेन च सुतरा-

पासनाया अस्थिरत्वम् । किञ्च, मनसा सुपासनम्, तत्र च प्रतिविम्बस्य सभिषापायितुप-
शुच्यत्वादसम्भव एव । चकारेण प्रतिविम्बस्यात्मत्वाद्युत्तत्त्वयोरसम्भवे प्रतिविम्बपरत्वं
उपासनाया आसुरत्वं च संगृह्यते । तस्मादस्थिर्याने व्यापकः सर्वतः पाणिपादान्तत्वादा-
नन्दमूर्तिर्भगवानेवोच्यत इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ ५ ॥

इति पञ्चममन्तर उपपत्तेरित्यधिकरणम् ।

अन्तर्त्याग्यधिदैवादिषु तद्भ्रमं व्यपदेशात् ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणे भोग्यैवलक्षण्यतायकं वैशेष्यमक्षिपुरुष उपादितम् । बाजसनेयिनां
मण्डलब्राह्मणे, 'स एष एवेन्द्रो योऽयं दक्षिणेऽञ्जनं पुरुषोऽभ्येयमिन्द्राणी'त्यादिना हृदय-
देशे तयोर्भोगस्य श्रवणान् । अतः परं तदेव वैशेष्यमसृत्तत्वादान्तर्त्यागिणि सर्वहृदयदेशवति-
न्यस्तीति बोधनायेदमधिकरणमारभ्यते । काव्यमाध्यन्दिनयोर्बृहदारण्यके श्रूयते । 'य
इमं च लोके पर च लोके सर्वोणि च भूतान्यन्तरो । यमयतीत्युपक्रम्य, 'यः पृथिव्यां ति-
ष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवीं न वेद यस्तु पृथिवीं शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष
त आत्माऽन्तर्याम्यऽसृत्तः । एतद्ब्रह्म ईदृशान्येव अन्त्यात्माऽन्त्यादित्यचन्द्रतारकदिग्-
विद्यद्वस्तनचित्युवाकयानि । तस्ममात्तौ, इत्यपिदैवतमित्युपसंहारः । ततः सर्वलोकः सर्व-
वेदः सर्वयज्ञः सर्वभूत इति वाक्यानि । तेषु, अधिलोकम्, अधिवेदम्, अधियज्ञम्, अधिभूत-
मिति क्रमेणोपसंहारः । ततः प्राणवाक्चक्षुःश्रोत्रमनस्स्वक्वतेजस्त्वमःरेतःप्रभृतीत्यात्मनान्तानि
वाक्यानि । तेष्वध्यात्ममित्युपसंहारः । काव्यपाठे स्वन्तरिक्षमधिकम् । आत्मस्थाने च वि-
ज्ञानं पठ्यते । ततः, अदृश्यो द्रष्टा, अद्रुतः श्रोता, अमतो मन्ना, अविज्ञातो विज्ञाता ना-
न्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ना, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातौ च
त आत्माऽन्तर्याम्यऽसृत्तोऽतोऽस्यदार्तिमिति । माध्यन्दिनपाठे तु, स त आत्मेत्युच्यते ।
वाक्यार्थस्तु य इमं च लोकमेतज्जन्मीने देहं, परं च लोके जन्मान्तीयं देहं, सर्वोणि
भूतानि ब्रह्मादिवृणस्तम्भान्तानि पृथिव्यादीनि वा, अन्तरः अभ्यन्तरवर्ती सन् यम-
यति स्वेच्छानुरूपं व्यापारं कारयति, इत्येवं कार्यद्वारा तं ज्ञापयित्वा तत्स्वरूपप्रपन्ने उदा-
लकेन कृते याजवल्क्यस्तद्भक्तमनुभू, यः पृथिव्यामित्यादीनि वाक्यान्माह । तत्र यः
पृथिव्यां तिष्ठन् सोऽन्त्यामीत्युक्ते आधारात्मकजडव्याज्जावपि तत्रावस्थितेषु प्राणि-
ष्वतिप्रयत्न इति तद्वाग्याय, यं पृथिवीं न वेदति, पृथिव्यमिमानो यं न जानाति । तेन
ततोऽभिज्ञानजडाजीवाश्च भेदेऽपि तस्य तत्र स्थितः प्रयोजनं वक्तुं, यस्य पृथिवीं शरीरं
यः पृथिवीमन्तरो यमयतीति । तथाच, 'गामाविश्यं च भूतानि धारयाम्यहमोजसेति
भूतधारणकार्यायं सद्यरीं तन्नियमनं च तस्य सिद्धयर्थम् । अनियमने तन्निसंमतौ
वत्कार्यं न सिद्ध्येदिति । अत्र द्वितीयमन्तरपदं नामधातुनिष्पन्नम् । अन्तरं करो-
त्यन्तरयतीत्यन्तर इति तदन्तःस्थापकत्वबोधनार्थम् । अन्यथा पौनःकस्यापत्तेरिति ।
एवं प्रकारेण सर्वेव बोध्यः ।

अत्र प्रथमवाक्येऽनुक्तानां धर्माणां कथनं याज्ञवल्क्यस्यान्तर्यामिज्ञानज्ञापकम् । तत्र संशयस्तु, किमन्तर्यामी सर्वत्रैकः परमात्मा, उत देवादीनामभेदात्त्र तत्र मिथत इति । संशयवीजं तु सर्वान्तर्यामिणां तत्रद्राक्येषु चाधिदेवतादिपदैरुपसंहारः । ननु तैत्थ्यसंहारस्य कथं संशयजनकत्वमित्येदं, इत्यम् । यद्यपि दैवेभ्यस्त्वाधिदेवादि-
व्युत्पत्त्या तेषां योगिकत्वं, तथापि गीतायां, 'पुरुषाधिदेवतैः स्वभावोऽध्यात्मस्युत्पत्तेः, अधिभूतं धरो भावः, अधियज्ञोऽहमेवात्रेति योगमनाद्यत्वं रुढिनोचनादेतेषां नामत्व-
मवाचयते । समानन्यायादाधिदेवाधिलोकधारिणो नामत्वम् । ननुसकलिकं तु लोकध्र-
त्वादिशिष्यम् । तेन तेषामपि संभवदुक्तिकत्वात् संशयजनकत्वम् । नचान्तस्तद्धर्मोपदेशा-
दित्यधिकरणे सर्वान्तवर्तिनः परब्रह्मत्वं निर्णयितमिति पुनः किमर्थोऽयं प्रयास इति
शङ्क्यम् । अधिदेवादिपदानाम्भक्तरीत्या नामत्वात् तेषां च तत्रद्राक्यान्ते प्रयुक्तत्वाद्राक्येषु
च शब्दतोऽन्तर्यामिणः संनिधानेऽन्यर्थतोऽभिमानिनामपि सन्निधानात्तत्संज्ञाभूतैरेतैः
वह्मिन्तर्यामीत्याधारभूतस्याभिमानिनो धर्मो भगवत्पुरुषवर्तते, उत तत्तत्संज्ञाविशिष्टाः
पुरुषादय एवान्तर्यामित्वेन स्तुयन्त इति सन्देहसम्भवेन प्रयासस्य सार्थकत्वात् । एवं
सिद्धे सार्थक्ये तत्रेदं प्राप्तम्, तेषु देवादिभ्यधिकरणेष्वेतेषु योगेन वर्तन्ते पुरुषादिरुप्याऽऽ
उभयेऽपि भगवदाधारभूता अतस्तद्धर्मो भगवत्पुरुषाचारिका इति ज्ञापनायात्र तद् शब्दाः
प्रयुज्यन्ते । नचैतेषां भावनामत्वमिह शङ्क्यम् । तैत्थिरीयाणां शिक्षोपनिषदि, अथाधि-
लोकम् अथाध्यात्ममित्येवं लोकाधिपत्वे तेषां प्रसिद्धत्वात् । वैदिकप्रसिद्धेभ्य सर्वतो
बलिष्ठत्वात् । नचाभिमानिशक्ता एवायादाऽणीया इत्यपि शङ्क्यम् । एतेषु शब्देषु केवाञ्चि-
द्द्राक्यसङ्ग्राहे कैषाञ्चिद् बहुवचनान्तसर्वलोकैकादिशब्दोपपन्नद्राक्यान्ते प्रयोगेण तेषु सर्वो-
नुत्पृत्तस्यैकस्याभिप्रेततया अभिमत्युच्च प्रतिनियततया तादृशत्वाभावेन तस्य संज्ञिततयाऽत्र
कदाचित्तुमशक्यत्वात् । अतोऽन्तर्यामिज्ञानं कुत्राप्युक्तं सत्तत्तदभिमानिदेवतास्तुति-
परमेव तत्तदुपासनार्थं भविष्यति । न च 'यं पृथिवीं न वेदे'त्यादिभिरुक्तस्याज्ञानस्य
चेतनधर्मत्वादभिमानिनां च रुज्ञानात्तदसङ्गतिः शङ्क्या । नित्यानुवादरूपत्वात् ।
नचात्र मानाभावः । पुरुषकथने दक्षस्तुतौ 'देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यं च विद्ः परं यदितिदेहादीनां जडानामप्यज्ञानस्योक्तत्वात्, तस्य च
नित्यानुवादत्वं एव संभवात् तन्न्यायस्यात्रापि सुवचनत्वात्, तस्य सङ्गत्वाच्चन्यासाभिमानि-
न्यावर्तकस्यात्राभावात् । नचायमात्रहो निश्चल इति शङ्क्यम् । अभिमानकृतसंज्ञाया
निकृष्टतया भगवति कल्पयितुमशक्यत्वादिति । एवं प्राप्ते,
उच्यते । अन्तर्यामीत्यादि । अन्तर्यामी अधिदेवादिषु सर्वेषु भगवानेव,
नान्यः सर्वानुत्पृतो भवितुमर्हति । ननु निषिद्धसंज्ञानां भगवत्पुरुषकत्वमुक्तं, तत्कथं
परिहार्यं, तत्राह । तद्धर्मव्यपदेशात् । तेषां धर्मोस्तद्धर्मो देवाधिप्राप्तत्वाभिमानकयु-
क्तानि कर्माणि तेषां व्यपदेशात् भगवत्पुरुषारेणाधिदेवतादिपदैः प्रयोगात् ।

अयमर्थः । विषयवाक्ये उदाहकैतल्लोकपरलोकयोः सर्वभूतानां चान्यवर्तित्वे
सति तन्नि्यामकोऽन्तर्यामिशब्दवाच्यः पृष्टः, तत्र वेदाज्ञवल्क्यस्तापदेव वदेत्, ह-
दान्तर्यामिज्ञातृत्वं न स्फुटीभवति, अत उदाहकश्रुतात्सवद्धर्मोच विशेषतः पृथिव्या-
दिवाक्यैः प्रकाशयति । तत्र पृथिव्यधिकार्यस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं गीताद्वाद्द्राक्याये,
'गामादित्य च भूतानि,' 'पुण्यामि चोपधीः सवोः सोमो भूत्वा,' 'अहं वेदान्तो
भूत्वे'त्यत्र स्फुटमुक्तम् । ततः 'सर्वस्य चाहं इदि सन्निविष्ट' इत्यादिनान्तर्यामित्वं
चोक्तम् । तृतीयस्कन्धे न स्फुटीभवति, अत उदाहक श्रुतात् पदं तन्नि्यामभाष' इत्याकाशकार्यस्य
'मीयासा'दिति ध्रुतौ वाच्यदित्यामीन्द्रमृत्यूनं कार्यस्य तत्वात्वं बोधितम् । प्रकृतो
मुत्तिवन्द्रस्थाने विद्युस्तनयित् । एवमन्येषामपि बोध्यम् । अत्र देवधर्माणां भगवत्स-
युक्तत्ववोधनान् परलोककारकजन्मान्तर्यायदेहमयित्वत्वं ताधितम् । ततो लोकपदस्य
भूपादिषु प्रसिद्धत्वात् 'अथाधिलोक'मिति प्रतिज्ञाय तत्संनिधेयः सर्वस्य तेषां
बोधितम् । ततः कथं सर्वलोकान् समयतीत्येषां च वेदज्ञाभ्यां यमनोचनवाचाधि-
वेदाधियज्ञवाक्ये उक्ते । ततः सर्वभूतयमनं पूर्ववदुक्त्वा एतल्लोकयमनवोधनाय दक्ष-
ध्यात्मववाचयान्युक्तानि । एवं सर्वं तत्पृष्टं कार्यमुक्त्वा तत्संनिधेयतया वत्पृष्ट-
ज्ञवधमिति बोधनाय 'अहो ह्येद्रा' इत्याद्युक्त्वा 'अतोऽन्यदार्तमित्युत्संहारे कल्प-
स्तुतस्वरूपत्वं यदोक्तं तदान्तर्यामित्यस्वरूपज्ञातृत्वं याज्ञवल्क्यस्यावगत्य उदाहकश्रुत्या
भूत इत्युदाहकपरमोक्त्या सूचितम् । तेन सर्वेषां सर्वेषु कार्येषु यत्सामर्थ्यं तदन्तर्यामि-
प्रयुक्तमेव, न स्वत इति साधितम् । अतोधिदेवादिपदप्रकृत्यधिमिषभूतो वोऽभिमानः,
सोपि भगवत्प्रयुक्त इति तेषां पदानां भगवत्पुरुषाचारिकत्ववोधनार्थं तेषां कथनम् ।
नो चेत्, तदनुक्तावपि विवक्षितज्ञापनस्य सुखेन सिद्धेस्यद्वैतधर्ममेव स्वतः । एवं च
सोत्रमधिदेवादिपदं पदं देहलीदीपवदुभयत्रापि संबन्धते । तथा चानेनस्पष्टलिङ्गे-
नान्तर्यामिण एकत्वसाधनाच्चाधिकरणवैयर्थ्यम् । यद्यपि श्रुतावधिदेवतपदं ध्वे चाधि-
देवतपदं, तथापि गीतायां 'महिर्देवं विदुः कियुच्यत' इति श्रुतेः 'पुरुषाधिदेवक' मितिप्र-
त्युच्यत इत्येवोपरोक्तार्थता निश्चीयत इति न कोपि दोषः । एवं दोषनिवृत्तेऽन्वयं सर्वं
सुसङ्गतमेवेतीदं तद्ववाक्यमेवेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सदेवं सोम्येदमग्र आसीदित्यादिषु सिद्धे ब्रह्मवादे
कार्यत्वेन जडजीवो, कारणत्वेन ब्रह्मेत्येव त्रय एव पदार्थाः सिद्धाः । अन्तर्यामी
तु नोमयापि सिद्धः । अतो नियमरूपेण चेतनधर्मणात्मत्वेन च जडं प्रधानं
व्युत्स्य, ब्रह्म वा जीवो वा वक्तव्यः । तत्र ब्रह्मणोऽशरीरत्वात् साधारणजीवानां
च सर्वनियामकत्वासम्भवात् कार्येश्वरभूत एव कल्पनीयः । तादृशस्य प्रकृत्यभि-

मान्नेव भवतीति तादृशस्य सांख्यपरिकल्पितस्य सिद्धौ तस्य ब्रह्मत्वे वा साधिते ब्रह्मवादिनां न कोऽपि पुरुषार्थः । उपनिषत्सु तादृशस्य दर्शनात् । अतः पूर्वपक्षन्याये-
नान्तर्गमिन्नाह्वयस्य प्रकृत्यमिमांस्तावकत्वं वा, तेनैव सांख्यमतस्य श्रौतत्वं वाङ्गीका-
र्यमित्यत आह । न चेत्यादि । स्मार्तं सांख्यस्युत्तिसिद्धमन्तर्गमिस्वरूपं न भवति । कुतः ।
अतद्दर्माभिलाषात् । तद्दर्माणामभिलाषस्याभावात् । अतद्दर्माणामभिलाषाच्च । न ह्यत्र सच्च-
रत्त्वसंन्यो गुरुणास्तत्कार्यं वा । अत्राभिमन्तुः समष्टिभूते शरीरे विद्यमाने व्यष्टिभूतानि पृथि-
व्यादीनि न युगपच्छरीराणि भवितुमर्हन्ति । न च योगिवदिति वाच्यम् । गुणप्रधानमाव-
गमकायुषलम्भात् । तथापि गमकं कल्पयितुं शक्यम् । तद्दर्माणभिलाषस्य बाधकस्योक्त-
त्वात् । एवं सत्येतापि ब्रह्मधर्मत्वाद् ब्रह्मवादः कल्पिष्यति । तस्माद् ब्रह्मवाक्यत्वम-
क्षुण्णम् ॥ १९ ॥

शारीरश्रोभयेऽपि हि भेदेनैवमधीयते ॥ २० ॥

ननु पूर्वपक्षोक्तन्यायेन शारीर एवान्तर्गम्यस्युत्, तथाच यथा संवर्गादिविद्याः
प्रतीकविषयास्तथान्तर्गमिन्नाह्वयमपीति देवतास्तावकत्वेऽपि ब्रह्मवादविरोधाभावात्सास्य
ब्रह्मवाक्यत्वमित्यत आह । शारीर इत्यादि । नेत्युत्तरेत । शारीरश्च । अभिमानिजीवोऽपि
नाऽन्तर्गमिन्नाह्वये प्रतिपाद्यः । कुतः । हि यतो हेतोरेवमभिमानिनं तेऽन्तर्गमिणो भिन्न-
तया अधीयते । यं पृथिवी न वेदेत्यादिसिद्धस्ततोऽपि भिन्नतया कथयन्ति । न च देहोऽ
सन्वोऽथा इति न्यायः शक्यः । सर्वाऽस्तस्युत्त्वस्य बाधकत्वेनाभिमानिनः प्रतिपादयितु-
मशक्यत्वादित्युक्तम् । किञ्च । उभये काल्पा माध्वन्दिनाश्च शास्त्रिन एव शारीरं भेदेन
'यो विज्ञाने तिष्ठन्, य आत्मनि, तिष्ठ' चित्तैवमन्तर्गमिन्प्रत्याघातया तद्विभक्त्येनाधीयते कथ-
यन्ति । तस्मान्मुक्तोऽमुक्तो वा केवलोऽपि जीवो नात्र प्रतिपाद्यः । तस्मादन्तर्गमिन्नाह्वये
ब्रह्मैव वाक्यार्थं इति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति षष्ठमन्तर्गम्यधिकरणम् ।

अदृश्यत्वादिरुणको धर्मोक्तः ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणविषयवाक्यैः, अग्रत इति, अतोऽन्यदार्तामिति च श्रावणात् सर्व-
हृदयवर्तिन्यन्तर्गमिणि भोगवैलक्षण्यसाधकं वैशेष्यं दर्शितम् । तत्रादृष्टो द्रष्टेति श्राविते
तत्कथमित्याकांक्षायां हेतुबोधनायेदमधिकरणं प्रसङ्गकृत्यारभ्यते । शुण्डकोपनिषत्
सर्वाऽस्य विषयः । तत्र हि शून्येन कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवे-
दित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने पृष्टे, अङ्गिरस, द्वे विधे वेदितव्ये इत्यादिना नामांशे वेदा-
दिविद्या, रूपांशे परविद्या चोक्तः । तावता नामरूपात्मकस्य सर्वजगतो ज्ञानसम्भवात् ।
तत्र वेदादिविद्यायां न सन्देहः । परायां सन्दिह्यते । किमेधा सांख्यमतविद्या, किं वा
ब्रह्मविद्येति । सांख्यधर्माभिलाषाच्च सन्देहः । तत्र 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठापयन्वाय

चेष्टपुत्राय प्राहे'त्युपक्रमस्य हेतुं पठ्यते, 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यच्चदृश्यम-
प्राहमगोत्रमवर्णमन्वुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विद्मं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्, तद्भूत-
योनिं परिपश्यन्ति धीरा' इत्यादि । द्वितीयमुपलक्षे च 'दिव्यो ह्यमृतः पुरुषः स बाह्य-
भ्यन्तरो ह्यर्जः । अगणो ह्यननाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः पर' इत्युक्तत्वात्, 'एतस्माज्जायते
माण' इत्यनेन सृष्टिः निरूप्य, 'अग्निर्धर्मा चतुषु ची चन्द्रसूर्या' इत्यादिना रूपमुक्तत्वात्, 'पुत्रात्
रेतः सिञ्चति योपितायां बह्वधः प्रजाः अक्षरः प्रजाः अक्षरः प्रसृष्टः' इति पुरुषात् सृष्टिरिति ।

पूर्वपक्षस्युत् । शुण्डकत्रयेऽप्येकस्यैव मतस्य प्रतिपादितत्वेन वाक्यनामितरेतरसाक्षात्-
तयैकप्रकरणत्वादेकवाक्यता अवश्यं वक्तव्या । सा तत्र ब्रह्मवाक्यत्वाङ्गीकारे न सम्भवति ।
'अक्षरात् परतः पर' इत्याद्ये अक्षरपुरुषयोर्भेदश्रावणात् । नेतः सेकेन प्रजासृष्टिश्रावणा-
दुभयजन्यायाः सृष्टेरत्रामिप्रेतत्वाच्च । अत एवोपक्रमगतं ब्रह्मविद्यापदमपि समाख्यारूप-
त्वाङ्गीकारेण निषेधम् । न च सांख्ये प्रकृतेरेव सृष्टत्वात् चोभयोस्तावत्कथनान्नात्र
सांख्यमतमिति शक्यम् । जगतो जीवजडामकत्वेनोभयविषयत्वात् प्रकृतिपुरुषयोस्तुत्य-
तया अन्यतरप्राधान्येन वा सृष्टिकथने तन्मतवाधाभावात् न च 'अग्निर्धर्मे'त्यादिनोक्तस्य
रूपस्य विरोधः । अग्रे समष्टिव्यष्टीनेयोत्पत्तिकथनेन तज्जनयितुं रूपस्यापि स्थि-
रूपत्वेन बोध्यतया तन्मतवाधाभावात् । नचेदं ब्रह्मवादेऽपि तुल्यमिति वाच्यम् । सच्चि-
दानन्दरूपताया अत्रानुक्त्या ब्रह्मवादस्यात्र बचतमशक्यत्वात् । न च ब्रह्मविद्यापद-
स्यासङ्गतिः । 'आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलात्' इति न्यायेन सर्वमिदं श्रिथि-
कमिति शक्यम् । ब्रह्मपक्षस्य वेदेऽपि रूढेस्तस्य वेदविद्यापरतया नेयत्वेनासङ्गत्यामा-
वादिति । एवं प्राप्ते ।

अभिधीयते । अदृश्येत्यादि । अदृश्यत्वादिरुणको धर्मोक्तः परमात्मैव । कुतः ।
धर्मोक्तः । एतद्विज्ञानेन तस्य ब्रह्मविज्ञानधर्मस्य सर्वविज्ञानस्य कथनात् । तस्मान्ब्रह्मवादे
विद्यायाः परत्वकथनाच्च । नचात्राक्षरं, ततः परः पुरुषश्चोक्त इति तदुभयविज्ञानेन
सर्वविज्ञानं केवलमाक्षरविज्ञानेनेति कथं तस्य ब्रह्मत्वमिति शक्यम् । अक्षरपुरुषयोः परा-
परमात्वेऽपि भेदाभावेन ब्रह्मत्वस्याव्याहतेः । न च परापरभावस्य भेदद्विज्ञानत्वात्सिद्धं सति
कथमभेद इति वाच्यम् । एतदर्थमेवाधिकरणप्रथमनात् । पुरुषे ब्रह्मत्वस्य वाक्यादेव
प्रतीत्या अक्षरस्यैव सन्दिग्धत्वेन पक्षतया निर्देशादेव तथा निश्चयात् । अत्रापि धर्मोक्तैरेव
हेतुत्वात् । तथा 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वमिति जगज्जनकत्वस्य ब्रह्मधर्मस्य तत्र कथनत्वात् ।
उपनिषत्सु तत्रैव जगज्जनकतायाः सर्वत्र दर्शनेनात्रान्यस्याङ्गीकर्तुमशक्यत्वात् । नचा-
भेदे परापरभावविरोधः शक्यः । अमेदे ईशदानन्दतिरोभावपूर्वतत्प्राकृत्याभ्यामव-
श्याभ्यां सुखेन तत्सिद्धेरङ्गीकारोऽपि परमित्यत्र प्रागेव निर्णयितत्वात् । अतोऽवस्थाये-
देऽप्यस्यत्वादिरुणको धर्मोक्तः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

ननु पञ्चशिक्षणव्यक्तपर्यायेषु ननुसकलिक्रमाक्षरपदस्य पाठादत्र तादृश-
क्षरपदप्रयोगो, योनिपदस्योपादानवाचकत्वाद् भूतयोनित्वं चाव्यक्तिक्रम, अक्षरात्
परत्वं च पुरुषलिक्रम । अतस्तत्सर्वं न्यक्कृत्य ब्रह्मविद्यात्वे न स्वापयितुं शक्यम् । नच
कस्मिन् विज्ञात इत्येकविज्ञानहेतुकसर्वविज्ञानप्रत्ययविरोधः । तत्र कस्मिन् मते विज्ञात
इत्यर्थस्य शक्यवचनत्वेन तस्य विज्ञानस्य ब्रह्मविद्यालिक्रत्वाभावात् । नापि ब्रह्मविद्येति
समाख्यामन्वात् तथा वक्तुं शक्यम् । 'दे ब्रह्मणी वेदिष्यते पूर्वं चायुतं चे'तिश्रुतीं विका-
रेऽपि ब्रह्मपदरूढेरत्र प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मणोर्विद्येति योगस्यापि शक्यवचनत्वात् । लिक्रा-
पेक्षया पञ्चमप्रमाणभूतायास्तस्या अतिनेत्रैवेवाचेत्यत आह । विशेषणेत्यादि । इतरो
प्रकृतिपुरुषौ नात्र वाक्यार्थभूतौ । कुतः । विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । विशेषणभेदो
व्यपदेशश्च ताभ्याम् । को विशेषणभेद इति चेत् । अदृश्यत्वादीनां विशेषणानां प्रकृताव-
घटमानत्वमेव स इति वदामः । कथमिति चेत्, इत्यम् । तैर्हि प्रकृतेर्विकारः सर्वमित्य-
ङ्गीक्रियते । तच्च विकारजातं दृश्यत्वमेव । तथा सति तदुपादानमपि तादृशमेव ।
न हि घटादौ दृष्टे तदुपादानभूता मृच दृश्यते इति शक्यवचनम् । अतोऽस्मादेव हेतो-
नात्र प्रकृतिः शक्यवचनेति । ननु ब्रह्मवादे ब्रह्मण एवोपादानत्वात् प्रकृतिवचसापि
दृश्यत्वाद्यापचरस्य ब्रह्मपरतापि न स्यादिति शङ्क्यम् । ब्रह्मणः सर्वभवनसमर्थत्वात्
परिणामित्वेऽपि नित्यसदैकरूपत्वाविक्रियमाणत्वयोरिव दृश्यत्वादाव्यदृश्यत्वादेर्विरो-
धाभावादेवोपापत्त्या वाक्यस्य ब्रह्मपरताया अक्षतेः । नच प्रकृतावपि तथा सामर्थ्याङ्गी-
कारे परिहारतौल्येन वाक्यस्य प्रकृतिपरता वक्तुं शक्येति नैतेन ब्रह्मवादसिद्धिरिति-
वाच्यम् । सांख्यैः प्रधानस्य परिणामिनित्यत्वैवाङ्गीकृतत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात् ।
इदानीं तथाङ्गीकारे च प्रतिज्ञासंन्यासप्रतिज्ञान्तरयोरापत्त्या सर्वब्रह्मधर्मतौल्ये पुरुष-
स्यापि ततोनिरिरेकेण नाममात्र एव कलहेन तन्मत्तस्य ब्रह्मवाद एव प्रवेशेन ब्रह्मवादि-
नामेव जयाच्च । यः सर्वज्ञः सर्वविदित्वादीनां तु सुतरामघटमानत्वम् । तस्या जडत्व-
व्यपणमात् । नच तत् पुरुषविशेषणमिति वाच्यम् । एतस्य प्रथमगुण्डके पाठेन व्य-
धानात् । पुरुषस्य द्वितीयगुण्डके पाठात् । पूर्वगुण्डकसमाप्तावेव 'वेनाक्षरं पुरुषं वेद
सत्यापि' मित्यक्षरविशेषणाच्च । तस्मादक्षरविशेषणानां प्रकृतावघटमानत्वमेव । तथा पुरुष-
विशेषणानामपि सांख्याभिमतपुरुषे अघटमानत्वम् । तन्मते पुरुषबहुत्वेऽपि जीवब्रह्म-
वन्निक्रमणत्वाभावेन नियामकत्वरूपस्य दिव्यत्वस्याभावात् । सांख्यिकैवेत्यन्वयस्य
तदुत्पाकतैत्वाद्यतिरिक्तधर्मानङ्गीकारात् । सर्वरूपत्वाभावेन बाह्याभ्यन्तरत्वस्य सुतरां
प्रत्याख्यात् । तैर्महदादिक्रमेण सृष्टेरङ्गीकृततया 'एतस्माज्जायते प्राण' इतिमन्त्रोक्त्याः
सृष्टेः क्रमभेदात् सहोत्पन्नत्वात् साक्षात्तज्जन्वत्वाच्च तन्मतीयत्वस्याभावात् । अतः स्फुटो
विशेषणभेदः । आदिमध्यावसानेषु ब्रह्मविद्यामितित्यपदेशमेवाच । अन्यथा सांख्य-

विद्यामित्येव नाम वदेत् । न हि वेदान्तयोर् ब्रह्मा स्वय्येष्टपुत्राय वेदसारभूता ब्रह्मविद्या
विहाय सांख्यविद्यां वक्तुमर्हतीत्यपि चकारेण सूच्यते ॥ २२ ॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

'अग्निर्भूयां चतुर्षु चन्द्रभूयां' वित्यादिनोक्तं रूपं विश्वकायस्य ब्रह्मण एव सम्म-
वति, न तु प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मतरस्य, तन्मते केवलयोस्तथा रूपात्मज्ञीकारात् (तस्य) । नच
श्लिष्टस्येति वाच्यम् । यथा सृष्टीभादित्यनेन केवलादक्षरात् सृष्टिपुत्रत्वा, ततो 'दिव्यो
धामते' इति केवलस्य पुरुषस्याक्षरात् परत्वमुक्तत्वा, तत् 'एतस्माज्जायत' इत्यनेन तादृशदेव
सृष्टिकथनानन्तरम्, अग्निर्भूवति रूपमुपन्यस्यति इति । तत्र श्लिष्टत्वस्याशक्यवचनत्वा-
दिति । अत्र सूत्रविद्यागादथा मुरुषोपपत्तिरिति सूच्यते । चकारेण श्रुत्यन्तराविक्रोधाः,
सर्वेषां वेदान्तानामेकवाक्यता च संगृह्यते । अत्रेदं बोध्यम् । गीतायां द्वादशाध्याये,
'एवं सततयुक्ता य' इति सन्दर्भे अक्षरगुणत्वमयोरेकमवस्थाभेदेन भेदश्च बोधितः ।
पञ्चदशे च 'द्राविमा' वित्यादिना (अक्षरपुरुषादुच्यते स्वस्योक्तम् । श्वेताश्वतरश्रुतावपि
'धरं प्रधानममृताक्षरं हरः शरत्मानावीगतं देव एक' इति) अक्षरस्यासत्त्वं देवस्य
क्षराक्षरेतिश्रुत्वं चोक्तम् । अतोऽत्राक्षरस्य पुरुषत्वमुक्तत्वा पुरुषस्य तत् उच्यते यदुच्यते,
तेन गीतायुक्तमेवाधुरपुरुषयोः स्वरूपं ज्ञाप्यते, न तु तदतिहाय भूतमूलमरूपमक्षरम् ।
प्रकृतहान्याप्यकृतकल्पनयोः प्रसङ्गात् । नच परत इति पञ्चम्यन्तस्य वैयर्थ्यम् । सांख्ये
प्रधानस्याप्यक्षरपदवाच्यत्वाच्चद्वारणार्थं परत इत्यस्याक्षरविशेषणत्वेनावश्यकत्वादिति ।
तस्मादक्षरशब्देन पुरुषशब्देन च ब्रह्मण एवावस्थाभेदपुरःसरमुक्तत्वात्प्रायः ब्रह्मविद्येवेति
सिद्धम् ॥ २३ ॥ ७ ॥

इति सप्तमदृश्यत्वाधिकरणम् ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

एवमदृश्यत्वाधिकरणेनान्तर्धर्मिणोऽदृश्यत्वे अदृश्यत्वरूपो हेतुः प्रसङ्गादर्शितः ।
तथा, चराचरग्रहणादिभिस्त्रिभिरधिकरणैस्त्रिभिर्भोग जीवतुल्यत्ववार्णार्थमन्त-
र्याम्यधिकरणे वैशेष्यं हृदयानन्वर्तिनि समर्थयित्वा अन्तर्धर्मिणो रूपाभावादेवादृश्यत्व-
मिति शङ्कावर्णनाय रूपमपि तत्र प्रदर्शितम् । तत् तदा सङ्गतं स्याद्यदि परमात्मनः सा-
कारता वास्तवी स्यात् । अतस्तदुपोद्भातत्वेनदमधिकरणमधुना आरभ्यते । तद्विषयस्तु छा-
न्दोग्ये सप्तमप्रपाठके श्रूयते । तत्रोपकमे, प्राचीनशालः सत्ययज्ञ इन्द्रमुन्मो जतो बुद्धि-
लितानामनः पञ्चापि श्रुताध्ययनसम्पन्नाः कचन समेत्य मीमांसां चक्रः, को न आत्मा
किं ब्रह्मेति । अत्र किम आबुचया वाक्यभेदस्य स्फुटत्वात् स्वात्मब्रह्मणी अपिभिन्ने भिन्ने
वेति न संशयः, किन्तु अस्माकमुपास्यं ब्रह्म वा तदेकदेशो वेति संशयः । ततस्ते स्वतो
निश्चयमलभमाना उद्दालकनानामानमर्थं वैश्वानरोपासकं संशयनिवारकत्वेन सम्भाष्य,

ततोऽपि तदनिवृत्तौ तेन सह षडपि कैकेयराजस्य वैश्वानरोपासकस्य निकटे गत्वोक्त-
वन्तः । आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यक्ष्येति, तमेव नो ब्रूहीति । ततो राज्ञा पृथक् ते
पृष्टाः 'कं त्वमात्मानमुपासस्' इति । तदा ते स्वतोपास्यत्वेन सुमुख्यवाय्वाकाशवारिपृ-
थिवीः पृथक्पृथगुक्तवन्तः । तदा राज्ञा तत्तदुपासानामं वैश्वानरमुपासतेः सुतेजस्त्वविश्वरूपत्व-
धन्वत्मात्मत्वबहुलत्वरयित्वप्रतिष्ठात्वरूपान् गुणान् उक्त्वा तेषु वैश्वानरमूर्ध्वचक्षुःप्राण-
देहभ्रम्यभाषणस्तिपादरूपतां चोपदिश्येकैकोपासने क्रमेण मूर्ध्वविपातान्मन्त्रभाषात्मकम-
पादेहविशरणवस्तिभेदापादविम्लानिकनरूपया निन्दया तान् प्रतीकत्वेन बोधयित्वा स्वयं
तत्त्वस्वरूपाह । यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानात्मानं वैश्वानरमुपासते, स सर्वेषु लोकेषु
भूतेषु सर्वेष्वाम्त्वस्यभ्रमण्यि, तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वैव सुतेजाः, चक्षुर्विश्व-
रूपः, प्राणः पृथग्वत्मात्मा, सन्देहो बहुलो, वस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव
वेदिलोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो, मनोऽन्वाहार्थवर्षन, आस्पमाहवनीय इत्यादि ।

तत्र संशयः । किं वैश्वानरशब्देन ब्रह्म प्रतिपादयितुं शक्यते, न वेति । ननुपक्रमे
ब्रह्मात्मपदयोः सत्त्वाद् उपक्रमस्य चासन्नविरोधत्वात् सन्देह एव कथं घटत इति
चेत् । सत्यम् । तथापि तदुपासकपुत्रेण अदर्शनेन वैश्वानरभूतेर्लिष्टतायां तयोरुपास-
नापरतयापि नेतुं शक्यतया, विमतो वैश्वानरो न ब्रह्म, साकारत्वाद्धोक्त्वदितिन्यायेन च
सन्देहस्य सम्भवदुक्तिकत्वात् । तर्हि किमत्र युक्तम् । नेति । कुतः । वैश्वानरशब्दस्य
भूतो प्रजापतो प्रसिद्धत्वात् 'संवत्सरो वा अभिवैश्वानरो केतुमहामकुण्ठ' इति भूताभाविव,
'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हिं कं भुवनानामभिश्री' इति देवतात्मन्यपि प्रसिद्ध इति
देवतात्मपरिग्रह एव युक्तः । एवं पूर्वकाण्डे सिद्धाव्युत्तरकाण्डे संवत्सरादिभूतेर्विश्वान-
रः प्रथमः पाद इति श्रुतेः हिरण्यगर्भोपासनापरमिदं वाक्यमित्येव युक्तम् । ब्रह्मना-
मत्वेन जीवसमहित्वात्वेन ब्रह्मात्मशब्दोऽस्त्रत्र युक्तवत्त्वात् । अत एव उपासकस्य सर्वाभ-
भोजनमपि युक्तम् । प्रादेशमात्रत्वमपि तस्य मुख्यजीवत्वात्सदाद्यपेक्षया स्पृह्यत्वाभि-
प्रायम्, विराडभिमानित्वाद्धोकावयवत्वम्, वेदगमत्वाद्भिरायात्कत्वं च । तस्माद्दि-
रूपगर्भोपासनापरत्वमेव युक्तम् । न तु परमात्मपरत्वमिति प्राप्ते ।

उच्यते । वैश्वानरेत्यादि । वैश्वानरः परमात्मेव । कुतः ? साधारण-
शब्दविशेषात् । साधारणाः पूर्वपक्षोक्तिरीत्या हिरण्यगर्भसाधारणा ये शब्दस्ते
भ्योऽपि विशेषात् । प्रादेशमात्रस्यैवाभितो विगतमानत्वलक्षणादाधिक्यत्वात् । ता-
दृशस्यैव सुमुख्यत्वादिलक्षणादाधिक्यत्वाच्च । न हि विरुद्धधर्माश्रयत्वं भगवद्व्यति-
रिक्तं सम्भवति । सर्वभवनसामर्थ्यान्वयत्राभावात् । ननु प्रादेशमात्राभिविमान-
शब्दयोः पूर्वपरतया समभिव्याहारादस्तु विरुद्धधर्माश्रयत्वम्, तथापि सुमुख्यत्वा-
द्देहिण्यगर्भसाधारण्यं कथं निवर्ततामिति चेत् । उच्यते । समानप्रकरणे वाजसनेयिभिरत्र
पुरुषत्वं श्रान्यते । अत्र च मूर्ध्वैव सुतेजा इत्यादिभिराकारकथनेन तदेव समर्प्यते । एवञ्चा-

कारविशेषे रूढोऽपि पुरुषशब्दः, अङ्कारवाच्ये ब्रह्मण्येव मुख्यवृत्तः । अङ्कारविकृतित्वात् ।
आनन्दमयाधिकरणेऽन्तःस्थस्यानन्दमयस्य परस्वैव विज्ञानमयादिषु पुरुषाकारसमर्पकत्वे-
न विमुह्यत्वाच्च । एवं सति, पुरुषो चात्ममानवावित्यभिधानकोशेनान्यत्र शक्तिप्राहेणेऽपि
'सहस्रशीर्षो पुरुषः वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं, प्ररूपो ह वै नारायणोऽक्रामयते' इत्यादिश्रुतिषु,
'तथा पुरुषशब्दोऽयं वासुदेवोऽप्यतिष्ठते, विना तं पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दमात्रं,
भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि, निरुपाधी च वनेते वासुदेवे सनातने,
ब्रह्माद्याः सकला देवा यश्चान्यर्धकेश्वराः, ते सर्वे पुण्डरीकाक्षानुच्यन्ते पुरुषा इति' इति
पुराणान्तरात् । 'स एव वासुदेवोऽयं साक्षात्पुरुष उच्यते, स्त्रीप्रायमितरत् सर्वं जगद्
ब्रह्मपुरःपरम्, स एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः', प्रकृतिसर्पशोराहित्यात्
स्वातन्त्र्याद्भवादिपि' इति नृमिहपुराणाच्च । अन्येषु तु तदंशत्वाद् गौणः । नचात्र
शिवस्यानुक्तत्वात् 'पुरुषो वै इर' इति श्रुतेः च तत्र मुख्यवृत्तत्वं शक्यम् । प्रकृतिसर्पशो-
रहित्यत्वात्तन्व्याभ्यां स्थापि वारणात् । 'शिवशक्तिपुतः शश्व' इति श्रीमागवतवाक्येन,
'जगत्करणतयाश्चः शिवया मुनिपुङ्गवाः, सा तथाभिः भवेच्छक्तितया हीनो निरर्थक'
इत्यादिभिः पञ्चलिङ्गिभिः नृत्संहितावाक्यैश्च सर्वोपस्थात् शिवस्य प्रकृतिपुक्तत्वतद-
धीनत्वयोरेवोक्तत्वात् । नच कारणस्य सर्वाभिः कार्यावस्थाभिरवस्थावस्थापादाद्यं रूपं
ध्यानार्थमेवोच्यते, न तु वास्तवं कारणरूपमिति वाच्यम् । अत्र, 'मूर्ध्वैव सुतेजा' इत्या-
दिना सिद्धान्त्याङ्गानि निर्दिश्य तेषां पुरुषत्वादिविधानेनाङ्गानां तथात्वस्य वचतु-
शक्यत्वात् । नच साकारस्य लोकन्यायेनाज्जलत्वं शक्यम् । विरुद्धधर्माश्रयत्वेनैव सिद्धे
वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे तस्याप्रयोजकत्वात् । अलौकिकाकारत्वेन सत्यतिपक्षत्वाच्च । एवं
सिद्धे तस्य साभाविक आकारे सर्वोत्पत्तये तस्याप्रयोजकत्वाद्, अलौकिकाकारत्वेन
सत्यतिपक्षत्वाच्च । एवं सिद्धे च लोकात्मकत्वे कृते नृमिहयमानमपि रूपं तस्यैव, न तु
तत्कार्यस्य हिरण्यगर्भस्यान्यत्र वेति । नच वैश्वानरोक्तिविरोधः । विश्वो वैश्वानरः
प्रथमः पाद इति ब्रह्माण्डदेहस्य जडस्य, सत्यस्य तेजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पाद इति
तदन्तर्गतस्य मुख्यजीवस्य नरस्य च भगवदंशत्वेन देवतात्वाद्, देवताब्रह्मे कृते
विश्वानरो ती निवासो यस्मैति तद्धिते कृते योगेन भगवद्वोधने विरोधाभावात् ।
नच रूढधर्मेक्षया नैवेत्यम् । औत्सर्गिकरूढेरात्र प्रागेव व्युत्पादानादिति । तस्माद्देव्या-
नरः परमात्मेति सिद्धम् ॥ २४ ॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

ननु पूर्वधृतेण सिद्धे वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे किमिति सूत्रान्तरारम्भ इति शक्यात्
प्रकारान्तरेण श्रुत्युपादानव्यावृत्त्यर्थं षडिति । स्मर्यमाणेत्यादि । 'केचित् स्वदेहान्त-

ईदंवाक्यकोशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्त्यम्, चतुर्भुजं कञ्जरयाङ्गुशङ्खगदापरं चारणया स्मरन्ती'ति स्मर्येमाणं रूपं प्रादेशमात्रवैश्वानरस्य ब्रह्मत्वेऽनुमानं स्यादिति हेतोः प्रादेशमात्रो वैश्वानरो ब्रह्मैव । ये हि ब्रह्म स्मरन्ति, ते श्रुतितः श्रुतैव स्मरन्ति, अतो मनैररूपं तत् । यदि प्रादेशमात्रवैश्वानरप्रतिपादकवाक्यजातीयानां ब्रह्मवाक्यत्वं न स्यात्, तदा एतत्स्मरणे नोपपद्येत । तथाच, 'अनन्तशाखासापेक्षे वैदिकार्थस्य निर्णये, स्वबुद्धिकल्पितत्वादर्थद्वलीयातुपबंधित' इति बोधनायेदं सूत्रमित्यर्थः ॥२५॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नोति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशा-
दसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

ननु यदि स्मर्यमाणस्यानुमानतया तदनुरोधेन वाक्यार्थो निर्णीयते, तदा 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधं' मिति स्मृत्यन्तराज्जाठर एवाभिवैश्वानरो भवतु । नच वाक्यार्थविरोधः शङ्क्यः । तस्य भगवद्विभूतित्वेन यथाकथञ्चिद्योजनसम्भवात् । नचैवं सति भगवत्परत्वमेवास्तिवतिशङ्क्यम्, विरुद्धधर्माणां विश्रमणनत्वात् । के ते इति चेत्, तत्राह । शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानादिति । वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे, 'य एषोऽभिवैश्वानरो योऽप्यमन्तःपुरुषे येनेदमन्तं पच्यते यदिदमघत' इति वैश्वानरपदसमाभिव्याहृतोऽभिःशब्दः । आदिपदेनात्रापि 'हृदयं गार्हपत्यं' इत्यादिनोक्तस्योपासनायं त्रेतायुगकल्पनस्य 'तथाद् भक्तं प्रथममायच्छेत् वद्वीमीय'मित्यादिनोक्तस्य प्राणादिदेवताकाहुत्यापारत्तस्य च संग्रहः । तेषां शब्दादिभ्यः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितमित्यन्तःप्रतिष्ठानाच्च परमात्मपरत्वं वाक्यस्य युक्तमिति चेत्, न । जाठरविभूतिपरत्वं न वक्तुं शक्यम् । कुतः । तथादृष्ट्युपदेशात् । भगवतः सर्वभूतत्वं वक्तुमनेन शब्देन भगवति जाठरदृष्टेः कर्तव्यत्वोपदेशात् । असम्भवात् । द्युर्मूर्धत्वादीनां धर्माणाम् जाठरं असम्भवात् । नचोपासनायं तत्कल्पनमुपचारादिति वाच्यम् । पुरुषमपि चैनमधीयते च पुनः वाजसनेयिनः, 'स एषोऽभिवैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेममर्षं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद'ति एवं वैश्वानरं पुरुषमपि वदन्ति । तथा जाठरे असम्भवात् धर्माणामत्रोपदेशाद्भगवति च तेषां सत्त्वात् प्राप्तात्मासिद्धेर्भूते भगवत्परत्वमेव वाक्यस्य सत्त्वस्य, न जाठरपरत्वम् । 'सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ती ति श्रुत्या सर्ववेदस्य भगवत्परत्वे श्राविते ध्याया गोण्यादरस्यायुक्तत्वादित्यर्थः ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

अत एव भगवत्परत्वे सम्भवत्यन्यपरत्वकल्पनस्यायुक्तत्वादेव, अन्यभिमानो देवता, महाभूतत्वीयं तेजश्च नात्र वाक्यार्थं इत्यर्थः ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

एवं भगवदसाधारणेन विरुद्धयोः प्रादेशमात्रत्वाभिधिमामनत्वयोश्रयत्वेन वैश्वानरस्य परत्वं निर्णीयं तयोक्तमयोपि साहजिकत्वे विरुद्धधर्मोपपत्त्ये सिद्ध्येदिति प्रादेशमात्रत्वं विचारयति । तत्रास्मिन्नर्थे चत्वारः क्रमयो वेदार्थविचारकाः प्रकारभेदेन । तत्र केवलशब्दबलविचारका आचार्याः । शब्दार्थयोर्वेलादीर्थविचारको जैमिनिः । शब्दोऽप्यसर्जनतयार्थविचारक आत्मरथ्यः । केवलार्थविचारको वादरिचितः । तत्र बृहदारण्यके 'मा ते सूर्या व्यपतन्तितिप्रश्ना वै देवता अतिपृच्छसि गार्भं मातिप्राश्री' इत्यतिप्रश्ने दोषश्रावणेन, कठबल्ल्यां 'नैवा तर्केण मतिरापनयेति निषेधेन च कल्पनया विचारे दोषः श्रावितः । तैत्तिरीये च 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'त्यविचारेऽपि दोषः श्रावितः । अत आचार्यां विचाराविचारयोर्दोषं पश्यन्, 'तदन्वेष्टव्यं तद्विज्ञासितव्यं'मित्यादिश्रुतेर्विचारमपि वदन् स्वशास्त्रे द्विविधमपि विचारानुप्रतिबन्धम् । तत्रान्यापिश्रयोक्तृत्वात् पूर्वं जैमिनेर्नैतमाह । साक्षादित्यादि । व्यापकस्य प्रादेशमात्रत्वे साक्षादपि कल्पनां विनापि स्वरूपविचारेणैवापिरोधं जैमिनिर्मन्यते । अयमर्थः । श्रुतौ 'क्षाकाशवत् सर्वगतस्य नित्यं' इति 'सर्वतः पाणिपादं' तदिति 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति नियतपरिणामपक्षेऽपि स्वेच्छयैव केवलं ब्रह्मणो व्यापकत्वं साकारत्वमनन्तमूर्तित्वं च श्रावितम् । तथा, 'बहु स्या'मित्तीच्छया बहुभवनमपि सिद्धम् । एवं मति नियतपरिमाणपक्षे स्वेच्छयैव केनचिद्विषयाभिधिमामं केनचिद्विषये प्रादेशमात्रमित्यविरोधः । अनियतपरिमाणपक्षे तु एकमेव स्वरूपमाकाशवत्साकारपरिच्छेदककृतवृद्धिहाताभ्यां नानापारिमाणं सर्वतः पाणिपादत्वात् पूर्णं प्रतीयत इत्यविरोधः । नानारूपत्वं च स्मृतात्वायुक्तम् । 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषारूपान्ययो विदुः, प्रथमं महतः सद्य द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्, तृतीयं सर्वभूतस्य तानि ज्ञात्वा विभुष्यते' इति । तत्र सर्वभूतस्य भूतेषु पञ्चया तत्तत्कार्यार्थं तिष्ठति । उदरे पुरुषोऽङ्गुष्ठाग्रः । 'अङ्गुष्ठाग्रः पुरुषो भय आत्मनि तिष्ठती'ति । 'अथो निष्ठया वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठती'ति श्रुतेः । हृदये ध्यानार्थं प्रादेशमात्रः पूर्वमुक्त एव । शिरमि च सर्वार्थमेव वक्ष्यते । मनसोन्द्रियेषु चायुः । चक्षुषश्श्रुत्यादि-श्रुतेस्तन्निश्चयनाय तत्र तिष्ठन्तदुरोधाचया । तत् सर्वव्यापकं चित्चक्रादुच्य व्योम्नि धारयोदितादिवाक्याचद्विदुष्ये तत्र तिष्ठन् व्यापक इति । अतो वैश्वानरस्य पुरुषत्वात् सच्चिदानन्दरूपेण प्रादेशमात्रत्वं न विरुध्यते इति साकारब्रह्मवाद एव जैमिनिः सिद्धान्तः । चतुर्लक्ष्यन्तमामे स्थितस्य, स विष्णुराहेति, तद्ब्रह्मेत्याचक्षते इति सूत्रद्रव्यस्य शतदृष्णीकारप्रभृतिभिः स्वस्वग्रन्थ उपन्यासादिति ॥ २८ ॥

अभिच्यन्तेरित्याश्रयः ॥ २९ ॥

एतदादिषु त्रिषु अविरोधमित्यस्यानुपपन्नो बोधः । अर्थस्तु निराकारमेव ब्रह्म मायाजवनिकाच्छन्नं, तदयमेव प्रणवमात्रोयत्तदाधिष्ठितेन पुरुषाकारेणाभिच्यन्त्यते ।

सोऽभिव्यक्तः पुरुषोन्वयार्थमी । अत एव पुरुषविषय इत्युक्तम् । अभिव्यक्तिहेतुकत्वादा-
कारस्य न स्वाभाविकत्वम्, अतः प्रादेशमात्रत्वमपि । तथापि निर्दिश्यमानं वस्तु सविदान-
नरूपमेवेत्यामरभ्य आचार्याऽभिव्यक्तहेतोरविरोधो परिमाणस्य मन्यत इत्यर्थः ॥२९॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

बादरिस्तु केवलभौक्तिकोऽनुष्चिन्तनमशात् प्रादेशमात्रो हि प्रादुर्भवतीति तादृ-
शरूपाशुवादिका श्रुतिरित्येवमविरोधो मन्यते । 'यदुपदिष्टा त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्ब्रह्मः प्रणयसे सदब्रह्मण्ये'ति वाक्यानुसरोधात् । अस्मिन् पक्षे त्वतात्त्विकम् ॥ ३० ॥

सम्पत्तेरितिजैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

जैमिनिपते पूर्वत्र प्रकारद्वयं प्रदर्शितम् । अतिदोषं ब्रह्मोति यवापुं पचतीत्यत्र
शब्दक्रमदार्थिकमस्य बलवत्त्वाङ्गीकारादत्राप्यभिमानस्य प्रादेशमात्रताया आकाशवत्
परिच्छेदकवशादुपपद्यमानत्वात् । आद्यं तु तदेकदेशिनोऽभिप्रेतम् । तयोः किं बलवदि-
त्याकाङ्क्षायामेकदेशिनिराकरणाय सम्पत्तेः सकाशात् 'प्रादेशमात्रताया अविरोधं जैमि-
निर्मन्यते । तत्र का सम्पत्तिः', कथं च सेत्याकांक्षायां तत्र प्रकारं हि यतो हेतोरैक-
देशियुदासाय श्रुत्या स्वयं दर्शयति । श्रुतिस्तु वाजसनेयिब्राह्मणे । 'प्रादेशमात्रमिह वै
देवा श्रुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिस-
म्पादयिष्यामीति स होवाच, सूर्ध्वनिगुपदिशन्नुवाच एव वै अतिष्ठा वैश्वानर इति,
चक्षुषी उपदिशन्नुवाच एव वै सुतेजा वैश्वानर इति, नासिके उपदिशन्नुवाच, एव
पृथग्वत्प्रमात्मा वैश्वानर इति, मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाच एव वै बहुलो वैश्वानर इति,
मुख्या अप उपदिशन्नुवाच, एव वै रथिवैश्वानर इति, चिबुकमुपदिशन्नुवाच एव वै प्रतिष्ठा
वैश्वानर इती'ति । अत्र हि 'सुप्रभूतिप्रथिवीपर्यन्तान् वैश्वानरवयवावुपासकाध्यात्मसर्वा-
दिचिबुकपर्यन्तेषु आधारानुरोधेन सम्पादयति । तथापिषा सम्पत्तिरेतत्कृतं प्रादेशमात्र-
त्वम्, न स्वाभाविकम् । तथाचान्यत्र तथाऽस्तु वैश्वानर इति जैमिन्वाशय इत्यर्थः ॥३१॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

एवं मतान्तराण्युक्त्वा मुख्यं स्वसिद्धान्तमाह । आमनन्तीत्यादि । एवं व्यापक-
मेव वैश्वानरम् एतस्मिन् सूर्ध्वचिबुकान्तराले जाबाला आमनन्ति । 'एषोऽनन्तेऽव्यक्त
आत्मा योऽविद्युके प्रतिष्ठित इति । सोऽविद्युकेः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । वरुणायां
नासां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरुणा का च नासीति । सर्वोनिन्द्रियकृतान्
दोषान् वारयति तेन वरुणा भवतीति । सर्वान् इन्द्रियकृतान् पापाब्जाशयति तेन नासी
भवतीति । कतमवाशय स्थानं भवतीति । उचोः प्राणस्य च यः सन्धिः स एव

धीर्लोकस्य च परस्य च सन्धिर्मवती'ति । अत्र सूर्ध्वचिबुकान्तराले प्रतिष्ठितस्थानन्त-
त्वामान्नातम् । तथा पूर्वोक्ते वाजसनेयिब्राह्मण एकस्यैव वैश्वानरस्य पुरुषत्वं पुरुषवि-
षयत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चाम्नातम् । न ह्यनन्तस्य संकल्पिते स्थाने स्थितिः सम्भ-
वति, न वा तस्यैव तद्विषयत्वं, तत्र प्रतिष्ठितत्वं च । नच तत्र कालापरिच्छेदोऽत्र
च पुरुषान्तरविषयत्वादिकमेवोच्यते इति वाच्यम् । आत्मत्वेनैव सिद्धे कालापरिच्छेदे,
पुरुषत्वेनैव च सिद्धे तद्विषयत्वेऽनन्त इति पुरुषविषय इति विशेषणयोर्वैयर्थ्यापत्तेरिति ।
नच सूत्रकृता स्फुटतयाऽनुक्तत्वाद्यमेव सूत्राशय इत्यत्र किं गमकमिति वाच्यम् ।
अविरोधाऽप्याय श्रुतेस्तु शब्दबलत्वादिति सूत्रे यथाशुताङ्गीकारस्य सूत्रकृतैवोक्तत्वेना-
त्रापि तथैव बोध्यत्वमिह । अत एव श्रीभागवतेऽपि 'न हि विरोध उभयं भगव-
त्पारिगणितगुणगण इधरेऽनवगमाक्षमाहात्म्य' इत्यादिनेतदेवोपईहितम् । लोकेऽपि
वस्तुत्वभाव एव यत्र कार्यहेतुन तत्र युक्तिसम्भावना । तथा अयःकान्तसन्निधौ लोह-
परिभ्रमणे, गर्भस्यैर्दर्येणादाहे, रेतसो मयूरादिभावे । अतो ब्रह्मणः श्रुत्यैकसमधि-
गम्यत्वाद्यथाश्रुतमेव भन्तव्यम् । इष्टं चेदं यशोदास्तनयस्य शृम्भालीलायां मृत्युना-
मक्षणोत्तरं व्यादानलीलायां च सुखारविन्दे विषयं दर्शयतः । उल्लखलचन्धे च सन्धी-
यमानानां स्वगेहदान्नां द्रष्टृङ्गलन्यूनता च । तेनानन्दाश्रयायं धर्मो, यत्र स्वाभिव्य-
क्तिस्तत्र विरुद्धमार्गोधारत्वमिति । इयमुपपत्तिरपि चकारेण सूत्रे सूच्यते । तस्मात् प्रादे-
शमात्रोऽपि व्यापक इति वैश्वानरो भगवामनेवेति सिद्धम् ॥

(अथात्र मत्तान्तराणि विचार्यन्ते । तत्र जाठराग्निप्रतीकस्य जाठरान्युपाधिकस्य
वा परमेश्वरस्योपास्यत्वं व्यासमते । जैमिनिमते तु तदुभयकल्पनं विनैव साक्षात् परशे-
श्वरोपासनं विधीयत इति साक्षादपीति सूत्रे व्याख्यायाभिव्यक्त्यादिदृष्टेषु प्रादेशमात्र-
त्वस्वाविरोधो विचार्यत इति शङ्कराचार्याः प्राहुः ।

तदेदमवधेयम् । आचार्यैस्तद्गुरुः सर्वदेवत्वसक्तार्ता स्वयं समन्वयं प्रतिज्ञाय
सरलां सुन्दरीं जैमिनिविचारितां युक्तिं श्रुत्यादिसंमतां जानानः किमिति नोपगतवान् ।
अथ युष्ठां तर्हि कृतो न दृष्टितवानिति ।

भास्कराचार्यास्तु, नायं वैश्वानरशब्दो जाठरान्यभिप्रायेण प्रयुक्तो, येनात्र तद्-
गुणकोपासनं कल्पेत । किन्तु यौगिकोऽयं शब्दो विश्वान्तरान् नयतीति । तद्विस्तृत
राशसवायसादिवत् स्वार्थं । अभिविमानशब्दाभिमुख्येन विचित्रं जगन्निर्मित इति
वा, अभिगतथासां विगतमानधेति वा योगेन । वैश्वानरशब्दस्य यौगिकार्थग्रहणे जाठ-
रानलविशिष्टोपासनमभिप्रेतं वाठरारागस्येति साधारणस्यैव व्याचक्षे । तत्र बीजं तु
सौत्रोऽपिशब्दः । साक्षादविरोधं जैमिनिरपीत्यन्वयादिति तदाशयः ।

(१) विद्वान्तर्मतो भागो मरुसंमिधो विवमामेषु प्राचीनहस्तलिखितविषयिषु पुस्तकेषु नास्ति । माध्य-
प्रकाशेऽप्यं भागोशरवो मुद्रितो दृश्यते । स एवात्र लिखित इति प्रतिमानि ।

ततया भारत्वाभावात्प्रार्थकृतो बाधकः । त्रञ्जानस्याभूतत्वसाधकतया ज्ञानद्वारा सेतुत्व-
स्यापि युक्तत्वात् लिङ्गादपि बाधः । अतो बाधितार्थत्वाभावात्सर्वगतं चैवेत्युक्तस्य
लक्ष्यस्य सर्वगतत्वस्युत्पादनायास्य प्रवृत्तत्वाच्चात्रोक्तं ध्रुवभाषायतनं ब्रह्मैतैत्यर्थः ॥१॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

ननुप्रक्रमे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योक्तत्वादस्य वाग्विभोक्तृत्वोक्तत्वेन विरुद्धत्व-
मिति चेत्, तत्राह । मुक्तैत्यादि । मुक्ताः देहाद्यध्यासरहिता जीवन्मुक्तास्तेषामुपसृप्यत्वेन
उपसृप्तं योग्यतया व्यपदेशात् । अयमर्थः । आनन्तरप्रकरणे तदेतद्व्यं सोम्य विद्वीत्सैक-
श्रेण तु ज्ञानं प्रतिज्ञाय, तत् कथं स्यादित्याकाङ्क्षायां धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महाशं शरं क-
पासा निशितं सन्धीयीत, आयाम्य तद्भागवतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाशरं सोम्य विद्वीत्स्य
ब्रह्मभावगतेन चेतसा या उपासा तथा निशितस्य शरस्य सन्धानमुक्त्वा, किमसं, कः शर
इत्यपेक्षायाम्, प्रणवो धनुः शरो धातुत्वत्वेन धनुःशरादुक्तत्वा उपासनानिशितत्वाशरकं
तद्भागवतं चैतः कथं स्यादित्यपेक्षायाम् तदर्थं प्राणविषयकवाग्विभोक्तृ उच्यते । स च
शरीराद्यध्यासराहित्य एव भवतीति तेन जीवन्मुक्तनिष्ठा भगवदुपसृप्यता योग्यते, न
तु ब्रह्मज्ञानं निषिध्यते । अतस्तस्या अत्रोपदेशो न सर्वज्ञानोपक्रमविरोधक इत्यर्थः ।
किञ्चात्र वाग्विभोक्तृ एवोच्यते, न त्वर्थविभोक्तृः । वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वात् । विकारस्य
वाच्यभ्रममात्रत्वात् । अतः सर्वज्ञानबाधाभावादिदं ब्रह्मवाक्यमेवेति । एवं प्रकरण-
विरोधोऽपि परिहृतः ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

इदमेवाधिकरणं पुनर्निषेधमुखेन विचारयति । नन्वत्र प्रकरणे, 'अरा इव रथनाभौ
संहता यत्र नाब्जः, स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान' इति नार्होऽसङ्गताधिकरणत्वं श-
रीरधर्मत्वाज्जडधर्मजन्यामिदृष्टान्तो जडदृष्टान्तः । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्मैव महिमा भुवि,
दिव्ये ब्रह्मपुरे होष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठित' इत्यत्र पुरत्वं पुरमिदं पुरमिति च जडदृष्टान्तः ।
भूमिष्ठमहिमवत्त्वं च जडधर्मः । मनोमयः प्राणशरीरनेतैत्यत्र मनोविकारत्वं च, तथा
प्राणशरीरनेतृत्वं, पुरे व्योम्नि प्रतिष्ठितत्वं, बहुधा जायमानत्वं च पुरुषधर्म इति बहूनां
संरूपधानां निरूपकाणां शब्दानां दर्शनादिदं तन्मत्तानुमापकमेव प्रकरणमिति छद्मवाक्य-
यतनं प्रकृतिरेवेति चेत् । न । अत्रैतैः शब्दैः क्रियमाणमनुमानं न साधकम् । कुतः अलच्छ-
ब्दात् । तन्मत्तसाधारणशब्दाभावात् । तथाहि । यत्तदोऽनित्यसम्बन्धाभावीसङ्गताधि-
करणत्वमन्तःप्रविष्टस्य सञ्चरतो भोक्तुः प्रतीयते, अतो न जडधर्मः । दृष्टान्तस्तु विद्वन्म-
क्तमेव बोधयति, न तु जडत्वमपि । अन्यथा दृष्टान्तीयाज्ञेयधर्मोऽपिः पक्षे भवन्ती
अनुमानस्य प्रामाण्यमेव भ्रम्यतात् । एवं सर्वज्ञ इत्यत्राप्युक्तयुक्त्या आत्मन एव महिमा

प्रतीयते, न जडस्य । पुरमपि दिव्यत्वेन लोकविलक्षणमेव सिध्यतीति दृष्टान्तमात्रेण
न जडत्वम् । मनोमय इत्यत्रापि प्राचुर्येमेवार्थो, न विकार इति प्रागपि सिद्धम् । अतो
नःसिन्धुधनमन्तबोधकशब्दाभावाद् आत्मसर्वज्ञानरूपत्वादिशब्दानां ब्रह्मवादबोधका-
नामसन्दिग्धानां सत्त्वात् सन्दिग्धानां तत्समभिसम्बाहारादिना ब्रह्मपरत्वे निर्णीते एतदा-
क्येऽपि सर्वोधारत्वेन निरूप्यमाणः परमात्मेव, न प्रधानमिति ॥३॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

ननु माऽत्वेवं सांख्यानुसारित्वनिर्णयः, तथापि प्राणानामोतत्ववचनं प्रधानासा-
धारणम् । प्राणशरीरनेतेति प्राणयुक्तशरीरनायकत्वं पुरुषासाधारणम् । सर्वज्ञादिकमपि
योगप्रभावविशिष्टजीवधर्मः । अतः केवाञ्चिज्जीवधर्मणां जडधर्मणां च दर्शनाज्जीवजड-
विशिष्टः सांख्यवाद एवात्रास्तिवचिन्तेत् । न । प्राणभृच्च अर्थे जीवो न भवति । कुतः ।
अलच्छब्दात् । न शब्दो हेतुश्च पूर्वमूत्रादेवानुवर्तते । तथाच मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठिनोऽपि हृदयं सन्निधाय तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभा-
तीति मन्त्रे हि मनोमत्त्वादिधर्मविशिष्टस्य प्राणभृतो विज्ञानेनानन्दमृतरूपस्य विभातो
दर्शनमुच्यते । ज्ञानदर्शनयोश्चैकविषयत्वं द्रष्टृणां च धीराणां ततो भेदः । न हि तन्मते
पुरुषस्यानन्दमृतत्वत्वं, येन पुरुषः शङ्कतेत । अतः प्राणभृच्चमपि साधारणमेव ॥४॥

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

ननु मास्तु मनोमयमन्त्रे जीवसिद्धिः । यस्मिन् चौरिति मन्त्रे तु भविष्यतीत्यतो
हेत्वन्तरमाह । भेदिति । 'यस्यैवं ज्ञानय आत्मान'मिति शत्रुक्षेयभावः प्रतीयते, प्राणा-
नामोतत्वं च ज्ञेये उच्यते । स च ज्ञातुभिन्नः, अतो भेदव्यपदेशात् प्राणभृच्च जीव
इत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रकरणत्वात् ॥ ६ ॥

ननु यद्यपि मन्त्रगतो हेतुर्जीवव्यावर्तकः, तथाप्येकशब्दस्य मुख्यार्थत्वात्कीकारे
द्वितीयसिद्धावेवकारसासङ्कचितान्ययोगव्यवच्छेदकत्वस्याज्ञयवचनत्वात् तमपि ज्ञान्य-
ततोऽपि मुख्यमात्मानं जानयेति वचनव्यक्तावस्य मन्त्रस्य जडजीवसाधारणधर्मोक्तत्वं
स्वादतत्सदभावात्पाह । प्रकरणादिति । आरंभे, स ब्रह्मविद्यामिति, मध्ये च, ब्रह्मैवेद-
मित्यादि, अन्ते च प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यामिति निरूपयान् प्रकरणं ब्रह्मणोऽवग-
म्यते । अतस्तदतिहाय, मन्त्रः कथमकस्मात् सांख्यमभिधेयात्, प्रकृतहान्यप्रकृतकल्प-
नाप्रसङ्गात्, अतो नात्र सांख्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

ब्रह्मपदस्य सांख्यमते प्रधानवाचकत्वात् सर्वस्यान्यार्थत्वमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाह ।
सिद्धतीत्यादि । द्वा सुपर्णेति मन्त्रे, अनश्नन्नयोः अभिचाकशीतीति परमात्मनः केवला

स्थितिः श्रान्त्येते । तयोरेव्यः पिप्लं स्वाद्दृशीति जीवस्य कर्मफलभोगः श्रान्त्येते । अतः स्थित्यदनाभ्यां जीवपरमात्मानावेव मध्ये परामुष्टौ । न हि सांख्यमते तथास्ति । सर्वेषां पुरुषाणां साम्यात् । वैपम्येऽप्येकत्रात्मद्वयस्थित्यनङ्गीकारात् । अतोऽनया विशेषोपापत्त्या तन्मते निरस्ते तदुपोद्बलितप्रकरणादिभिरेव ब्रह्मवादस्यैव सिद्धिः । तेन बुध्वाद्यायतनं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ७ ॥ १ ॥ इति प्रथमं बुध्वाद्यायतनाधिकरणम् ।

भूमा सम्प्रसादाद्ध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

छान्दीये नवमप्रपाठके सनत्कुमारानारदसंदादे श्रूयते । 'यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासित्यम्' इति सुखलक्षणत्वेन भूमाने जिज्ञास्यतयोपश्लिष्य, को भूमेति जिज्ञासायां भूम्नो लक्षणमाह । 'यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यद्विजानाति स भूमेति । तत्र संशयः । भूमा किं सुखबाहुल्ययुत ब्रह्मेति । उपक्रमे वेदादीनां नामत्वपुरुषत्वा, ततस्ततो भूयस्त्वं वागादीनां प्राणानानासुखत्वा, ततोऽपि भूयस्त्वं विज्ञानादीनामन्तरङ्गाणुत्वा, सुखस्य फलत्वादान्ते तस्यैव भूयस्त्वं वदतीति । तथोपक्रमे, 'तरति शोकमात्मवि'दिति प्रश्नवीज्युपपत्त्यस्य मध्ये च मुख्यप्राणविद्याया अवरत्तं बोधयति । विज्ञानादीनां पश्चात्कथनेन । तदेतद् यथायथं कोऽिद्वयोपरिचयितीवीजम् ।

तत्र पूर्वः पक्षस्तु यद्यप्युपक्रमे, तरति शोकमात्मविदिति नारदप्रश्नेन ग्रन्थावतारादुपसंहारे भूम्नो असूतत्वेन विशेषणाच्च भूम्नो ब्रह्मत्वं प्रकणार्त्तं वक्तुं शक्यम्, तथाभ्युपान्ते भूमानमेव प्रकृत्य अहङ्कारादेशात्मादेशावुक्तौ । तत्राहङ्कारादेशे सर्वत्र विद्यमानत्वेन सर्वत्वेन च भूयस्तयोक्तस्याप्यहङ्कारस्य तद्विशिष्टस्यात्मनो वा यथा न ब्रह्मत्वम्, तथा आत्मादेशेऽपि तयोक्तस्य केवलस्यात्मानमनो न ब्रह्मत्वम् । आत्मा चात्र सुखस्य स्वरूपम् । पूर्वोपकरणे आत्मपदस्थानारोपितानामनुक्तस्वरूपतराया एवोपगमात् । नच प्रश्नार्पूर्तिः शङ्कया । विविक्तजीवात्मज्ञानस्यैव ताश्चसुखस्वरूपज्ञानस्यात्मात्मज्ञानत्वेन तावैतत्त्वात्मविशेषे शोकरणसिद्धया प्रश्नपूर्तेः सम्भवात् । ब्रह्मण एवात्मत्वादिना ज्ञानस्य विवक्षितत्वे गमकामत्वात् । नच भूम्नः स्वप्रतिष्ठत्वश्रावणात् तस्य च ब्रह्मासाधारणत्वाद् ब्रह्मत्वं शङ्क्यम् । आत्मैवाप्यस्तादित्यादिना तस्य सर्वत्र व्यापेक्षकत्वात् सर्वतः पूर्णविषयलाभेऽनाकाङ्क्षायां तस्य पूर्णत्वासुसंधाने स्वमहिमप्रतिष्ठतायाः सम्भवात् । यदि च तस्य लाभस्य प्रयाससाध्यतया सुखबाहुल्यं तत्राङ्गीक्रियते, तदा सुसुचिरस्तु । तत्रापि, 'न कश्चन कामं कामयत' इत्यादि, 'तथया त्रिषया स्त्रिया सम्परिष्क' इत्यादिश्रावणाद् अन्यापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च । अतः सैवात्र भूमात्वेन प्राप्नोति प्राप्तम् ।

तत्रोच्यते । भूमेत्यादि । भूमा भगवानेव । कुतः ? सम्प्रसादाद्ध्युपदेशात् । बृहदारण्यके, 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वेति श्रवणात् सम्पद् प्रसा-

दोऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सम्प्रसादः सुपुष्टिः । तत्र यद्यपि, 'यद्वैतत् प्रपश्यती'त्यादिनायोऽन्यदर्शनाभाव उच्यते, सोऽत्र 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यादिनोच्यते, इति लक्षणं समानम्, तथापि 'स एवाघस्ता'दित्यादिना या सर्वत्र व्याप्तिः सर्वत्वं च यदुच्यते, तत्ततोऽधिकम् । न हि सुपुष्टेः सर्वत्वादधिर्माः सम्भवन्ति । आत्मशब्दश्च मुख्यवृत्तौ भवति । अतस्तदुपदेशादित्यर्थः । नच, ब्रह्मोपो भू च बहोरिति सूत्रं भावायप्रत्ययाधिकारे पठितम् । तत्र व्युत्पादितो भूमशब्दो नानात्वं बाहुल्यं वा वक्षिष्यतीति कथं तस्य ब्रह्मवाचकत्वमिति शङ्क्यम् । भगवतः सर्वत्रस्यात्र श्रावणात् । सर्वमध्ये मावस्थापि प्रवेशानस्यापि भगवति वृत्तेः सुखेन संभवादिति । तस्माद् भूमा भगवानेव ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

ननु भवतु सम्प्रसादाद् भूम्न आधिक्योपदेशः, तथापि भूमजिज्ञासया प्रश्ने तल्लक्षणत्वेन, यत्र नान्यत् पश्यतीत्यादिवाक्यमुच्यते । तत्र योऽन्यदर्शनादिनिषेधः, स तु सुपुष्टिसाधारण इति भूमपश्यन्ता अन्यविद्या भवतु । ततो भूमाधारमारभ्यात्मविद्येति शङ्कायामिदमुच्यते । धर्मोपपत्तेरिति । यत्र नान्यत् पश्यतीत्याद्युक्ता येऽन्यदर्शनाभावप्रयोजकत्वाद्यो धर्मोपपत्तेर्मा भगवत्पुपत्तेः । कथमिति चेत् । इत्यम् । फलाभ्यायोपान्तभागे 'स्वाप्यसम्पच्योरग्न्यतरापिष्यमातिष्कृते ही'ति सूत्रे यैत्रेयीब्राह्मणोक्तमद्वैतदर्शने प्रकारवैशिष्ट्येन उभयपत्रात्मनात् सुपुष्टिब्रह्मसम्पत्तिरूपावस्थाद्वयेऽपि जीवस्य ब्रह्मसम्बन्धादेवेति निर्णयितम् । तेन सुपुष्टाव्यन्यदर्शनाभावस्य ब्रह्मसम्बन्धप्रयुक्ततया तदीयत्वनिश्चयात् तस्मिन् सति लक्षणे अतिव्याप्तिनिरासाद् भूमविद्याप्यात्मविद्यैवेत्यर्थः । चकारात्, 'स वा एष एवं मन्वान' इत्यादिनोक्तमात्मक्रीडत्वादिरूपं फलमपि ब्रह्मसम्बन्धादेव सम्भवति, न सुपुष्टिसम्बन्धात् । तस्यां तमोऽस्मिन्नेन क्रीडाद्यभावादिमिति । तस्माद् भूमा ब्रह्मेवेति सिद्धम् ॥ ९ ॥ २ ॥ इति त्रितीयं भूमाधिकरणम् ।

अक्षरमम्बरान्तघृतेः ॥ १० ॥

गार्गीब्राह्मणे श्रूयते । 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च, स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अस्मिन्वदन्त्यधूलनमणिव'त्यादि । तत्र संज्ञयः । किमक्षरशब्देन पदार्थोन्तरमुच्यते, ब्रह्म वेति । तद्वीजे तु ओतप्रोतत्वस्य विकारित्वापादकतया जडलिङ्गत्वमक्षरपदस्य च 'क्षरं प्रधानमधुताक्षरं हर' इत्यादिश्रुतौ जीवबोधकत्वेन प्रसिद्धजीवलिङ्ग, 'क्षरान्तानवीशते देव एक' इति श्रुत्यन्तरात् प्रशासने ब्रह्मलिङ्गं बोध्यम् । तत्रौतप्रोततया विकारत्वेनाचेतनसाधारण्यात् । 'अहं त्वा याज्ञवल्क्य यथाकाशो वा वैदेहो वोपग्रुञ्ज उक्त्वं घनुरधिष्णं कृत्वा द्वौ बाणावन्तौ सपत्नादितिव्याधिनी हस्ते कृत्वोपोधिष्ठेदेवमेवाहं

त्वां द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्या'मिति द्वयोः प्रश्नयोर्ब्राह्मणतुल्यतया हेतुजनकत्वात् प्रथमप्रश्नोत्तरभूतत्वात्तदस्य द्वितीयप्रश्नोत्तरभूतत्वात्प्रश्नाभ्यामब्रह्मत्वमेव ।

किञ्च, यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतमित्यत्रौतस्येवात्र प्रोतस्वस्यापि, 'यदि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिमणा इवे'ति स्मार्तदृष्टान्तात्प्रवाहकतास्फोरकत्वम् । अतोऽचे-
तनतुल्यत्वाद् ब्रह्मवादस्य समासत्वात् प्रश्नकर्त्र्यां गार्ग्याः स्त्रीत्वेनाग्राह्यविष्टत्वेन च
ब्रह्मश्रवणेऽनधिकारित्वाच्च, यथा 'स्मरो वा आकाशाद् भूत'मित्यत्र कार्याकर्षणमात्राय
भूयस्त्वोक्तिः, तथात्र अन्वते इति न क्षरतीति वा योगेनाक्षरत्वं प्रशासितृत्वं च
स्मरणकालभूतसूक्ष्मप्रकृतिजीवविशेषाणामन्यतमस्यादत्य तदन्यतमपरिग्रह उपासनायै
वक्तव्यः । नचात्र प्रापञ्चिकमवैधर्मराहित्यस्य ब्रह्मधर्मस्य विरोधः शङ्क्यः । उपासना-
र्थत्वेनोपपत्तेः । नचैतदुत्तरोधेन ब्रह्मवात्राऽस्त्विति युक्तम् । प्रष्टुः श्रवणानधिकार-
स्योपपादितयात्र वक्तृरूपदृष्टत्वात्तदवावाद् वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । तस्माद्वाक्षरमन्यदेव,
न तु ब्रह्मेति प्राप्ते, उच्यते ।

अक्षरं परमात्मैव । कुतः । अम्बरान्तभूतेः । पृथिव्याद्यम्बरान्तानां धार-
कत्वात् । नच विषयवाक्ये अदर्शनात् स्वरूपासिद्धे हेतुरिति शङ्क्यम् । श्रुती व्या-
ख्यातार्यां तात्पर्यसिद्धत्वात् । कथमितिचेत्, इत्थम् । अत्र यथापि प्रश्नानेकत्वमापातवः
प्रतीयते, तथापि पूर्वब्राह्मणे, अन्वाच्यमन्तरमाकाशस्योक्तत्वेऽप्यत्र यदाकाशस्य पुनः
कथनं तत्र भूतकाशपरं, किन्तु चक्षुष्याद्यन्यतमययकार्यपरम् । ततोऽधिको धारकस्तत्र
तदन्यतमो जीवविशेषो वा न भवति । उक्ताकाशौतप्रोतत्वस्य तेषु जीवेषु काप्यदर्श-
नात् । एवं जडजीवयोर्नैवृत्तौ तद्वारणं ब्रह्मकार्यत्वेनैव निश्चितम् । नच भारवाहकत्वा-
पत्तिः । केवलस्य प्रोतत्वस्यैव वस्तुभेदबोधकत्वेनौतप्रोतत्वस्योपादानतागमकत्वात् । नैत-
च्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरं, ओतप्रोतमिदं यस्मिस्तन्पञ्चकं यथा पट' इति श्रीभा-
गवतवाक्यात् । नच श्रोतृदोषाद् ब्रह्मोपदेशो नात्रेति शङ्क्यम् । दोषवच्छेषेऽपि ब्रह्मवि-
त्त्वेनाधिकारित्वादुपदेशस्य युक्तत्वात् । नच ब्रह्मज्ञत्वे मानाभावः । अतिप्रश्नने सूर्य-
विपातस्य पूर्वभूतकतयाऽत्र तस्य पुनः करणेऽपि मूर्धविपाताभावस्यैव ब्रह्मविच्छगमकत्वात् ।
अतः सर्वोधारत्वेनात्र ब्रह्मैवोपदिश्यते । निरङ्कुशस्य सर्वोधारत्वेत्यान्यत्राभावात् । नन्वेवं
सति ब्रह्मपदस्यात्र कुतोऽनुक्तिरिति शङ्क्यम् । परोक्षेण कथनार्थं तदनुक्तैः । अतोऽत्र
ब्रह्मधर्मस्याम्बरान्तधारणस्योपदेशादक्षरं परमात्मैव ॥ १० ॥

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

ननु बुभ्यापधिकरणविषयवाक्ये सर्वविधारणं ब्रह्मधर्मत्वेन आश्रितमित्यन्यत्रापि
तथाश्रयित्वं न शक्यम् । निपात्यकत्वाभावादित्यत आह । सेत्यादि । सा च विद्युत्तरापि

ब्रह्मधर्म एव । चोऽप्यर्थे । कुतः । प्रशासनात् । अत्राकाशोपादानप्रश्ने तदुत्तरत्वेनाक्षरं
धावापृथिव्यादिविधारणं च वदन् विधारणहेतुत्वेन मध्ये प्रशासनं वक्ति । 'एतस्वैवा-
क्षरस्य प्रशासने, गार्गी धावापृथिवी विभूते तिष्ठत' इत्यादि । प्रशासनं चाज्ञैव । तथाच
यदि विधारणमन्यधर्मत्वेन स्वीक्रियते, तदापि तद्भवदाज्ञाहेतुकमेव । तिष्ठति विश्वा-
भिन्नोक्तविशद्विद्युत्धारणवत्, नतु तदाकाशादित्यामर्थ्यहेतुकम् । एतैर्नैवाक्षरं प्रशासनादिति
द्वत्रापचित्तरपि निरस्ता । आकाशान्तधर्मत्वेन प्रतीयमानाया एव तस्याः प्रशासनहेतुक-
त्वस्य विवक्षितत्वेनाम्बरान्तभूतिपदस्यावश्यकत्वादिति ॥ ११ ॥

अन्यमाव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

ननुक्तमुपासनार्थं ब्रह्मधर्मकथनमित्यत आह । अन्येत्यादि । अन्यस्य भावोऽ-
न्यभावो ब्रह्मेतरधर्मस्तदव्यावृत्तः । एतस्यैवाक्षरस्येत्येवकारेण प्रशानस्यान्यधर्मत्वं व्याव-
र्त्यते । एतद्वै तदक्षरं गार्गी अदृश्यं द्रष्टुं इत्यादिना चाकाशाद्यर्थस्यैव चेतनत्वबोधनेन जडत्व-
नित्यते । यस्मिन्नाकारेण ओतश्च प्रोतथेति कथनेन जीवत्वं व्यावर्त्यते । एवमक्षरस्य
जडजीवत्वनिवृत्तौ प्रशासनस्य धर्मत्वमेवेति तथेत्यर्थः । चकाराद्, यो वा एतदक्षरमवि-
दित्वा गार्ग्येऽज्ञोऽहोक्तं प्रैति स कृष्णोऽथ यो वा एतदक्षरं गार्गीं विदित्वाऽज्ञोऽहोक्तं
प्रैति स ब्राह्मण इति फलकथनमप्यक्षरस्य ब्रह्मत्वगमकम् । अतोऽत्र नोपासनप्रतिपाद-
नम् । तस्मादक्षरं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥ ३ ॥ इति तृतीयमक्षराधिकरणम् ।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

आथर्वणानां प्रश्नोपनिषदः पञ्चमे प्रश्ने श्रूयते । 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं
च ब्रह्म यदोद्धारः, तस्माद् विद्वानेतेनैवायनेनैकरतमन्वेति यथेकमात्रमभिधार्यते' इत्या-
दिना ए.रुद्रिभिर्मात्रोपासनाया ऋग्यजुःसामभिर्मनुष्यभूमध्वर्यलोकाभ्यासिपुनरागमने निरूप्य
अथेचतुर्थमात्रोपासनाया परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि परे सम्पन्नो यथा पादोद्दे-
रस्त्यत्वेत्यादिना परात् परं पुरिशय पुरुषमीक्षत इति । अत्र ध्यानविषयः परः
पुरुषः किं परमात्मा, उत विराट् पुरुषो ब्रह्मा वेति संशयः । परापरयोरुभयोरपि फलव-
न्त्वात् । तत्र तावदोद्धारणेन प्रतीकेन ब्रह्मोपासनार्थोद्धारस्य द्विविधब्रह्मरूपताङ्कत्वा
तेनैवायनेनैकरतमन्वेतीत्येकारतरमाप्तिं प्रतिज्ञाय साधनैक्ये कथं फलमेद इत्याप्यङ्गान्यां
भावनाप्रकारभेदस्य तत्र नियामकत्वं बोधयितुमेकद्विविधमात्रोपासनाया तच्चलोकप्रति-
पुनरागमने निरूप्यायैचतुर्थमात्रोपासनाया परतेजःसम्पत्तिपानिष्ठेति ब्रह्मलोकप्रतीक-
त्वात् परपुरुषधनं फलत्वेन वदति । तत्र परपुरुषध्यानस्य त्रिमात्रेणाप्युक्तत्वाद्धेचतुर्थ-
मात्रेणापि तद्वधानस्य तनुष्यकक्षत्वेनामूल्यप्रदावपतितत्वात् प्राप्यब्रह्मलोकस्यप्य-

मुख्यत्वात् लोकं गतस्य यत् पररूपेण फलं श्रूयते, तत् पूर्वापेक्षया तत्परस्यैव, न तु सर्वतः परस्य । ब्रह्मविदागतिं परमित्यत्र परप्राप्तेरेव फलत्वेन सिद्धतया तज्ज्ञानमात्रस्य फलत्वाभावात् । अतस्तात्पर्येऽङ्गित्वात् फलादपरस्यैव सिद्धेर्विराड् वा, तदभिमानो वा ध्यानविषयः । स एवैश्वरतिकर्मभूतः । नच जीवधनता परात्परमिति विशेषणान्त्वयः । व्यक्तोपपञ्चम्या जीवधनं प्राप्येत्यर्थे पूर्वभ्यः परं जीवधनं प्राप्य पुरिशयि.व्यर्थात् सुखेनान्वयसिद्धेः । अतो न परमात्मेति प्राप्ते, प्रतिवदति ।

ईश्वतीत्यादि । अभिमानविषयः पररूपः परमात्मेव । कृतः । ईश्वतिकर्मव्यपदेशात् । ईश्वतिर्दर्शनं तत्कर्मत्वेन निर्देशात् । अत्र जीवधनो हि युक्तजीवानां धनः पिण्डीभावो यत्र तादृशो ब्रह्मलोकोऽक्षरं सर्वस्मात् परं तस्मात् । परः पुरिशयः सर्वान्तर्यामी यः पुरुषः सोऽत्र तथा व्यपदिश्यते । ध्यानैक्षण्योरेककर्मकत्वम् । अन्यथा द्वे ब्रह्मणी इत्युपक्रम्य त्रिमात्रपर्यन्तमपरं निरूप्य यदि परं न निरूपयेत्, प्रतिज्ञा न पूर्णेत । मन्त्रे च तिस्रो मात्राः श्रुत्युक्त्याः प्रयुक्ता इत्युक्त्वा द्वितीयमन्त्रोच्चारार्थं यच्चच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चेति फलान्तरं च न वदेत् । किञ्चाभिध्याने हि साक्षात्कारः फलम् । अतः फलरूपज्ञानविषयत्वादिपि परमात्मेवात्र युक्तः । एतेनैव परश्रद्धादौ व्यक्तोपपञ्चम्यप्यपास्ता । तस्माद् ध्यानविषयः परमात्मेव । इदं च सूत्रं परमान्मा न दृश्यत इति मन्दाङ्गुलानिष्ठस्यैव प्रसङ्गादुक्तम् । अत्र यद्यपि शङ्कराचार्यदिभिः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि ध्वये संपन्नः स सामामिरुचीयते ब्रह्मलोकमिति पाठ आदिर्यते, स सिद्धान्तीन्वेतु पाठकेतु न प्रसिद्ध इत्युपेक्षणीयः ॥ १३ ॥ ४ ॥ इति चतुर्थमीश्वतिकर्माधिकरणम् ।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

छान्दोग्ये दशमप्रपाठकारम्भे श्रूयते । 'अथ यदिदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं चेन्न दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वज्र विजिज्ञासितव्यमिति । तत्र संशयः । किं जीवोऽन्वेष्टव्यः, किं वा परं ब्रह्मेति । नचाकाशस्तादृङ्गिदित्यधिकरणे आकाशशब्दवाच्यताया ब्रह्मणि विचारितत्वादाधिकरणस्य किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम् । अत्र दर्शने श्रुत्यर्थस्य निर्णयत्वाज्जीव एव परमार्थतो ब्रह्म ? उत ब्रह्म भिन्नमित्येतत्कर्णियार्थत्वेनावश्यकत्वात् ।

तत्र तावद्दहराकाशो जीव एव । तथाहि अत्रापहतपाप्मादिगुणकालमप्रतिपादके महावाक्य आद्यं दहरप्रकरणं, द्वितीयं चेन्द्रप्रज्ञापतिसंवादात्मकम् । तत्र द्वितीये चतुर्थिः पर्यायैर्जाग्रत्स्वमसुषुप्तिशुक्लवयस्थाभेदेन अद्वैतात्मरूपो जीव एव प्रतिपादित इति प्रथमेऽपि प्रकरणे स एव युक्तः । द्वितीयस्यैतत्पास्याकारूपत्वात् । अत्राप्यर्थविचारे

हृदापादायमेव प्रक्रम्य, तस्य ब्रह्मब्रह्मत्वमप्युक्त्वा, तत्र वर्तमानस्यैव जीवस्यैव आत्मापहतपाप्मेत्युक्त्वेव निर्देशात् । तत्र च आराधनायस्य जीवस्यैव मातुं शक्यत्वात् । नचाकाशशब्दवाच्यत्वविरोधः । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशस्य सुवचत्वात् । यदि च, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमित्याकाशात्तर्हीतिनोऽन्वेष्टव्यत्वे, न जीवस्येति शङ्क्यते, तथा सति तत्र वासनारूपेण विद्यमानस्य सर्वसाश्रोक्तस्य तन्महिम्नपल्लवात्तस्यान्वेष्टव्यत्वमस्तु । नच तन्महिम्नो वासनारूपस्य मान्भावः । यावान् वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्दृश्य आकाशः, उमे अस्मिन् धावापृथिवी समाहिते इत्यादिना अन्तर्बहिष्य सर्वकथने प्रत्यक्षविरोधापत्त्या जीवान्तादृशस्यैव मन्तव्यमस्मात् । नचैतद्यथापि दिश्यन्निधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरिसञ्चरन्तोऽपि न विन्देयुरेवमेवेमाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्तीति जीवानां प्रत्यहं ब्रह्मनिकटगमने तद्दर्शनं यदत्र श्रावितं, तज्जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे स्वस्य स्वाज्ञानात्प्राप्त्योरशक्यवचनत्वदसङ्गतं शादिति शङ्क्यम् । स्वप्नमायामनोरथादिषु स्वयं कल्पिता ये जीवास्तद्गमनागमने लक्ष्यीकृत्य सुखेन सङ्गतिस्सम्भवात् । तस्माज्जीव एव दहर इत्येवं प्राप्ते, प्रत्युच्यते ।

दहर इत्यादि । दहरः परमात्मेव, न जीवः, कृतः । उपरंभ्यः । दहरनिरूपणानन्तरं ब्रह्ममाण्येभ्यो हेतुभ्यः । तेषामपि हेतूनां हेतुताया असङ्कटत्वे साध्यत्वादेवं कथनम् । तस्माद् दहरः परमात्मा ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

उक्तहेतूनां मध्ये हेतुद्वयं प्रसाधयति । गतीत्यादि । गतिर्ब्रह्मलोकगमनं, तद्यथा दिश्यन्निधिमित्यादिनेोक्तम्, शब्दः एष आत्मापहतपाप्मेत्यादिपदानि, ब्रह्मलोकपदं च, ताभ्यां निर्दोशं तथा । ननु तयोरेव कथं भगवत्परत्वम् । गतेर्मनोरथादिकल्पितजीवपरत्वस्य शब्दानां युक्तावस्यजीवपरत्वस्योपपादितत्वादित्यत आह । तथाहीत्यादि । गतिशब्दो भगवत्परत्व एव युक्तो, न तु जीवपरत्वे । अत्र हि, ब्रह्मलोकेश्रद्धहर्गच्छतां ब्रह्मलोकज्ञानान्तेष्टयुतं विशेषणमनूतेन प्रत्युदा इति । तेन चाज्ञानावैष्टित्यमुच्यते, न त्वज्ञानकल्पितत्वम् । तत्र दृष्टं प्रत्यक्षगम्यमेव । सर्वेषां सुषुप्त्यनन्तरमुत्थाने, न किञ्चिदवैष्टिमित्येवं स्मरणस्यानुभवसाक्षिकत्वात् । यदि हि गन्तारोऽज्ञानकल्पिता भवेयुः, तदा जाग्रदशायामज्ञाननाशात् स्मरणं नोपपद्येत । नच गन्तुर्भाव एवेति युक्तम् । तथा सति यद्वात्मानमनुविद्य ब्रजन्तीति गतिबोधकशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात् । आत्मगन्त्रोऽज्ञानकर्मकृतेत्युक्तोच्चारणैश्च । न च अज्ञानस्य चरमदृष्टिनाशत्वात् ततः पूर्वमज्ञानसत्त्वात् सर्वपपद्यत इति वाच्यम् । तथा सति गन्तृत्वेन विवक्षितस्य चरमदृष्टौ वा सत्त्वे आत्महानाचक्षसा अनुस्यार्थत्वापत्तेः । तस्माज्जीवब्रह्मवादे गत्यनुपपत्तेस्तथाकल्पनमयुक्तं, किन्तु ज्ञेते जीवभिसपरत्वमेव युक्तमित्यर्थः । एवमपहतपाप्मेत्यादिशब्दानामपि ब्रह्म-

परत्वमेव । तद्विरुद्धधर्माणां जीवे दृष्टत्वात् । युक्तावस्थाप्रसङ्गस्यात्राभावेन तेषामत्र वक्तुमशक्यत्वात् । भगवति तु ध्यानादाविदानीमपि तेषामुपलब्धेः । अतः शब्दानामपि ब्रह्मपरत्वमेव युक्तमित्यर्थः । ननु ब्रह्मवादेऽपि सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वाज्जीवब्रह्मणोरंशशि-
भावजनकविभागस्याज्ञानिकत्वमेव वाच्यम् । क्रियाया तदङ्गीकारे ब्रह्मणोऽनित्यत्वा-
पत्तेः । अतो जीवानामज्ञानकल्पितत्वमेव सित्यतीति वृथा तत्परिहारावगमने लिङ्गम् । अतो
चेत्, न । बहु स्यामित्यादीच्छयैव विभागोपि पृथिवीशरावदेवांशांशिभावाज्ञानादुत्पत्त्या-
धुपपत्तेः सर्वसामञ्जस्येनादात्तात् । अतो जीवानामज्ञानदर्शनाद् ब्रह्मणः सर्वस्वत्वदर्श-
नाद्गतिशब्दो जीवमिच्छन्नविविषयावेव, न जीवविषयौ । किञ्च, गतिशब्दोर्ब्रह्मपरत्वे
लिङ्गं च वर्तते । तथादि । 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवाद्भुतं पुण्यजितो
लोकः क्षीयत' इत्यस्य वाक्यस्य शेषे आत्मानमनुविद्य ब्रजन्तीत्यात्माज्ञानं लोकक्षयहेतु-
त्वेनोच्यते । यदि च गन्तारो मनोरथकल्पिताः स्युः, तदा तेषां मिथ्यात्वेन अनुविद्य
ब्रजन्तीत्याहुक्तसर्वलोककामचारादिरूपस्य दितस्य वैयर्थ्यात् तदकरणं प्रसज्यते ।
अतोऽस्या गतेर्ब्रह्मभिन्नामिमानिकल्पितसत्त्वजीववर्तकत्वं जीवविषयत्वावगमने लिङ्गम् ।
एवं सर्वलोककामचारासत्यसङ्कल्पादिरूपं माहात्म्यमप्यपहस्यत्वादिशब्दानां जीवमिच्छ-
न्नपरत्वावगमने, लिङ्गम् । यथा वृहदारण्यके 'तद्यो यो देवानां प्रत्यनुभूयत तयर्षाणां
तथा भनुष्याणामित्यनेकजीवानुपक्रम्य 'तद्विदमप्येवर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति
स इहं सर्वं भवती'त्युक्तं सार्वभौम ब्राह्मणोपक्रम्यपठितस्यात्पदस्य जीवमिच्छन्नब्रह्मपरत्वे
लिङ्गं तद्वत् । अतो लिङ्गादपि गतिशब्दो जीवमिच्छन्नविविषयौ । चकारात् 'यमेव
विदित्वा अतिश्रुत्युत्प्रेतीति श्रुती विंशोऽप्यान्वित एवकारोऽपि ब्रह्मण एवात्मत्वेन ज्ञानं
भोक्षायेति बोधयति, न त्यामनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं भोक्षायेति च्यते । श्रुतौ विषयत्वेन
ब्रह्मण एव परामर्शोदिति । तस्माद् दहरः परमात्मा ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽप्यास्मिन्मुपलब्धेः ॥ १६ ॥

दहरस्ये हेतुबाहुत्वस्य प्रतिज्ञानाद्ब्रजन्तीं हेतुमाह । धृतेरित्यादि । इतोऽपि
हेतोर्दहरः परमात्मा । कुतः । धृतेः । 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भे-
दायेति श्रुत्युक्ताद् विचारणाभिःकुशुसर्वलोकधारकत्वस्य ब्रह्मासाधारणत्वात् तथेत्यर्थः ।
चकारात् सेतुत्वं संशुद्धते । सेतुत्वस्य निःसाधनपारताणसाधनात्मकत्वात् तादृशत्वस्य च
'अहंपापृवं निश्चि शयानम्' इत्यादौ ब्रह्मधर्मत्वेन सिद्धत्वादिति । अन्यं हेतुमाह ।
महिम्न इति । पुरुषसूक्ते, 'एतावानस्य महिमा अतो ज्यार्षांश्च पुरुष' इति महिम्नो
ब्रह्मज्योतिस्त्वममकलं भावितम् । अत्र च दहरस्य शरीरेकदेशान्तर्गतित्वकथनपूर्वकं,
यवान् वेत्यादिना परममहत्त्वं भाव्यते । उभे अस्मिन्निष्पादिना बहिर्वैतिन्येनान्त-
र्गतित्वं च । तच्च जीवजडयोस्सम्भवद्युक्तिविरोधेनाभर्यं जनयद्भगवत्साम्राज्योत्कर्षस्य-

कृत्वात्माहात्म्यरूपं भवति । उत्कर्षजनक एव च महिमा । भोजयमिह महिमेत्याचक्ष
इत्यादिश्रुतेः । अतो लोकविचारणादेर्विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधकतया महिमेरूपत्वात् ततोऽपि
दहरो भगवानित्यर्थः । एवं लोकविधारणस्वरूपेण महिमेरूपतया चेति देवा हेतुत्वं
बोधितम् । अथ कथमस्यासाधारणतयेत्य आह अत्येत्यादि । एतादृशविरुद्धधर्मोभूयत्व-
स्यास्मिन् ब्रह्मण्येव शब्दात् प्रत्यक्षात्तदुपलब्धेः । श्रद्धस्तु, 'ज्यात्मन् दिवो ज्वायाना-
काशात् । यवान् वा अयमाकाशः, अपोरणीयान् महतो महीयान्,' 'आसीनो दूरं ब्रजति,
शयानो याति सर्वतः,' 'अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्कुरितारावय'दित्यादिः । प्रत्यक्षं च
यशोदाप्रभृतीनाम् । तस्मात् परमात्मैव दहरः ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

याकाशशब्दाव्यत्यप्रसिद्धेरद्वयत्वं प्रत्यक्षत्वात्प्रसिद्धिद्वयत्वं 'ररथ ह वैष्यधार्गवी ब्रह्म-
लोक' इत्यरथान्तर्गतवाराहोपसंहितश्रीभागारूप्यमगवष्टोत्रप्रसिद्धं जीवे अत्यम्भवाद्
दहरो भगवानेवेत्यर्थः । चकारो विधिगुणेनाधिकरणसमाप्तिरुचकः ॥ १७ ॥
इदमेव पुनर्निषेधगुणेन विचारयति ।

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

एवं चतुःश्रुत्या दहरस्य परमात्मत्वं साधयित्वेदानीं चतुःश्रुत्या जीवस्य दहरत्वं
द्वयन्तु चरांशेनाशङ्क्य परिहरति । इतरेत्यादि । ननु ब्रह्मवादे जीवमहत्तयोः स्वरूपस्य श्रुत्ये-
कसाम्यगम्यत्वाद्यथाश्रुतमादरणीयम् । तत्र यथा सर्वत्र ब्रह्मासाधारणधर्मदर्शनाद् ब्रह्म-
प्रकरणत्वं निश्चीयते, एवमत्रोपक्रमाद्युपसंहारान्तं जीवपरामर्शोऽजीव एव प्रकरणी निषेधः ।
कथं स इति चेत्, इत्ययम् । अत्र हि, 'य इहात्ममानमनुविद्य ब्रजन्तीत्यारम्भे जीवव्युपक्रम-
'अत्र ह्यस्मिन्ने सत्याः कामा अनृतापिधाना' इत्यन्तेन दहरविदः कामा उक्ताः । मध्येऽपि,
'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहित'मित्यत्र ब्रह्मसमीपगमनेऽपि तदप्राप्तिः प्रतिपादिता, आ-
त्मनो हृदि स्थितिश्च । अन्ते च 'य एष सम्प्रसादोऽन्नाच्छरीरात् ससृष्ट्याय परं ज्योतिरुप-
सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनियुष्यत' इति प्रतिपाद्य तस्यैव सेतुत्वादिकं प्रतिपादितम् । तत्रा-
दिमध्ययोर्जीवो निःसन्दिग्धः । अन्तेऽपि सम्प्रसादो जीव एव । वृहदारण्यके, 'स एषो-
ऽस्मिन् सम्प्रसादे रक्षा चरित्वे'ति सम्प्रसादस्य जीवावस्थाविशेषत्वेनोक्ततया तदुपलक्षि-
तस्य जीवस्यैव आदरणीयत्वात् । तस्य च परत्वसम्भवेन्दस्वरूपाभिनियुष्यतिचर्चनं जीवासा-
धारणं लिङ्गम् । तेनोपक्रमगतमात्मवेचुत्वमपि स्ववेचुत्वरूपं जीवधर्म एव । अज्ञानस्य
जीवधर्मत्वं स्फुटमेव । सेतुत्वमपि साधनत्वम् । तथात्र प्राप्यत्वेन ब्रह्मणः प्रतिपादनेऽपि
न तस्य प्रकरणित्वम् । अत एव सर्वत्रेतस्य जीवस्य परामर्शोऽजीव एव प्रकरणाथं इति-
चेत् । न । जीवः प्रकरणी न भवति । कुतः । असम्भवात् । सर्वत्र वेदानो 'द्रावजावीशा-
नीशो' 'कृतं पिबन्ता'दित्यादिभिर्ब्रह्मविरुद्धधर्मवचनैश्च ब्रह्ममिच्छतया च तस्मिन्नेनात्र

सकलजगदाधारत्वादेस्तत्रासम्भवात् । नचैवं सति प्रदक्षितस्य परामर्शस्य का गतिरिति शङ्क्यम् । तस्यान्यार्थताया अत्रिमध्ये वक्ष्यमाणत्वात् । तावन्मात्रेण सर्ववेदान्तविरुद्धकल्पनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । वाक्यार्थोपपत्तेरुच्यते वक्ष्यमाणत्वाच्चेति । तस्माच्च जीवो दहर इति ॥ १८ ॥

उत्तराचेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

गुनराशङ्क्य समाधये । उत्तरादिति । उत्तरात् प्राज्ञापत्यात् प्रकरणदत्रापि जीवः प्रकरणीतिचेत् । अयमर्थः । उत्तरस्मिन् इन्द्रप्रज्ञापतिर्वाद्यप्रकरणे चतुर्भिः पर्यायैरात्मा बोधितः । तत्र प्रथमे पर्याये, 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति हो-वाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मे'त्यनेन जाग्रत्साक्षिणं निर्दिश्य तस्यामृताभयरूपत्वं च दर्शितम् । नचैतदग्रे, 'अथ योऽयं भगवोऽसु परिख्यायते, यश्चायमादर्ये कतम एष' इति प्रथमे 'एष उ एव सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत' इत्युत्तरात् प्रतिबिम्बपुरुष एवोच्यते, न जाग्रत्साक्षीति शङ्क्यम् । द्वितीयादिपर्यायारम्भे 'प्वेते त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यासामी'ति प्रतिज्ञाविरोधापत्तेः । अतस्तत्पर्यायेष्वेतस्याविशेषे-पविशिष्टस्य जीवस्यैवोपदेश इति निर्धीयते । तथा सति प्रथमे 'एषोऽक्षिणी'ति यदुक्तम्, तत्राक्षिपदेन मन एव ब्राह्मम् । उपान्तभागे 'मनोऽस्य देवं बध्नु'रिति वक्ष्यमाणत्वात् । तत्र दृश्यमानस्य जाग्रत्साक्ष्येव । अर्हविषोः प्रतीयमानत्वात् । तदनु तस्यैव 'य एव श्रेष्ठे महीयमान' इत्यादिना स्वप्नसाक्षित्वम्, तदनु 'यद्यत्रैतत् सुप्तः समस्त' इत्यादिना सुषुप्तिसाक्षित्वं च निरूप्य सर्वत्र तस्यामृतत्वं च निरूप्य, तदनु 'मघवन् मर्यं वा इदं शरीर'मित्यादिना शरीरत्वादासात्मकस्थानां तस्मिन्नात्मिकत्वं बोधयित्वा, समाधय-स्थायार्थं मनसि जीवं तादृशं प्रतिपादयतीत्यनेन जीवोऽपि वस्तुतोऽपहतपाप्मत्वादिचर्यमानं ब्रह्माभिषेच एव प्रकरणीतिचेत् । एवं मृतीनेन आशुकांशान्तरेण परिहरितः । आवि-र्भूतस्वरूपस्त्विति । अत्र पूर्वपक्षपरिहारकस्तुशब्दः । जीवस्यैवरूपतायां कारणान्तररूपत्वा एतस्य जीवप्रकरणतायाः स्थाप्यत्वात्तत्र नकारप्रयोगः । परिहारप्रयोजकं कारणमाह आविर्भूतस्वरूप इति । स्थाप्यसम्पर्कोर्जीवे भगवद्वेशः फलाध्यापोपान्ते वक्ष्यते । ब्रह्मसम्पर्कितोपासनादिपीष्कल्यात् । अतो नृसिंहोपासकस्य नृसिंहाविर्भाववत्प्रज्ञापतेर्ब्रह्म-ज्ञनेनोपदेशावसरे ब्रह्माविर्भावोवाह सर्वत्र स्वात्मानममृताभयरूपं पश्यन्निन्दं प्रत्यास-नस्तथात्स्युपदिष्टवान्, 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वैन रूपेणामिनिष्पद्यत' इति चोक्तवान् । अतः आविर्भूतस्वरूपत्वाज्जीवस्वाद्यद्य स्वतः, न तु स्वतस्तादृश इतीतरपरामर्शोऽपि न पूर्वत्र जीवः प्रकरणीत्यर्थः । नच जीवस्य स्वतस्तादृशसत्त्वाभावे किं गमकमिति शङ्क्यम् । अवस्थाभेदानामेव गमकत्वात् । नच तासामागन्तुकत्वाच्च तदभावगमकत्वमिति वाच्यम् । अमृतत्वद्वेः अभावरूपस्य तत्र साहजिकत्वे प्रन्तीव जिनन्तीवविच्छादयन्तीवेत्यादिभ्रा-

वितस्य तत्प्रतिपोगिनेन भवेदेस्तत्र प्राप्ताणिकस्याशक्यवचनत्वप्रसङ्गादिति । अतोऽत्रापि ब्रह्मण एवोपदेष्टव्यत्वाद् ब्रह्मैव प्रकरणि, न तु जीवः । तस्माद् दहरः परमात्मैव ॥१९॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

ननु यदि प्रकरणद्वयेऽपि ब्रह्मैवोपदेष्टव्यम्, तदा जीवपरामर्शस्य किं प्रयोजनमत आह । अन्येत्यादि । प्रथमप्रकरणे जीवपरामर्शोऽन्यार्थः । ब्रह्मस्वरूपफलाशुभये स्वरूप-योग्यतासम्पर्क्या बोधनार्थः । कथमितिचेत् । इत्यम् । तत्र हि, 'तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम स्वत्यमि'ति । तानि वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सति यमिति । तद् यत् सत् तद्-मृतमथ यत् ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोमे यच्छति यदनेनोमे यच्छति तस्माद्यमहरहवो एवंविन् स्वयं लोकमेती'ति वाक्ये भगवत्कर्तृकामृतमर्त्येयमयितृत्वज्ञाने स्वस्य ब्रह्मसुखं फलशुक्तम् । तत्र यमयितृत्वज्ञानं व्यन्त्यज्ञानाधीनमिति तयोर्मर्त्यस्य प्रसिद्धत्वादामृतां ज्ञापनीयमतस्तज्ज्ञापनाया जीवपरामर्शः । किञ्चैतः पूर्वमथ य एष इत्यादिना स्वरूपामि-निष्पत्तिरुक्ता । तेन ज्ञानिदृशार्थं भगवदाविर्भावो भवति । सः चकारेण सूच्यत इति तज्ज्ञापनाय च परामर्श इति । नचैतदर्थमेव परामर्श इत्यत्र किं मानमिति शङ्क्यम् । फलाध्यायोपान्ते स्थाप्यसम्पर्कोरिति सूत्रे सम्पत्तौ भगवदावेशस्य वक्तव्यत्वादिति । तस्माच्च परामर्शमात्रेण तथा कल्पनं युक्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरितिचेत् तदुक्तम् ॥ २१ ॥

ननु न वयं जीवे उपपत्तिरितीति जीवप्रकरणं कल्पयामः, किन्तु ब्रह्मणि नायं-मर्थ उपपद्यत इत्यनेन जीवप्रकरणं वदाम इत्याशङ्क्य तत्र पूर्वोक्तं समर्थं स्मारयति । अन्येत्यादि । अल्पश्रुतेः अन्येऽधिकरणेष्वेवत्यान श्रवणात् । दहरपुण्डरीके भगवतो 'यवान् वा अयमाकाश' इत्यादिना व्यापकत्वेन आवितस्यत्वत्वात् न सङ्गच्छते । अतो जीव एवाराम्रयोमे विरोधपरिहाराय तत्र भवत्विति कल्पयत इतिचेत् । तदुक्तम् । यद्येवमस-द्रीत्या विचारयति, तदा तत्समाधानमस्माभिरभेदोक्तसूत्रे प्रागेवोक्तम्, निवाप्यत्वादेवैव्योभवत्त्वेत्यनेन । हृदये चिन्तनीयत्वाद इति । तत्र विस्मर्तव्यम् । सर्वभवनसमर्थं ब्रह्मणि विरोधात्मभवस्यास्तदुपादि तत्राश्च । तथा 'विजिघ्रस्तोऽपिपास' इत्यादिश्रुतित् पुरुष-शरीरमपि विरुद्धमिति नाशङ्कनीयम् । 'पुरुषत्वे च मां पीराः सांख्ययोगविशारदाः, आविस्तांगं प्रपश्यन्ति सर्वंशक्त्युपचृष्टित'मिति भगवद्वाक्यात् । तस्माद्दहरो भगवान्नेवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥ ५ ॥ इति पञ्चमं दहराधिकरणम् ।

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

ननु दहरवाक्ये, 'यवान् वा अयमाकाशास्तावानेयोऽन्वर्हदय आकाश उमे अस्मिन् द्यावाधृषिती अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च सृष्टोचन्द्रमसाशुभौ विद्युश्चक्षराणि यवा-स्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहित'मिति सूर्यादीनां दहरान्तर्भावितं श्रूयते ।

१६४

भावप्रकाशिका ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

तद्विरुद्धं च शृण्वन्कादिष्वभासनवाक्यम् । तेषां ब्रह्मपरत्वं सिद्धम्, अतस्तद्विरुद्धवाक्यमाद्यं
 न्य परिहरति । अनुकृतेरित्यादि । तद्वेवर्त्त्यां शृण्वन्के च श्रूयते । 'न तत्र सूर्यां भाति न चन्द्र-
 तारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽप्यग्निः', तमेव भासन्मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व-
 मिदं विभातीति । तत्र कठवर्त्त्यां, 'य एष सुतेषु जागर्तीति' यच्छब्दं पठित्वा मन्त्रा-
 न्तरे 'तस्मिद्धोकाः श्रिताः सर्वे,' 'तमेव भासन्मनुभाति' च तच्छब्दः पठ्यते । शृण्वन्केऽपि
 'यत्र देवः क्रतुभिर्भूतिभावन' इति, 'न तत्र सूर्यां भातीति' । एवमुभयत्रापि यत्तच्छब्दान्त-
 नामिकाथत्वं ब्रह्मपरत्वं च यद्यपि प्रकरणादवगतम्, तथापि शृण्वन्कश्रुतो 'यस्मिन् घो'रि-
 त्यत्र पुलोकादीनां भगवदाधारत्वकथनात् सूर्यादीनां भगवत्त्वेव स्थितिः प्रतीयते ।
 एतन्मन्त्रपूर्वार्थं च तत्र तेषां भासं निषिध्यते । तच्च भासन्स्वभावानां स्वाधारे भावा-
 भावकथनाद्धान्यायै सत् सन्देहशुत्पादयति । यदि चोत्तरार्थं, तमेवेत्यादिकथनात् विद-
 पेश्याधिकभाननिषेध एव तात्पर्यम्, न सामान्यनिषेधे, अतो न बाधितार्थत्वमिति त्था-
 व्यते, तदाप्यकर्मकस्य धातोः कर्मबोधिका द्वितीया तु बाधितमेव वक्ति । ब्रह्मणः स्वतो
 भानकथनेन व्यवधारणकल्पनायाः कर्तुमशक्यत्वात् । अतः सन्देहः ।

पूर्वपक्षस्तु । श्रुतौ तत्रेत्यधिकरणसप्तम्या कुतोऽप्यग्निरिति वचनाच्च, 'गजा यत्र न
 गच्छन्ते मशकानां तु का कथे'तिवत् कैमुतिकन्यायः पूर्वार्थे दोगः । उत्तरार्थे तु 'तमेव
 भान्'मिति कथनाद् भानस्य च तेजोधर्मात्वात्स्वत्यलोकैः स्थितः कश्चित् तेजोविशेष एव
 वक्तव्यः । नच कर्मत्वात्ते बाधितार्थत्वम् । अतोः कर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगे जाताया
 द्वितीयाया उपपदविभक्तित्वेनार्थशून्यत्वात् । अतः स एवाबाधितो वाक्यार्थ इति प्राप्ते,
 उच्यते ।

अनुकृतेस्तस्येति । तस्य भगवतोऽनुकारार्थमेवात्र पूर्वार्थं भाननिषेधवचनम्, न तु
 सर्वथा तन्निषेधार्थम् । उत्तरार्थं अनुभातीति कथनात् । तच्च तेषां स्वतोऽभासने पर्यवस्यति ।
 नच तेजोविशेषकल्पनं युक्तम् । तस्मिन्त्येन प्रकारेण परामशत कल्पमानस्याप्यसिद्ध-
 त्वेन यच्छब्दानेपेक्षताया वक्तुमशक्यत्वान्ति । किञ्च । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति'
 कथनात् सूर्यादीनां स्वतः प्रकाशो नान्त्येव, घटादिवत्, किन्तु भगवत्प्रकाशेनेव प्रकाश-
 वचमिति चकारणं सूच्यते । अतो ब्रह्मपरत्वे बाधकस्याभावात्तान्यार्थकल्पनं युक्तम् ॥ २२ ॥

अपि स्मर्यते ॥ २३ ॥

उक्तेऽर्थे सम्मतिमाह । अपीत्यादि । अपिः समुच्चये । 'न तत्रासपते सूर्यो न
 शशाङ्को न पावक' इति । 'यदादित्यगतं तेजो जगन्नसपतेऽसिलम्, यच्चन्द्रमसि यथाशौ
 तमेजो विदि मामक'मिति च । तस्मान्नगवानेव सर्वोवासात्क, तमेव सर्वमनुकरोतीति
 सिद्धम् । एवमभासनाशङ्कितविरोधपरिहारेण दहरवाक्यानुगुण्यमस्य साधितम्
 ॥ २३ ॥ ६ ॥ इति षष्ठमनुधिकरणम् ।

प्रसङ्गात् परिमाणविरोधरूपं वाचकान्तरमादाङ्क्य परिहरति । शब्दादित्यादि ।
 कठवर्त्त्यां श्रूयते । 'अद्गुष्टमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतमव्यस्य
 ततो न विद्युगुप्तः' इति । तथा । 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरितानायुष्क' इति । अत्र
 जीवो वा, ब्रह्म वेति संशयः ।

तत्र, 'यवान् वा अयमाकाश' इति व्यापकत्वमन्तःस्थितस्य प्रतीयत् । अत्र
 चान्तःस्थितस्यैवांगुष्ठमात्रता प्रतीयते । सा च व्यापकताविरुद्धा । अतो जीव एवात्र
 वक्तव्यः । अङ्गुष्ठमात्रं, 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्ख्याहङ्कारसमन्वितो य' इति
 श्रुत्यन्तरे तस्याङ्गुष्ठमात्रतायाः प्रसिद्धत्वात्, तस्य च 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निषक्यं यमो
 बला'दिति पुराणवाक्यादायानन्त्यमत्तदन्त्यतिरिक्तस्य कर्मनोपास्यत्वेन बोधयितुष्टुपास-
 नार्थमीशानत्वादधर्मो उच्यन्ते । अतो न भगवानिति प्राप्ते, अभिधीयते,

शब्दादेव प्रमित इति । उक्तवाक्ये पूर्वार्थेनाङ्गुष्ठमात्रत्वस्युक्तोत्तरार्थं तान्मात्रस्यैव
 भूतभूयेशानत्वं वक्तौति वाक्यरूपाच्छब्दादेव प्रकरणेन विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपेण भितो
 ज्ञातः । तथाच यथा दहरवाक्ये सूक्ष्मस्यैव व्यापकत्वं शब्दात्प्रतीयते, एवमत्राङ्गुष्ठा-
 त्रस्यैव भूतभूयेशानत्वम्, अतः शब्दादेवास्य प्रमितत्वान्न सन्देह एव न कार्य इत्यर्थः ।
 किञ्च । पूर्वोक्तिरणविषयवाक्ये सर्वस्य भगवदनुकारकत्वसिद्धेरत्र राजादीनां स्वत्वाना-
 म्यनेकजनपदशून्यत्वात् प्रत्यक्षमध्यगुह्यलीभवति । तथा तर्कोऽपि । यदि भगवा-
 नेव न स्यात्, राजादिरपि तथा न स्यादिति । तस्माद्भगवतः सर्वतः पण्डितान्त्येन
 यत्र वावानपेक्ष्यते, तत्र तानन्तं श्रुतिनिरूपयतीत्यङ्गुष्ठमात्रः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २४ ॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

नन्वेनेकरूपविरुद्धधर्माश्रयत्वं च माहात्म्यार्थं स्वरूपे निरूपयति । प्रादेश्यार्थं
 च ध्यानार्थम् । अङ्गुष्ठमात्रत्वस्यात्रोपयोगादर्थज्ञानं किमर्थं तन्निरूपणमित्याशङ्क्यामाह ।
 हृदीत्यादि । तुशब्दो निष्प्रयोजनशब्दानिबन्धार्थः । अस्ति प्रयोजनम् । तदाह । हृदि
 यद् हृद्युष्टमात्रं निरूपयति, तद् अपेक्षया, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठतीति स्थितेरी-
 श्वरकार्यापेक्षया निरूपयति । तच्च कार्यं धर्मरक्षा । ननु कथमेतदवगम्यते, इत्यत आह ।
 मनुष्याधिकारत्वादिति । मनुष्यान्धिकृत्येदं स्यूयकथानं प्रवृत्तम् । मनुष्याणां च
 हृदयं स्थूलमपि सत् घर्मात्मकमङ्गुष्ठमात्रमेव । अङ्गुष्ठमात्रस्यैवादानभ्रवणात् । अतः परि-
 माणान्तरमन्तरकत्वाङ्गुष्ठमात्रः सर्वधर्मरक्षार्थं निरूप्यत इत्यङ्गुष्ठमात्रो भगवानेवेति सिद्धम्
 ॥ २५ ॥ ७ ॥ इति सप्तमं शब्दादेव प्रमित इत्यधिकरणम् ।

तदुपर्यपि च बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रनिरूपणार्थं मनुष्याधिकारे निरूपिते जैमिनीयदर्शनाभिनिविष्टस्य कस्य-
चिद् भ्रमः स्यात् । सर्वास्तु ब्रह्मविद्यासु मनुष्याणामेवाधिकार इति । तन्निराकरणाय
देवानामधिकारं स्थापयितुमिदमधिकरणमनुग्रहसङ्गत्या अरभते । तदुपर्यपित्यादि ।
मनुष्येष्वपि त्रैवर्णिकानामुपनयनादिधर्मवतामधिकारो, न तु ततोऽर्वाङ्कनानामिति जै-
मिनीयदर्शनेषु श श्राधिकरणे सिद्धम् । तदश्रायङ्गीक्रियते । तदनुक्तमधिकं तु बोध्यते
इति ज्ञापनार्थमपिशब्दः । तदुपरि विशिष्टत्रैवर्णिकेभ्यो मनुष्येभ्यः सकाशादुपरि मनु-
ष्यगन्धर्वादिप्रजापत्यन्तान्प्रदानमधिकारं बादरायण आचार्यो मन्यते । तत्र जैमिनिप्र-
तीनां न सम्मतिरतः स्वनामदिग्धानम् । सूक्ते हेतुमाह । सम्मवादिति । जैमिनिर्हि
कर्मविधीनां स्वापेक्षितोद्देश्यत्वातिरिक्तदेवतागतधर्मान्तरानाकाङ्क्षित्वमश्रीकृत्य तच्छेष-
भूतयोर्मन्त्रार्थवादयोर्देवताविग्रहसावकत्वं मन्वानो विग्रहाभावादेवाश्रित्वसामर्थ्यविग्रहा-
नामभावादधिकारासम्भवं मन्यते । सोऽसम्भवोऽत्र नास्ति । विग्रहाभावे तेषां विधीनां
व्यापारकौष्ठ्यप्रसङ्गात् । तथाहि, देवतोद्देशेन विधीयमानं यागादिकं स्वपरोद्देश्यसम्ब-
न्धाय वषट्कारमपेक्षते । स च ध्यानम् । यस्यै देवतायै हविर्निर्गसं स्यात्, तां मनसा
ध्यायेद्, वषट् करिष्यन्निति विधानात् । ध्यानं च विग्रहमन्त्रेणासम्भवद्धानानविध्यान-
र्थक्यं प्रसज्ययति । अयरीराया देवतायाः ध्यातुमुद्धानवनारोहात् । तदनारोहे च ध्यान-
वषट्काराद्यभावाद्यागसिद्धयभावेन उद्विधिवैषम्यं वज्रलोपायत इति कर्मविधीनामुद्देश्य-
गतधर्मान्तरापेक्षा अनुक्तसिद्धा । ताँश्च धर्मान् 'वज्रहस्तः पुरन्दर' इत्यादयो मन्त्रा
'बायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादयोऽर्थवादाद्य समर्पयन्तीति मन्त्रार्थवादयोर्विग्रहसावकत्वं
निर्वाधम् । एवं सिद्धे कर्माधिकारे वाधकानां निरासेन ज्ञानाधिकारोऽपि सम्भवत्येव ।
धर्मज्ञानाभ्यां सातिशयान्यां तादृशजन्मसम्भवात् । 'तं विधाकर्मणो समन्वारं पूर्व-
प्रज्ञा च' इति श्रुतेस्तेषां शरीरारम्भकारणत्वात् । नचोपनयनाभावादनधिकारः शङ्क्यः ।
'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यस्यहृदं पुरस्ता'दिति 'यो वै वेदोऽथ प्रथिषोति तस्मा'
इति यज्ञोपवीतवेदाध्यापनादिलिङ्गेन श्रुतानन्दिनां श्रोत्रियत्वलिङ्गेन च तथिष्यत्वात् ।
अतः सातिशयान्यां धर्मज्ञानान्यां ब्रह्मविद्यायोर्गोच्यजन्मसम्भवात्कारदवत्तेषां पूर्वसंस्कारा-
लोपान्नाश्वरार्थित्वे सिद्धे उपरोचरस्युपदेष्टृणां विद्यमानत्वात् प्रजापतिपर्यन्तं सर्वेषामधि-
कारः सम्भवति । सम्भवोक्त्या तादृशाधिकारस्य दुर्लभत्वं सूचितम् । 'यो यो देवानां
प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्, तथाप्यौ तथा मनुष्याणा'मिति श्रुतेः । अतस्तदुपरितना-
नामप्यधिकारः सिद्धः ॥ २६ ॥

विरोधः कर्मणाति चेन्नानेकप्रतिपक्षेदर्शनात् ॥ २७ ॥

अधिकार एव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । विरोध इत्यादि । नन्वेवमुपरितनानां
ज्ञानाधिकारेऽङ्गीक्रियमाणे तत्पूर्वभाविन्युपनयनवेदाध्यापनादिसुषे कर्मण्यधिकारोऽप्यर्थ

नक्तम्भः । स च तेषु ब्राह्मण्यभावात्तदशक्यवचनः । नचाधिकारबलेन ब्राह्मण्यवादिकं
तेषामाक्षेप्यमिति वक्तुं युक्तम् । तस्य विप्रतिपक्षत्वेन बलाभावात् तस्याक्षेपकताया
दुरापास्तत्वात् । यज्ञोपवीतमन्त्राणुकुलिङ्गेन तदङ्गीकारेऽपि स्वर्गस्थानां तेषां भूमिपस्य
देशस्य, वीक्षादिरूपस्य द्रव्यस्य, तथा तल्लोके धृत्यैगत्यभावेन दशदिरूपस्य कालस्य, ऐन्द्र-
दक्षभावात्सायामित्यादिप्राक्याः कर्तृभिन्नाया देवतायाश्चाभावेन तैः क्रियमाणे यज्ञादे-
कर्मणि च श्रुतिविरोध इति चेत् । न । नात्र विरोधः । कुतः । अनेकप्रतिपक्षेदर्शनात् ।
'साध्या वै देवाः सुवर्गकामा एत-२५इरात्रमपश्यन्, तमाहरन्, तेनायजन्त, सोषिष्टोमेन
बखनजयन्त, स उक्थेन रुद्रानयाजयन्त, सोऽन्तिरात्रेणादित्यानयाजय'दित्यादिषु अनेकेषां
देवानां प्रतिपत्तेः कर्मणि प्रवृत्तेर्दर्शनात् । तथाचैवं प्रत्यक्षश्रुत्यैव करणे दर्शिते तत्र एवाधि-
कारसिद्धेः, 'स्वं देवेषु ब्राह्मणोऽसि यानि ह वै देवश्राप्य मरुतो वै देवानां विश' इत्यादि-
श्रुतिबलेन तेषु वर्णसत्तायाः, 'तौ ह द्वात्रिंशत् वर्षाणि ब्रह्म चर्यमृषत'रित्यादिष्विन्द्रादी-
नामाश्रमसत्तायाः, 'आदित्या वा अस्माल्लोकामृदं लो हमाय'न्त्रियादिषु भूमावागत्य
यज्ञकरणश्रावणेन दशसत्तायाः, तत्र एव कालद्रव्यसम्पत्तेरिहातो अश्विनाध्वर्यु इत्यादि-
त्यनां देवानां च श्रावणात् विनेवाक्षेपं सर्वेषाधकनिरास इष्टः । नच जैमिनिस्त्वन्व-
काशः शङ्क्यः । इदानीं वेदविभागादावाधुनिकानां सर्वज्ञानाभावेन मुख्ययज्ञानधिकारे
तान् प्रति तस्यावकाशादिति । अतः कर्माधिकास्तत्करणं चोपयोपि सिद्धम् ॥ २७ ॥

शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

ननु पूर्वोक्तरीत्या देवैस्त्वधिकारस्यवस्थापनेन कर्तृत्वापादनात् तैः कर्मकरणे
मास्तु श्रुतिविरोधः, तथापि शब्दे तु विरोधा भविष्यति । कथमितिचेत् । कथमिति
अर्थज्ञानानन्तरं हि कर्मकरणम् । अर्थज्ञानं च वेदात् । वेदस्तु साध्यादीनां कर्मकरणं
वदति । तत्र साध्याद्युपनिषत्कृतकर्मयोगोऽन्तरभावि । अतः कर्मकरणार्थं प्रवृत्तानां
साध्यादीनां वेदार्थप्रमितिसमये साध्यादिकार्यस्य कर्मणोऽभावेन तद्वोधकवेदभागसाध्य-
भावात्तदन्वित्यत्वापत्तिः । तदा(प)पत्तौ च, 'वाचा विरूपनित्यये'त्याथा, 'अनादिनिधना
नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा, शिवाया ऋषिपर्यन्ताः स्मरतारोऽस्य न कारका' इत्या-
दिश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तिः । नच तादृशवेदभागोक्ताः साध्यादयः सा यागव्यक्तिका-
न्यैवेति वाच्यम् । तदन्वत्यव्यवस्थापकप्रमाणाभावात् । अतो देवानां कर्मकरणाङ्गीकारे
वेदनिस्त्यत्वबोधकश्रुतिविरोध इतिचेत् । न । नात्र श्रुतिविरोधः । कुतः । अतः प्रभ-
वात् । प्रभवः प्राकटयम्, स च विद्यमानस्य धर्मः । तथाच शब्दोक्तपदार्थानां शब्दा-
देव प्राकटयन् विद्यमानतावधारणाच्च पूर्वोक्तो विरोधः । वेदोक्ताः सर्व एव पदार्था
आधिदैविकाः पुरुषावयवभूताः । नचैत एव त इति शङ्क्यम् । अनुकृतिमूत्रे विषयवा-
च्येन भगवतः सर्वानुकार्यैस्वनिर्धारतां तेषामनुकारिभ्यो भेदस्य सिद्धत्वात् । अतो

लौकिकप्रमाणाभौतरो ज्ञानात्मकः प्रपञ्चो भिन्न एव भगवदवयवस्त्वः । पदानां च वैदिकानां तैनेव सम्बन्ध इति देवैरगम्यमानाः साध्यादयो भिन्ना इति न ज्ञानावात्माश्रयादिने वा शब्दमित्यन्वहानिरिति शब्देऽपि न विरोध इत्यर्थः । ननु लौकिकैरेव प्रत्यादिमिर्थज्ञनिर्वर्तनदर्शनात् कथं वैदिकस्य प्रपञ्चस्यातिरिक्तत्वमुपगन्तुं शक्यमित्याशङ्क्यामाह । प्रत्यक्षानुमानान्भ्यामिति । तथाचैतान्भ्यां प्रमाणाभ्यामुपगन्तुं शक्यमित्यर्थः । तत्र प्रत्यक्षं तावदिदानीमपि यजमानो यजमानकृत्वे प्रविव्रजश्चरित्वकृत्त्वं वेदादेवागच्छन्ति । तथाच यथा तत्कर्म वेदैकसमाधिगम्यम्, यथा पदार्था अपि । ननु प्रसिद्धपदसामर्थ्याहाराद्धं शक्तौ गृहीतार्थं पञ्चालोकानां वैदिककर्मविषयकं श्रावदं भवति, ततस्तैस्तदगृहीयत इति तत्रत्यक्षं भवति । तत्र लौकिकातिरेकश्च वैलक्षण्याद्भासत इति तत्र प्रत्यक्षस्य प्राप्ताप्यं युक्तम् । पदार्थानां तु सङ्केतप्राहकस्याभावेन तेष्वान्वाभावाद्द्वैलक्षण्यादर्शनेन तस्यानुपस्थितत्वाच्च कथं तत्रत्यक्षमितिचेत् । उच्यते । न ह्यत्र तेषां प्रत्यक्षशुष्यते । किन्तु वेदान्तं प्रभवत्स । एवं सति युष्ठा कर्मणः प्रभवः, एवं पदार्थानामपि श्रेयः । अन्यथा प्रोक्षणादीनां संस्काराणामपार्थक्यमेव स्यात् । किञ्च । पूर्वेषां ब्रह्मादीनां भगवतः साक्षात्कारात्तदवयवरूपाणां पदार्थानामुपस्थितिः सुकरैव स्यात् । ततोऽन्वेषीनानामिदानीन्तनपर्यन्तानां तु सम्प्रदायपारम्पर्यात् सर्वस्य भगवदनुकारित्वज्ञानाच्च भेदे सादृश्ये च भाते उपमानादेव तेषु शक्तिग्रहः । अत्रत्यक्षत्वेऽपि श्रावदं च भवति । यथा स्वर्गादीनामतीन्द्रियाणाम् । उपमानां तु वैलक्षण्यमपि किञ्चिद्भासत एव । अतो जैमिनिमते वेदाद्ब्रह्मैवगतिवद् वैषास्ये मते वेदादेव पदार्थानामप्यवगतिः । किञ्च । जमदग्नीनां पञ्चावचमित्यादिकमनुमानम् । मनुष्यत्ववज्जामदग्न्यस्त्वस्य प्रत्यक्षत्वाभावात् । भारत आजगरे मनु-यत्स्वभ्याप्यानां ब्राह्मणत्वात्प्राचीनो मनुष्यरिप्यत्वकथनेन, जैमिनिना स्वपरंपराधात् कर्तुंश्च पुत्रदर्शनेमितिस्मृत्करणेन, प्रवरानुमन्त्रणश्रुत्या, 'यन्मे माता प्रममाये'ति श्रुत्या च तथा निश्चयात् । ब्रह्मवादेः परोक्षज्ञानस्याप्यनुमानत्वेन व्यवहारादिति । तस्मात् कर्मवर्णनवित्तु प्रत्यक्षेण स्वस्य जामदग्न्यवगतिवत् परोक्षेण च तस्य प्रपञ्चस्यावगतैः शब्देऽपि न विरोध इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

एतदतिदेशेनैव वेदस्यापि नित्यत्वं साधयितुमाह । अत एवेत्यादि । अत एव सर्वप्रपञ्चवैलक्षण्यादेव हेतोर्वेदस्य नित्यत्वम् । चकाराद्ब्रह्मत्वमित्यत्वं, शब्दब्रह्मवेदपुरुष-इत्यादिपदवाच्यत्वं च संगृह्यते । एव सूत्रद्वये शब्दबलविचारेण वेदप्रामाण्यसिद्धयर्थं भिन्न एव प्रपञ्च आधिदैविकः सर्वत्र सिद्धः । तेनानुकारिसृष्टेरपि यत् कीर्तनं तत्रापि नित्यसंयोगः । 'सदेव साभ्येति', 'हंताऽहं मदेव मन्मात्रं द्वितीय'मिति । विषयं वे ब्रह्म

१. वैलक्षण्यभावेन दर्शनमेति वा. ।

तन्मात्रमित्यादिश्रुतिभिर्मन्त्रोपादानकतया तस्या अपि नित्यत्वावधारणादिति च सिद्धम् ॥ २९ ॥

समानानामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

इदानीमुच्यते 'तत्तेजोऽसृजन्'त्यादिवाक्यानां विचारे तेजःप्रभृतीनां जन्यत्वभावनादनित्यत्वे सिद्धे श्रावार्थोक्तदंते अतित्यसंयोगोऽर्थबलेन प्राचीनीति तन्निश्चयमेवाह । समानेत्यादि । वस्तुस्तु सर्वस्य भगवद्भूत्वादाविर्भावविरोधावेच्छयेवा-नित्यत्वेन भानस्य विष्णुपुराणे, 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिराश्विलम्, आविर्भावति रोभाञ्जगन्नाशविकल्पवद'ति जगतो विकल्पवत्तद्यथावोधेन चोक्तत्वादावृत्तिशङ्कैव नास्ति । यदि पुनलोकबुद्धिमनुसृत्य जन्मनाशङ्कीकरिणानित्यतोपगम्यते, तदापि मृदादीनां पिण्डधत्तपरैर्चूर्णान्मसपरमाण्ववस्थानां पीनः पुन्यदर्शनाद् प्रत्याकृत्योरावृत्तिरङ्गीकार्या । एवमावृत्तावपि, समानानामरूपत्वात्, पटादीनां च प्रपुष्पुष्नीदरादिरूपाया आकृतेस्तुल्यत्वाद्, अविरोधः । नित्यानां वैदिकपदार्थानामनित्यपदार्थेन सह सम्बन्ध-कृतो विरोधो नास्ति । कुतः । दर्शनात् स्मृतेश्च । इत्यनेन हि लोके कालिकनित्य-प्रलयशालिषु पितृमातृस्त्रीमर्त्यैश्चरीरेव गच्छादीप्रप्रवृत्तिषु च प्रतिक्षणमन्वाण्यरथेऽपि प्रवाहैक्येनैकतायाः शक्यतायाश्चाभिमानः । इत्यनेन च 'पूर्वावन्ममसो धाता यथापूर्व-मकल्पयद्, दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमयो सुव'रिति सर्वस्य यथापूर्वत्वबोधिका श्रुतिः । अतो लोकच्छया पदार्थानित्यत्वे तत्त्ववाहस्य नित्यत्वात् तत्रैव पदानां शक्तिः । इदं चानादिश्रुतिनादौ सीमाप्रापकस्य मतेऽपि तुल्यम्, अतो यथा अत्र्यतिरेकधार्थेऽनुपलब्ध इत्यत्र व्यवहाराव्यतिरेकेण प्रवाहानित्यतया धर्मे शब्दसम्बन्धस्तद्ग्रहणं च, तथा वस्त्वन्तरेऽपीत्यनित्यसम्बन्धगन्धस्याप्यभावाच्च विरोधः । किञ्च । स्मृतेः । 'सर्वेदेवमयेनेदमा-त्मनात्मात्मयोगिना, प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुजेरत' इति यथापूर्वसृष्टिबोध-कस्मृतैः । 'ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं सृष्टिरुच्यते' इति स्मृतितावधारणलक्षण्ये पूर्व-कल्पीयाचारस्मरणस्य बोधनेन सृष्टियथापूर्वतायाः सिद्धेः प्रवाहानित्यत्वस्य सिद्धत्वात् तत्रैव पदानां शक्यत्वबोध्यर्थः ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

अर्थबलविचार एव उपासनाविशेषमादाय पूर्वपक्षमाह । मध्वादिष्वित्यादि । ननु छान्दोग्ये 'असौ वा आदित्यो देवमनु, तस्य धीरेव त्तिश्चोन्वेसोऽन्तरिक्षमप्यो मरीचयः पुत्रास्तस्य ते प्राञ्चो रम्ययस्ता एव प्रत्ययो मधुनाञ्च' इत्यादिना मधुविद्यायां सूत्रस्य देवमधुत्वं पञ्चदिकानां तद्दर्शनीनां पञ्चनाडीत्वं च प्रतिपाद्य अत्रे 'तत्तत्प्रथमममृतं तदसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेनेत्यादिना वसुकरादित्यमस्तस्याभ्या देवगणाः मग्नु-त्वेनाधीन्द्रवृक्षसोमब्रह्मरूपेण मुखेन दृष्ट्वेव नृप्यन्तीति निरूप्य, अत्रे 'स एतदेवममृतं

वेद वक्षान्मेवैको वृषामिनेन मुखेनैतदेवाभूत् तद्गुा दृष्यती'त्वानुपमानमुक्तम् । तत्र देवानां ब्रह्मविद्याधिकारोपगमे विद्यात्याविशेषान्मधुविद्याविषयत्वाद्देवैवेक्यापस्यानुपपत्तैरादित्यः कथमादित्यमुपासीत् । किञ्चात्रे आदित्याभितानि पञ्च रोहितादीन्यन्युतान्यनुक्रम्य वस्वादीन् पञ्चदेवगणैस्त्वदुपजीवकानुक्त्वा वस्वानुपजीव्यान्मृतानि विजानतो वस्वादिरूपप्राप्त्या स्वगणस्यस्यमुखेन दृष्टिरुच्यते । सा चोपासनात् प्रागेव वस्वादिरूपेण वर्तमानानां पुनस्तदव्यक्तिकथनात् प्राप्यप्राप्तौरेक्यापस्यानुपपत्त्या भवति । नचादित्येव आदित्यो वस्वादिप्राप्ता वस्वादयोऽप्य एवेति वक्तुं शक्यम् । प्रमाणाभावात् । अधिकारानङ्गीकारे तु तेषामनुपासकत्वात् प्राप्तफलत्वेन कुणावैत्वाच्च न देवान्तरकल्पना । नच भास्त्वु मधुविद्यायामधिकारः, तावता ब्रह्मविद्याधिकारो न वक्तुं शक्यः । तेषां मोक्षार्थित्वात्तत्र बाधकाभावादेति वाच्यम् । ब्रह्मणोऽपि देवत्वाप्युपासककोटिप्रवेशेनोपास्यत्वप्राप्यत्वयोर्विचयनादिति । अत्र मध्वादीत्यादिपदेन, 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद' इति, 'वायुर्वा व संवर्ग' इति 'आदित्या अग्ने'त्यादेश इत्याद्याः सर्वा एव देवोपासनाविद्या गृहीताः । अतस्तासु पूर्वोक्तरीत्या देवानामुपासकत्वासम्भवात् सर्वास्वेव विद्यासु देवानामनधिकारं जैमिनिराचार्यां मन्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

अधिकारानङ्गीकारे पुनरुपपत्त्यन्तरमाह । ज्योतिषीत्यादि । तेषां सर्वेषामेवानधिकारः प्रत्यक्षत एव दृश्यते । सर्वेऽपि नक्षत्रादित्येण महाभोगवन्तो जगदवभासकत्वेन ज्योतिष्यक्रे दृश्यन्ते, तस्मादिति ॥ ३२ ॥

नच सर्वेषां ज्योतिष्यक्रे स्थित्यभावः शक्यः । वैतिरीयारण्यके शिशुमारोपासने 'अग्निः पुच्छस्य प्रथमं कण्ठं, तत इन्द्रस्ततः प्रजापतिरित्यादिश्रावणात् । न हि तादृशं प्राज्ञैश्चर्याणां सर्वाोपास्यानाद्यन्तरमार्गवर्तित्वेनाधिकारसमाप्तौ मोक्षमार्जां ज्ञानकर्मणोः कथनोपयोगोऽस्ति । तस्माच्च तेषामधिकार इति प्राप्तं, उच्यते ।

भावं तु वादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तुसब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । भावं देवानां ज्ञानकर्माधिकारसद्भावं वादरायण आचार्यो मन्यते । गौणसिद्धान्तो नायमिति बोधनाय स्वनामग्रहणम् । ननु यथापञ्जानेनाधिकारोऽङ्गीक्रियते. तदा जैमिनेरपि तथात्वात् तौल्यमित्यतः प्रमाणमाह । अस्ति हीति । नास्माभिरापञ्जानेनाधिकार उच्यते, किन्त्वस्ति प्रत्यक्षं देवानामुभयाधिकारज्ञापकं वचनम् । 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेथेति, स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्, तदुदिते सूर्येऽनुहोत, देवा वै सत्रमासतद्विपरिमितं यशस्कामा' इत्यादि । तथा 'यो यो

देवानां प्रत्युद्यत स एव तदमर्षदित्यादि । तथेन्द्रप्रजापतिस्वादे इन्द्रस्य ब्रह्मविद्याधिकारः । नचैतेषां र्षवादत्वेन स्वार्थं प्राणायामाभावेनैतरेधिकारसिद्धिरिति शक्यम् । अत्र प्रथमवाक्यस्य विद्वद्वक्तव्यशेषत्वेन स्वार्थं प्राणायामाभावे तदुक्तार्थस्याप्रामाणिकत्वात्पञ्जानेन यस्येवं विदुषोऽग्निहोत्रं जुहति त्रैव जायत इति फलस्याप्यभावात्पचः । अतस्तदुक्तोपेक्षेनैव प्रजापतेरग्निहोत्रद्रष्टृत्वं तद्वेत्तृत्वं चावश्यमभ्युपेयम् । नच प्रजापतिरिति भाविनी संज्ञेति वक्तुं शक्यम् । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वंमिति श्रुतेस्ततः पूर्वंस्यान्यस्याभावात् । एवं सिद्ध एकारिभन् देवैऽधिकारे, देवा वै इत्यादिभिर्योग इत्यादिभिर्भाष्येनापि कर्मणि ज्ञाने चाधिकारो निश्चेतव्यः । यत्र पुनर्देवानां फलभोग एव तदवश्यभूता अपि मिषा एव, अनशनात् । न हि जीता दृष्टा देवन्तीति । तस्माद्देवनिस्त्याय शब्दव्यलविचार एवादरणीय इति देवानामप्यधिकार इति सिद्धम् ॥ ३३ ॥ ८ ॥ इत्यर्थं तदुपर्यपीत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

अयानुपमङ्गसत्या शूद्रस्याधिकारो ब्रह्मविद्यायामस्ति, न वेति विचार्यते । एवं हि छान्दोग्ये षष्ठ्यपाठकारम्भे भूयते । जानश्रुतिर्हि पौत्रायण इत्यत्र, शूद्रादेवो बहुदायी बहुपायक आस । स ह सर्वत आवसयाम्नापयाञ्चके सर्वत एव मेऽस्त्यन्तीत्यत्र ह हंसा निशायामतिपेतुस्तद्वैव हंस्तो हंसमभ्युवाद हो होऽपि मल्लश्च मल्लश्च जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्गीत्, तच्चा मा प्राधाश्रीरिति । तद्यु ह परः प्रत्युवाच कं वर एनमेतस्तन् संयुगानमिव रयिकमास्थेति । ततो, योऽनु रयिकमित्यादिना रयिकप्रयोगायुक्त्वा, ततो जानश्रुतिस्तच्छूत्रा रयिकमन्विष्य तत्र गत्वा रयिकवेमानि पदं शतानि गवामयं निष्कोऽकमश्चतरीरथोनु म एतां मयवो देवतां श्राधि यां देवतासुपासत' इति । तद्यु ह परः प्रत्युवाच अह हारंस्ता शूद्र तवैव सह गोभिरित्स्विति । तथा शूद्रानेन मुखेनात्पापिष्यथा इत्युक्त्वा, स होवाचेत्यादिना संवर्गेविद्यासुपदिष्टवानिति । एतदर्थस्तु । जनश्रुतेरपरत्वं जानश्रुतिः । पुत्रस्य पौत्रः पौत्रायणः । अद्रया देयं यस्यासीं शूद्रादेयः । बहुपायको बहुपायकारयिता । स हेतिभिर्भेदम् । मापयाञ्चक इति कारयामास । मेऽस्त्यन्तीति । मत्सम्बन्ध्यंभं भक्षयिष्यन्ति । हो हो इति भये द्वियक्तिः सम्बोधनस्य । अपीति कोमलालापे । दिवेति धुलोकेन दिनेन वा । तन्मा प्राधाश्रीरिति । तस्माज्ज्योतिषः, त्वाडादेशः । त्वां मा प्रदहतु । कं वर इति । कम् उ अरे एतयन्तमेतावन्कार्णियं सन्तं सयुगानमिव रयिकवमास्थेति । युज्यते इति युग्मा शकटं तेन सह वतपानः सयुग्वा । रयिक इति नाम । सयुगानं रयिकवमिवास्थेति पदसम्बन्धः । अह हारे इति । अह हाऽरे । अरे । स ह गोभिरिति । स रथः ह गोभिरिति । सहयुक्ते वृत्तया । मुखेनेति द्वारेण । अत्र शूद्रेति सम्बोधनात् सन्दिग्धते ।

यथा, 'एतया निषादस्त्वपि यज्जेतुः सा हि तस्यैहिरिति कुतोः कर्मविशेषे शूद्रस्याधिकारो, यथा वा, हविष्कदाभावेति शूद्रस्येति लिङ्गाद्दोहादौ च शूद्रजातेरधिकारः, तथा ब्रह्मविद्यास्त्वप्यस्ति न वेति । तत्र शूद्रेति सम्बोध्वाप्यथा, विशेषोदस्यश्रावणत्वात्, निषाद-स्थयतिमितिविशेषोऽनुल्लेखः जातिशूद्रस्याधिकारः सर्वज्ञविद्यायां सर्वगोविद्यायां वेत्या-शङ्क्य परिहरति । शूद्रस्येत्यादि ।

अत्र शूद्रेति पदाजातिशूद्रस्याधिकारो न शक्यवचनः । तत्र हेतुः । तद् नादरश्रावणत्वात् । तस्माद्देसादनादरश्रावणत्वात् । कं वर एनमेतत्सन्तं संयुगवानिव रथिक्वमाथेति स्थापकश्रावणत्वात् तदन्तरम् आश्रयणात् । शूचमनु आश्रयणीति शूद्रः । शूद्रोदरादित्वात्कारस्य लोप उकारस्य दीर्घश्च परोक्षवादत्वात् । ननु पूर्वतन्त्र आधानप्रकरणे, वर्षाणु रथकार इत्यत्र रुदिरिवाहता । रुदियोगमपहरतीतिन्यायात्सा रुदियोगापेक्षया प्रचला । अतः कथं तदनादर इत्यत आह । मूच्यते हीति । अत्र हि शूद्रेति संबोधनेन स्वस्य सर्वज्ञत्वं रथिकत्वेन मूच्यते । ईसवाक्यश्रावणाच्छोको जाते त्वमत्रागत इति । नचात्र तथा सूचने मानाभावः शङ्क्यः । प्रसिद्धकारणभावेऽपि प्रपञ्चधिकारवचनानामन्यायानुपपत्तेरेव मानत्वात् । एतदबोधनापेव युक्तत्वबोधकस्य हिशब्दस्य प्रयोगः । नच स्वस्य सर्वज्ञत्वस्यापानार्थमेव वचनमपि ब्रह्मविदो न युक्तमिति शङ्क्यम् । तन्मासर्वनिवारणेन तस्य योग्यतासंपादनार्थत्वेन युक्तत्वात् । अतो रथकार-स्थले संधोपाख्यानाभावेन तस्य योग्यस्यात्र वक्तुमयुक्तत्वात् तत्र तथार्थयुक्तैर्योगादेवात्र शूद्रपदप्रयोगो, न जातिशूद्राधीति न तस्याधिकारसमर्थनापालभित्यर्थः ॥ ३४ ॥

क्षत्रियस्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्रथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

ननु मास्त्वत्र रूढः शूद्रशब्दः, तथापि जानश्रुतिजातेरत्रानुक्तत्वाच्छूद्रस्य शब्दत्वयुगो बोधवन्वानुपूर्वीसाम्याज्जातिमपि बोधयिष्यतीत्याशङ्क्यां ज्ञान्यन्तरगमकमाह । क्षत्रिय-त्वैत्यादि । बहुपाक्यत्वावयथकरणशुच्यस्यापानान्तानां गोनिष्करययुक्तस्वकन्याया भार्या-त्वेन दानाच्च पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वावगतेः । चकारेणोपदेशादपि तदवगतेः । तथा चैवं पूर्वग्रन्थपालोचने तज्जातेषुद्वावरोहात्कृष्णः शूद्रशब्दो नानुपूर्वीसाम्यादपि तां बोधयित्वा शक्यतीत्यर्थः । नच धनवति धार्मिके शूद्रेऽपि बहुपाक्यत्वादीनां कथञ्चन वक्तुं शक्य-त्वाच्छूद्रादरोपसङ्गस्य मन्वादिभिरुक्त्वेन तस्य च कन्यादानहेतुकत्वेन तस्मिन् कन्या-दातृत्वस्यापि शक्यवचनत्वात्तैः क्षत्रियत्वनिश्चय इति शङ्क्यम् । समं दिव्येत्यादि-प्रथमहंसवाक्योक्तमाहात्म्यस्य कापि शूद्रे अश्रवणादस्मरणत्वात् तदसङ्गत्वात्तैः । रथिक-प्रथमविवाहस्य काप्येदादेवविवाहाच्चैव प्राथमिकतया वक्तव्यत्वे रथिकस्यापि शूद्र-ताप्रसक्तौ दुष्टतायां 'यथा कृतायविजितायापेयरायाः संयन्तेवेवमेतच्च' तदमितसमिति रथिकश्च प्रजाः सायु कुर्वन्ति यस्तद् वेद यत् स वेदे'ति द्वितीयहंसोक्तस्य रथिकमाहा-

त्मस्यापि तथात्वापेक्षे । वाक्यार्थस्तु यथा लोके कृतायविजिताय कृतो य आयो द्युतमयप्रसिद्धो ग्लहः । तं यो विशेषण जयति स कृतायविजितस्तस्मै जेजे तदर्थ्ये चतुर्थी, तादृशजेजर्थ्यम्, अधरेयाः संयन्ति स्वल्पजेतारस्तत्रान्तर्भवन्ति । एवमेतथायेण एतं रथिकं तदमितस्येव अन्तर्भवति, तत् किमिति आह । यतिकश्च प्रजाः सायु कुर्वन्तीति । किञ्च । यत् स रथिको वेदं तस्मिन्पि तादृशमाहात्म्यं भवतीति । ननु ईसवाक्यस्य धर्मिष्ठतामात्रबोधकत्वं ब्रह्मिष्ठाहात्म्यबोधकत्वं च, न तु क्षत्रियासा-धारणनद्वोषकत्वम् । अतो न तेन क्षत्रियत्वावगतिरिति ग्रहिलवादनिराकरणाय हेत्व-न्तरमाह । उत्तरत्र चैत्रथेन लिङ्गादिति । अथ ह शौनकां च कापेयममित्यतिरिणं च काशसेनि परिबिष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिन्न इत्यादिरूपे उपसंहारंगते वाक्यशेषे । कश्चा सेना यस्येति कश्चसेनस्तस्यापत्यं काशसेनिरित्यत्र । 'कश्चा स्वादन्तरीयस्य पश्चादश्ल-पल्लवे स्पर्धापदे च दोर्मूल' इति कोशेन कश्चापदस्य स्पर्धास्थानबोधकत्वात् स्पर्धीयाश्च चित्रत्वं एव सम्भवात् कश्चापदस्य चित्रत्वं पर्यवसितत्वात् सेनापदस्य च रथेषु पर्यव-सितत्वात् काशसेनिपदेन चित्ररथयुत्रो लक्ष्यते । तेन चैत्रथेन अत्र क्षत्रियस्वावगतेः । नन्वेवं केशेन कथं क्षत्रियत्वं गम्यत इत्यत आह । छन्दोगानां द्विरात्रे श्रूयते । 'एतेन चैत्रथे कापेया अगजयज्ञंस्तमेकाकिनमन्त्राद्यास्याध्यक्षमकुर्वन्तस्माश्चैत्रथो नाम क्षत्रपतिर्जायत इति' । 'समानान्भवानां समानान्भवा एव याजकाः प्रायेण दृष्टा' इति कापेयस्मृत्यन्धः काशसेनेश्चैत्रथस्येति लिङ्गम् । अतस्तद्बलात्तस्य क्षत्रियत्वावगतिः । ब्रह्म-चारी ब्रह्मवित् । तस्य तदर्थे परीक्षितमेतो संवर्गविधोपासकौ संवर्गैरुपाया ब्रह्मण्य पूर्वं मिथानं ददतुः, ततस्तदुक्तश्लोकेन तं तद्विदमवगल्य पश्चाद्ददतुः । अतस्तस्यां विद्या-याद्वपक्रमसन्दिग्धत्वेऽप्युपसंहारे गुणविद्यायां ब्राह्मणक्षत्रियौ मिद्वान्तस्तस्य निःसन्दिग्ध-त्वात् प्रकृतेऽपि तावेवावगन्तव्यौ । तस्मान्न जातिशूद्रः संवर्गविद्यायामधिकारी ॥ ३५ ॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च ॥ ३६ ॥

ननु 'श्रुतिलिङ्गावक्यप्रकरणस्थानसामान्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा'दिति जैमिनीयश्रुत्यात्, 'प्रत्यक्षे चातुमाने च यथा लोके बलाबलम्, श्रीप्रमथ्यरगामित्वात् तथैह श्रुतिलिङ्गयो'रित्यभिप्रेतकैश्च श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य दीर्घत्वाच्च केशुतत्त्वलाभेन सुतरां दौर्बल्यात् श्रुतिबलादेव शूद्रस्याधिकारोऽस्तिवति, शङ्क्यायामाह । संस्कारेत्यादि । शूद्रस्य कश्चिदपि ब्रह्मविद्यायामधिकारश्चेदत्रापि कल्पेत । तत्तु नास्ति । कुतः । संस्कारपराम-र्शात् । तं हौपनिष्ये । सन्त्कुमारनारदसंवादेऽपि, ऋग्वेदे भगवोऽप्येविति, यजुर्वेदे साम-वेदमित्यथ्ययनलिङ्गात् । एवमन्यत्र सर्वत्र वेदिके अर्थे ज्ञातव्ये उपनयनसंस्कारः परा-मुच्यते, तस्मात् । किञ्च । वैश्वानरविद्यायां तान् हातुपनीत्येत्रापि प्राचीनशालादीनां महाश्रीत्रियत्वलिङ्गेन ब्राह्मणतपोनयनस्य सिद्धत्वाद्देशिकतत्त्वविषयैवानुवादात् सर्वत्र

तत्परमाण्वर्षो निर्वाचः । तदभावाभिलाषाच्च । यद्रस्य तु चतुर्थ एकजातिस्तु यद्र इति । 'न यद्रे पातकं किञ्चिच्च च संस्कारमर्हतीति संस्काराभावकथनात् । चकारो, 'न यद्राद्य मर्ति दद्या'दिति निषेधस्य संग्रहाच्च । तथाचात्र यद्रस्याधिकारकल्पनेऽनेकश्रुतिस्मृतिविरोध इति, 'आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलात्' इति न्यायात् श्रुतेरेव दीर्घत्वमिति न यद्रस्य श्रुत्याधिकारसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इत्थं न सर्वथाधिकारः । तदभावस्य श्रुत्याभावास्य निर्धारण एव प्रवृत्तेः । गुरुशिष्यभावस्य प्रवर्तमानत्वात् । छान्दोग्येयु (षष्ठ) प्रपाठके सत्यकामो ज्वालो ज्वालो मातरं मन्त्रयांचक्र इत्यत्र अपृच्छं मातरम्, सा मा प्रत्यमवीत्, बर्हद् चरन्ती परिचारिणी यौबने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि, ज्वालो तु नामाहम्, सत्यकामो नाम त्वमसीति सत्यकामवाक्यश्रवणोचरं गौमन् 'नैतद्ब्राह्मणो विवक्तु-मर्हतीति तत्सत्यवचनेनोक्तमवर्णत्वं च निश्चित्यैव 'सत्यकाममुपनिष्य' इति आश्रयात् । न च निश्चिते ब्राह्मणबीजजत्वे यद्राभावनिश्चयोक्तिवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । व्यभिचारजन्ये यद्रत्वस्य स्मृतिसिद्धत्वेन वामदेव्यसामोपासकस्य 'न काश्चन परिहरे'दिति श्रुत्या सर्वगामिनः समीपे तस्या गमने तद्गोत्राज्जातस्य व्यभिचारदोषानाक्रान्तत्वबोधनाय यद्रत्वाभावनिश्चयकथनस्यावश्यकत्वादिति । तस्मात् यद्रस्याधिकारः ॥ ३७ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

अधिकारचिन्ता तदा स्यात्, यदि केनचित्प्रमाणेनात्र स संभाव्येत । यथा पति-तासिंहोत्रप्रतिषेधस्थले यद्रस्य श्रवणमध्ययनमर्थज्ञानं चेति त्रयाणां निषेधात् । सूत्रे ज्ञानपदाङ्कितस्तु यद्रस्य श्रवणाध्ययनस्याप्यध्ययननिषेधबोधनार्थम् । तथाच अर्थपदमध्यय-नसमाधिन्याहादरेण तद्रस्तु बोधयदेव समाधिन्याहारमस्मिन्नाऽभिधेयरूपाभ्यानापि ह्यध-न्तरेण बोधयतीत्येतदर्थमित्यर्थः । यद्रप्रतिषेधस्तु 'अथास्य वेदसुपृथ्वत्सपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणमिति । यद्युवा एतच्छ्रमशानं यच्छ्रस्तस्माच्छ्रसामीप्ये नाध्येयमिति । उदाहरणे सिद्धान्छेदो धारणे शरीरभेद' इति श्रुतियु द्रष्टव्यः । यद्युवेत्यत्र यदि उ चेति पदच्छेदः । किञ्चार्थपदेनेदमपि ज्ञायते । देहाद् । यद्राध्ययदेवतासम्बन्धे मन्त्राणां तत्राभावं एवेति । नचात्र विप्रतिपत्तयम् । 'छान्दांस्येन प्रजहन्ति काले नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा' इति महाभारते तत्कृतत्यागबोधनात् । पञ्चपुराणीये गीतामाहात्म्ये विभूतिविश्वरूपाध्याययोः पक्षिरूपेणोपवनयन्मरणाच्च । किञ्च, 'वेदाक्षरविचारेण यद्रः पतति तत्क्षणात्, वेदा-क्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च, कपिलाक्षीरपानेन यद्रश्याङ्गालतां व्रजे'दित्यादिस्मृ-तेरपि न यद्रस्याधिकारः । अतः स्मृतेरिति शब्दरूपस्य पक्षीसाट्यादिदं बोध्यते । य-स्मात्पौराणज्ञानकर्मणोरपि न यद्रजातिजनकेन दुष्कर्मणा जातियद्रस्याधिकारः, किन्तु

श्रापादिना कारणविशेषेण जातानामेवाधिकार इति । तेन पुराणादिपाठोऽपि सङ्कोचादे-वावगन्तव्यः । तस्मात् कश्चिदपि वैदिके यद्रस्य नाधिकार इति स्थितम् ॥ ३८ ॥ ९ ॥ इति नवमं श्रुपस्येत्यधिकरणम् ।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

एवं प्रसङ्गाद् ब्रह्मविद्याधिकारं विचार्य पुनः कठवल्लीस्यमेव वाक्यान्तरं विचा-रयति । 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्दि-रमृतास्ते भवन्तीति । अर्थस्तु । यदिदं किञ्च, परिदृश्यमानमपरिदृश्यमानं च सर्वं जगत्, प्राणे विद्यमाने निःसृतं बहिरागतं सदेजति कथ्यते । तत्र हेतुः, महद्भयं महतां भयं यस्मात् तादृशं, वज्रमुद्यतम् । आद्युधमुद्रासितमिति पदसम्बन्धात् स्फुटयति । चतुर्थं मु-द्रस्त्वैतज्ज्ञानफलबोधकं वाक्यान्तरम् । तत्र सन्देहः । किमत्र प्राणोपासनोच्यते, इन्द्रो-पासना वा, ब्रह्मवाक्यं वेदमिति । तत्र वीजं तु प्राणः, वज्रोद्यमनरूपमिन्द्रलिङ्गं, ब्रह्म-करणं च यथायथम् । पूर्वं पशुस्तु, प्रकरणेषुष्या श्रुतेर्विडिष्टत्वाद् 'अमृतं वै प्राण' इति श्रुत्या प्राणोपासकस्याप्यमृतत्वप्राप्त्युक्तत्वाद्देहाहप्राणविद्योयो मरणसम्भवेन भयरूपस-स्यापि सम्भवाच्च प्राणोपासनेवात्र युक्ता । लिङ्गविचारे स्विन्द्रस्याप्यमरत्वात्तदुपास-कस्याप्यमृतत्वं युज्यते । बलाधिष्ठातृत्वात् प्राणत्वं चेन्द्रस्य । अतः प्राण इन्द्रो वा वाक्यार्थ इत्येवं प्राप्तम् । तत्रोच्यते । कम्पनादिति । आद्युधोद्यमनजभयहेतुकं कम्पन-मत्र प्रथमवाक्यार्थः । तत्रापि 'यदिदं किञ्च' इत्यनेन सर्वपदे सङ्कोचवारणात् तत् सर्वसम्-न्धि, तथा भगवद्देतुकमेवेति तदसाधारणम् । अतो न प्राणधर्मः । इन्द्रस्य तु लिङ्गमपि यिथिलम् । वज्रस्यापि हृदयत्वात् । 'तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिदत् साऽद्यनिर्भव'दिति श्रुतेः । नच प्राणश्रुतिविरोधः । प्राणशब्दाच्चयत्स्य 'अत एव प्राण' इत्यत्रैव साधितत्वात् । नचाधिकरणव्यर्थता । भगवत् एतादृशमारकत्वस्य प्रागसाधितत्वेन तस्मात्तार्थ-त्वात् । नच पक्षाङ्गुल्येद्योः । एतादृशस्य हेतोर्विधान्तरं अदर्शनाद्देतुरेव पक्षमा-क्षेप्यदीत्याशयेन विमृष्टनिष्ठविशेषान्तरविमर्शस्यात्र करणेन च तत एव तस्य स्फूर्त्या न्यूनताया अभावादिति ॥ ३९ ॥ १० ॥ इति दशमं कम्पनाधिकरणम् ।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये दशमप्रपाठके दहरविद्यायां श्रूयते । 'य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्प्राय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणामिनिष्यद्यते स आत्मे'ति । इन्द्रप्रजापति-संवादे तु, स आत्मेत्यस्य स्थाने 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जश्नवः क्रीड'मित्यादि पठ्यते । तत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्विभक्तिसामानाधिकरण्याच्च जीवो प्रहीतुं शक्नोते, तथापि गीतायां 'क्षुत्तमः पुरुषस्तन्मयः परमात्मेत्युदाहृत' इत्युच्यते । पुरुषत्वेन परमात्मनो बोधनस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात् तत्र सन्निधिं विभक्तिसामानाधिकरण्यं चाम्नादत्य व्यवाहितं व्यधिकरण्ये-

भक्तिबोधितमपि ब्रह्मैव वाक्यार्थत्वेन निश्चयते । अतो दहरविद्यास्थमेव वाक्यं विषयः संशयस्तु, परं ज्योतिर्महाभूतं, ब्रह्म वेति । तत्र, राजशिविराणि नदीतीरात् समुत्थिता-नीत्याद् लोकं समुत्थानस्योद्गमने प्रयोगदर्शनादस्माच्छरीरात् समुत्थायेत्युक्तस्य शरीरात् समुत्थानस्य तत् उद्गमनार्थत्वे निश्चिते तदुक्तस्युपसम्पत्त्यस्य ज्योतिषोऽर्चिरादिरूपस्यैव युक्ततया जीवस्यार्चिरादिमार्गेण गमनेऽर्चिराद्यपेक्षया आदित्यादेः परत्वस्यापि सम्भवेन रुदेस्त्यागायोगाऽत्रोक्तिं भूतरूपं वा ज्योतिरत्रोच्यते इति प्राप्तम् । तत्रामिधीयते । ज्योतिरत्र परं ब्रह्मैव । कुतः । दर्शनात् । समानकरणे, 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह' इति । 'अहरत्रब्रह्मलोकं गच्छन्ती'त्यादिप्रदेशेषु सम्पत्त्यत्वेन ब्रह्मण एव दर्शनादत्रापि सम्प्रसादवचनेन सुप्रपेक्षेव बोधनाद् ब्रह्मस्थाने प्रयुक्तस्य ज्योतिःपदस्य ब्रह्मवाचकताया एव न्यायत्वमादित्यर्थः । न च श्रुत्यपेक्षया स्थानस्य नैवेत्यात्रेदं युक्तमिति शङ्क्यम् । वाज्योतिरित्यत्र वाच्यपि तत्प्रयोगेण श्रुतेः सन्दिग्धत्वादिति । तस्माद् ब्रह्मस्थाने न शब्दः प्रयुज्यते स ब्रह्मवाचक एवेति निश्चयः । न च ज्योतिश्चरणाधिकरणं ब्रह्मणो ज्योतिःशब्दवाच्यतायाः सिद्धत्वात् किमेतत्क्षण्यनेनेति शङ्क्यम् । ये धर्माः पूर्वं ब्रह्मासाधारणतया सिद्धाः, ये च युक्त्या साधितास्तेभ्योऽतिरिक्ता ये धर्मोस्तेषां ब्रह्मासाधारण्यबोधनार्थत्वात् । ते च उपसम्पत्त्यत्वम्, उपसम्पत्त्यरूपामिनिष्पादकत्वम्, पूर्ववाक्यगतं हृदयत्वम्, उत्तरवाक्यगतसत्यपदोक्तमर्त्यावृत्त-नियामकत्वं चेति चत्वारो बोध्याः । अतो न प्रयोजनशून्यत्वदोषः ॥ ४० ॥ ११ ॥ इत्येकादशं ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

छान्दोग्यसमाप्तौ श्रुते 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' इति । अत्राकाशशब्दे, सन्देहः । श्रुतौ वैशब्दात् प्रसिद्धधनुग्रहेण ब्रह्मशब्दप्रयोगेण चोभयत्र युक्तैस्तौत्याद् भूताकाशावाची, ब्रह्मवाची वेति । तत्र नामरूपनिर्वाहो नाम तयोरेषिच्छेदेन चालनम् । तत्कर्तृत्वमात्रमत्र प्रतीयते, न त्वन्यः कोऽपि धर्मः । तन्मात्रं स्वाकाशस्याप्यवकाशदानात् सम्भवति । न च धर्मसामान्यत्वेन प्रकरणबलाद् अत्रात् शङ्क्यम् । प्रजापतिरुवाचित्यस्य द्विरुक्त्या इयमाच्छबलमिति प्रकरणान्तरव्यवधानेन च ब्रह्मप्रकरणस्यात्राभावात् । नापि द्वितीयप्रकरणेषुत्वम् । अमिसम्भवानीत्यस्य द्विरुक्त्या तस्यापि समाप्स्यवगमात् । अत एव न जीवपरत्वम् । आकाशपदस्य जीवपरतायाः काच्य-सिद्धत्वात् । नचोपसंहारगतानां ब्रह्माभूतात्मशब्दानामस्यैति शङ्क्या । तेषामवकाश-दानकृतं हृंहणनित्यत्वव्यापकत्वगुणयोगेनोपासनाय प्रशंसा निबन्धनया गौण्यापि नेतुं शक्यत्वात् । नापि ते यदन्तरैत्यस्य व्यापकतया अकाशोऽपि तत्संभवात् । अत उपक-ममत्स्याकाशपदस्योच्चारणमात्रतो भूताकाशावगमनात् स एव प्राक्ष इत्येवं प्राप्ते । उच्यते ।

आकाशः परमात्मैव । कुतः । अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । अर्थः प्रयोजनं यद् भूताका-शस्य श्रुतिगिद्ं बावुजननरूपं तस्मादन्यद् अर्थान्तरं, ते यदन्तरोत्थादिनोक्तम् । आस-न्नाश्रामरूपयोरन्तरःस्थानम् । आदिपदेन तद् ब्रह्मेत्यादिना बोधितं तत्पोषकत्वं तयो-रानन्दकन्दं तदात्मत्वं च बोध्यम् । तेन अन्तरःअर्थो यस्मादित्यर्थोन्तरम्, वाहितान्य-विधितिपरनिपातः । तस्य भावोऽर्थान्तरत्वम् । तद्वदन्तःपूर्वोक्ता धर्मा ब्रह्मादिश्रुतवश-तेषां व्यपदेशात् कथनादिति सौत्रपदस्यार्थः । न चेदमसंकुचितं नामरूपनिर्वाहत्वं निरुक्तस्य रूपान्तर्गतस्यैकाशस्य सम्भवति, न वा कापि श्रुतावकाशमाहात्म्यहेतुत्वेनोक्तमस्ति । नाप्यसङ्कचितं तयोर्न्तःस्थानं बृंहणं वा तथा । अत आकाशकार्यातिरिक्तकार्यकर्मत्वादे-रनोक्तत्वाद् ब्रह्मादिश्रुतीनां चातुकृत्याद् ब्रह्मैवाकाशः । स्वार्थिकं च शब्दानां ब्रह्मवा-चकत्वम्, अतो न लक्षणदोषः । यदपि लोकदृष्टयाकाशस्यावकाशदानात्प्रामाण्यनिर्वाहकत्वं तदपि भगवदधीनम् । 'अदो ददाति ध्वसतां पदं पश्चिमाश्रमं' इति श्रीभागवतवाक्यात् । नचैतेषामुपासनार्थत्वं वक्तुं शक्यम् । वैपदविरोधात् । तस्माद् ब्रह्मधर्म एवावयम् । एतस्य ब्रह्मधर्मत्वे न श्रुत्यन्तरसिद्धमत इह विचारितम् । अत एव तदर्थमाधिकरणेन तद्विज्ञा-धिकरणेन वानास्य गताश्रया । तेनेदं सिद्धम् । यत्रैव सिद्धत्वकारेणोक्तधर्मो अतदीया अन्यवाचकपदवाच्यस्योच्यन्ते, तत्रार्थोपपत्त्या ब्रह्मैव बोध्यमिति ॥ ४१ ॥ १२ ॥ इति द्वादशमर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणम् ।

सुपुण्ड्रकान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणं शरीरब्राह्मणं चात्र विषयः । अत्र, किं ज्योतिर्यं पुण्ड्र इत्युपक्रमे, समाप्तौ च अमयं ह वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेतिवचनेन जीवस्यैव परामर्शोमन्त्रे च ब्रह्मधर्मोणां सर्वेशित्वादीनां अथवात् सन्देहः । किमिदं जीवस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनपरं जी-ववाक्यम्, उत स्वातन्त्र्येणैव ज्ञानकर्मत्वप्रतिपादनपरं ब्रह्मवाक्यमिति । विचारप्रयोजनं त्वा-नन्दमयाधिकरणमारभ्य दहराधिकरणपर्यन्तं 'नेतरोऽनुपपत्ते'रित्यादीनां जीवनिषेधकानां सूत्राणां वैयर्थ्यस्य परिहारः । अन्यथा तु जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे जीवभावस्याविद्यासं-सर्कृतावस्थान्तररूपत्वात् तस्यैवैपि ब्रह्मत्वस्थानोपेतत्वेन संसारावस्थावस्थित्यस्य च जग-त्कर्तृत्वादिधर्माणां प्रत्यक्षवाधितत्वेन दर्शनान्तराच्च नाधितत्वेन शङ्क्या एवासुदयाचर-धर्म्यं वञ्चलेपायेत । आचार्यस्य प्रहिलवादित्वं बर्बरत्वं चाप्येते । विचारे तु सुस्यैव तत्सिद्धेने त्रयमपीत्युपाद्यतेनेदं विचारयेत् । तत्रोपक्रमोपसंहारयोर्जीवपरामर्शोमन्त्र-उक्तानां धर्मोणां चावस्थान्तरैऽपि वस्तुतो ब्रह्मतया तदीयत्वाद् 'ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येती'-त्यत्र विद्यानिर्मुक्त्या स्वस्वरूपानुगम्यानेन 'ब्रह्मैव सत्' विमदेहरहितौ भवतीत्यर्थेन वस्तुतो ब्रह्मत्वाद् जीवस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनपरत्वेदं वाक्यमिति प्राप्ते । अभिधीयते । सु-पुण्ड्रीत्यादि । अस्मिन् प्रकरणे ब्रह्मैव वाक्यार्थः । कुतः । सुपुण्ड्रकान्त्योर्भेदेन । व्यपदेशादिति

पूर्वसूत्रतोऽनुवर्तते । सुप्तौ 'अयमात्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरिति । उपक्रमे च 'अयमात्मा प्राज्ञेनात्मनान्वाहूः' इति जीवात्मनः सकाशात् प्राज्ञस्य परमात्मनो भेदेन कथनात् । न ह्यवस्थाभेद एको भेदेन व्यपदिश्यते । न हि पण्डितो देवदत्तः कर्मादिब्रह्मणा पतितो देवदत्ताद्विद्यते । अतः पूर्वाधिकरणे यथा अन्यथानुपपत्तिबलादाकाशवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिर्धारः, तथात्रान्यथानुपपत्तिबलात् प्रकरणस्य तथात्वनिर्धारो युक्त इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

किञ्च । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ती'ति पत्यादिशब्दाः सर्वस्येत्यादयस्तेभ्य इदं प्रकरणं स्पष्टमेव ब्राह्मत्वेन गम्यते । न हि निरङ्कुशं सर्वाधिपत्यं जीवस्य सम्भवति । न वा जीवस्यावस्थाविशेषत्वे ब्रह्मानतिरेकान्तं सर्वत्वम् सम्भवदधिपतित्वं समर्थयितुं शक्नोति । अतः सर्वस्याधिपतिरित्यादिभुक्तिबलादप्यस्य ब्रह्मप्रकरणत्वमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ १३ ॥ इति त्रयोदशं सुप्त्युत्पत्तिकान्त्योरित्यधिकरणम् ।

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रार्थचरणैकतानश्रीब्रह्मजानायात्मज्ञश्रीकृष्णचन्द्रकृतार्थब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ १ ॥ ३ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

आनुमानिकमन्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकवि-
न्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

अतीतेषु त्रिषु पादेषु प्रथमे शब्दकृतसन्देहनिवारणाय कार्यनिरूपकानि वाक्यानि विचार्य, द्वितीयतृतीययोश्च यथायथं जीवजडरूपाधिकृतसन्देहवारणायान्तर्धीम्युपास्यरूपनिरूपकानि च वाक्यानि विचार्य, सर्वेषां वेदान्तानां साक्षात्परस्परया च ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितः । स तदा दृढीभवति यदा श्रौतत्वेनाभिमत्यमानस्य मतान्तरस्य श्रौतत्वं निराक्रियते । अतस्तदर्थं चतुर्थे पादे जीवजडसमुदायात्मकार्यनिरूपकतया मतान्तरश्रौतत्वभ्रमजनकानि प्रकीर्णकानि वाक्यानि विचारयन्ते । अत उपोद्घातोऽत्र पादसङ्कतिः । तत्र ईक्षत्यधिकरणे ब्रह्मलक्षणस्य प्रकृतावतिव्याप्तिं वारयितुमशब्दमिति पदेन सांख्यमतमशब्दत्वाच्चिरातरितम् । तदादार्थ्यमिह सूत्रांशेन आशङ्क्यासांनरेण समाधत्ते । आनुमानिकमित्यादि । एकेषां कठानां शालस्य कठवत्त्वयाम्, आनुमानिकं सांख्यैः, स्थूलभूतानि शब्दादितन्मात्रजन्यानि, भूदत्वात् । यद्यज्ञान्यं तत्पत्सदृशम् । यथा मार्तिकादिबाह्याभ्यन्तरकरणानि तन्मात्राणि च अहंकारजन्यानि । शान्त्योरवि-

भूदत्वात् । अहंकारो महत्त्वजन्यः । शान्तादिरूपत्वात् । महत्त्वं प्रकृतित्वमित्यम् । शान्तादिरूपत्वात् । पूर्ववत् । प्रकृत्यादीनि चतुर्विधतित्तत्वाति परार्थानि । संघातरूपत्वात्, पर्यङ्कादिवत् । यः परः स पुरुष इत्येवमनुमानकल्पितं मतं श्रूयते । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थो ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषात् परं किञ्चित् मा काष्ठा सा परा गतिरिति । अत्र बुद्धेः सकाशात् पर आत्मा अहंकारः । 'चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं सद्ब्रह्मो जठरं भुजेत्रः' इत्यहंकारोऽप्यात्मपदप्रयोगात् । ततः परो महान् महत्त्वम् । ततः परमव्यक्तं प्रकृतिः । ततः परः पुरुष इति । तथाचैवं सांख्यमतप्रत्यभिज्ञानात् तन्मत्तं श्रौतम् । अपिशब्दाद् 'अजमेका'मित्यादिवाक्येषुक्तः प्रकृतिरूपो वादो, 'मायां तु प्रकृतिं विद्याविद्यायुक्तो मायावादः', 'पञ्चाशब्देदां पञ्चपूर्वामधीम' इत्याद्युक्तोऽविद्यावादश्च श्रौत इति चेत् । न । कुतः । शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरसम्बन्धिरूपकं शरीररूपकम्, तत्र विन्यस्तानां गृहीतिग्रहणं शरीररूपकविन्यस्तगृहीतिस्ततः । अत्र हि पूर्वम्, 'आत्मानं रयिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि ह्यानाद्बुद्धिर्पयास्तव गोचरात् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इत्युक्त्वा, ततो 'यस्त्वविज्ञानवाच् भवतीत्यादीनि पञ्च वाक्यान्युक्त्वा, तदनु 'इन्द्रियेभ्यः परा' इत्यादि पठ्यते । अत इन्द्रियवाक्यं प्रकरणावरुद्धमिति तत्र पूर्वसम्बद्ध एवार्थो वक्तव्यः । अन्यथा प्रकृतहान्यप्रकृतपरिग्रहासीं स्याताम् । इदं हि जीवप्रकरणम् । 'यस्त्वविज्ञानवा' नित्यादौ तस्यैव परामर्शात् । तत्र जीवस्य बुक्त्वस्यायो निरूप्यते, 'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवाचरः' । सोऽयनः यात्सामोति तद्विष्णोः परमं पद'मिति । न शेषत्वं सांख्यमते सम्भवति । स्वरूपावस्थानातिरिक्तस्य भगवत्यासिरूपस्य मोक्षस्य तन्मतेऽभावात् । अहमस्तदभिमे 'इन्द्रियेभ्यः' इति वाक्ये अहंकारादितत्त्वरूपो नार्थः, किन्तूक्तविन्दमोक्षसाधनानुसार्यार्थः । तत्र साधको जीवो रथी । तस्य ब्रह्मप्राप्तौ मुख्यं साधनं शरीरम् । स रथः । सर्वसामग्रीसहितत्वायचयानत्वात् । तेन शरीरं रथत्वकम् । रथस्तु गमने ह्याधीन इतीन्द्रियेषु हयरूपकम् । इन्द्रियाणि मनोऽधीनानि, हयाश्च प्रग्रहाधीना इति मनसि तदपकम् । मनश्च बुद्धयधीनं, प्रग्रहश्च सारथ्यधीन इति बुद्धौ सारथिरूपकम् । इन्द्रियाणि तु विषये प्रवर्तन्ते, हयाश्च मार्गरूपे देशे, सारथिश्च मार्गे एव हयात् प्रेरयतीति विषयेषु गोचरपदेन मार्गरूपकम् । ततो रथिस्वरूपनिगमनात् 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इत्यर्थः श्लोकः । ततो मार्गस्य प्राप्याधीनत्वात्पदबोधनाय प्रापकसामग्रीनिगमनपूर्वका 'यस्त्वविज्ञानवा' नित्यादयश्चत्वारः श्लोकाः । तत्र इष्टस्य प्राप्यस्य निगमनाय विज्ञानसारथिरिति पञ्चमः । तत्रेयमाशङ्कोतिष्ठते । एवमत्र मोक्षप्रणाडीनिरूपणे विषयाणां यदंशत्वमुक्तं तत्र युक्तम् । संसारमार्गत्वत्त्वं प्रत्यभिज्ञादिसिद्धत्वादिति । तच्चिवाणाय वदतीन्द्रियेभ्य इत्यादि । तथावाच्यमर्थः ।

इन्द्रियेभ्यो हवेभ्योऽर्था विषयाः पराः । मार्गतया नियामकत्वादुत्कृष्टाः । नियामकत्वं चात्र, 'प्राणं च गन्धं' इतिन्यायेनेन्द्रियाधिदैविकतया भगवदीयत्वेन मनसा सम्यग्भावविततया च । न तु विषयतया । मोक्षप्रकरणत्वात् । नापि ज्ञानीन्द्रियतया । विरक्तेन्द्रियाणां विषयेषु सम्यक्त्वेन भावनाभावात् । अतस्त्वारविन्दनयनस्येत्यादिवद् यत्र भगवदभिप्रायसां प्रणालीं बोधयितुमिन्द्रियेभ्यो विषयाणां परवष्टकम् । तेषां परत्वं मनसा मन्थक्या भावने भवतीति मनसस्तन्निधायामकत्वाद् 'अर्थेभ्यश्च परं मनं' इत्युक्तम् । मनसस्तु परा बुद्धिरिति तु सारथिभावादेव स्फुटम् । बुद्धेः सकाशात् परो बुद्धिनियामकत्वात्मा विज्ञानम् । तस्य बुद्धिजन्यत्वेऽपि भगवद्विषयकत्वावधारणमिति तथात्वबोधनाय महानित्युक्तम् । विज्ञानस्य बुद्धिजन्यत्वेऽपि 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानं'मित्यत्र बुद्धिस्वरूपस्य विज्ञानसमानाकारतया सिद्धत्वात् तस्य बुद्धिनियामकत्वं युक्तमेव । तादृशं च विज्ञानं भगवत्कृपां विना न भवतीति ततो महतः परमव्यक्तं ज्ञातुमशक्यत्वादप्रकटं भगवत्कृपेव । तस्मादव्यक्तात् परस्तन्निधायकः पुरुषो भगवानेव । यत्पदं तन्मायत्वेनोक्तं तदेतन्निगमयितुं 'सा काष्ठा सा परा गतिरित्युक्तम् । अतः शरीररूपकविन्द्यस्तानां ग्रहणादत्रायमेवाशेषो युक्तो, न तु सार्वक्यमग्रहणं युक्तमित्यर्थः । एतेनैव हेतुनात्र मायादिवादा अपि निरस्ता वेषाः । हेत्वन्तरमाह । दर्शयति चेति । उक्तमर्थं धृतिस्वरूपमेव दर्शयति । 'एष सर्वेषु भूतेषु गौरीत्मा न प्रकाशते । इदयते स्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिमिति । द्रष्टव्यां बहुत्वकथनेन तद्विभक्त्यात्मनो दृश्यत्वकथनेन च बुद्धेरुपनिषदनुसारित्वरूपसूक्ष्मत्वकथनात् सार्वक्यप्रतिपन्नपुरुषत्वात्तद्विभक्त्यात्मनो दर्शयति । चकारा'पतो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विद्यते तदनन्तर'मिति स्मृतिर्गृहीता । तत्र च ज्ञानानन्तरं सायुज्यं दर्शयति । न हीदृश आत्मा तन्माशिश्व सार्वक्यमेव सिध्यति । अतोत्र साध्यत्वोपदेशाच्च सार्वक्यमग्रहणमिज्ञानमित्यर्थः । ॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

नन्वव्यक्तपदेन भगवत्कृपा न ग्राहीतुं शक्या । धर्मिप्रायपाठविरोधादित्याशङ्क्य तुयुग्मेन परिहरति । इयमाशङ्का न कायां । तद् अव्यक्तं कृपारूपधर्मात्मकमपि सूक्ष्मम्, दुर्लेपं ब्रह्मैव, न ततो भिन्नम् । कुतः । अर्हत्वात् । योग्यत्वात् । अयमर्थः । 'बुद्धेरात्मा महान् पर' इत्यत्र 'अयं परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इत्यादिभ्यस्तुक्तं परोक्तं ज्ञानं योग्यताबलाद् बुद्धिनियामकत्वेन पराशुष्टम् । तच्च 'नायमात्मेति ध्रुवन्तराद्ग्राहणीनम् । वरणं कृपयेति ज्ञानात्परस्य विमर्शं योग्यताबलात् कृपेव ज्ञाननियामकत्वेन सिध्यति । सा च भगवद्दर्शः । धर्मधर्मिणोर्भाविमागाद्विनाभावेन स्थित्या चाभेद इति योग्यताबलादेव तस्या अपि ब्रह्मत्वम् । अतो धर्मत्वेपि धर्म्येभेदाच्च प्रवाहविरोध इत्यर्थः ॥ २ ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

ननु यदि पूर्वोक्तयुक्त्या कृपाया ब्रह्मत्वं तदा भिन्नत्वमनुपपन्नम् । यदि च कयाचिद् युक्त्या धर्मत्वं तदा प्रायपाठविरोध इत्यत आह । तदित्यादि । कृपायाः ब्रह्म-भेदेऽपि तदधीनत्वाद् ब्रह्माधीनत्वाद् भिन्नत्वं । तथाच यथा अभेदे अविनाभावानैक-रूपयोग्यग्रहणं युक्तिः, तथा भेदे नियमनियामकभावो युक्तिः । अतो द्रव्यमप्युपपन्नमि-ति न कश्चिदोपः । नन्वेकत्वे नियमनियामकभावः एव कथमित्याकाङ्क्षायां तत्साधनाय दृष्टान्तमाह । अर्थवदिति । अर्थः पुरुषार्थः फलं तद्वत् । 'ब्रह्मविदाग्नोति पर'मित्यत्र यथैकस्य ब्रह्मणः सच्चिद्रूपेण विषयत्वमानन्दरूपेण फलत्वम् । गणितानन्दत्वेनाक्षरत्वम-गणितानन्दत्वेन पुरुषोक्तमत्वं च, तथा कृपाविष्टः साधनमानन्दरूप फलमित्येकस्यापि रूपभेदेनोभयत्वोपपत्त्या सर्वसामञ्जस्यमित्यर्थः । यदि च कृपापक्षे अव्यक्तपदस्य सौमिकत्वाच्छैथिल्यं शङ्क्यते, तदाव्यक्तपदेनाक्षरमेवात्र ब्राह्मम् । अव्यक्तोक्षर इत्युक्त इति गीतायां तत्र रूढिबोधनात् । एवमपि सामञ्जसाच्चेति । तस्मादिन्द्रियेभ्य इति वाक्ये नानुमानिकं किञ्चिदस्ति ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

प्रकरणविचारेणेन्द्रियेभ्य इति वाक्ये आनुमानिकमतासिद्धिः प्रदर्शिता । तत्र पूर्वतन्त्रमाश्रित्य प्रकरणपेक्षया वाक्यप्राचल्यप्रदर्शनेन चेतुकृपात्, तदा पूर्वोक्तं स्थितिलं स्यादतो वाक्यविचारेण तन्मतसिद्धिमाह । ज्ञेयत्वादि । अव्यक्तं ज्ञेयत्वेन नोक्तम् । तेषां मते तु गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमितिप्रवचनवृत्तात् विभूतिविशेषास्ये प्रधानस्यापि ज्ञेयत्वस्मरणाच्च तदस्यभिज्ञापकभावेनात्र वाक्यादपि न तन्मतसिद्धिरित्यर्थः । चकारोऽनुक्तसमुच्चारकः । तेनात्रोक्तोऽव्यक्तपुरुषयोः परापरभावोऽपि तन्मतविषयक इति सूच्यते । परापरभावो हि पुरुषप्रकृत्योर्विश्लेषेऽवगन्तुं शक्यते । अज्ञानदशायां तु श्लेषेऽप्येत्यासीनतयोक्तो पुरुषस्य परत्वानवगम इति सोऽपि तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥

वदतीतिचेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

ननु ज्ञेयत्वावचनमसिद्धम् । इन्द्रियेभ्य इति वाक्ये निर्देशमात्रमुक्त्वा, अत्रे 'अशब्द-मरुत्पर्यमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्, अनाधनन्तं महतः परं छुवं निचाभ्यश्च तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यत' इति ज्ञेयत्वं वदतीतिचेत् । न । कुतः । प्राज्ञो हि प्रकरणात् । हि यतो हेतोस्तस्मिन् वाक्ये प्राज्ञः परमेश्वर एवोच्यते । तत्र हेतुः । प्रकरणादिति । अयमर्थः । अव्यक्तपदतेः परत्वलिङ्गस्य तददृष्टित्वाक्यस्य च मतद्वयसाधारण-त्वादेकतरनिर्धारं प्रकरणस्य नियामकत्वं वक्तव्यम् । प्रकरणं च 'ऋतं विषयता'वि-त्यारभ्य, नाचिकेतमुपाख्यानमित्यन्तमेकम् । तत्र चात्मानानेव परामृश्य जीवात्मनो

रथित्वं तदुपकरणं तत्फलं चोक्त्वा, अत्र 'एष सर्वेषु भूतेष्वित्यारभ्य बह्वीसमाप्तिपर्यन्तं परमात्मैव परामृश्यते । श्रुत्युद्भवप्रमोकरूपफलदर्शनात् । प्रधानज्ञानेन सांख्यैस्त्वदनभ्युपगमनात् । चेतनात्मज्ञानादेव तदुपगमाच्च । अतः प्रकरणस्य विचारे अशब्दवाच्यस्यापि भगवत्परत्वाज्ज्ञेयत्वावचनं नासिद्धमित्यर्थः ॥ २ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

ननु न वयं सर्वमेकं प्रकरणमित्युपगच्छामः । किन्त्विन्द्रियेभ्य इत्यारभ्य, नाचिकेतस्युपाख्यानामित्यन्तं मिथं प्रकरणम् । तत्र प्रथमं पदार्थनिर्देशः, तदन्वेष सर्वेषु भूतेष्विति पुरुषज्ञानम्, अशब्दमत्प्रशमिति प्रकृतिज्ञानं पृथक्पृथगुच्यत इति । तेन तयोन्तरमेव ज्ञातं भवतीति सांख्यमतस्यात्रैव सिद्धस्तस्याशब्दत्वकथनमप्युक्तमित्याशङ्क्य परिहरति । त्रयाणामित्यादि । एवम् अस्मदुक्तरीत्या तत्रप्रकरणत्वं, स्वद्रीत्या तु चतुष्प्रकरणत्वं स्यात् । नच को दोष इति वाच्यम् । रथत्वात्प्रागग्निजीवब्रह्मणामेवोपन्यास उत्तरं प्रश्नश्चात्र दृश्यते । 'स स्वमग्निं स्वर्गमध्येपि मृग्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धादानाय मह्यमिति प्रथमोऽग्निप्रश्नः । 'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नाचिकेतः प्रजानभित्यादिनोचरम् । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैकं इति द्वितीयो जीवप्रश्नः । 'देवैरश्रापी'त्युपधिष्यादे । 'न साम्प्रायाः प्रतिभाति बाल'मित्यादिना परलोकासत्त्वमानिनः पुनः पुनः स्ववशगत्योक्त्या तादृशस्याप्यस्तित्वबोधनमुचरम् । 'अन्यत्र धर्मो'दिति तृतीयो ब्रह्मप्रश्नः, 'सर्वे वेदा यत्पदमानन्ती'त्यादिनोचरमिति तत्कृतप्रकरणविभागविरोधस्यैव दृश्यत्वात् । नच पितृसौभग्येनापिजीवप्रश्नाभ्यां च वरत्रयपूर्वैर्ब्रह्मप्रश्नस्य काल्यानिकत्वं निर्हेतुकत्वं वा शक्यम् । 'यच्चतु पयसि तद्वदेति, 'नैषा तर्कणं मतिरापनेया, 'प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठे'ति मन्त्रगतयोर्वदश्रेष्ठपदयोरेव मानत्वात् । नच 'यत्साम्प्राये महति ब्रूहि नस्त'दितिबद्ध ब्रह्मप्रश्नस्य जीवप्रश्नात्पदादत्वं शङ्क्यम् । विषयभेदनिर्देशविरोधात् । अतस्तं दुर्दर्शमिति वाक्यद्वयान्तसन्दर्भ एव तृतीयवरत्रयास्य द्वितीयप्रश्नस्य पूर्वोत्तरस्य प्रश्नोक्तस्य प्रश्नस्य तृतीयस्य प्रत्यादहेतुकत्वं च मन्तव्यम् । नच यथा वरव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेण प्रधानोपन्यासकल्पनायामप्यदोषः इति शङ्क्यम् । बद्धप्रेषपदाभ्यां बोधित्वेन कल्पनाया अभावेनापर्ववस्थेयत्वादिनि । अतश्चतुर्थस्य प्रकरणान्तरत्वात् वक्तुमशक्यत्वाच्च सांख्यमतसिद्धिरिति तस्याशब्दत्वकथनं नायुक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

महद्ब्रह्म ॥ ७ ॥

ननु तथापि मवान्तरंस्म्यत्र सङ्केतिताः शब्दाः ब्रह्मवादे कथं ब्रह्मपरतया योज्यन्त इत्याशङ्क्य परिहरति । महद्ब्रह्म इति । यथा सांख्यमते प्रथमकार्यं सङ्केतितोपि महच्छब्दो 'महान्तं विद्मामात्मानं, 'वेदाहमेतं पुत्रं महान्त'मित्यादौ योगेन ब्रह्मपरः

पदान्तरसन्निधानादुच्यते, प्रकरणाच्च । अन्याया तदनन्वयात् । एवमव्य कशब्दोऽप्यक्षरवाचकः । सर्वेषां पदानां ब्रह्मवाचकत्वस्योत्तरार्थिकत्वादिनि । तस्मा 'दिन्द्रियेभ्य' इति वाक्ये सांख्यपरिकल्पितानां पदार्थानां नामापि नास्तीति सिद्धम् । चकारोऽधिकरणसम्पूर्णत्वद्योतकः ॥ ७ ॥ १ ॥ इति प्रथममानुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

ननु मास्त्वस्मिन् वाक्ये सांख्यमतसिद्धिः, तथापि श्वेताश्वतरे तैत्तिरीये चाजामन्त्रः पठ्यते । 'अजामेकां लोहितशुककृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सत्पुपाः । अजो ब्रह्मो जुपमाणोऽनुशेते जहात्येनां शुकभोगामजोऽप्य' इति । नचास्यापि 'किं कारणं ब्रह्म'त्यादिना ब्रह्मविद्युत्प्रणम्य पठितत्वाद् ब्रह्मवैश्वेन केनाचिन्नकारेण निरूप्यत इति शङ्क्यम् । पूर्वकाण्डीयप्रणवादिमन्त्राणामन्यत्र विनियुक्तानामपि प्रकृतोपयोगः, एवमत्रापि मत्तन्तरवाचकस्यैव प्रकृतोपयोग इति शक्यवचनत्वात् । किञ्चात्र यथैक एव मन्त्र एतादृशोऽप्ये चान्यादृशा इति स्यात्, तदा बहूनामनुग्रहस्य न्यारयत्वादेतस्यार्थोऽन्यथा कल्प्येत्यापि । यथा कठबल्लीस्थेन्द्रियमन्त्रस्य । इह तु 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा'मिति, 'ज्ञानो ज्ञातजावीशानीशावजा ब्रह्मा भोक्त्वभोग्यार्थयुक्'ति, 'यो योनिं निर्मथितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीथ सर्वो' इति, 'ऋषिं प्रयतं कपिलं यस्तमप्रे ब्रह्मैर्निर्मलं जायमानं च पश्ये'दित्यादीनि बहूनि वाक्यानि सन्ति । तेषु यथायम्यम्, अजाया शुष्ट्यादिकं, स्वगुणैर्निगूढत्वं, शुक्राण्डकजीवसंघो भोक्त्वभोग्यार्थैः मात्रादिकार्यैर्युक्ता प्रकृतिः, योभ्यंविद्यादुत्सवं, कपिलस्य नामतद्दमोश्च प्रत्यभिज्ञापत्ने । एतावान् परं विशेषो यत् कार्यालैः प्रकृतिः स्वतन्त्रोच्यते, अत्र तु परमेश्वरशक्तिस्येनेति । न तावता तस्य अज्ञात्वहानिः । शक्तेर्नित्यत्वात् । अतः शक्तित्वमात्रेण विशेषेण कपिलमत्प्रत्यभिज्ञापकनानापदानादत्रणस्यानुचितत्वात् सांख्यमतस्यानुमानिकत्वोक्तिः प्रधानस्याशब्दत्वोक्तिश्चानुपपन्नैति प्राप्ते, उच्यते । चमसवदित्यादि । एकपदभेदं सूत्रम् । चमसेन तुल्याः अविशेषसमसवदविशेषस्तस्मात् । यथा 'अवागिबलधमस उद्वर्षेबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत्ते ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाने'ति मन्त्रे कर्मविशेषं कल्पयित्वा तत्त्वावांगिबलं चमसं कल्पयित्वा, तत्र यशोरूपं सोमं सप्त होतारो मन्त्रेण भक्षयेयुरिति कल्पयितुं न शक्यते, तथात्र लोहितशुककृष्णशब्देन सत्त्वरजस्तमसालि कल्पयित्वा, तद्ब्रह्मेन सर्वमेव सांख्यमतं न कल्पयितुं शक्यते । शक्तित्वेन शक्तिमद्धीनोदयतया पारतन्त्र्येणैव सिद्धत्वात् । नच स्वगुणैर्निगूढामिति तद्भ्रमम् । तत्र स्वपदेन ब्रह्मण एव ग्रीहीतुं शक्यतया तदगुणानामेव ब्रह्मत्वात् । उत्तरार्थे 'यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यपिहित्येक' इत्यनेन तस्यैव परामृष्टत्वाच्च । नापि भोक्त्वभोग्यार्थयोगस्तत्त्वरूपकः । जन्यायामपि

शक्तौ तथात्वस्य पुराणसिद्धत्वात् । नापि योमिमित्यस्य तथात्वम् । बीप्साया बहुत्वस्य च भाष्यकत्वात् । अंशमेदात् समाधानेऽपि शक्तिसाधारण्यनपायाच्च । नापि कपिलादिषु-
दस्य । नित्ये वेदे अनित्यसंयोगविरोधात् । न चापीरूपयत्वेऽपि वेदस्य जन्मत्वं युक्तम् । भाष्या-
विरूपनित्यत्वेऽपि तद्विरोधात् । वेदप्रामाण्यस्य कपिलाचार्यैरप्यङ्गीकारात् । अतश्चम-
सवाच्यवदत्रापि विशेषस्य कल्पयितुमुपशङ्क्यत्वाच्च सांख्यमतसिद्धिरिति प्रौथिकरणो-
क्तमधुष्णमित्यर्थः । अत्राप्यानुमानिकं नेति पक्षसाध्ये बोधये ॥ ८ ॥

ज्योतिरुपक्रमानु तथा दधीयते एके ॥ ९ ॥

ननु चमसन्ने 'शिरो वै अर्वाञ्ज्वलभ्रमसः प्राणा वै यशः प्राणा वै ऋषयः' इति
व्याख्यानं श्रौतमस्तीति तत्र विशेषः कल्पयितुं न शक्यते । प्रकृते तु श्रौतव्याख्याना-
भावात् सुखेन तन्मतमत्र ग्रहीतुं शक्यमित्याशङ्कं तुना परिहृत्यात्रापि श्रौते व्याख्यायानं
तद्युक्त्यायाह । ज्योतिरित्यादि । अजाशब्देनात्र श्रुत्यन्तरोक्ता ज्योतीरूपा देवतोच्यते ।
नचैवं सत्यजापदस्य कुतः प्रयोग इति शङ्क्यम् । पूर्वत्र रूपकविम्बस्वरुहीतिवदत्र रूपक-
वृत्तिसंशयोक्त्या अजावदल्पनभ्ररफलदत्त्वं सत्या बोधयितुं तदुक्तेः । तेनात्र किं गमकमत
आह । उपक्रममिति । 'तदेवाचिन्मस्वस्त्यायुस्तददादित्यस्तदु-
चन्द्रमा' इति पूर्वमन्त्रे ज्यो-
तिष उपक्रममात् । तथाचोपक्रम एवात्रापि ज्योतिरुपक्रम इत्यर्थः । नच चतुरूपत्वा-
भावे कथं तदिति शङ्क्यम् । अग्निसूर्यचन्द्रविद्युज्जैवेन श्रुत्यन्तरे चतुरूपत्व-
स्य तत्रोक्तत्वात् । नचात्रोच्यते अजत्रयकथनाचयोर्भावे कथं मंत्रार्थनिर्धार इति
शङ्क्यम् । एतदग्निमे 'द्वा सुपर्णे'ति मन्त्रे तयोर्भावेऽपि कथनात् । ननु तथाप्यजत्रयस्यात्र
जीवबहुत्वेनानिर्धारत्वं कथं मन्त्रार्थनिर्धार इति शङ्क्यायां सर्वनिर्धाराय संमत्यन्तरमाह ।
तथा दधीयत एक इति । यथास्माभिर्मन्त्रोक्त्यायते ज्योतीरूपत्वं, तथा तेन प्रकारेण
हि यतो हेतोः, एके शास्त्रिनश्छन्दोगा अधीयते श्रुतिं पठन्ति । पूर्वं 'तत्तेजोऽज्जते'-
ति प्रथमं कार्ययुक्त्या, ततः 'तत् तेज ऐश्वर बहु स्यात् प्रजापेये'त्यादिना तस्मात् सृष्टिं
वदति, अग्रे च त्रिवृत्करणोत्तरं 'यद्रे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यच्छुष्णं
तदभ्रस्त्व'ति । एतदग्रे 'यदादित्यस्य रोहितं रूपं यच्छुष्णं यद्विद्युत्' इत्यादिना तस्य
त्रिरूपत्वं वदति । तथा 'अनेन जीवेनानुप्रविश्य नामस्य व्याकरवाणि, तासां त्रिवृत्तं त्रिवृ-
तमेकैकं करवाणी'ति त्रैविध्योच्चैत्रब्रह्मणोः प्रवेणं, बीजे भगवत्यपि सच्चिदानन्दमहत्त्वं
त्रैविध्यं, जन्मेऽपि बीजे अण्डजमुज्जितं जीवजमिति संप्रशङ्खैवित्यम् । तेन 'सृजमानां
सरूपा' इति प्रजानां सरूपत्वं यति । श्रुतावनशक्तिं यदनदानमुक्तं तत्र हेतुर्जीवेन
श्रुक्तभोगमिति । तेनात्रोक्त्या देवताया छान्दोग्ये सत्यकामाया हंसेन 'अग्निः कला सूर्यः
कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सौम्य चतुःकला पादौ ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्मे'त्यु-
पदिष्टौ य पादस्तद्रूपत्वं प्रथमकार्यरूपत्वं च विवृत्तं भवति । अतः प्रकृतेऽपि चमस-
वच्छ्रुतावेवायं प्रतिपादनाच्च सांख्यमतप्रतिपादकत्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिबदविरोधः ॥ १० ॥

ननु द्विविधा पदशक्तिर्योगो रूढिर्वा । तत्राजाशब्दच्छायां रूढः । न जायत
इत्यत्रेति योगः । अत्रोभयं विहाय कदा वृथा सृष्टिवाचकत्वमङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्य
परिहरति । कल्पनोपदेशादिति । कल्पनाया उपदेशः कल्पनोपदेशस्तस्मात् । यथाजा
वकंसहिता सवस्ता स्वामिहिता, तथेयमायाः सृष्टिरपि भगवत्सहिता कार्यसहिता
चोपायसहितेत्युपासनाय कल्पनयाऽज्ञापनोच्यते । चकारात् परोक्षवादोऽपि देवहिता-
येति बोध्यते । तथाच 'तत्तेषां न त्रियं यन्मनुष्या त्रियु'रिति श्रुतेर्मुमुक्षुणाणां ज्ञानं देवहिताय
न भवतीति तद्वीताय यथेये इन्द्र इति परोक्षवादः, तथाच चतुर्भुजात्मयानिनास्मदादि-
साधारणजन्माभावाच्च्योतीरूपे प्रथमकार्येऽप्यत्रेति भगवत्प्रियत्वाच्च परोक्षवाद इत्यर्थः ।
नचैवं किमिदानीमेवं वादि निग्रहायोपमन्थते ? उतान्मत्र सिद्धमतिदिव्यत इत्याशङ्क्या-
यां समाधत्ते । मध्वादिबदविरोध इति । 'यथासी वा आदित्यो देवमुबु' 'वाचं वेद्युषुपा-
सिते'त्यादौ कल्पनया मधुस्त्युपदेशस्तथात्रापरोधः । तथाचान्मत्र सिद्धैव वैदिकपदानां
गोष्वेष वृत्तिरत्रातिदिश्यते । तत्त्वादीनां कल्पने इत्यर्थः । अयं च दृष्टान्तो वादिवो-
धनायः । सांख्यसमाससुप्रशाणां पञ्चशिक्षणगीतसुर्वा सूर्यस्य चक्षुरधिदेवतत्वेन सि-
द्धत्वात्मयुक्तस्य तस्मिन् सांख्यवादिनापि कल्पनवैवादादणीयत्वादिति । तस्मादजाश-
ब्देन न सांख्यमतस्यात्र प्रत्याशेति सिद्धम् ॥ १० ॥ इति द्वितीयं चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥

न संख्योपसंभ्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

ननु बृहदारण्यके चतुर्थपाठके श्रूयते । यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रति-
ष्ठितः, तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मासृतेऽसृत्वमिति । अर्थस्तु यस्मिन्नेते पञ्चादय
आकाशास्ताः प्रतिष्ठिताः, तामात्मानं नानाभावात् विद्वान्मनो जीवः असृतेो मुक्तो
भवतीति शेषः । अत्र पञ्चगुणिताः पञ्च पञ्चपञ्च जनयन्तीति जनास्तत्त्वानि । पुरुषस्यापि
छत्रिप्रायेण जनत्वात् तत्संख्यापूर्तिः । तथा चैवं पञ्चविंशतितत्त्वानां संख्योपसंभ्रहा-
दस्मिन् मन्त्रेऽस्ति सांख्यमतसिद्धिरित्याशङ्क्याह । न संख्येत्यादि । उक्तरीत्या सं-
ख्योपसंभ्रहादपि न सांख्यमतस्यात्र प्रत्याशाः कुतः । नानामावात् । पञ्चविंशतिसं-
ख्यासंग्राहकधर्माणाम् तन्मते पञ्चपञ्चकनिष्ठत्वाभावेन तेष्यो मिश्रत्वात् । यदि शेषे पञ्च
पञ्चपदेन तेषां सा संख्या संग्राह्या स्यात्तः ते श्रुतत्वमनात्रात्वाकृतित्वविक्रितित्वान्-
स्थत्यरूपायैकैकपञ्चकनिष्ठान् पञ्च धर्मान् सृष्टुं तु 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदायाः प्रकृ-
तिरविकृतयः सप्त रोडङ्गश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष' इति मूलप्रकृतिस्वप्र-
कृतिविकृतित्वपुरुषत्वत्वाधुनोऽप्यथा सृष्टुः । अतो नैवं तन्मतप्रत्याशाः । किञ्च, नायं
श्रुत्यर्थ इति श्रुतावेव प्रतीयते । कुतः । अतिरेकाच्चेति । 'पञ्च पञ्चजनेभ्य आकाशश्च

प्रतिष्ठितं इत्याकाशस्य यस्मिन्स्थित्येनेकोत्पत्त्यास्त्वत्वाधिक्यात् । तस्मात् शब्देनापि मन्त्रेण तन्मतसिद्धिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ ११ ॥

ननु पञ्चविंशतिसंख्योपसंग्रहे भन्ववर्णवैरोधो दोषत्वेनोक्तः । स तु नास्माकमस्ति । यथाच, 'पञ्च सप्त च वर्षणि न वर्षे शतकटु'रित्यत्र द्वादशसंख्यापदकतया पञ्च सप्तेति पदद्वयेऽवयवद्वारा समुदायलक्षणया । यथा वा, 'त्रिणवनेनोऽस्कांमं वाजयेत्, युद्धं त्रिणवत्रात्रं तद्भूत्तुमुलमुख्यम्' इत्यत्र त्रयो नव यत्रेति बहुव्रीहिणा सुष्ठुका च गणलक्षणया, तथात्रापि पदद्वये लक्षणया बहुव्रीहिषडिति एकपदे लक्षणया वा पञ्चविंशतिसंख्यां ज्योतिःशास्त्रवत् परिकल्पय, यस्मिन्नास्मिन् पञ्चविंशति तस्वान्याकाशश्च पदार्थत्वेन ज्ञेयस्वरूपां प्रतिष्ठां प्राप्तस्तमात्मानमेव ब्रह्माधृतं विद्वानभूतो भवतीति मन्य इत्यर्थात् । न च तत्त्वेन्यात्माकाशयोः प्रविष्टत्वात् पुनस्तत्कथनमतिरेकापादकमिति शङ्क्यम् । कामात्ममादात्म्यस्य स्फुटीकरणाय तयोः पुनरुक्तेः । न च विनिगमकामायापुन्यत्वं शङ्क्यम् । भन्वमतसिद्धपञ्चसंख्या वा पञ्चविंशतिसंख्याका वा जना पञ्चसंख्या वा पञ्चजना इति त्रिष्वर्थेष्वेकतरस्य निधेतुमशक्यत्वेनास्माकं च निश्चितत्वेनात्मन्मतस्य ज्ञायस्त्वादि-त्याशङ्कायामाह । प्राणादय इत्यादि । प्राणादयः पञ्चजनाः । कुतः । वाक्यशेषात् । पञ्चजनवाक्योत्तरं 'प्राणस्य प्राणमुत्त चक्षुषधृष्टुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्ने मनसो ये मनो विदुः' इति वाक्यशेषोऽस्ति । तत्र पृथगन्ताः प्राणादय उक्ताः, ते च संशयाद्याः पञ्च बुद्धिबुद्धिजनयन्तीति पञ्चजनाः । अतस्त एव प्रमाणाः । इत्थमस्तु 'संशयोऽय विपर्यासोऽनि-शयः स्मृतिरेव च । स्वाप इत्युच्यते बुद्धेरुल्लेखं बुध्तिः पृथ'मिति तृतीयस्कन्धे कपिलवा-क्यादवगन्तव्याः । नन्वेकाध्वं सति विभागे साक्षांशत्वस्यैकवाक्यताधीजत्वोद्धार च सा-क्षांशत्वस्याप्रतीयमानत्वात् कथं वाक्यशेषत्वावगतिरिति चेत् । इत्थम् । प्राणादिपदानां क्रियाकरणवाचकत्वेन प्राणादीनां च तद्वाचयानां स्वभावापरे कर्णान्तरानपेक्षत्वेन पुनः प्राणादिमन्त्रं वापितं भवदुक्तस्य वाक्यस्यान्तरं बोधयति । पञ्चजनावाक्ये पञ्चपञ्चजन-पदमपि सांख्यरीत्या पञ्चपञ्चकनिष्ठपञ्चकानुपलेन बोधितं सत्तस्य वाक्यस्याध्यान्तरं बोधयति, तच्च ब्रह्ममाहान्म्यरूपम्, उभयत्रापि ब्रह्मपदात् । अत उभयोरैकाग्र्यम् । किञ्च । प्राणवाक्यं प्राणादीनां करणत्वं बोधयत् पञ्चजनवाक्यानुदितं कार्यमाकाशते । पञ्चजनवाक्यं च तेषां पञ्चजनानां स्वस्वकार्यमस्त्वात् तद्वियामकं प्राणवाक्योक्तं ब्रह्माकाशत् इत्युभयोरपि विभागे साक्षांशत्वम् । एवमुभयोरैकवाक्यत्वे सत्यन्यस्य तत्त्वण्डत्वात् सुखेनैवास्य वाक्यशेषत्वावगतिं जानीहि । तस्मात् प्राणादय एव पञ्चजना इति नात्र सांख्यमतसिद्धिरिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

ज्योतिषैक्यामसत्यने ॥ १२ ॥

ननु काण्वापटे अन्नस्यान्नमिति नास्ति । तत्र कथं पञ्चसंख्यापूर्तिरित्याकाश्याया-माह । ज्योतिषेत्यादि । तेषामपि पाठे 'यस्माद्वाक्संवत्सर' इति मन्त्रोऽस्ति । तत्र 'दे

ता ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽयुत्'मिति ज्योतिः पठ्यते । तेन तत्प्रवृत्तिरित्यर्थः । तस्मान्न सांख्यमतस्य श्रुतिमूलकत्वमिति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इति तृतीयां संख्योपसम्प्र-हाधिकरणम् ॥ ३ ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

आनुमानिकद्वयव्यपत्तयैतदन्वैः सूत्रैः सांख्यमतस्य श्रौतत्वं निराकृत्येदानीं श्रुते-र्विप्रतिषेधेन निश्चयात्समाधिप्रतिषेधमारहितो स्मृतिरेव श्रद्धेति मत्ं निराकर्तुं विप्रति-षेधो नास्तीति बोधयादिपरिणामन्तरमारभते । तत्र नानाविधसृष्टिषोषकानि वाक्यानि विषयाः । तानि भगवतो जगत्कारणत्वबोधने तात्पर्यं वनित, न वेति संशयः । तत्र श्रुतौ क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः । यथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इति । क्वचित्चेज्जादिका । यथा 'तत्रेजोऽसृजते'ति । क्वचिद्वन्येवैव । यथा 'एतस्माज्जायते प्राण' इत्यादि । क्वचि'दिद' सर्वमसृजते'ति । एवमन्येऽपि बहवः प्रकाराः सन्ति नानाविधक-मनानाविधव्युत्क्रमणां प्रतिपादाः । ते सर्वे यथाकथञ्चिद्ब्रह्मप्रतिप्रयर्थमर्थवादरूपाः । यथा पूर्वकाण्डे 'ग्रहान्वा अनुप्रजा असवः प्रजायन्त' इति । न इतस्य ग्रहाणां प्रजादिकारण-त्वे तात्पर्यम्, अपि तु ग्रहग्रशंतामाने, तथैतेषामपि न ब्रह्मणो जगत्कारणतायां तात्पर्यम्, किन्तु यथाकथञ्चन तस्मिन्पिताः । अन्यथा । न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते' इत्यादावक-र्त्तुऽभोक्तेत्यादौ च तन्निषेधो न स्यात् । एकस्य वस्तुनो द्वैरूपासम्भावादेवं विप्रतिषिद्धना-नाप्रकारेण सृष्टिभिरूपं च न स्यात् । अतोऽन्यतोपापवादन्त्यायसिद्धया वेदान्तब्रह्मणः कारणत्वसिद्धिः । न च जगत्सास्तीति वक्तुं शक्यम् । आगो वासपण्डितं प्रसिद्धत्वात् प-रिह्यमानत्वाच्च । अतस्तस्य कारणेऽनियम्यमाणे बाधाबाधभेदेन नानासृष्टिविषु सती-ष्वपि कपिलस्य भगवतांशावतारस्तात् तन्मतप्रकारेणैव जगद्व्यवस्थोचितेति प्राप्ते, उ-च्यते । कारणत्वेनेत्यादि । एवं सृष्टिप्रभेदेऽल्पि न ब्रह्मणः कारणत्वे विप्रतिपत्तिः । कुतः । आदिश्रुतेजःप्रभृतिषु क्रमिकेषु प्राणादिषु च क्रमिकेषु कार्येषु कारणत्वेन ब्रह्म यथा व्य-पदिष्टं, येन सर्वत्रैव सर्वैश्वर्यवर्नामस्त्वैकवादात्प्रवृत्तवारिचदानन्दधर्मवत्प्रकारणोक्त्ये-वमन्यत्रायुक्तं कथयान्त् । न च निषेधव्याक्रोपः । तस्य लौकिककठुत्वनिषेधपरत्वात् । न च मानाभावः । न तस्य कार्यमिति निषेधवाक्योचराधे एव 'स्वामाविकी ज्ञानबल-क्रिया चे'ति क्रियासद्भावप्रतिपादनान् । द्वितीयपादे सभाभ्यधिकनिषेधेन कार्येकरणसा-पेक्षलौकिककर्तृत्वाविषेधस्यैव प्रतीतिश्च । सृष्टेनानामकारण्य निरूपणं तु लोकेपि कर्तव्य-माहान्म्यबोधकम् । नानाकालेष्वेककर्तृकस्य नानाविधकार्यस्य लोके दर्शनादिति । चक्रा-स्तु भगवतः सर्ववैलक्षण्यार्थं वैदिकपदवाक्यानामभाषिताथैकवाक्यत्वस्याभिप्रेतत्वसमु-च्चापकः । अतः श्रुतिविप्रतिषेधाभावाच्च स्मृतिपरिग्रह इति सिद्धम् ॥ १४ ॥ इति चतुर्थे यथाव्यपदिष्टाधिकरणम् ॥ ४ ॥

एवमेकः श्रुतिविप्रतिषेधः परिहृतः, पुनः प्रकारान्तरेण श्रुति विप्रतिषेधमाशङ्क्य परिहरति ।

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

ननु श्रुतौ कचिदसद्रा इदमत्र आभीचतो वै सदजायतेति, कचित् सदेव सोम्ये-
दमत्र आसीदित्युपक्रम्य, तदैक आहुरसदेवेदमत्र आसीदित्युक्त्वा, कुतस्तु खलु सोम्यैवं
स्यात्, कथमसतः सज्जायतेति निषिध्यते । क्वचिन्न असदासीचतर्दानौ नासीदजो नो
व्योमापारायदिति सदसती निषिध्य तत्र आसीत्, तमसा युद्धमत्र इत्युच्यते । क्व-
चिच्च तत्रेदं तर्ह्येवाकृतमासीदिति, क्वचिच्च किं तदानीन्ना सत्त्वासन्न सदसदिति । एवमा-
दित्थं पुराणवचनवेषु सत्यवाच्यस्य ब्रह्मणो विरुद्धं गानं भूयते । नचासत्तमःप्रभृतिभिःश-
ब्दैर्ब्रह्मैवोच्यत इति शङ्क्यम् । 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद वेदिति निन्द्याश्रव-
णाद्, 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तादिति तमोविरुद्धरूपत्वस्य तमःपरत्वस्य श्रवणाच्च ।
अतः कारणत्वेनापि श्रुतिप्रतिषेधाद् ब्रह्म कारणं नेति प्राप्ते । उच्यते । समाकर्षात् । का-
रणत्वेनेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । कारणत्वेन ब्रह्मैव ज्ञेयम् । नात्रोक्तश्रुतिविप्रतिषेधः । कुतः ।
समाकर्षात् । आकृष्यते स्वस्थानाच्छवाभ्यत इत्याकर्षः । समीचीनो वस्तुनिश्चायनार्थं
आकर्षः समाकर्षस्तस्मात् । सर्वेष्वेतेषु वाक्येष्वसदादिपदानां न निरात्मत्वादिरूपा
अर्था उच्यन्ते, किन्त्वेकश्रुत्युक्तरूपविलक्षणं रूपान्तरमभिप्रेत्य श्रुत्यन्तरे तस्य तस्य
शब्दस्य प्रसिद्धात्स्वार्थात् प्रकृत्यापानं तच्छ्रुत्या तत्तद्पविशिष्टं ब्रह्मैवोच्यते । नच लक्ष-
णापत्तिः । ब्रह्मणः सर्वशब्दवाच्यत्वस्य प्रागेव तद्विज्ञाप्यधिकरणेषु व्युत्पादितत्वात् ।
नच सर्वत्र ब्रह्मण एव कारणत्वे वक्तव्ये विरुद्धशब्दप्रयोगे किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम् ।
यथा 'को अद्रा वेद क इह प्रावोच'दित्येव सधिकर्तृविषयकमज्ञानं, 'सर्वे वेदा' इत्यत्र
साधनैस्तज्ज्ञानं, 'यतो वाचो निर्वर्तन्त' इत्यत्र वागाद्यप्राप्यत्वं, 'मनसैवाबुद्रष्टव्यं' इत्यत्र
तत्राप्राप्यत्वमित्यादयो भगवति विरुद्धयोः उच्यन्ते माहात्म्योपाधनार्थं श्रुतिषु, तथा 'तं
यथायथोपासते तथा भवतीति' फलज्ञापनार्थं तानि तानि विरुद्धरूपाण्यपि ब्रह्मणि
बोध्यन्त इत्यपि तेषां तेषां प्रसिद्धार्थतः सगणकसंबन्धवगम्यते । अत्रोदाहरणं तु यथा कंसा
दिमिर्भारकत्वभावनत्वात् तेषां मृत्युः, एवमसत्त्वेन भावनादसत्त्वमिति । अत एतदर्थमेवं
प्रयोगस्यावश्यकत्वादिति । तस्माच्छब्दवैलक्षण्येन श्रुतिविप्रतिषेधो न वक्तुं शक्य इति
सिद्धम् ॥ १५ ॥ इति पञ्चमं समाकर्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥

एवं शब्दविप्रतिषेधं परिहरणार्थकृतं विप्रतिषेधं परिहर्तुं मधिकरणान्तरे प्रणयति ।

जगद्राचित्वात् ॥ १६ ॥

अत्र कौशीतकिनाक्षणे पष्ठोऽऽयायः सर्वोपि विषयः । तत्र गार्ग्यो नाम्ना वा
लाकिरजातशत्रवे काशिराजाय स्वकीयैर्ष्यै स्वत एव ब्रह्मोपदेष्टुं समागत आदित्यचन्द्रवि

बुस्तनयित्स्वराय्वकाशाभ्यवादशंछायाप्रतिभुक्ताशब्दस्वभ्रमशरीरदक्षिणोक्षिवाभाक्षिपु-
रूपयन्तान्पुपासनायुक्तवान् । तदा तेष्वज्ञानश्रुत्या परिच्छिन्नानि फलानि प्रदत्त-
तेषां परिच्छिन्नब्रह्मोपापनन्त्वेन तज्ज्ञानस्य मुख्यत्वे निराकृते बालाकिः पूर्णब्रह्मज्ञा-
नार्थं तमेवोपमासदा । ततो राजा स्नेहेन तं त्स्ते पृथीत्या समात उत्थाय क्वचिदे-
कान्ते सुपुत्रपुरुषसमीपमागत्य, बृहत्पाण्डरवामः सोमराजक्षित्यादिभिर्बालाकिप्रोक्तै-
र्धर्मैस्तं सम्बोधयाम्ब्रह्मे । तदापि तं सुप्तं दृष्ट्वा राजा यद्यथा क्षिप्तवान् । ततः स पुरुष
उत्तस्थौ । तदा राजबालाकी वक्ष्यमाणप्रभोत्तराभ्यां ब्रह्मवाचं चकतुः । तत्र 'कैच एतद्
बालाके पुरुषोऽश्रिये'त्यादिना बालाकिं प्रति राजा पुरुषस्य स्वमस्थानं, स्वभावस्थानं
तत आगमनं चेति त्रयं पृथवान् । तत्र राजप्रश्नेषु पुरुषमेव जीवः प्रकान्तः । यदाच
बालाकिस्तं न ज्ञातवौस्तदा 'राजैव यत्रैव एतद्बालाके पुरुषोऽश्रिये'त्यादिनोत्तरं ज-
गाद । तत्र हिताख्याया सु हृदयनिकटस्थासु नाडीषु जीवस्य शयनं, तत्र स्वमपुत्रसिरूप-
मवस्थापय, ततः पुनत्रागमनं च यदत्ता राज्ञा तत एवामिचिष्टुलिङ्गयुगलिनौत्त-
सिक्त्वा । ततः 'स एष प्राण एव ब्रह्मात्मेदं शरीरमात्मनमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आन-
क्षेभ्यस्तथया धुरः क्षुरधानैःज्वहितो विद्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाय' इति दृष्टान्तद्वयेन
प्रज्ञात्मप्राणाख्यस्य ब्रह्मणः प्रवेश उक्तः । तत्र सन्देहः । जीव एव ब्रह्मसहितः कर्ता,
ब्रह्मैव वेति । पूर्वपक्षस्तु सर्वस्य जगतो जीव एव कर्ता, यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां
कर्ता यस्य वैतकर्मैति कर्तारं वेदितव्यत्वेनोपपत्त्यि सुप्तपुरुषनिकटगमनाद्युत्तरं तस्मा-
देव प्राणानां देवानां लोकानां चोत्पत्तिकथनत्वात् । नच ब्रह्मणोऽपि कर्तृत्वम् । तदनुपवेद्यमा-
त्रस्यैव बोधनात् । अतः साहित्यत्वात् भवतु । नच जीवस्य कर्तृत्वे उपक्रमोक्तस्य ब्रह्म-
त्वस्य बृहदादीनां धर्मोणां च विरोधः शङ्कनीयः । यथा तुल्येऽपि सर्वेषु जीवस्य क्वचि-
देव देहेऽन्यनिर्गोचरत्वोपाधिना राजत्वं, कर्मकरणे मुख्यत्वोपाधिना यजमानत्वं, तथा
प्रकृत्यभिमतन्त्वोपाधिना तेषामप्यागन्तुकानां वक्तुं शक्यत्वात् । नचोपक्रमस्यासज्जात-
विरोधत्वेन प्रवक्तव्याद् ब्रह्मण एव कर्तृत्वमिति शङ्क्यम् । उपसंहारस्यात्र विवरणरूप-
त्वेन पूर्वोक्तार्थनिर्णायकत्वाद्ब्रह्मोपक्रमेण जीवपश्येत्तानां कर्तृत्वत्वेनोक्तस्य जीवकृत्यैव-
कर्तृत्वोचितत्वात् । नचोपक्रमोपसंहारभेदस्य निष्प्रयोजनकत्वम् । सर्वत्रैवैतन्न्यायज्ञापना-
र्थत्वात् । एवमत्र विशिष्टस्याभिमानिनो दैव्यात् प्रति कर्तृत्वे सिद्धे सति लोकेपि जीवस्य
कर्तृत्वं सहभाष्येव भवेत् । तत्तत्कर्मणां बन्धमोक्षव्यवस्थां च सुखेनोपपद्येत । एवमभिया-
निनः कर्तृत्वे सिद्धे यो यादृगभिमानी तेन तादृकं कर्म कर्तव्यमिति नियमात् सर्वैकर्तृत्वं
प्रकृत्यभिमानिनः सिध्यत प्रकृतायेव फलिष्ठीतीति प्राप्तः । तत्रोच्यते । जगद्राचित्वात् ।
अत्रापि कारणत्वेनेत्यनुवर्तते । ब्रह्मैव कारणत्वेन विवक्षितम् । नात्र प्रकृत्यभिमानिनी जीवः
कर्तृत्वेन विवक्षितः । कुतः । जगद्राचित्वात् । अत्र हि बालाकिमेतानादित्यादीभिरा-
कृत्य अजातशत्रुणा 'यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतु कर्म त वेदितव्य' इति

सिद्धान्तकथनोपक्रमे एतदित्येतच्छब्देनादित्यमण्डलाखेखादुपलक्षणविषया जगदुच्यते । पुरुषपदेन च जीवरूपम् । तच्च जडजीवात्मकं जगद् ब्रह्मकर्तृकमिति पूर्वं यतो वैत्यादिश्रुतिविचारे सिद्धम् । अजापीतः पूर्वमिन्द्रप्रतर्दनेसंवादे एवमेव सिद्धम्, अस्तदनुरोधेनात्रापि एतच्छब्दस्य जगदाचित्तं कर्तृत्वं ब्रह्मण एव । नचोपसंहारे विवरणरूपत्वम् । तथात्राप्रतीयमानत्वात् । नच 'न जायते न प्रियते वेति श्रुतेस्ततोऽप्यतिः सिद्धान्तेऽप्यनिष्ठेति जडजीवात्मकजगत्कर्तृत्वकथनमसङ्गतमिति शङ्क्यम् । 'सर्वे एवात्मनो व्युत्पन्नन्तीति श्रुत्यन्तरेण रूपाया उपचरन्तीतिऽप्यङ्गीकारात् । अतो जडवत् स्वरूपाण्याभावाभावादेव न जायत इत्युपपत्तेर्न सिद्धान्ते दोषः । नच सिद्धान्ते उपलक्षणविधावत्पूर्वपक्षे संकोच इति दोषतोऽप्यमिति शङ्क्यम् । ब्रह्मण उपक्रमे श्रुतत्वेन तदादरस्य उक्तया उपलक्षणविधाया अदुष्टत्वात् । प्रकृत्यभिमानिनस्त्वश्रुतत्वेन तत्कल्पने श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनयोरापत्तेराधिषया च । नच ब्रह्मणोपक्रमे सांख्याभिमतप्रधानपरमिति शङ्क्यम् । स्वरूपलक्षणविरोधप्रसङ्गात् । अतः सर्वश्रुत्येकवाक्यत्वायात्रापि ब्रह्मण एव कर्तृत्वस्य मन्तव्यत्वात् सुष्ठुभाषि ब्रह्मण्येवात्रोक्तानां वाक्यादीनां लयः, तस्मादेव सर्वेषां यथायतनं विप्रतिष्ठेति ज्ञातव्यम् । नच प्राण एव प्रज्ञात्मेत्यस्य विरोधः । इन्द्रप्रतर्दनेसंवादे एव प्राणात्मशब्दाव्यवस्थस्य ब्रह्मणि सिद्धत्वात् । तस्मादत्र प्रकृत्यभिमानां जीवो न कर्तृत्वेन सिध्यतीति न तदधिष्ठिता प्रकृतिः कारणमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गादितिचेत् तद् व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

ननु जीव एवात्र प्रकान्तः । यत्रैव एतद् बालाके पुरुषोऽग्नयिष्ठेति । अतः श्वनोत्थानलक्षणजीवधर्मदर्शनात् तस्यैव ब्रह्मत्वं जगत्कर्तृत्वं च । तत् स्वतोऽनुत्पत्तयमानं प्रकृतौ फलिष्यति । अथवा मुख्यप्राणलिङ्गमन्वत्रास्ति । प्राण एवैकधा भवतीति । सुष्ठुती च तस्यैव हृत्तिरुपलभ्यते इति विद्यमानत्वात् तस्मादेवोत्पत्तिरुच्यते । स च प्रकृत्यञ्जोऽतो जडादेव प्रधानात् सृष्टावपि सर्वोत्पत्तिः । अतः प्रकरणाजीवद्वारा साक्षाद्वा प्रकृतेरेव कारणत्वमिति जीवेत्यादिश्रुत्यांशेनाशङ्क्य परिहरति । तद् व्याख्यातमिति । एतयोर्जीवमुख्यप्राणलिङ्गत्वमेव नास्तीति 'आभितस्तवादिह तद्योगा'दित्यत्रैव व्याख्यातं निर्णीतम् । सर्वमेव कार्यं भगवत् एव, नात्यस्मादिति । अतोऽस्मादपि ब्रह्मवाद एव सिध्यति, न प्रकृतिवाद इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

स्वमतेन परिहारशुक्त्वा अत्र सांख्यमतमन्येषामप्यनुमतं न भवतीति । स्वाप्र-
चोर्षो जीवधर्मादेव । चक्षुरादिलयाधारत्वं च मुख्यप्राणस्त्वैवेति नियतधर्मवादेनापि परिहारमाह । अन्यार्थमित्यादि । इदं जीवमुख्यप्राणलिङ्गकीर्तनम् । अन्यायम् । ब्रह्म-
प्रतिपत्त्यर्थमेव जीवलयोद्गमौ । आश्रयभूतब्रह्मबोधाय च मृतिवैलक्षण्येन प्राणकीर्तनम् ।

तुशब्दस्तु जैमिनमतस्य भिन्नत्वात् तस्यापि सांख्यमतनिराकरणव्ययकत्वज्ञापनार्थाः । ननु कुत एतदवगम्यते, तत्राह । प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि । अपि शब्द उपक्रमोपसं-
हारत्मकं हेतुवन्तरं संयुक्तमिति । तथाच 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्यत्र
यच्छब्द उपक्रमगतं मुख्यं ब्रह्म परामुच्यते । उपसंहारे च तज्ज्ञानेनासुरजयः सर्वेषां
भूतानां श्रेयसं स्वाराध्यमाधिपत्यं च फलं निर्दिशति । न श्वेतद्रव्यममुख्ये सम्भवति ।
तेषां प्रागेव निरस्तत्वात् । किञ्च, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । कैप एतद् बालाके पुरुषोऽग्न-
यिष्ठेति प्रश्ने । यत्रैव एतद्बालाके पुरुषोऽग्नयिष्ठेति व्याख्यातम् । ताभ्याम् । तत्र प्रश्ने
एव इति पदेन बालाकिज्ञातपदार्थस्यैव निर्देशेन जीवस्य ज्ञातत्वात् स्वापधिकरणमेव
ज्ञातम्, व्याख्याने च न नाडीज्ञापयितुं करोति, किन्तुपक्रान्तब्रह्मेव ज्ञापयितुम् । अत-
स्ताभ्यां ब्रह्मण एव मुख्यत्वावगमात् तदर्थमेव जीवप्राणलिङ्गकीर्तनमिति ज्ञायते ।
ननु नाडीभ्यतिरिक्त आत्माऽत्र ज्ञाप्यते इत्यत्र किं मानम्, अत आह । एवमेक इति ।
एके शाखिनो वाजसनेयिन एवमामनन्ति । ह्यत्रालाकिब्रह्मणे, 'स होवाचजातशत्रु-
र्धत्रैव एतत् सुप्तोऽभूत्, य एव विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमा-
दाय य एषोऽन्तर्हृदय अकाशस्तस्मिन् श्वेत' इति । अत्र अकाशाशब्दं ब्रह्म । 'सता
सोम्य तदा सम्पद्यो भवतीति च, 'स्वं क्षपीतो भवतीति च ब्रह्मेव निर्दिशति । तस्मा-
दाधारभूतब्रह्मज्ञापनार्थत्वात्जीवप्राणलिङ्गस्य न तेन प्रकृतिवादसिद्धिरित्यर्थः ॥ १८ ॥
इति पठे जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥ ६॥

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

पुनरपि जीवब्रह्मवादेन प्रकृतिकारणवादमाशङ्क्य परिहरति । इद्वारण्येके
चतुर्थे पठे च प्रयाउके याज्ञवल्क्यमंत्रेयीसंवादे 'येनाहं नामृता स्वां किमहं तेन कुर्वा-
मिति सर्वतो विरक्तिमुक्त्वा, 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे वृहीतिं तिष्टे, तामभिमुखीकृत्य,
'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवतीत्यादिना अमृतवायु ज्ञानमुपदिष्टम् । पठे
पुनरुपसंहारेऽप्येतत्तदेव स्वरुद्रुतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवत्रात्संयुक्तम् । तत्र
ज्ञानविषयत्वेनोपदिश्यमानो य आत्मा प्रकरणी स जीवो वा ब्रह्म वेति संशयः । तत्रा-
न्यपेक्षयात्मनः प्रियत्वं स्वप्रतीत्या बोधयन् जीवमेवोपक्रमे आत्मत्वेन वदति । तस्यैव
चाग्ने दर्शनादि विषये, तद्दर्शनादिनेच च सर्वज्ञानरूपं फलमाह । तत्रात्मज्ञानेन कथं
सर्वं ज्ञातं भवतीत्याकाङ्क्षायाम्, 'ब्रह्म तं परादा'दित्यादिना 'इदं सर्वं यद्यमात्मै-
स्व-
नेनात्मनः सर्वैश्वमाह । ततः कथमस्मिन् सङ्घाते आत्मज्ञानं भवतीत्याकाङ्क्षायां दुन्दुभि-
कीणाशङ्क्यह्यन्तानाह । तत्रेदं सिध्यति । यथा महाकोलाहले एकस्मां दिशि
जायमाना अन्ये शब्दा नावगन्तुं शक्यन्ते, किन्तु हन्यमानस्य दुन्दुभेरेव
शब्दोऽभेकशब्दाभिभावको गृहीतो भवति । तस्य तदीयत्वमित्येव तु कथं

दुन्दुभेर्दुन्दुभ्याधातस्य वा दर्शनम् । तथाच सङ्घाते आत्मबुद्भुत्सायामात्मबोधकानि
 याति चेष्टादिरूपाणि कार्याणि तेषां विचारेणानुमातारान् आत्मनि चित्तस्य
 प्रवेशेऽस्यात्मतोऽप्यस्मिन् सङ्घाते श्रवणादिभिः साक्षात्कारो भवतीति । अत्र प्रथमो
 दृष्टान्तः परम्परया ज्ञानजनने । द्वितीयो माहेश्वरिभ्यो भेदज्ञानजनने । तृतीय
 आन्तराग्नेदज्ञानजनने । एवं सङ्घाताद्विभवत्या आत्मज्ञानजनने मननात्मक उपाय उक्तः ।
 ततः पूर्वोक्तं आत्मनः सर्वत्र कथं ज्ञातुं शक्यत इत्यपेक्षार्यां, तत एवोत्पत्तेर् सर्वं तत्रैव च
 च लीयत इति वृत्तादेः पश्चात् सृष्टिव सर्वस्य पूर्वं पश्चात्कारमेवेति बोधनाय । नैया-
 यि भाष्यमिदमितिचमात्रतानिराकरणाय च, 'स यदाद्रिःश्याऽन्ने'रिति, 'स यथा सर्वांसाम-
 पा मिति कण्डिकाद्वयमाह । तथापि मध्ये स्थितितदशायां भेददर्शनात् सर्वमप्यपचार इति
 मंस्यते, तन्निवारणाय स्थितिदशायामप्यारमैव, नान्यत्किमप्यश्रेयत्वेन विशतीति बोधयितुं,
 'स यथा सैन्यवचनोऽन्तरोऽप्यायः कृत्स्नो रसघन एव स्यादेवं वा अरे इदं महद भूत-
 मनन्तमपारं कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इत्यन्तर्बहिस्तत्स्यैवान्तरत्वमवाह्यत्वमेकरूप्यं चाह ।
 तर्हि सर्वदा कुतो न प्रतीयते इत्याह । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय ताम्बेवाऽनुविनश्यती'ति ।
 एतानि शरीरात्मकानि भूतानि कार्यत्वादस्य ज्ञापकानीति तेभ्यः समुत्थाय तद्द्वारा स्वं
 ज्ञापयित्वा तानि विनश्यन्ति सन्त्यममात्माऽप्यनुविनश्यत्वदर्शनें प्राप्नोतीति । तर्हि
 सङ्घत्यानाऽनुविनाशक्रियादर्शनात्कालपरिच्छिन्नो भविष्यतीति शङ्कायां तावन्मात्रतानि
 आकरण्याह । 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति । प्रेत्य भूतलक्षणां संज्ञा सम्यग्ज्ञाकं नास्ति ।
 कार्यमेव तस्य ज्ञापकं रूपम्, अतस्तदभावे तस्य स्वरूपं वक्तुं न शक्यत इति न ज्ञायते ।
 न तु स एव नास्तीति । तथाच तदानीमपि विद्यमानत्वाद्य स कालपरिच्छिन्न
 इत्यर्थः । एवमुक्तं भैष्येया मोहो जातः, तत्र विशेषाकाङ्क्षायामतिरिक्ताकर्षणे बन्धकत्व-
 माकाङ्क्ष तत्परिहारायाह । स होवाचेत्यादि । 'न वा अरे मोहमहं ब्रवीम्यविनाशी वा
 अरे अथमात्मा अनुच्छिन्नचित्तमो मात्रांसंसर्पस्वस्य भवतीति । अत्र अविनाशीत्यनेन
 स्वल्पनित्यत्वम्, अनुच्छिन्नचित्तमत्यनेन स्वरूपधर्माणां च नित्यत्वं कार्यवैलक्षण्यज्ञानाय
 सिद्धकारणोक्त्वा विषयसम्बन्धेन संसाराह । मात्रांसंसर्पस्वस्य भवतीति । तथाच
 यद्यनित्यः स्याद्विषयसम्बन्धेन संसाराः कस्य स्यादतः सोऽविनाशीत्यर्थः । यद्येवं
 तर्हि तदर्थानर्थं विशेषोऽपि वक्तव्य इत्याकाङ्क्षयां भवतीति तदस्वकथने हेतुमाह । यद्वै
 तमित्यारभ्य यावत्समाप्ति । तत्रायमर्थः । यद्वै तन्न पश्यतीत्यनुस्वारस्य परसवर्णः ।
 तत्र, यद्वै तन्न पश्यतीत्यनेनात्मदर्शनाभावमनूय, कायेस्य कारणात्मकत्वाद्द्रवमप्यात्मेवेति
 तदर्थेन कथमात्मादर्शनमित्याकाङ्क्षायां, पश्यन् वै तद्द्रव्यं न पश्यतीत्यनेन रूपात्मक-
 मात्मानं पश्यन्नपि द्रष्टव्यत्वेन न पश्यतीति तस्यात्मदर्शनाभावस्य स्वरूपं, न तु सर्वथा
 तदर्थेनाभावस्वरूपं स्वरूपमित्युक्त्वा, कथं न सर्वथादर्शनाभावस्वरूपमित्याकाङ्क्षयां युक्तिमाह ।

नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्वपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न द्वितीयमस्ति ततोऽप्यदिभक्तं य-
 त्पश्येदिति । दृष्टेरिति पञ्चमी । अग्रे प्राणाद्रमादिति पञ्चमीप्रवाहस्यैव दर्शनात् । तथाच
 द्रष्टुरात्मनो दृष्टेश्चक्षुरिन्द्रियादर्शनात्मकज्ञानादा विपरिलोपः सर्वथा अपिपश्यत्वे न विद्यते,
 कुतः । अविनाशित्वात् । स्वरूपतः स्वरूपपरमैव नित्यत्वात् । तर्हि पश्यत्येव यत्ता-
 र्णं पश्येत्, तथाऽप्यव्यभिचयतो वदति । द्वितीयं इन्द्रियं ततोऽप्यन्नास्ति, ततो विभक्तं
 च नास्ति । भेदे विभागे च द्रष्टृदृश्यभावः । न तु परस्परं कार्ययो रूपचक्षुषोः, अतो रू-
 पदर्शनम्, न तु कार्यस्य कारणार्थदो विभागो वा । अतस्तदभावाच्चक्षुःस्वकारणमात्मानं
 न पश्यतीत्यप्यवश्यम् । अत उभयमपि युक्तमित्यर्थः । एवं द्रष्टृदृश्यव्यवहारे अज्ञानाव-
 स्थायां विशेषतस्तज्ज्ञानं, न चैज्ज्ञानोत्तरं तस्य ज्ञानोपायो वक्तव्य इत्यत आह । यत्र
 वेत्यादि । यत्र वा अन्यद्विद स्यात्, तत्रान्योऽन्यत् पश्येतिप्रदित्यादि । यत्र त्वस्य
 सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन किं पश्येतिप्रदित्यादि । यत्रज्ञानदर्शनाद्यव्यभिचयतोऽपि
 रूपादिदर्शनादन्यद्विद स्यात्, तत्रैव चेददर्शनम्, तर्हि यत्र ज्ञानदर्शनामस्य ज्ञातुः
 सर्वमात्मैवाभूत्तत्र कर्मकर्तृभाव एव नास्तीति तत्र कथं दर्शनम् । अतोऽवस्था-
 द्वयेऽप्यशक्यवचनत्वाद्दिशेषनो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः । तदेतन्नियमयति ।
 येनेदं सर्वं विज्ञानातीत्यादिभ्योपसंहरति । उक्ताऽज्ञानान्ति श्रेयस्येतावदरे स्वस्व-
 सूतत्वमिति । सर्वनिमित्तोपादानभूतमविनाशयेकमेवेत्याकारकाङ्क्षानोत्तरं यन्निर्विषयमा-
 त्मरूपं ज्ञानं तदेव असुतत्वमित्यर्थः । तथाचात्रादिभ्योऽप्यविनाशे जीवस्थेनोक्तत्वा-
 जीवप्रकरणमेवेदमिति प्रतिपाति । नचाप्युत्पन्नजगत्कर्तृत्वयोर्ब्रह्मलिङ्गयोरोक्तत्वादात्म-
 भिन्नं ब्रह्मैवात्रोच्यत इति शङ्क्यम् । अस्याभ्यार्हितत्वादितदुक्तार्थे तयोः कथनात् ।
 नचोक्तयोर्विभेदमित्यत्र किं मानमिति शङ्क्यम् । एतावदेतदस्वसूतत्वमिति नियमे-
 नान्यथातुपपचरेव मानत्वात् । ब्रह्मणोऽविकारित्वेनैव सिद्धत्वात् तस्य सर्वरूपेण विकारा-
 योगस्यापि तथात्वाच्च । तस्यादेदं सृष्टिगतत्वानामित्यन्यायेनान्यार्थत्वात् ब्रह्म जग-
 त्कारणमतः प्रकृतिकारणवाद एव युक्त इति प्राप्ते । अभिधीयते । वाक्यान्वयादिति ।
 अत्रापि कारणत्वेनैत्युच्यते । अत्रापि कारणत्वेन ब्रह्मैवात्स्यगन्तव्यम्, न जीवः । कुतः ।
 वाक्यान्वयात् । वाक्यानामन्ययो वाक्यान्वयस्तस्मात् । अत्रत्यानामवान्तरवाक्यानां
 भगवत्परत्व एवान्यथान्नात्र जीवप्राधान्यगणो येन प्रकृतिवादः शङ्क्येत् । नचोपक्रमे
 निरुपध्वित्यत्वेन जीवात्मन एव प्रकृतत्वात्कृततावच्छेदकविगारे प्रियत्वस्य सुषुष्यर्भ-
 त्वात्, सुषुष्य च 'यो वै भूमा तत्सुखं' इति त्रैलोक्यप्रस्तावत् ब्रह्मणस्य सर्वत्र सम-
 न्वयेन जीवेऽप्यन्यथा तैवैव जीवप्रियत्वमिति तस्यापि ब्रह्मण्येनान्यस्य पर्यवसानात् ।
 उपक्रममाद्यपेक्षया उपपत्तेर्बलित्वात् । किञ्चेदमवान्तरवाक्यं दुर्बलम् । महावाक्यं तू-
 निपदम् । ततो महान् वेदः । तत्र च 'तं स्वीपनिपदं पुरुषं'मिति, 'सर्वं वेदा यत्पदमाम-
 नन्ती'ति, 'वेदैश्च सर्वैहमेव वेद्यं' इत्यादिभ्युत्पत्तिमित्यत्रापरत्वमेव स्फुटतीति तदुत्तो-

धेनात्पस्य ब्रह्मपरत्वमेव युक्तम् । अन्यथा एतस्य तत्रानन्वयप्रसङ्गात् । किञ्च, 'तमेव विदित्वा अतियुत्युमेती'त्यवधारणाद् ब्रह्मज्ञानमेव मोक्षसाधकम्, अतोऽत्र मोक्षसाधनत्वेन दर्शनादिविधानवाक्यानामपि तत्रैवान्वयः । अन्यथा अवधारणचाधापत्तेः । किञ्च, यथाऽत्रैवाभेदिति कारणत्ववाक्यस्य, 'स यथा सर्वासामप्य'मिति प्रलयाधानवाक्यस्यापि ब्रह्मपरत्व एवान्वयः । आनन्दद्वेषेवैश्वधारणात् । नच जीव एव ब्रह्मंति युक्तम् । 'सर्व एवात्मनो व्युत्पन्नं'ति सावधारणश्रुतिविरोधात् । किञ्चात्मत्वरूपं फलमपि तत् एव । 'एष खवानन्दयातीति सावधारणश्रुतेः । अत एवज्ञातीयेषु निःसन्दिग्धत्वेन ब्रह्मरूपस्य कार्यस्वांशानां च प्रतिपादानदिदमपि वाक्यं ब्रह्मपरमेवोचितम् । नच मात्रासंसर्गवाक्यस्यानन्वयः । सर्वव्यवहारस्य ब्रह्ममूलकतया जीवमूल्यप्राणलिङ्गसूत्रे व्युत्पादितत्वाज्जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वेन जीवधर्माणामपि तत्रोपासनार्थं कथनेन तस्याप्युपपत्तेः । किञ्चात्मत्वं तु नान्यतोऽस्तीति श्रुतेर्ब्रह्मधर्म एवेति तस्य तु सुखेनान्वयः । अतो ब्रह्मपरत्वे सर्वेषां वाक्यानामन्वयाम्नात्र जीवपरत्वाद्वाङ्मात्रं । तथा सति विधतिषेधाभावात्तत्र प्रकृति-कारणवादस्यात्र प्रत्याशेत्पर्यः ॥ १९ ॥

प्रतिज्ञासिद्धेलिङ्गमात्मरथ्यः ॥ २० ॥

अत्रोक्तं प्रियत्वं जीवधर्म एव, न ब्रह्मधर्म इति वादिनामेकदेशिनामपि मतेऽत्र प्रकृतिकारणवादो न सम्भवतीति संमविबोधनाय तेषां मतानि त्रिमिः सूत्रैराह । तत्र जीवो नाम स्वस्य भोगनिष्पत्त्यर्थं स्वांशो भगवता विस्फुल्लिङ्गत्वं कृत इत्यात्मरथ्य आचार्यो मन्यते । तत्र लौकिकैः पतियुवादिभिः सदास्य प्रियत्ववचनं लौकिकमेवातोऽज्ञातमपदेन जीव एव परामुच्यते इति जीवप्रकरणभेदेदमिति प्रतिवादिदृष्ट्यायां जीवोपक्रमस्यान्यत् प्रयोजनमित्याह । प्रतिज्ञेत्यादि । प्रतिज्ञासिद्धेरिति पृथी । 'मैत्रेयस्मिन् वा अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितं भवती'ति हि प्रतिज्ञा । सा च सर्वतस्मैवाग्रे, 'ब्रह्म तं पराद्'दित्यादिना व्युत्पादानादवगम्यते । सा तदा पूर्णते, यदा जीवोऽपि सर्वमध्ये प्रविशति । अतस्तत्सिद्धयर्थं ब्रह्माभेदेन जीवोपक्रमः । अन्यथा सर्वस्य ब्रह्माभेदव्युत्पादनकोटी जीवस्यानुक्तत्वात्तत्रप्रतिज्ञा न सिध्यति । कृते तु तदभेदेनोपक्रमे ब्रह्मक्षत्वाद्यमिमामित्त्वेन सोऽपि प्रविशेदत् उपक्रमः प्रतिज्ञासिद्धेलिङ्गं तदवतीति पूर्वोक्ता प्रतिज्ञैवस्य ब्रह्मप्रकरणत्वमपिका पूर्वसूत्रोपन्यस्तश्रुतिभिर्ब्रह्मण एव श्रवणादिविधिविषयत्वादिति प्रियत्वज्जीवधर्मत्वे न जीवोपक्रमो दोष इत्यर्थः ॥ २० ॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

अनादिसिद्ध एव चैतन्यभाजो जीवः सञ्च्यते प्रविष्टः संसारमापद्यते । केवलस्वरूपेण चिति प्रविष्टः संसारान्ध्रयन्ते । अतो यदत्र प्रियत्वबोधितेन जीवोपक्रमेण भगवतः श्रवणादिकमुक्तम्, तद् एवम्भावादुत्क्रमिष्यतो लिङ्गम् । ह्युक्तो जीवो भगवानेव

भविष्यतीत्यस्य ज्ञापकम् । लिङ्गमित्यनुवर्तते । तन्मते केवलस्य जीवस्य चित्स्वरूपे ब्रह्मणि प्रवेशो घुक्तिरिति मुख्युपयोगिकैवल्यबोधनार्थं जीवोपक्रमः । एतद्गमकं तु 'यिनाहं नामृता स्या'मिति मैत्रेयीवाक्यम् । सा हि मोक्षमिच्छन्ती विद्यां पृच्छति । यदि तस्यै मोक्षयोग्यं जीवस्वरूपं न ज्ञापयेत्, सा ह्यं मुक्ता भवेत् । इतिशब्दो हेतौ । तथाच श्लिया विश्वासार्थं गौणप्रियवैराग्याय जीवोपक्रम इति न तेन जीवस्य प्रकरणित्वसिद्धिरित्यौडुलोभिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

आसक्त्या विषयभोक्तृ यद्भगवतो रूपं स जीव इति तन्मतम् । अत्रापि लिङ्गमित्यनुवर्तते । अतः संसारदृश्यामपि जीवो ब्रह्म तदवस्थाविशेषरूपत्वादिति बोधनार्थं जीवोपक्रमः । अतो नेोत्क्रमलिङ्गत्वं, न वोपचारः । एतन्मतगमकं तु 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति वाक्यम् । तथाच सर्वभोक्तारमेकमात्मानं बोधयितुं प्रतिनियततत्तत्कारोर् तदवस्थाविशेषमुपक्रमे वदतीति जीवोपक्रमो जीवे भगवत्स्वाविश्लेषत्वपक्षस्य लिङ्गमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ॥ २२ ॥ ७ ॥ इति सप्तमं वाक्यान्वाधिकरणम् ।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

एवं प्रकृतिकारणवादिनिराकरणेन ब्रह्मणः कारणत्वेऽत्र सप्ताधिकरण्या अवधारितेऽपि ब्रह्मणो निविकारत्वात्प्रित्त्वमभ्युपेयम्, न तु समवायित्वमपि । कार्यस्य त्रिगुणात्मकत्वदर्शनाच्च । अन्यथा प्रत्यक्षविरोधापत्तेः । यदि च यतो वा इमानीत्यादिश्रुत्यनुरोधादुपादानतत्त्वमुच्यते, तदापि श्लेताश्वतरैःजवावक्यस्थाजापदस्य छागीशरीरदिश्रुत्यनुरोधात्छागीशरीरं यथा तद्विष्टात्जीवोपाधिविषया नानाविधं प्रजाजनकम्, तथा सांख्योक्तं प्रधानमपि ईश्वरोपाधिभूतं सन्नानाविधप्रजाजनकमित्येतमर्थं रूपकतिशयोक्त्या बोधयितुं शक्नोति । किञ्च, 'यस्तन्तुनामि इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावस्य दृष्टान्तित्वेन तन्तूनां प्रधानजत्वकथनेन चैद्वरशरीरात्मकप्रधानांशैः शरीरैर्जीवान्वाद्योतीति सिध्यति । अतः पूर्वोक्तन्यायैः सिद्धेऽपि ब्रह्मणः कारणत्वे शरीराख्यशक्तिरूपां तां विना कारणतानिबोहाभावाद्दर्शयतीत्यया मायायाः समवायित्वं ब्रह्मणो निमित्तत्वमित्युपेयमिति बादे निराकर्तुमधिकरणान्तरमारभ्यते । तत्र च श्रुत्युक्तत्वाविशेषात् समवायिकारणं प्रकृतिर्निमित्तकारणं ब्रह्म । उत सर्वविधं कारणं ब्रह्मेति संशयः । पूर्वापक्षस्त्वधिकरणप्रयोजनकथन एवोक्त इति ब्रह्म निमित्तकारणमेवेति प्राप्ते प्रतिवदति । प्रकृतिश्चेत्यादि । प्रकृतिः समवायिकारणं, चकारात्निमित्तकारणम् । 'यत्र येन भक्तो यस्मै बद्ध यथया भद । स्यादितं भगवाम् साक्षात् प्राधान्युपेयेश्वर' इति

वाच्योक्तसर्वरूपसमाविरूपं च ब्रह्मैव । कुतः । प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । छान्दोग्ये श्वेतकेतुपाठ्याने, 'उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमनं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवती'ति प्रतिज्ञा, निश्चिंतार्थो नियमविशेषः । 'संविदागुः प्रतिज्ञानं नियमाश्रवसंश्रवा इति कोशात् । दृष्टान्तः श्रोतुबोधसौकर्यहेतुर्वैकृत्यश्रोतुसम्प्रतिनिधिपयोऽर्थः । इह वाच्य-वाचकभाभेदविषयक्षया तयोर्बोधके वाक्ये प्रतिज्ञादृष्टान्तपदाभ्यामुच्यते । तयोः अनुपरोधाद-वाधानात् । यदि हि ब्रह्मणः प्रकृत्यादिरूपत्वं नाङ्गीक्रियेत, तदोक्तप्रतिज्ञादृष्टान्तवाक्ये षोडशतामतस्तदभावादेवभ्युपेयमिति । अत्रायमर्थः । समावयिकारणज्ञानेन हि सकलकार्यज्ञानम् । अत्र चाश्रुतादिपदैः सर्वकार्यजातं परामुच्यते । तदश्रुतमममममविज्ञात-मपि येनैकेन श्रुतेन श्रुतं मत्तं विज्ञातं भवति तत्कारणं ब्रह्मैवेति । तत्रैकविज्ञानेन सर्व-विज्ञानं योगजधर्मेणापि भवति । यथा, 'विश्वं पश्यति दूरत' इति, 'अनागतमतीतं चे'ति । तथाच न समावयित्वसिद्धिरित्यतो दृष्टान्तस्यापि ग्रहणम् । केवलदृष्टान्तग्रहणे तु सर्वं वाच्यं, ज्ञेयत्वात् । तदेकदेशद्वारः । षटो वाच्यो, ज्ञेयत्वात् । षट्त्वं सत् । ज्ञेयत्वादित्यनुमानविषया ज्ञेयत्वादिरूपसामान्यधर्मात्मकं ब्रह्म स्यात्, न तु समावयीत्यतो द्वयोर्ग्रहणम् । तथा सत्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः कार्यैकदेशप्रत्यक्षरूपं दृष्ट-मेव द्वारं समावयित्वगमकम् । यथा धेकस्मिन् घृष्टिपण्डे सूष्टिकारत्वनिश्चयोत्तरं सर्व-रिमेंस्तसजजातीये तथा ज्ञानान्मुक्तिकायां तस्मिन्मवावित्वज्ञानं तादृशैकदेशप्रत्यक्षद्वारे भवति, नानुमानात्, तथा प्रकृत्येकत्र सन्मयत्वेपि निश्चिते सर्वेषु तत्सजातीयेषु सदि-कारत्वज्ञानात् सति सर्वसमवायित्वज्ञानं तादृशैकदेशप्रत्यक्षद्वारे भवतीति सति सर्वसम-वायित्वसिद्धिरिति न स्मृतिसिद्धायाः प्रकृतेः समावयित्वमिति बोध्यम् । ननु भवत्वेव-मेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानम्, तथापि पूर्वोक्तश्रुतिभिः सा ब्रह्मोपाधिभूतत्वाद् ब्रह्माविनाभूता वा, ब्रह्माविभक्ता वास्तीति शरीरद्वारकं ब्रह्मण एव समावयित्वम्, स्वत्व-नियामकत्वात् कर्तृत्वमित्येव युक्तम् । न तु वेकलस्य प्रकृतित्वम् । उक्तव्याकौपायात् । नच 'सदेव सोम्येदमत्र आसीदेकमेवाद्वितीयं'मित्यादि श्रुतिव्याकौपायात् । तत्र सदेवेत्येवकारणानि-योगं व्यर्थच्छिद्यग्रे एकमेवेति विवरणेन मुख्यस्यैवाप्यस्य व्यवच्छेददत्तमुख्यस्यविना-भूतस्याविभक्तस्य शरीरस्य सत्त्वेयविरोधात् । नच 'एके मुख्यान्यकेजला' इति कोशा-ज्ञानार्थस्यैकपदस्य मुख्यत्वरूपस्यैवायस्य ग्रहणे किं नियामकमिति शङ्क्यम् । सुबालो-पनिषदि प्रलयप्रकरणे पृथिवीलयमारभ्य 'अक्षरं तमसि लीयत' इत्यन्तेन सर्वस्य तमसि लययुक्तत्वा, अग्रे 'तमः परे देवे एकीभवती, दिव्यो देव एको नारायणः' इति तमसो नामरूपविभागानर्हत्वा ब्रह्माविनाभावेनाविभक्ततया वावस्थितिविबोधनस्यैव गमक-त्वात् । नच लिङ्गश्लेषण इति धात्वर्थोदक्षरान्तानां तमसा अविभागस्तमसस्तु ब्रह्मणा स्वरूपैक्यमिति शब्दान्तरादवगम्यते, न त्वविनाभाबोऽविभागो वेति वाच्यम् । अन्तर्धर्मिब्रह्मणो 'यस्य तेजः शरीरं, यस्य तमः शरीर'मिति शरीरत्वेन अर्थागतं सुबा-

लोपनिषद्यपि 'यो मृत्युमन्त्रे संचरन् यस्य मृत्युः शरीर'मिति मृत्युपदेन सर्वानर्थमूल-तया तस्यैवोल्लेखाच्च तमः शरीरगत्यैव मिद्वन्तेन स्वरूपैक्यस्य गृहीतुमशक्यत्वात् । तस्माच्छरीरस्यैव प्रकृतित्वं सच्छब्दवाच्यम् । ७. न देवल्भमिति चेत् । भैवम् । अद्विती-यपदविरोधापत्तेः । 'एकमेवेति कथनोत्तरं मुख्यान्वार्थयोर्वाग्यायमेव तत्प्रयोगात् । अ-न्यथा तद्वैयर्थ्यात् । नचाद्वितीयपदेन मुख्यत्वमेव विधीयत इति वाच्यम् । एकपदेनैव समाभ्यधिकारादित्ये मिद्वे व्याख्यानापेक्षाया एवाभावात् । तेनाभिद्वापनेन सुखरां तदसिद्धेय । एतेनैव 'नान्यतिक्रमनमिध'दिति मियदन्तरनिषेधपरत्वमपि दत्तोत्तरम् । 'सार्धं चैता केवलो निर्गुणश्च ।' 'यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न मस्य चासच्छिव एव केवल' इति सर्वभूतवर्ति काले तद्वहिते तमाऽव्यवधान्किते च काले ब्रह्मण एव केवलत्व-श्रावणेन, यदा तमस्तत्त्वेनकीभूते तदा केवलां न शरीरित्यर्थेव्यकेद्वित्वसंख्यापूरक एव निषेधप्रयमानसिद्धेय । नच कालोक्तिविरोधः । तस्याः सृष्ट्युत्तरव्यवहारे सर्वोधार-तया प्रतीयमानकालोपरजनेन पूर्ववृत्तान्तबोधनमायत्तत्वात् । अन्यथा शिष्यस्य सृष्टि-कालस्यत्वेन कालमत्तामधारयतः पूर्ववृत्तान्तबोधोभावात् । नच तस्याः कालसत्ताबोध-कत्वे किं बाधकमिति शङ्क्यम् । एतस्याः मतेनः पूर्ववृत्तान्तबोधकत्वेन, तत्र च सतोऽ-न्यस्य व्यवच्छेदे कालावेदकप्रमाणस्यापि व्यवच्छिन्नत्वाद्वा त्र कालानुवादस्य वक्तुमश-क्यत्वेन स्वतन्त्रतया कालसत्ताबोधने वाक्येयप्रसक्तरेव बाधकत्वात् । नचात्र काल-विशिष्टयत्सत्ताबोधकत्वमिति शङ्क्यम् । गौरवप्रसङ्गात् । समानजातीये वृहदारण्यक-वाक्ये 'सोऽनुबीक्ष्य नान्यदात्मनोऽप्य'दित्यनुवीक्षाश्रवणस्य बाधापत्तेः । तस्माच्छ-रीरविशिष्टस्योपादानत्वाङ्गीकारे केवलाद्वितीयश्रुत्योर्विरोधो दुर्वीर एव । एवञ्च, 'तमः परं देवे एकीभवती'त्यादौ ए एकीभावः, न परत्वाभाभेद एव, न तु नामरूपविभाग-नर्हत्वाभाविमित्येव मन्तव्यम् । लयस्य श्लेषरूपत्वेन विभागाभावात्मकत्वे एकीभावस्य भेदाभावात्मकत्वं एव पक्षमेतानात् । नच शरीरत्वबोधकश्रुतिविरोधः । स्यात् : सृष्टिका-लोत्तरान्तपरत्वात् । अन्तर्धर्मिब्रह्मणेऽभिदेवादिश्रावणेन तयात्सस्य स्फुटत्वात् । सुबालोपनिषद्यपि, 'अन्तःशरीरे निहितो योद्वायामत्र एको नित्य' इत्युपक्रम्य पृथिव्या-दिमृत्त्वन्तानां शरीरत्वकथनेन तत्रापि सृष्टिपूर्वकालखालाभात् । प्रलयप्रकरणस्य प्रागेव समाप्तत्वात् । तस्मान्नोक्तशरीरविशिष्टस्य प्रकृतित्वं, नापि प्रधानादेर्गतेपतितमृतसर्पो-दिवत् स्थितिरिति निश्चयः । एवञ्च, 'प्रकृतिं पुरुषं चैवं विद्वज्जनादी'ति यानि प्रधानानि तानि चतुर्भुखाजन्तान् जगत्सत्त्वात्पत्तोत्पत्तिनाशनिषेधपरान्तम् । 'तमाया-फलरूपेण केवलं निर्विकल्पतम् । बाह्यमनोचरातीतं दिक्षा समभवद् बृहत् । तयो-रेकतरो हार्थः प्रकृतिः सोभवात्मिका । ज्ञानं त्वन्तमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते' इत्यादिश्रीभागवतीयमभवद्वाक्येभ्यः । तेन 'यस्तन्तुनाम' इति वाक्यमपि प्रधानोत्पत्त्य-न्तरकालवृत्तान्तबोधकमेवेत्येव निश्चयः । एवं परमात्मादिकारणवादानामपि गति-

वोऽप्या । 'कालखभावो निवर्तयिष्यच्छेति' श्रुत्यैव तेषामनादरबोधनात् । तस्मात् केवल-
स्यैव ब्रह्मणः समवायित्वमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नाविनाभावाविभागयोग्यजधर्मा-
दिमाहिम्ना, किन्तुकेन दृष्टेनैव द्वारेणेति सिद्धम् ।

प्रकृतमनुसरामः । नन्वस्तुब्रह्मणः समवायित्वं तथापि कार्यकारणयोरभेदो? भेदो वा?
नाथः । त्रैलोक्यव्यवहारसङ्करावने । नेतरः । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः वाद्यप्र-
मङ्गान्, अतो भेदाभेद एव कार्यकारणयोरस्थेय इति मतं निराकर्तुं लोहमणिनखनिकृन्तन-
दृष्टान्तो । तत्र हि कार्यस्य कारणत्वस्याविशेषरूपत्वं स्पृष्टम् । यत्र कश्चित् कारणज्ञाने सर्वत्र
कारणभेदज्ञानस्य सांकर्यात् । तत्रापि कश्चिल्लोहमणौ लाक्षासम्बन्धसम्बन्धात् समग्रज्ञानं
स्यादतो नखनिकृन्तनग्रहणम् । एवं सति यत्र कश्चिद् भगवान् ज्ञातः सर्वत्र ज्ञातो भवेत्,
सर्वं च भगवदभिन्नत्वेन ज्ञातं भवेदिति सौकर्यम् । अत्र च सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिने
निवश्रितेनेति ज्ञापनाय 'वाचारम्भणं विकारो नामधेय'मिति । तत्रायमर्थः । यो विकारः
पृथुबुधोदरादिः स वाचारम्भणं वाचिकक्रियात्मको, न तु कारणाद् व्यक्तभेदापा-
दकः । यथा सुप्त उद्यित उपविष्टे च पुरुषेऽन्यवन्निष्वासभेदोऽतो नामधेयं, नैमित्तिक-
क्रियायाः पदार्थस्वरूपभेदानापादकत्वात् व्यक्तभेद इत्यतो न सामान्यलक्षणत्वर्थः ।
एतदेवैकादशस्कन्धे भगवताप्युक्तम् । 'यथा सुप्तं सुकृतं पुरस्तात्पश्चात् सर्वस्य हिर-
ण्यमस्य । तदेव मध्ये व्यवहार्यमायं नानापदेशेरहमस्य तद्वत् । न यत् पुरस्तादुत् यत्र
पश्चान्मध्येऽपि तन्न व्यपदेशमात्रम् । भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्तदेव तत् स्यादिति मे
मनीषे'ति । यत्परेण भूतं यत्र परेण प्रसिद्धं तत्तदेव स्यादित्यर्थः । अंशे कार्यत्वाभा-
वात् प्रसिद्धमिति प्रयुग्यपदेशः । अष्टमस्कन्धे अमृतमन्थने ब्रह्मस्तुतो न । स्वयम्भ्र
आसीत्स्वयं मध्य आसीत्स्वयन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे । त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
पदस्य मृत्त्वेन परः परस्मादिति । नचैवं कृत्स्नतादिभानस्य का गतिरिति शङ्क्यम् ।
ब्रह्मविद्यायां क्वचिदपि कृत्स्नत्वनामाभावात् । दोषदृष्टद्योमेव तज्जानात् । प्रसिद्धं
चेदतदप्रभवेनादिषु । किञ्च, लौकिकेऽपि गोमूत्रगोमयादिषु न कृत्स्नत्वत्वमानम् ।
तस्माद् भगवतः समवायित्वस्यप्रत्युहम् ।

ननु यदि विकारस्य बाह्यमात्रत्वं तदैतेन वाक्येन विवर्तोपादानत्वं ब्रह्म-
णोऽङ्गीकृत्य प्रपञ्चस्यालीकत्वमेवाङ्गीकार्यमित्येतदभिराकरणायाह । मृत्तिकेत्येव
सत्यमिति । प्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपेणैव सत्यत्वं, न जगद्रूपेणाविकाररूपेणान्येन वा
केनचिद् भिन्नेन रूपेण । तेषां रूपाणामागन्तुकत्वेन व्यवहारनिर्वाहमात्रार्थत्वात् । तथाच
जगतो ब्रह्मत्वेन सत्यत्वाभौलीकत्वमित्यर्थः । ननु यदलीकत्वं श्रुत्यनभिप्रेतम्,
तदा 'अपादादभेरभित्व'मिति न बदेदिति चेत्, न । यदन्यादे रोहितादिगुणकं रूप-
त्रयं तदनागन्तुकरूपविचारे अत्रिष्टकृतानां तेजोऽन्वन्नानामेव, न तु त्रिष्टकृतस्या-
न्यादेः कार्यस्य । त्रिष्टकरणात् प्रापति तस्य सत्त्वात् । अतोऽन्यादेरनागन्तुकरूपवि-

चारे त्रिष्टकरणोचरे जातमभित्वादिकमनागन्तुकानारोपितरूपेणापागात्, अन्यादेः
मकाशादपगतम् । यतोऽभित्वादिकं वाचारम्भणम् । अत्रत्यारूपत्वान्नाग्न्यदीनां तेभ्यो
भेदकम्, अतस्त्रौणि रूपाणीत्येव सत्यम्, अभित्वाद्यपेक्षया अनागन्तुकानारोपितरूपमिति
तत्रार्थनालीकत्वानापादकत्वात् । एतेनापि सामान्यलक्षणा निशारिता । अन्यादिवि-
शुद्धत्वेपु तेजस्वरूपे सामान्यधर्मस्य विद्यमानत्वेऽपि तदनादरगात् त्रिष्टकरणस्य च
बोधनात्, 'श्रीणि रूपाणी'त्येव सत्यमिति तावत्प्राणकथनाच्चेति । इदं च मूलकारणस्या-
त्यन्तं परोक्षवादन्त्यकार्योपेक्षया शिष्यविश्रवासायोग्यम् । तत्र मूलकारणे ब्रह्मण्येव पर्य-
वसतीत्यभिप्रायेण । एतद्रे च यदुपदिष्टं तत् सर्वं मूलकारणस्य कार्यद्वारा परिचाय-
नार्थम् । अतः सर्वं सुरूपम् । नच जगतो ब्रह्मरूपेण सत्यत्वे जगति ब्रह्मत्वमित्येवमौ-
ध्यासो न स्यात्, देहादस्यात्मत्वेन सत्यता स्यात्, तथा सति देहात्मबुद्धेर्दोषत्वा-
भावेन तज्जनकाविद्यानिर्वाकशस्त्रवैयर्थ्यमभ्यापयेतेत्यतो जगन्मिथ्यात्वमेव साधीय इति
वाच्यम् । वस्तुविचारेण जगतो ब्रह्मत्वेऽपि इदानीं बहुजन्माभ्यस्तविकारबुद्धेर्निश्च-
त्वात्सत्यां सत्यां या देहात्मबुद्धिः सा देहाभिन्नत्वेनात्मावगाहिनी, न स्त्रात्माभिन्न-
त्वेन देहावगाहिनी, आत्मस्वरूपस्याज्ञातत्वादतो दोषरूपेणेति तदपनोदायत्वेन शास्त्र-
सार्थक्यात् जगन्मिथ्यात्वं युक्तम् । श्रीतददृष्टान्तबलेन तथा निश्चयात् । अतो ब्रह्मणः
समवायित्वे दोषान्मवस्थाप्यभावाद् ब्रह्मे न सवाविकारणम्, न प्रकृतिरित्यर्थः ॥२३॥

अभिधोपदेशाच्च ॥ २४ ॥

ननु दृष्टान्ते मृत्तिकेत्येव सत्यमिति कारणे सत्यदुष्कम् । अतस्तरसामर्थ्येन
कार्ये मिथ्यात्वमपि प्रमातुं शक्यत इति शङ्कयां प्रपञ्चे विवर्तत्वस्य ब्रह्मणि ेर्तो-
पादानत्वस्य च निरासाय लिङ्गान्तरमाह । अभिधोपदेशात् । अभिध्यानं अभिध्या ।
इदमेवं करिष्यामीत्यालोचनं, तस्या उपदेशात् कथनात् । 'सोऽक्रामयत बहु स्यां प्रजा-
येयेतीति स्वस्य बहुरूपाभिध्यानं सृष्टपादायुगदिग्भवेत् । न चात्र कामनमुच्यते, नामिध्यानमिति
शङ्क्यम् । अतस्त्रात्मबुधुतेः कामनाभावेन तस्यात्र वस्तुमशक्यत्वात् । नच योगिकाय-
व्यूहवदपि भवनादभिधोपपत्तेर्नेवं अभिध्या समवायित्वसाधिकेति वाच्यम् । ब्रह्मणो-
ऽव्यासाभावात् । आत्मनो बहुत्वाभावेन श्रुतौ गोण्यापेक्षे । चकारादिदं सर्वं यद्यमा-
त्येति कार्यस्य ब्रह्मत्वश्रुतिः प्रमुहते । तथाचैतान्मां जगतो ब्रह्मेव समवायित्वर्थः ॥२४॥

साक्षाच्चोभयान्नात् ॥ २५ ॥

ननु 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृयते सचराचर'मिति गीतास्तुतेः प्रकृतिमात्रत्वया
किञ्चिदपे उपादानत्वमस्त्विति शङ्कयां साक्षाच्छ्रुतिमेव समवायित्वे प्रमाणयाह ।
साक्षादित्यादि । साक्षाच्छ्रुत्यैव ब्रह्मणः समवायित्वमुच्यते । चकारात् सृष्ट्यापि ।

कथमुच्यत इत्यपेक्षायामाह । उभयान्मानान् । ब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्मण्येव च सृष्टिप्रलययोराज्ञानान् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति,' 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथेति' । प्रकर्षणैकीभावेन लयो यस्मिन्नित्यर्थः । न ह्येतस्मिन् प्रलयबोधके आकाशावाक्ये तस्यानिमित्तत्वे सम्भवति । सुवर्णादिषु तथैव दर्शनात् । अतो लौकिकेन वैदिकेन च न्यायेन साक्षाद् भगवानेव समावाप्सि । अतो मयाऽप्येक्षेत्यादीनां परम्पर्यासृष्टिप्रशस्तेन पाश्चात्यब्रह्मन्तबोधकत्वम् । 'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते' इत्युत्तरार्धे विपरिवर्तनार्थत्वकथनात् । विपरिवर्तन्तश्चात्र भ्रम एव । 'अवजानन्ति तां मूढा' इत्युत्तरवाक्यसारखादिति ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

ननु, 'स एव सर्वं सृजति स एवावति हन्ति चेति कर्तृत्वं प्रतीयते । अत आकाशावाक्यमप्यौपचारिकं भविष्यतीत्याह्नायामाह । आत्मकृतेरित्यादि । आम्नानादित्यनुवर्तते । 'स आम्नान् स्वयमकुरुत, तस्मात् तत्सुकृतमुच्यते' इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावस्याज्ञानान्, सुकृतत्ववचनेनलौकिकत्वबोधनाच्च सिद्धे समवायित्वे वाक्यांशमादायौपचारिकत्वकथनेन न युक्तमित्यर्थः । ननु स्वस्य कर्तृत्वेन सिद्धत्वात् कर्मत्वं कथं बुद्धावावोहेदित्याकाशधारां युक्तिमाह । परिणामादिति । कार्यकारणभावात् । तथाच सुवर्णादितैजसद्रव्यवदविकृतस्यैव तथात्वाद् इदंशालोकिककत्वात् सुवच एवैकस्य कर्मकर्तृभाव इत्यर्थः । अत एव देवस्तुतो 'न हि विकृतिं त्यजन्ति क्वचस्व तदात्मतया सकृत्तममुषविष्टमिदमालम्बयवावसितम्' इत्युक्तम् । नच पूर्ववत्स्यान्पयाभावरूपस्य बहुभवनतामकस्य श्रुत्यैव कथनात्, कथं ब्रह्मणोऽप्यविकारित्वमिति शङ्क्यम् । दधिदुग्धन्यायेन स्वरूपस्य स्वरूपपुणानां च योऽन्यथाभावस्तत्रैवात्र दोषत्वेन विवक्षितत्वात्तदाभावे सुखेनाविकारित्वसिद्धिः । नचात्र मानाभावः । श्रुत्यैव तयोक्तत्वात् । व्यासचरणैरपि 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति बक्ष्यमाणत्वात् । तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति ब्रह्मैव जगतः समवायिकारणमिति सिद्धम् ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

नन्वस्तु जडानां ब्रह्मण एव कारणत्वं, चेतेनेषु तु योनिबीजयोः समवायित्वदशनाद् भगवतः पुरुषत्वेन योनिरूपा प्रकृतिरपि समवायिकारणमस्तु । शुक्रशोणितसमवेतत्वाच्छरीरस्थैत्याशङ्क्य परिहरति । योनिरित्यादि । योनिरपि ब्रह्मैव । चकारेण शाकवादो निराक्रियते । योनिरपि, न तु योनिरेवेत्यर्थः । अत इतिचेत्, तत्राह । हि गीयत इति । यतो हेतोर्भाषितं, श्रुत्यैव । 'सदेव तयोम्पेदमप आसीदेकमेवाद्वितीयं'मिति सृष्टेः पूर्वमेकमेव कारणं प्रतिज्ञातम् । आकाशादेव आनन्दाद्देवेत्येत्यादिभिरवधारणैश्च निर्णीतः । अतोऽन्यकारणत्वे सिद्धे कथं तत्र सृष्ट्युक्ता प्रकृतिः प्रविशेत् । द्वैतापत्तेः ।

किञ्च । 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिसु । तं भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' इति प्रत्यक्षश्रुत्यैव गीयते । गीतासु च 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यह'मिति 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति च । अतोऽक्षरपुरुषोत्तमभावेनैकस्यैवोभयरूपलोपपत्त्येवोनिः पुरुषो बीजं जीवश्च भगवानिति । इदं सर्वं यद्यमात्मेति सिद्धम् । तस्मात् केनाप्यंशेन प्रकृतिप्रवेशो नास्तीत्यशब्दत्वं सार्वभूतस्य सिद्धम् ।

(माभ्यास्तु प्रकृतिशेति सूत्रे 'हन्त तमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यमिबदन्ति,' 'यथा नद्यः स्वन्दमानाः समुद्रागणाः समुद्रमभिसंविशन्त्येवमेवैतानि नामानि पुरुषमभिसंविशन्ती'ति श्रुतिम्, अभिध्याम्ये च 'मारां तु प्रकृतिं विद्या'दिति, 'महामायेत्येव्यादिति नियतिर्माहिनीति च । प्रकृतिर्वासनेत्येवं तवेच्छाऽनन्त कथ्यत' इति वचनम्, 'सोऽभिध्या स ज्ञितिः स प्रज्ञा स आनन्द' इति श्रुतिम्, 'ध्यायति ध्यानरूपोऽसौ सुखी सुखमतीव च, परस्यैश्वर्ययोगेन विरुद्धार्थतयेष्यत' इति ब्रह्माण्डवाक्यम्, साक्षात्सूत्रे 'चैष स्थेष पुरुष एष प्रकृतिरेष आत्मेव ब्रह्मेष लोक एष आलोको योऽसौ हरिरादिरनादिरनन्तोऽन्तः परमः पराद्विधरुष' इति पैङ्गवश्रुतिं चोपन्यस्य भगवतः सर्वविधशब्दव्यवस्थं च स्थापयित्वा, आत्मकृतिमूत्रे प्रकर्षणं करोतीति प्रकृतिरिति योगात् । प्रकृतावमुप्रविश्य तां परिणाम्य तत्परिणामनियामकत्वेन तत्र स्थित्वाऽऽत्मनो बहुधाकर्णात् प्रकृतिशब्दवाच्यतां स्थापयित्वा, 'अथ ह्येष आत्मा प्रकृतिममुप्रविश्यात्मानं बहुधा चकार, तस्मात् प्रकृतिरित्याचक्षत' इति भास्करवैश्वश्रुतिम्, 'अविकारोऽपि परमः प्रकृतिं तु विकारिणीम्, अमुप्रविश्य प्रकृतिशामिबीयते' इति नारदीयवाक्ये च तदुपपत्त्यभावाद्वाहरन्ति । तच्चिन्त्यम् । श्रुतेरप्रसिद्धत्वात् । तादृश्या अपि कथञ्चित् प्रामाण्योपगमेऽप्यस्या आत्मनो बहुधाकर्षणबोधकतात्प्रकृतिबोधकत्वाभावेन विषयतयोपन्यासस्योपात्तः । हन्त तमित्यारभ्य, विशरुष इत्यन्तासु स्तोपन्यस्तासु श्रुतिषु सर्वशब्दवाच्यस्य सर्वरूपत्वस्य च स्वत एव बोधनेन तासां पूर्वकालीनव्यवस्थाबोधकतायाः, भास्करवैश्वश्रुतो वाद्यशब्देन पाश्चात्यबोधकतायाः स्फुटं भावेन कालभेदकृतविषयभेदस्य स्फुटतयेतदुत्तरोधेन तदर्थनिर्णयस्याप्ययुक्त्वाच्च । ध्यायतीति ब्रह्माण्डवाक्ये ऐश्वर्ययोगेन विरुद्धार्थतया सर्वरूपत्वादिरिष्टाया उक्ततया यदाऽनुपपत्तिपरिहारसम्भवे प्रकृतिशब्दोपादरणेन रूढयुपपत्तस्य व्यर्थत्वाच्च ।

यतु जयतीर्थः ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया सृष्टिप्रणादिरष्टान्तोक्तं न प्रमाणत्वम्, तन्त्यार्थत्वस्य सूत्रव्यवस्थाने सम्भन्ध्याख्यातत्वादित्याह । तदपि भ्रद्वाजाब्धमात्रम् । सूत्रव्याख्यानेनस्यैवासङ्गततायाः प्रदक्षिन्त्वादिति । यदपि—ब्रह्मणः परिणामोक्तिरसङ्गतत्वात् । एतदध्यायस्थोपशेषात्स्य ब्रह्मणिसमन्वयप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वादित्याह । तदप्यसङ्गतम् । अशेषशास्त्रमध्ये 'स आमान्

स्वयमकुण्ठत, सर्वं खल्विदं 'ब्रह्म तज्जलानिति,' 'म आत्मानमेव द्वेषापातयत्, ततः पतिष्य पत्नी चामवताम्,' 'इताऽहं मदेव मन्मात्रे सर्वं यस्मिन्नाकाश ओतश्च मोतश्चे'त्यादिश्रुतीनां, 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रे,' 'नेतिश्र्वं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वर, ओतप्रोतमिदं यस्मिन्स्तनुष्वङ्ग यथा पटः,' स्वयम् आसीदित्यादिसृष्टीनां च प्रविष्टत्वात् तासां समन्वयस्यावश्यं प्रतिपाद्यत्वात् परिणामे विना च तदसम्भवादिति । यदप्यानुमानिकपादे, प्रकृतेः शब्दप्रतिपाद्यत्वनिराकरणं चेत्, प्रकृतिस्वरूपस्यानिराकृतत्वात् तस्या उपादानतया वर्तमानत्वात् प्रकृतित्वेन ब्रह्मण उपादानत्वस्यापनयसङ्गतमेव । प्रकृतिस्वरूपनिराकरणं चेत्, सूत्रेषु तददर्शनात् तदप्यसङ्गतमिति न ब्रह्मण उपादानत्वे कापि सङ्कतिरिच्छुक्तम् । तदप्यशुद्धत्वाच्च । प्रकृतेर्मूलकारणतायाः शब्दप्रतिपाद्यत्वस्य निराकरणं सूत्रेषु सिद्धमिति तस्या अवान्तरोपादानतया विद्यमानत्वेऽपि ब्रह्मणि मूलोपादानत्वावाधात् । एकादशस्कन्धे 'आसीञ्ज्ञानमयो ह्यर्थे एकमेवाविकल्पितम् । यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगे युगे । तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् । वाङ्मनोर्गोचरातीतं द्विधा मममवद् बृहत् । तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः तोभ्यारिमिक' इत्यादिना भगवतैव तथा निर्णीतत्वात् । अतो ब्रह्मण उपादानत्वाङ्गीकरणमशोभाग्रहयोरन्यतरमूलकमेवेति दिक्) ॥ २७ ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

एतेन ब्रह्मवादस्थापनपूर्वकसंख्यमतनिराकरणेन सर्वे अवैदिका विरुद्धाश्च वादा व्याख्याताः । अनुपयुक्तत्वेन बोधिता इत्यर्थः । द्विरुक्तिरप्यायसमाप्तिबोधनाय । एतदेव बोधसौकर्यार्थमपि प्रपञ्चयित्वा ॥ २८ ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रार्थचरणैकतानश्रीब्रह्मजनायात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितयां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ भावप्रकाशिकायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ १ ॥ ४ ॥

प्रथमाध्यायः समाप्तः ।

भावप्रकाशिका ।

श्रीमद्भाष्यानुसारिब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

शास्त्रवित्तमश्रीब्रजनायात्मजश्रीकृष्णचन्द्रकृता ।

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

सृष्ट्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत्, न,

अन्यसृष्ट्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥ (२-१-१.)

प्रथमाध्याये संदिग्धानां वेदान्ताकाशानां परब्रह्मत्वेन समन्वयः प्रतिपादितः, स तदा दृवीभवति, यदा श्रुतीनां सृष्टीनां चेतरेतरविरोधः परिह्रियत इति तदर्थं द्वितीयाध्याय आरभ्यते । तत्र परानपेक्षस्य मामाग्न्यस्य श्रुतावेव पूर्वतन्त्रे सिद्धत्वाद्दोषे कासाश्रितं सृष्टीनां सङ्कोचेन कासाश्रित्युपेण लोफात्रसिद्धश्रुतीनां च सर्वथा दूषणेन विरोधपरिहारो, न तु तद्दोषेन श्रुतीनां सङ्कोचो विप्रतिषेधपरिहारो वा । तुल्यवकानां सृष्टीनां परस्परविरोधे तुषयोरप्यपामाग्न्यमिति प्रकारः । तेन प्रथमपाद आद्यसूत्रत्रये सृष्टीनामनिर्णायकत्वं परस्परविरुद्धत्वादुच्यते । ततो युज्या श्रुतिविप्रतिषेधपरिहारः । ततो द्वितीयपादे तासां वेदवाचकत्वाभावेऽपि स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय बाह्याबाह्यमताप्येकीकृत्य तन्निराकरणम् । भ्रान्तत्वस्य सर्वत्रैव तोष्यात् । ततोऽग्रमे पादद्वये वैदिकपदार्थानां क्रमस्वरूपविचारो वेदार्थनिर्णयायैव । अतः सम्पूर्णनाध्यायेनाविरोध एव प्रतिपाद्यते ।

अतः परं सूत्रव्याख्या । तत्र प्रथमतुरीयपादे प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वाभावेन कपिलसृष्टेरशब्दत्वं यन्निर्णीतम्, तत्र युक्तम् । अष्टकादिसृष्टिविश्लेषाद्युमेयवेदस्योच्छ्रयप्रच्छन्नविषकीर्णशास्त्रानां वा तन्मूलत्वेन वक्तुं शक्यत्वात् । न च दृष्टान्तरितत्वात्पूर्वैस्वयं शङ्क्यम्, निरवकाशत्वात् । एवमप्यनादरे तदानर्थक्यमसङ्गात् । अतो यथा 'वैतानं प्रक्षिपेत्सु आवसथ्यं चतुष्पथे । पत्राणि तु दहेद्द्रो यजमानो दृथा सृत्' इति पति-तन्निरोधप्रतिपत्तिबोधिकाया निरवकाशस्यस्या 'आहिताग्निप्रिभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चे'ति सावकाशायाः श्रुतेः सङ्कोचः, तथा कपिलसृष्ट्या जगत्कारणत्वबोधिकाया प्रत्यक्षश्रुतिरप्य-स्रब्रह्मादिपदानि प्रधानविषयाप्यङ्गीकृत्यात्पदं वातति व्याप्नोतीत्यात्मेति योगेन

प्रधानपरमङ्गीकृत्येक्षणार्दीश्वेतनपर्याश्रय पुरुषवैशिष्ट्येन तत्रापाय प्रधानविषये सङ्कोचनीय, अन्यथा मोक्षान्तिरिक्तस्य विषयस्यात्राभावादत्रोपयोगानङ्गीकारे कपिलस्त्वयन-वकाशदोषप्रसङ्गस्त्वैयर्थ्यं चेति चेत्, न । कुतः । अन्यस्त्वयनवकाशदोषप्रसङ्गात् । यथ-नवकाशदोषेण प्रत्यवस्थीयते, तर्ह्ययं दोषः पातञ्जलसंवादकाण्डप्रसिद्धिष्वपि तुल्य इति ता अप्यादरणीयाः स्युः । एतस्या एवादेरे नियामकस्याभावात् । अतः सर्वा एव परिहाय्य प्रत्यक्षश्रुत्यविकृता गीतास्मृतिवेदादरणीया, 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे'त्यादि । न च तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गः । ये परमास्थनधिकारिणो ह्युत्सवसत्वेतौ स्वरूपावस्थानविषये सावकाशत्वात् । अतएव मोक्षधर्मः 'साङ्ख्यं योगः पञ्चार्था वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै' इत्यादिना पञ्च सिद्धान्ता-स्तदपूर्वशोक्तवा, 'सर्वेषु च द्रष्टव्ये ज्ञानेष्वेतेषु हृद्यते । यथागतं तथाज्ञानं निष्ठा नारा-यणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विश्वोपते । तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठां नारायणस्यैषिं प्राणोस्तीति वचो मम' इत्युक्तम् । यथागतमिति । परम्पराप्राप्तं श्रुत्यविकृदम् । पराशरपुराणे च 'असपादमणीते च काणादे साङ्ख्य-योगयोः । त्वाय्यः श्रुतिविकृदोऽस्य श्रुत्येकद्वारणैर्द्वेषिः' 'जैमिनीये चेत्युक्तम् । अतः कपिलस्मृतौ जैमिन्याधिकारिविषये सङ्कोचसहित्युत्पाभिप्लुतश्रमनाकारणत्वादेव श्रुतिवि-रोधस्य साधितत्वेनाभावाप्याश्रय न तस्या अशब्दस्वहानिरिति सिद्धम् ॥ १ ॥

इतरेषां चातुपलब्धेः ॥ २ ॥

प्रतिब्रह्म्या निरङ्कुशमनाकारणत्वादेव कपिलस्मृतौ तत्राप्याप्यस्युत्त्वा महदाद्येति सथा-स्वमाह । इतरत्यादि । इतरेषां प्रकृतित्व्यतिरिक्तानां महदहङ्काराहङ्कारिकतत्त्वान्तररूपवृत्तीनां लोके वेदे चातुपलब्ध्यापान्तापदत्रोपे कपिलस्मृतौ तत्राप्याप्यम् । अयमर्थः । तैर्हि पञ्चभूतव्य-तिरिक्तानि तत्त्वान्यनुमानेन साध्यन्ते, तत्र स्थूलेषु चतुर्षु भूतेषु गन्धादिगुणाधिनाभावस्य शब्दे च द्रव्यजन्यत्वस्य परमसहित्युत्त्वेन गन्धादिगुणां पृथिव्यादिस्थूलभूतपूर्वावतिष्ठस्य प्रत्यक्षभाषितत्वात् गन्धादिगुणानांशेषि पृथिव्यादिद्रव्यदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारबु-ध्नातिरिक्तानां मात्राणां लोकाप्रसिद्धत्वात् । निर्विशेषगन्धापञ्जीकारेण मात्रासाधनेपि शब्दे आकाशजन्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्काशस्य निरवयवत्वेन जन्यताया विप्रतिपक्ष-त्वाच्च मात्राणां स्थूलभूतकारणत्वेन मात्रात्वकस्वरूपेण चासिद्धौ तत्साधितानामहङ्कारम-हत्त्वमप्रकृतानामसिद्धिरेव । एवं वेदेपि । मैत्रायणीयोपनिषदि ऋषिक्रयने 'तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परं स्याचत्पररेणेरिति विषमत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः सत्व्वीरितं विष-मत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्ववेरितं रसः संपासवत्सत्त्वोर्गो यश्चेतामात्रः प्रति-पुष्य' इत्यादिना प्रकारान्तरमेवोक्त्वा 'इत्यात्मानन्तर्हिश्चैत्युक्तम्, अतो लोके वेदे च तथातुपलब्धमानस्त्वमिति ॥ २ ॥ इति प्रथमं स्त्व्यधिकरणम् ॥ १ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥ (२-१-२)

ननु मास्तु साङ्ख्यस्यैतः शब्दवचनम् । ऋग्यजुः तु भविष्यति । श्वेताश्वतरोपनिषदि 'त्रिरुक्षतं स्याथ्य समं शरीरं हृदिन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्ये' त्यादिना योगस्योक्त-त्वादिति चेत्, तत्राह । एतेनेत्यादि । इदं चातिदेश्युत्तरम् । एतेन साङ्ख्यस्यस्तिनिराकरणेन योगस्मृतिरपि निराकृता वेत्ता । मनोनिरोधसाधनार्थस्यैव तत्राविकृदत्वेन पदार्थतत्त्वनिधारे साङ्ख्यवत्वशानादेस्तदुपादानत्वादेश्चाङ्गीकाराचदंशे वेदविकृदत्वात्सापि तत्र एव निरा-कृतैति साङ्ख्यवन्न तस्या अपि पूर्वविनिर्दिष्टतत्त्वमन्यबाधकत्वमित्यर्थः ॥ ३ ॥ इति द्वितीयमेतेन योगः प्रत्युक्त इत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

न विलक्षणत्वादस्य तयात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥ (२-१-३)

ननु मास्तु स्थूला समन्यवबाधः, तथापि युक्तिश्रुतिविकृदो ब्रह्मवाद इत्याशङ्कते । नेभ्यादि । न ब्रह्म जगत उपादानम् । कुतः । अस्य विलक्षणत्वात् । यदि हि जगत् ब्रह्मोपादेयं स्यात्, कार्यस्य कारणसजातीयत्वनिगमदर्शनाचेतनं दोषशून्यं च स्यात्, वतो नैववतो नैवम् । ननु वैलक्षण्यपत्तोतिर्देहात्मपत्त्यवयव इति चेत्, तत्राह । तयात्वं च शब्दात् । अस्येति पदं देहदीदीपवदुभयत्र संयुज्यते । अथा जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वं च शब्दात् । 'विज्ञानं चाविज्ञानं चेति श्रुतिरेव । तथा च यथा धृष्ट्या ब्रह्मणः कारणत्वमुच्यते, तथा विलक्षणत्वमुच्यते, अतो विप्रतिषेधान्न ब्रह्मण उपादानत्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अभिमानोव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

ननु किं वैलक्षण्यं ब्रह्मजगतोस्तत्त्वाभिधेतेन येन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं वसि । न तावद्व्यवैलक्षण्यमकारणत्वसाधकम्, घटत्वमृतिगुणत्वोर्विलक्षणत्वेपि कार्यकारणभाव-दर्शनात् । अय येन धर्मेण कारणभूतं वस्तु वस्तुत्पन्नद्रव्यावतते, तद्वर्माभावेन विलक्षण-त्वमिति, तादृशं चात्र चेतनत्वमिति जगति तदभावाद्द्विलक्षणत्वमिति चेत्त्वाभिधेतम्, तदा तसु नास्ति । 'सूदब्रवीत्', 'आपोब्रुवन्', 'तत्रेज ऐश्वर्ये' इत्यादौ चेतनत्वार्थां क्वनेताणादीनां श्रुदादिषु श्रावणादित्यत्र आह । अभिमानोत्यादि । तुल्यम् उक्ताङ्गान्नि-द्वयर्थः । एवमाशङ्कते न कार्या । अत्र अभिमानोव्यपदेशः श्रुदाद्यभिमानिनीनां देवताना-नेव वक्तृत्वादिधर्मवत्त्वा व्यपदेशः । कुतः । विशेषानुगतिभ्याम्, वेद एव 'विज्ञानं चावि-ज्ञानं चेति विभागकचनत्वात् । 'अग्रिवाग्भृत्वा मुलं प्राविश' इत्यन्यादिदेवतानामेव पञ्चा-द्गादिदामेन मुखादिषु स्थानेषु गतिकचनत्वात् । यदि हि सर्वस्य चेतनत्वं स्यात्, यदि चोक्तकारण्ये देवता अभिधेता न स्युः, तदा चेतनत्वेतनविभागं न ब्रूयात्, पञ्चाद्गादि-जगत्सैन्यवादिदेवतानां गति च न ब्रूयात् । 'हन्ताहिमापस्तिक्तो देवता' इति तमोवर्णानि देवतापदेन न विधिष्यन्तः । तथा च जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादेयत्वात्तुपपत्तेः-

कांशुदृष्टीवकपिलस्मृत्यनुसारेण जगतः प्रयानोपादेयत्वमेवादर्शनीयम् । एवं 'न जायते न म्रियते वेत्यादौ जीवस्य नित्यसत्त्वेन श्रावणाज्जीवानां ब्रह्मभिन्नत्वमेवादर्शनीयमिति सूत्र-
द्वयेनालङ्कार्य परिहरति ।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासे । दृश्यते । कार्यकारणयोर्विलक्षणं लोके । चेतनात्युत्पत्तेर्हादचे-
तनानां केशलोमनखानां अचेतनान्नोमभादेर्दृष्टिकादीनां चेतनानां चोत्पत्तेः । अयमर्थः । विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दृश्यते यदि कार्यकारणयोः सर्वांशसालक्षण्यं विवक्षि-
तम्, तदा तु षट्शक्तिष्वपि तददर्शनाल्लोकविरोधः । यदि केनचिद्वर्गेण सालक्षण्यम्, तदा तु सत्तया सादृश्यं वनेत एवेति न पर्यनुयोगस्त्वावकाशः । यदि च येन धर्मेण कारणं
वस्तन्तराद्भावावनेते तेन धर्मेण, तदा तु लोकदृष्ट्या गोमयवृष्टिकादिदृष्टान्तः । देहत्वको-
मयत्वादीनां वस्तन्तराद्यावनेतकानां धर्माणां केशदृष्टिकादिष्वभावात् । यदि च देहकेशा-
दीनां जडत्वेन सालक्षण्यम्, तदा सत्त्वेन ब्रह्मजगतीसदस्यैवेति स्वदेवतोः स्वरूपासिद्ध-
त्वम् । परमार्थदृष्ट्या तु ब्रह्मणः सच्चिदानन्दलक्षणकलेन सर्वज्ञज्ञाज्ञानां चिदंशज्जी-
वानामानन्दंशाच्चान्तर्थाभिधानं व्युत्तरणाद्ये तु तददर्शनालक्षण्यस्य विद्यमानत्वादि-
लक्षणत्वस्वरूपस्य बाधकहेतोरसिद्धिः, श्रुत्युक्तस्य विभागस्य चोपपत्तिः । उपपन्ने च विभागे
कार्याणामेव परस्परं वैलक्षण्यम्, न तु ब्रह्मणः सकाशात्कार्यस्य जगत इत्यभिधानि-
व्ययदेशेभ्योपि न कारणत्वबाधकः । अर्थवर्गान्योन्यस्वरूपान्तरं बोधयन् कार्यस्य कारणाव-
स्थारूपत्वञ्च कारणताबाधकः । एवं सिद्धे सालक्षणे 'न तं विद्वाय य इमा जनानाम्य-
द्युष्मानन्तरप्रधाती'ति श्रुतिस्मारस्यादौलक्षण्यं 'अभावाददृश्यते, न त्वस्तीति तृतीयसुबोधि-
नीस्यं सूत्रव्याख्यानान्तरमप्युपपन्नतरम् ॥ ६ ॥ इति तृतीयं न विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

असद्व्यपदेशादिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥ (२-१-४)

पुनर्विप्रतिषेधान्तरमात्रङ्कय परिहरति । असदित्यादिः 'असदा इदमत्र आसी'दिति
श्रुत्युक्तसत्त्वं 'तद्वैक आहुतसदेवेदमत्र आसी'दित्यनेनान्यत् 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्या'दि-
त्यादिना निषिध्यत इति तस्यालीकात्समाह्वय्य ब्रह्मपरत्वं न वक्तुं शक्यम्, ब्रह्मपरत्वे
निषेधायोगात् । अतः असद्वैकिकादिकमपि कारणत्वेन श्रुतावसित । एवं सत्यसिद्धेयत्र कार-
णान्तरकथनेन कुतस्त्वैक्यत्र सत्यनिषिध्य सतो ब्रह्मणः कारणत्वकथनेन, 'नासदासीन्नो
सदासी'दित्यत्र सतोपि प्रतिषेधेन विप्रतिषेधतादवस्थात्सत्तां प्रधानत्वेन कारणत्वेनादर्-
शीयम् । इति चेत्, एवं सूत्रांशेनालङ्कार्य समापत्तेः, नेति । 'तद्वैक आहुतसदेवेदमत्र आसी'-
दित्यसच्छब्दो न श्रौतासच्छब्दानुवादकः, किन्तु स्वार्तानुवादकः । कुतः । प्रतिषेधणा-

१ असदिति वेदिति पाठः ब्रह्मिनिभिः ।

त्रत्वात् । कुतस्त्विति श्रुतौ असन्निषेधमात्रस्यैव दर्शनात् । यदि ब्रह्मसतोपि कारणताभि-
धेता स्यात्, तदा यथा असन्निषेधेनात्र सतः कारणता बोध्यते, तथा कश्चित्सन्निषि-
ध्यासतोपि कारणत्वं बोध्यते, तन्न न दृश्यते । नासदासीदित्यत्राप्युक्ते निषिध्यते, न
त्वसतः कारणत्वं बोध्यते । अतस्तत्रापि व्याकृताभ्याकृतयोरेव प्रतिषेधः । अतो विप्रति-
षेधमात्रञ्च ब्रह्मणः कारणत्वहानिरित्यर्थः । यदा । 'असदा इदमत्र आसी'दित्यादौ
असच्छब्देन इदं कार्यं उच्यतेः पूर्वं असदासीदित्युच्यते, 'सदेव सोम्येद'मित्यन्योन्ययोः
सदुच्यत इति विप्रतिषेधाञ्च श्रौतौ ब्रह्मवाद आदर्शनीयः, किन्तु युक्तिस्मृतिसिद्धोऽसत्का-
र्थवाद एवादर्शनीय इति चेत् । न । नास्ति विप्रतिषेधः । कुतः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । विप्र-
तिषेधो हि विरुद्धः प्रतिषेधस्तुल्यबलः स इति यावत् । यदि ब्रह्मसन्निषिध्य सत्यतिपादन-
वत्, सन्निषिध्यासत्यतिपादनं स्यात्, स्याद्विप्रतिषेधत्वम्, नेह तथा, किन्तु केवल एवा-
सत्यतिषेधः, अतः श्रौतौ ब्रह्मवाद आदर्शेय इति ॥ ७ ॥

अपीतो तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्कते । अपीतावित्यादि । अपीतित्यर्थः । कार्यस्य जगतः कारणे
ब्रह्मणि लये, तद्वत्प्रसङ्गात्, कार्यधर्माणां कारणं संसर्गेण कारणस्य कार्यतौल्यप्रसङ्गादसम-
ञ्जसम्, स्यौल्यसावयवत्वपरिच्छिन्नत्वाद्युद्धत्वापादकं ब्रह्मणः कारणत्ववचनमित्यर्थः ॥ ८ ॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

उक्तं दोषं परिहरति । नेत्यादि । नास्मदर्शने किञ्चिदसमञ्जस्यमस्ति । तुः शङ्का-
निरासे । अतः शङ्का न कार्या । उपपन्नपि हेतुः । दृष्टान्तभावादिति । दृष्टान्तस्य
विद्यमानत्वात् । षट्शक्त्यादीनां दृष्टि लये परमाद्यभावाच्चो स्यौल्यसावयवत्वाद्यदर्श-
नान्महाप्राथिवीभावे च परिच्छिन्नत्वाद्युद्धत्वावदर्शनात् । कटककुण्डलादीनां च सुवर्णे
लये तददर्शनात् । प्रत्युत तैजसानां भाग्दानां मयादिसंसर्गेण दृष्टत्वेऽसिस्मन्भावात्सत्या-
कारस्य नाशनेन पुनर्निर्दिष्टान् स्मर्यते । तैजसानां रेतोकिम्बूत्राशुक्रगुणपदिभिश्चिह्नसुप्र-
हतानामावर्तनमिति । एवं मार्तिकानामपि भूद्रावे । 'वातोद्भूतं रजः शुची'ति । अतो
लोकाविचारे शाल्वविचारे चास्यकमेव दृष्टान्ताः सन्ति, न भवताम् ॥ ९ ॥

स्वपसदोपाच्च ॥ १० ॥

प्रतिवादिनो भ्रान्तत्वायाह । स्वपसेत्यादि । निर्विशेषात्यधानासत्त्विसौष्यस्य शङ्का-
दिभनो महदाहेरुत्पत्तेः कार्यकारणयोर्विलक्षणत्वम् । कार्यस्योत्पत्तिर्न कारणस्येत्यपि । एवं
विलक्षणकार्योत्पत्त्यावृत्ततेः पूर्वं तस्य वैलक्षण्यस्याभावादसत्कार्यवादप्रसङ्गः । सद्भावे
च लयेपि कार्यधर्मसम्बन्धात्तद्वचनसङ्गः । किञ्च, सर्वेषामन्तिमकार्यपर्यन्तानां कार्याणां
कारणो सत्त्वेन एतदनन्तरमेतदुत्पत्तामिति क्रमनियामकहेतुभावेन क्रमनिष्पाधानः ।

तं विनापि नियमाज्ञीकार आकस्मिकवादप्रसङ्गः । अथ नियामकसत्ताज्ञीक्रियते, कदा-
त्पचिनियामककारणसङ्घाते तस्य सर्वसाधारणत्वान्मुक्तानामपि पुनर्कल्प्यसङ्घ इत्यस्त्व-
न्मति दधानां दोषाणां स्वपक्षेपि सङ्घाताभावात्मानं प्रति र्थयुक्तोपगो उचित इत्यर्थः ॥१०॥
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथायुक्तमेवमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

सूत्रान्तरेरेव पुनः किञ्चिदाद्युक्त्युपरिहृतिः । तर्कत्यादि । स्वोक्तैस्त्रिणां युक्ति-
स्तर्कैः । तर्काणामप्रतिष्ठानं तर्काप्रतिष्ठानम्, तत्र स्वतन्त्रैरेकविभ्रवाचार्यां तत्तदुक्तानां तर्काणां
परस्परभाषासीकरणेनाप्यवस्थानम्, तस्माद्देतोर्बैदिकैरेव प्रत्यवस्थानमयुक्तमिति यदि
वदय, तदा अन्यथायुक्त्यम्, अस्माभिरपि प्रकारान्तरेणायुक्त्येनैव तर्काप्रतिष्ठानोपगो
न भवति । न हि सर्वेपि तर्का अपतिष्ठिता इति वक्तुं शक्यते, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् ।
अत 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना, यस्तर्कैणायुक्तस्यैव स धर्म वेद नैत' इति
स्थितेर्निरवयवतर्कस्य प्रतिपत्तव्यत्वात् इति चेत्, अनेन प्रकारेण तर्कप्रतिष्ठानं वदसि
चेत्, एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः, अनेन तर्कप्रतिष्ठानायापि, ब्रह्मवादितर्कस्यैव श्रुतिमूलतया
निरवयवत्वात् प्रकृतिसादिन एव तर्कदोषाविमोक्षप्रसङ्गः, श्रुतिविरोधेन तत्तर्कस्य निर्मु-
लतया वैयर्थ्यस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः ॥११॥ इति चतुर्थपदसिद्धित्तिचेदित्यधिकरणम् ॥१॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥ (२-१-५)

इदमप्यतिदेशसूत्रम् । एतेन साङ्ख्यमतदूषणेन शिष्टापरिग्रहाः, न परिग्रहो येषां ते
अपरिग्रहाः शिष्टैरपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः अशुभायाकारणवादास्तैपि व्याख्याताः दृष्टिना
वेधाः । सत्कार्याधादरेण साङ्ख्यमतस्य वैदिकप्रत्यासन्नत्वात्केषाञ्चित् शिष्टानां परि-
ग्रहोऽस्ति । अशुभायाकारणवादास्तु सर्वेषां न शिष्टैः परिग्रह्यन्त इति ते प्रथा । यद्यपि परा-
शरोपुराणेशतः श्रुतिविरुद्धत्वं सर्वेषां तुल्ययुक्तम्, तथापि शिष्टापरिग्रहोधिक इत्यना-
स्यया पक्षात्तेषां दूषणम् ॥ १२ ॥ इति पद्यमतेनेत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

भोक्तापत्तौरविभागश्चेत्याल्लोकावत् ॥ १३ ॥ (२-१-६)

पूर्वाधिकरणेषु 'दृश्यते त्वि'त्यनेन वैलक्षण्यं 'प्रतिषेधमात्रत्वा'दित्यनेनासत्कारण-
वादापरि 'दृष्टान्तभावा'दित्यनेनासापञ्चस्य 'तर्काप्रतिष्ठाना'दित्यनेनान्यान्युल्लेखिस्य-
माणान् कारणदोषान् परिहृत्य कार्यदोषं परिहृत्यवयवप्रसङ्गः । तत्र सूत्रान्तरेरेवाङ्ग्य-
समापत्तेः । भोक्तेत्यादि । 'अखण्डमस्पर्श'मिति 'अस्थूलमनङ्गि'त्यादिश्रुतिभिर्निर्विशेषत्वं
ब्रह्मण उच्यते । 'यतो वै'त्यादिना च कारणत्वम् । कार्यस्य तत् उत्पत्तिस्तत्रैव लयश्च ।
'सल्लु एको द्रष्टा द्वयो भवती'ति जीवस्वपि तत्रावापत्तिः, 'यथाशेः क्षुद्रा' इत्यादिना
तत् पञ्चोत्पत्तिश्च । एवं सति निर्विशेषे ब्रह्मणि कार्यस्य प्रत्यवस्थानावयवस्य सत्युत्पत्तौ
भोक्तापत्तेर्भोक्त्यापत्तिर्भोक्तापत्तिसस्याः साक्षात् भोक्तुर्भोग्योर्जाविविधययोः संश्ले-

षैषीकीभावात्पुनस्तयो भोक्तिर जीवे भोग्यसङ्घचन्दनादिरूपत्वापत्तेर्भोग्येन भोक्तृत्वापत्ते-
रविभागः लोकसिद्धभोक्तुर्भोग्यविभागप्रसङ्गः, ततश्च 'कृतं पिबन्ती सुकृतस्यै'त्येव चेत्-
नस्य भोक्तृत्वं सुकृतस्य भोग्यत्वं च यच्छास्त्रे, तद्विप्रतिषेध इति चेत्, स्याल्लोकावत् ।
यथा लोके कटककुण्डलादीनां सुवर्णकारणत्वेन सुवर्णान्गत्येपि न कटकस्य कुण्डलत्वम्,
न वा कुण्डलस्य कटकत्वम्, एवमत्रापि न भोक्तुर्भोग्यत्वं भोग्यस्य च भोक्तृत्वम्, अतो
न श्रुतिविपत्तिषेध इत्यर्थः ॥ १३ ॥ इति षष्ठं भोक्तापत्तेरित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥ (२-१-७)

ननु 'उत तमादेशभाषो येनाश्रुतं श्रुतं भवती'त्यादिप्रतिज्ञायाः 'यथा सौम्यैकेन
मृत्पिण्डेने'त्यादिदृष्टान्तस्य च बलेन ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं पूर्वं विचारितम्, दृष्टान्तवा-
च्ययोरेव 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य'मिति श्रूयते, तत्र च विकारो
वाच्याङ्गिणवारम्भ्यते, न तु विकारो वस्तुतः कश्चिदस्तीत्यर्थः प्रतिपाति । एवं विकारस्या-
भावे प्रसक्ते ब्रह्मण कस्य कारणं भवेत्, अतो येनैव वाक्येन कारणत्वं साध्यते, तच्छेपेणैव
तद्विपत्तिर्भवतीति विप्रतिषेधाद्ब्रह्मवादे पुनरसामञ्जस्यमित्याशङ्कायां श्रुतिविपत्तिषेधं
परिहृतिः । तदनन्यत्वभिर्यादि । तस्य अनन्यत्वं तदनन्यत्वम् । कार्यस्य कारणाभिन्न-
त्वमत्र वाक्ययोरे प्रतीयते, न मिथ्यात्वम् । कुतः । आरम्भणशब्दादिभ्यः । अत्रादिपदेन
नामधेयवदप्रतिज्ञायाः 'सदेव सौम्यै'त्यादिवाक्यानि च सद्भूयन्त्यन्ते । तथा च यदि
विकारस्य वाच्याङ्गतामभिधेयात्, वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकैव सत्यमित्येव द्रव्यात्,
तावेव विकारमिथ्यात्वसिद्धेः । वदति स्वैवम् । अतो यो विकारस्तदाचारम्भणम् ।
यद्धारभ्यते तदाचारम्भणं 'कृत्यवयुतो बहुल'मिति बाहुलकात्मकर्मणि व्युत् । कारणस्यैव नाम-
धेयम् । कारणमेव हि तत्तदर्थक्रियासिद्धयर्थं तेन तेन नाभ्या व्यवहियत इति कारणा-
दभिन्नमेव कार्यम्, न तु स्वैव रूपेण कारणाङ्गिभ्यः । तदाह श्रुतिकेत्येव सत्यमिति ।
कारणरूपेणैव सत्यम्, न तु रूपान्तरेण । नापि मिथ्या । मिथ्यात्वे सति कार्याभावेन
ब्रह्म कस्य कारणं भवेत् । कारणत्वभावे सति 'यतो वा इमानी'त्यादयः सर्वा एव
श्रुतयः कुपेरन् । न च श्रुत्यादीनां रजतादीनां प्रतीव ब्रह्मणोपि जगत्स्यति तदस्यैव कार-
णतायाः शक्यवचनत्वात् तत्कोप इति म. म. । पुरुषवृद्धिदोषसाधिव्येन श्रुत्यादिषु
रजतादिबुद्धिमात्रजनकतया तेषु रजतादिकारणत्वस्याभिमानमात्रत्वेनापीरुषेयायामीश्वर-
निश्वासरूपायां वाचि तादृशाभिमानिवाक्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वेन त्वदभिमतकारणताया
वक्तुमशक्यत्वात् । शक्यत्वात्पुनरामे तर्कवदप्रतिष्ठया सर्वसन्मार्गेविप्लवप्रसङ्गात् । किञ्चात्रेदं
वाक्यमप्यत्र प्रकृत्युपपन्न उक्तयोः कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदम् आसीदिति सत्यनेदेमा
च सतः कार्यत्वं श्राव्यते । यदि शुक्तिरजतवत्कार्यं स्यात्, सज्जायेतेति सत्यदमिदङ्कारश्च

कृष्येताम् । किञ्चाग्रे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजापयेये'तीक्षणपूर्विका स्वस्यैव बहुपुवनरूपा नाना-
विचमनहेतुका च सृष्टिः भ्रान्तये । यदि चोक्तविषयं कार्यं स्यात्, तदा तस्य मिथ्यात्वेन
स्वप्रतियोगित्वबोधक उच्यतेपुरुषप्रयोगश्च कृष्येत् । किञ्चाग्रे 'सैषं देवैस्तैस्ते'त्यादिभोक्ते
त्रिहृत्करणेक्षणं 'इमास्तिस्तो देवता' इति बोधिता देवतानां या ब्रह्ममत्प्यस्यगोचरता स्मरि
ब्रह्मणो 'अपरादिहत्याकृत्येति । न 'चापगादावोरमित्य'मिति निगमनवाक्यविरोधः । श्रिय-
स्यार्वाचीनत्वेनाभित्वादीम् स्वाभाविकतयावधारयतस्तादृशावधारणनिष्ठस्यैव तस्य वाक्यस्य
प्रवृत्तत्वेन तत्राभिपन्नयानस्वाभाविकतात्प्राणतिबोधकतया विरोधाभावात् । अत एतैः
शब्दैः 'इदं सर्वं यदयमात्मा, सर्वं तं परादायोन्वयात्मानः सर्वं वेदे'त्यादिभिश्च कार्यस्य
कारणाभिज्ञत्वमेव वाक्यायौ, न तु मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

पूर्वसूत्रेण श्रुतिविषयित्वेषं परिहृत्य कार्यस्य कारणादनन्त्यत्वे सत्त्वे च युक्तिसाह ।
भावे विद्यमान एव घटे घटोपलब्धात्, चकारेण 'मृचित्कत्वेन सत्य'मिति
श्रुतेश्च कार्यस्य कारणादभिज्ञत्वं सत्त्वं चोपगन्तव्यम् । यदि कार्यं वागारब्धं वाञ्छानिये-
वोपलभ्येत, तदा मिथ्यैव घटोत्रास्तीत्युक्त्युपलभ्येत । न तु तथा । अतः सदेव कारणा-
दनन्त्यमेव कार्यम्, न मिथ्यैत्यर्थः ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चाररस्य ॥ १६ ॥

'सदेव सौम्येदमम आसीत् । यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षत' इत्यादिश्रुति-
श्रुतिदमा पूर्वकालसत्त्वावोचनेन सर्वस्य सत्यत्वविधानेन च अवसरस्य प्रपञ्चस्य सत्त्वात् न
मिथ्यात्वमित्यर्थः । 'विश्वं वै ब्रह्म तन्माधं संस्थितं विष्णुमायया । पयेदानीं तथाचग्रे
पश्चादप्येतदीदृश'मिति । 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवरात्तिलम् । आविर्भावतिरोभा-
वजगन्मनाशकित्यव'दिति तृतीयेकस्मिन्विष्णुपुराणसङ्ग्राहको वा सूत्रे चकारः ॥ १६ ॥

असद्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । असदित्यादि । अयमर्थः । पूर्वपादे समाकर्षणसूत्रे
'असदा इदमग्र आसी'दिति श्रुतिस्यस्यासत्त्वच्छब्दस्य स्वायत्तां समाकर्षणं ब्रह्मपरत्वयुक्तम्,
परन्तु समाकर्षणं बीजं नोक्तम्, अतो न तद्युक्तिसहम् । अयासदिति चेन्नैति पूर्वसूत्रे तद्वि-
पश्यन्तो चासतः कारणता निवारितेति सैव ब्रह्मणः कारणत्वे युक्तिरिति तथा समाकर्ष-
णसूत्रयेत् । तदापि योगे सम्भवति गौण्या अन्यायत्वात्सादासत्यपदस्यासत्कार्यवादबोधक-
त्वम् । इदं परिहृत्यमानं जगत्, उत्पत्तेः प्रागसदेवासीत्, तथा उत्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मणः सका-
शादा सदजायतेत्येवमसद्यपदेशात्कार्यं प्रागुत्पत्तेरसीत्, तदा सत्याद्यन्तर्बोधेदसतोस्ति
तदेष भये इति न्यायादिदानीमपि सन्नैति चेदिति सूत्रागोनाशङ्क्य समापचे । नेति ।

पत्कार्यस्यासत्त्वं भ्रुत्या शङ्कितम्, तत्र । कुतः । धर्मान्तरेण अन्याकृतत्वेनासद्यपदेशात् । येन
व्याकृतत्वेन धर्मणेदानीं वर्तते, तेन धर्मणे तदानीं नास्तीति तथा व्यपदेशो, न त्वत्पन्ता-
सत्त्वेनेति । ननु किमत्र मानमित्यत आह । वाक्यशेषादिति । 'तदात्मान १ स्वयमकृत्स्ने'ति
पूर्वोक्तसदाक्यशेषात् । यदि हि श्रुतिः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वमभिधेयात्, तदा करोति-
कर्तृत्वेनासत्त्वं न ह्ययात्, अतस्तत्पत्त्यर्थः । एवं च निवृत्ते असत्कार्यवादस्य भ्रुत्याभिनेतत्वे
समाकर्षणसूत्रे गौण्यश्रीकारोपि न दोषाय । अनेनैव बीजेन तत्र तदश्रीकारात् । वस्तु-
तस्तु न गौणी । सर्वेषां शङ्कानां भगवद्वाचकत्वस्य प्रागेव सापित्तत्वेन समाकर्षणस्य
वादिबोधनाथत्वात् । एवं चाग्नेदंशश्रीपि न परिहृत्यपान्तिव्यपदेशात्परः, बोधनीयस्य श्रिय-
स्वाभावात्, किन्तु स्वबुद्धिस्यपरः, केवलश्रुतिवाक्यत्वादिति ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

आशङ्कादिबोधनाय हेत्वन्तरमाह । युक्तिरित्यादि । युक्तिस्तावत्, कार्यस्य नियता-
वधिकत्वम्, यस्कार्यं यत्समवेतम्, तच्चैतोनाथाद्यत इति । अन्यथा समवायस्य साधारणत्वात्सा-
र्वतः सर्वोत्पत्तिः स्यात् । अथासाधारणः, तदा असाधारण्यनियामकस्यान्यस्य वक्तुमश-
क्यत्वात्सत्कार्यवैशिष्ट्यमेव नियामकत्वेन वक्तव्यम्, तत्रश्च वैशिष्ट्यनियामकतया तस्मिन्
सत एवोत्पत्तिः सिध्यति । किञ्च । समवायः सम्बन्ध इति सम्बन्धिद्वयनिवैत्यैः । स च
नित्य इति कारणवत् कार्यमप्युत्पत्तेः प्राग्वक्तव्यम् । सम्बन्धित्वस्य तत्रापि तुल्यत्वात् ।
अन्यथा तस्य सम्बन्धत्वमेव न सिध्येदित्यादिः । न च कार्यस्योत्पत्तेः पूर्वं सत्त्वे कारक-
व्यापारवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । कार्याभिव्यञ्जनाथत्वेन तस्य साधैक्यात् । अभिव्यक्त्योत्पत्ति-
वत्साधारणत्वाच्च कोपि बोधायसर इति । शब्दान्तरं तु । सत्त्वच्छब्दान्त्व अत्यशङ्कः । तेन
चाविकृतत्वं युक्त्यगोचरत्वं च भ्रुत्यैव बोधयेत् । एवं च सधैस्य ब्रह्मकार्यत्वैपीदं नित्यत्वेन
व्यवहित्यताम्, इदं कार्यत्वेनेति नियमस्य प्रजापयेरतीच्छाकारविवारेणैव सिद्धेन कोपि
शङ्कालेशः ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

नवभिव्यञ्जकैरपि सदेवाभिव्यञ्जनीयम्, यथा गृहस्थो घटो दीपेन । अतः कारणे
कारणात्मनापि सत्कार्यं केनचिद्व्येण प्रतीतिगोचरो वक्तव्यम् । अन्यथा तेनापि रूपेण
कार्यसत्ता न सिध्येदित्यत आह । पटवदिति । यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं दृश्यते,
प्रसारितस्तु दृश्यते, न तावता अग्रहणदशायां तदसत्ता, तथा कार्यस्यापीत्याविर्भावानावि-
र्भावान्भ्यां जगतोपि प्रतीत्यप्रतीती इत्यदशने न कार्यासत्त्वकामित्यर्थः ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

ननु मास्त्वदर्शनमसत्तासाधकम्, तथापि सत्त्वे काचिदर्थक्रिया तु स्यादेव । यथा

अदृश्येनापि भूतेन स्वगपाश्रवादिवाचनमप्यदुःखादिदानं च । अर्थक्रिया तु न दृश्यत इति कथं तदात्मनापि सत्सेव्यत आह । यथेत्यादि । यथा प्राणादानानां नियमने जीवनामात्रम्, अनियमने चाकुञ्जनादि, एवमर्थक्रियाभेदेपि न प्राणभेदो, न वा प्राणादीनां प्राग-सत्त्वम् । तयोत्पत्तेः पूर्वं अर्थक्रियाविशेषरहित्येपि न कार्यासत्त्वमित्यर्थः ॥ २० ॥ इति सप्तमं तदनन्त्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इतरन्यपदेशाद्धिताकारणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥ (२-१-८)

ननु ब्रह्मणो जडकारणत्वे मा भवतां कारणकार्यदोषौ । चेतनकारणत्वे तु तौ भविष्यतः । कुतः । इतरन्यपदेशात् । इतरस्य व्यपदेश इतरन्यपदेशस्तस्मात् । 'तच्छुद्धा तदेवातुमाविश'दित्त्वन्न कर्तुः शृष्टौ प्रवेशः श्रावयते । स 'चानेन जीवेनात्मनानुभवित्त्वं नामरूपे व्याकरवाणी'ति जीवस्योच्यते । तेन जीवः स्रष्टृभिः सिध्यति, ततश्च हिता-करणादिदोषप्रसक्तिः । उत्करीत्यैक्ये सति तद्धितं कर्तव्यम् । न हि कश्चित्स्वयं समर्थः स्वहितं न करोति । सकलानर्थनिकरहेतुभूते शरीरे प्रवेशनादहितं च करोतीति कारणे दोषः । तादृशकृत्तित्तिविषयत्वात्कार्येपि दोषः । अतथेतन्नस्य तदनन्यत्वं न युक्तम् । किन्तु नित्यभिन्नत्वमेव युक्तमित्यर्थः ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

परिहरति । अधिकमित्यादि । ब्रह्म न जीवमात्रम्, जीवानां दोषः स्यात् । किन्तु ततोधिकम् । तुः तावन्मात्रत्वशङ्कानिरासे । तत्र हेतुः । भेदनिर्देशात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादिषु वाक्येषु कर्मकहेतुत्वेन भेदस्य कथनात् । विज्ञानानन्दरूपत्वेनापि भेदस्य कथनात् । तथा च यथैक्यं बोधयते, तथा ज्ञेयत्वेनानन्दरूपत्वेन भेदोपि बोधयते । अथ च भेदो ब्रह्मण आधिक्ये पर्यवस्यति । आधिक्यं चांशित्वात्पूर्णत्वे । पूर्णत्वांशस्य हितं करोत्येवैति न नियमः । स्वदेहेपि नखनिर्कृतनिकेशप्रसाधानादेर्दर्शनात् । अन्यथा सर्वत्रि-यन्त्राणां प्रायससङ्गात् । किन्तु स्वजीवस्यैवं करोति हितमहितं वेति लोके दृश्यते । एवं कार्यदोषोपि लोकादेव परिहर्तव्यः । अतो दोषाप्राभावाच्च चेतनस्यानन्यत्वमङ्ग इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अम्भादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

उक्तपर्यं दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति । अम्भादीत्यादि । शरीरकमाणिक्यप्राणाणां पलाशचंपकचन्दनानां अम्भजनगलाविशेषेपि स्वभावभेद उच्यतीचत्वं च लोके दृश्यते । एवं ब्रह्मार्तद्विस्वारान्तानां जीवानां ब्रह्मत्वाविशेषेपि स्वभावभेदस्योच्यतीचभावस्य च सत्त्वात् तस्य तस्य तादृशतादृशदेहादिसम्बन्धः सुखदुःखादिभेदेति कारणे कार्ये चान-न्यत्वयुक्तदोषासंसर्गस्य लोकप्रत्ययैव सिद्धत्वात् । दृशाशङ्काया एतानुपपत्तिरित्यर्थः । यद्यपि पूर्वैवस्युक्तदोषसमाधानं भेदनिर्देशात्त्वादेव सिध्यति, तथापि जीवस्य कार्या-

हेतुसम्बन्धं कार्यानुरोचित्वं च दर्शयितुमिदं स्यादिति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ इत्यष्टमप्रतिपत्त्यप-देशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्वि ॥ २४ ॥ (२-१-९)

एवं कार्यस्य कारणानन्त्यत्वे अंशस्याप्यनन्त्यत्वे च ये दोषास्तावु परिहृत्य पुन-ब्रह्मण एकस्यैवान्गान्यनपेक्षत्वा कारणत्वे किञ्चिदात्रकृष्य परिहरति । उपेत्यादि । एक-स्यैवान्गान्यनपेक्षस्य ब्रह्मणो निःश्लिजनात्कारणत्वं यदुक्तम्, तत्रोपपद्यते । कुतः । उप-संहारदर्शनात् । उपसंहारोऽनुसामग्रिसमवधानम्, तस्य दर्शनात् । लोके हि यत्रोपादानता भूदादिषु दृष्टा, तत्र कुलालादेः कर्तृशकवीचारादेः समवधानेनैव दृष्टा । न हि बाधित-मर्थं वेदोपि भ्रूते इति चेत् । न । एवमाशङ्का न कर्तव्या । कुतः । क्षीरवद्वि । हि यतो हेतोः क्षीरवद्ब्रह्म परिणमते । यथा क्षीरं कालपरिवासेनातज्जनादिकर्तारमपेक्ष्यैव दृषि भवतीति दृष्टम्, तथा ब्रह्मापि परिणस्यते, अतो न बाधितोपदेश इत्यर्थः ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

ननु भवत्वेवं परिणामे कर्तुरनपेक्षा, तथापि निमित्तान्तरापेक्षा तु भविष्यति । क्षीरमपि ह्यधिभ्रयणपातज्वनं कालं वा अपेक्षत एव, न तु सर्वानपेक्षम् । किञ्च, क्षीरं सर्वं स्वयं व्यापृष्वानं स्रान्तः सर्वं दृषि भवति, ब्रह्म तु न तथेति व्यधिकरणो दृष्टान्त-इत्यंत आह । देवादीत्यादि । यथा देवापिपितरो बाष्पानिरेषा एव स्वभोगचलेन बहिः सर्वं कुर्वन्ति, एवं ब्रह्माप्यनपेक्ष्य निमित्तान्तरं तत्तत्प्रधानां च स्वसामर्थ्यैवैवं करोतीति नात्रापि लोकविरोध इत्यर्थः ॥ २५ ॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

अन्यनिरपेक्षतायां लोकविरोधे परिहृतेपि पुनः श्रुतिविरोधमाशङ्कते । कृत्स्ने-त्यादि । यथेकमेव ब्रह्म स्वात्मानमेव जगत्कुर्यात्, तदा कृत्स्नमेव कार्यं भवेत्, अथांश-भेदेन कुर्यात्, तदा 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं'मिति निरवयवत्वबोधको निष्कलशब्दः कुर्येत । अतः श्रुतिविभक्तिपेक्षाब्रह्मण उपादानत्वं न युक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुशब्दः परं व्यावर्धयति । इयं शङ्का न कर्तव्या । कुतः । श्रुतेः । आत्मपरि-णामो निष्कलत्वं वेति द्वयमपि श्रूयते । श्रुतं च न युक्त्या बाधनीयम् । तर्कामितिद्वानस्य प्रागेव दर्शितत्वात् । 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥' । 'न हि विरोध उभयं भगवत्परिगणितगुणगण ईश्वरे-जनगोहाभादात्तमेऽर्वावीनवितर्कविचारप्रमाणमासकृतकशास्त्रकलिलान्तःकरणदुर्व्याख्या-दिनां विवादानवतर' इति पुराणवाक्येन ब्रह्मणो विच्छेदप्रसक्त्योपहृष्टाणात् 'तं

त्वोपनिषद्'मिति श्रुतेः ब्रह्मणः शब्दमूलत्वात् श्रुत्येकसप्तविगम्यत्वेनैव सिद्धत्वादित्यर्थः ॥ २७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

ननु यद्यपि श्रौतौ केवलस्य ब्रह्मण एव कारणता निरूपिता, तथापि देशकालौ त्वधिकरणत्वेनावयवकावित्याशङ्का श्रुत्यात्मन्नेनैव परिहरति । आत्मनीत्यादि । अत्र प्रथमशकारोवधारणार्थः, द्वितीयोपपत्त्यर्थः । एवं नानाविधा सृष्टिरपि आत्मन्येव । 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्, सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं'मित्यादिद्विधितरनिषेधेन केवलस्य ब्रह्मण एव सृष्ट्याद्यस्य कथनात् द्वितीयस्कन्धे च 'स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः । आत्मन्येवात्मनात्मानं संयच्छति च पाति चै'ति ब्रह्मावाक्येपि कण्ठत एवात्मनि सृष्टिकथनाच्च । न च तदानीं 'अग्ने' इति कालस्य श्रुत्या कथनाभैवमिति शङ्क्यम् । अद्वितीयादिपदविरोधेन कालोक्तबोधनाथैवात् । अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् । विशिष्टविधानेश्वधारणाद्वितीयपदयोः कोपाच्च । 'सोऽनुवीक्ष्य नाम्यदात्मनोऽपश्य'दित्यनुवीक्ष्याविरोधाच्च । ननु तथापि बोधार्थं काचित्पुक्तिर्वक्तव्येत्यत आह । विचित्रा हीति । हि यतो हेतोः 'परास्य शक्तिर्विधेयं श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया चै'ति श्रुतेस्तस्य शक्तयो विचित्राः आकलयितुमशक्याः । तथा च सामर्थ्यवैचित्र्यमेव युक्तिरित्यर्थः ॥२८॥ इति नवैममुपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ९ ॥

सर्वोपेता च तदर्थानात् ॥ २९ ॥ (२०-१०)

एवमुपादानत्वे शक्तिस्तान् दोषान् परिहृत्य कर्तृत्वे शङ्क्यमानान् दोषान् परिहर्तुं पूर्वं तस्य सर्वैकहेत्वनिर्वाहकं धर्ममाह । सर्वेत्यादि । उपेतेति तुजन्तम् । भगवान् सर्वैः सामर्थ्यैरुपगतः । चकारात्सत्त्वादिभिः वधमदकन्धे परित्रया धर्मं प्रत्युक्तैर्गुणैश्च युक्तः । कुतः । तदर्थानात् । येदे तथा दर्शनात् । 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिन्द्रियभ्याञ्च इति' । तथा च य एतादृशः, तस्य सर्वकर्तृत्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥२९॥

विकरणत्वात्त्रेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३० ॥

ननु कर्ता लोके इन्द्रियवान् दृष्टः । ब्रह्मणस्तु विकरणत्वं श्रूयते, 'न तस्य कार्यकरणं च विद्यत' इति । 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमन' इति । अतः 'स विश्वकृद्विषविदात्मनोनि'रित्यादिपुक्तं कर्तृत्वं विप्रतिषेधान्नादरणीयमिति चेत् । तत्राह । तदुक्तम् । अस्य परिहारः पूर्वैर्बोक्तः, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा'दिति । अनवगाह्यमाहात्म्ये श्रुतिरेव शरणम्, नान्या वाचो युक्तिरिति । श्रुतिस्तु 'अपाणिपादो जवनो शरीरै'त्यादिः करणाराहित्यं कर्तृत्वं च वक्तृति तथेवादर्शनीयम् ॥ ३० ॥

। स्वपक्षदोषार्थेति धर्मं प्रत्यक्षद्विगोचर्यत्सम्, नापि स्व्याक्यातमिति ।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३१ ॥

पुनराशङ्कते । नेत्यादि । न ब्रह्म जगत्कारणम् । कुतः । प्रयोजनवत्त्वात् । लोके हि कार्यकर्तृत्वं प्रयोजनवतो दृष्टम् । ब्रह्म तु 'आप्तकाम' इति श्रुत्या प्रयोजनशुद्धपक्ष्यते तस्मात् । व्यधिकरणो हेतुः । यदा । न प्रयोजनवत्त्वादित्येकं पदम् । तत्र नशब्देन सह सुस्पृष्टेति समासः । तथा सति पूर्वसूत्रान्तेत्यस्य साध्यस्यानुवृत्तिः । अर्थस्तु पूर्वोक्त एव ॥ ३१ ॥

लोकवचु लीला कैवल्यम् ॥ ३२ ॥

समाशये । लोकेत्यादि । तुल्यत्वं पूर्वैर्ब्रह्मनिरासापेः । यदत्र भगवतः सृष्ट्यादिकर्तृत्वम्, तत् लोकवल्लीला । यथा राजभिर्भूयया क्रियते, तत्र क्रीडैव प्रयोजनम्, नान्यत् । मांसादेभृत्त्यादिभिरत्यानेतुं शक्यत्वात् । अतो लोकेपि प्रयोजनं विना ईश्वरस्य कार्यस्य दर्शनेन तत एव समाधानसम्भवाद्वात्र पर्येत्युपागतकाश इत्यर्थः । तस्याः सामर्थ्यं स्वरूपं च बोधयितुमाह । कैवल्यमिति । तस्य '...अन्यस्य कीर्तयितुः कैवल्यजनकत्वात्कैवल्यं सा, स्वयं मोक्षरूपैव वेति ॥ ३२ ॥

वैषम्यनैर्गुण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३३ ॥

ननु ब्रह्मणः कर्तृत्वं न युक्तम्, कांश्चित्पुत्रिणः कर्तृतो वैषम्यापादकत्वात्, प्रत्यं कर्तृतो नैर्गुण्यापादकत्वात्वेत्याशङ्क्य परिहरति । वैषम्येत्यादि । एवं विभागेन सुखदुःखदानेपि एवं जगज्जन्मादिकरणेपि ब्रह्मणो न वैषम्यं नैर्गुण्यं वा । कुतः । सापेक्षत्वात् । जीवानां कर्मांतुरोपेन सुखदुःखैः सर्वच्छति, प्रत्यं च कर्तोतीति, कर्मसापेक्षत्वात् । इदं च वादिबोधनायोक्तम् । वस्तुवस्तु तदनन्यत्वादिसूत्रैः सर्वस्य वेतनाचेतनात्यक्षस्य जगत् आत्मसद्वैत्वप्रतिपादान्द्वैषम्यनैर्गुण्ययोः सम्भवनैव नास्ति । किञ्च । जीवसुखादिकं प्रति भगवतः साधारणा कारणता, यथा ब्रीह्यादीन् प्रति दृष्टेः । असाधारणा तु तत्कर्तृमणः, यथा ब्रीह्यादीन् प्रति तच्चब्रीजानाम् । अतोपि ब्रह्मणि न वैषम्यादिदोषः । न चेदं कात्यनिकम्, तदाह । तथा हि दर्शयतीति । हि यतो हेतोः श्रुतिरेव साधारण्यादिकं तयोर्दृष्टयति । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्य उश्रिणीपति, एष उ एवासाधु कर्म कारयति, तं यमो निनीपती'ति । 'गुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेने'ति च । न चैवं सापेक्षत्वेत्यनीश्वरत्वम्, विरुद्धप्रमांश्रयत्वेन महामाहात्म्यत्वादिति ॥ ३३ ॥

न कर्मविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३४ ॥

ननु कर्मसापेक्षत्वेन यत्समाधानम्, तत्र युक्तमित्याह । न कर्मैत्यादि । कर्मं नेत्तुं स्यात्, तदा तस्सापेक्षत्वेन ब्रह्मणि दोषो न स्यात् । तदेव तु न । ह्यः । अविभागात् ।

सृष्ट्यादौ 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति ब्रह्मेतरनिषेधे, 'यथायः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा' इति श्रुत्युक्तस्य कार्योद्गमरूपस्य विभागस्याभावात् । ततः पूर्वं जीवाभावेन तच्छरीरसाध्यं कर्मापि न सम्भवति, येन वैषम्यादिः समाधीयेत । न च विभागोत्तरभाविना कर्मणा समाधानम् । कर्मणः शरीरजन्यत्वेन शरीरसम्बन्धस्य च कर्मजन्यत्वेनाप्यन्याध्यायमिति चेत् । न । नायं दोषः । कुतः । अनादित्वात् । स्यादन्वयोपान्यायो, यदि शरीरकर्मपर्यन्तो द्वे एव स्याताम्, तनु नादिति । बीजाङ्कुरवत् शरीरकर्मप्रवाहस्यानादित्वात् । अतो विभागोत्तरं सापेक्षत्वात्सुष्ठुः समाधिरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

उपपद्यते चाशुपलभ्यते च ॥ ३५ ॥

ननु सृष्टेः पूर्वं विभागाभावादानादित्वमेव कथमित्यत आह । उपपद्यत इत्यादि । अपिः पूर्वपक्षिगर्हायाम् । स्वयं योक्तिकः सन् युक्ति विस्मरतीति । बोधधारणे । उपपद्यत एव जीवस्थानादित्वेन कर्मानादित्वम् । यदि हि जीवस्थानादित्वं न स्यात्, कस्य संसारः स्यात् । किञ्च, प्रलयासम्बद्धशायं सदसत्कर्मकरणोत्तरं प्रलये जाते तदानीं जीवानां ब्रह्मरूपत्वेन, सृष्ट्यारम्भदशायं विस्फुल्लिङ्गवद्विभागोपि ब्रह्मरूपत्वस्थानपेतत्वेन कर्मफलभोगायोगाकृतहानिः । सृष्ट्यारम्भे ब्रह्मरूपत्वयाजितिशुद्धानां सकलदुःखनिवहसाधनीभूतशरीरसम्बन्धादकृताभ्यागमश्च स्यात् । जीवस्थानादित्वे चेदं सर्वैशुपपद्यते । न चेदं तर्कसिद्धत्वात्प्रतिष्ठितमिति शङ्कनीयम् । कुतः । उपलभ्यते च । 'अनेन जीवनात्मनानुपपद्यते' इति सर्गादौ जीवपदप्रयोगादनादित्वं श्रुताशुपलभ्यते । चकारात् 'तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवा' इत्यादिस्मृततावपि । तथा च श्रुतौ जीवानादित्वस्य स्मृतौ सृष्ट्यकारणादित्वस्य च बोधनेन कर्मानादित्वं सुखेन सिध्यतीति न कश्चिदोष इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

नन्वेवं सति प्रलये नामरूपविभागानर्हकूपेण सर्वोपस्थानं सिध्यतीत्यविभागलक्षणस्यैवाद्द्वैतस्य सिद्धिः, न तु श्रुद्धान्द्वैतस्यैवद्वितीयश्रुतिविरोधो दुष्परिहर इत्याशङ्कान् परिहरन् स्वोक्तसुप्रसंहरति । सर्वेत्यादि । बोधधारणे । वेदोक्ताः सर्वे धर्माः ब्रह्मणः सर्वसर्पयत्वाद्गुपपद्यन्ते । 'अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जग' इति श्वेताश्वतरश्रुतेर्जीवानामवयवत्वाद्यवयवैवावयविनोऽद्वितीयत्वस्याभङ्गाच्च श्रुद्धान्द्वैते कोपि शङ्कावकाश इत्यर्थः । तेन विशुद्धधर्मार्थं सर्ववादानवसरं समान्यधिकारहितं नानावादादुरोपि ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ३६ ॥ इति दशमं सर्वोपेता इत्यधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रार्थवचनश्रीकृतानश्रीव्रजनायात्मनश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रप्रष्टौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥ (२-२-१)

पूर्वस्मिन् पादे साङ्ख्यवादीनां स्मृतीनां यद्यपि सामान्यतो निराकरणं कृतम्, तथापि केषाञ्चन मद्मतीनां तदुक्तयुक्तियात्मासतायायभागायां श्रद्धोत्पत्तौ विभ्रंशः स्यात्, सा भूदित्यतः कश्चन तदुक्तयुक्तोरामासीत्कृत द्वितीयः पादः आरभ्यते । तत्र पूर्वस्मिन् पाद उपादिताः सत्कारिणाः परिणामवादश्च साङ्ख्यानवादश्च साङ्ख्यानानां तुल्य इति साङ्ख्ये श्रद्धा शीघ्रप्राप्तिरूपस्योत्पत्तेरिति दशमिः सूत्रैः पूर्वं साङ्ख्योक्तयुक्तियामासीकरोति । रचनेत्यादि । अनुमीयत इत्यनुमानम्, प्रधानस्य कारणत्वेनानुमानं न कर्तव्यम् । कुतः । रचनानुपपत्तेः । अयमर्थः । प्रधानं हि महददिरूपात्परिणामाद्गुपीयते । विवादाध्यासिता महदादयो भूतानाः स्वसजातीयं व्यक्तकारणकाः, अथ कण्यापत्न्यात् । ये यज्जातीयव्याप्यास्ते तज्जातीयं व्यक्तकारणकाः, यथा घटादयो मृदादिव्याप्या मृदादिकारणका इत्यादिप्रयोगात् । एवं साध्यमानं प्रधानं न जगत्कारणम् । भूरादिलोकरचनायाः केवलेनाचेतनेन प्रधानेनानुपपत्तेः । रचना हि बुद्धिपूर्विका वा प्रतिनिवतदेशकालव्यवस्थापिका वा स्पर्शनीया वा क्रिया । सा हि नाचेतने कापि दृष्टा । तथा च भूरादिलोकरचना न केवलनाचेतनकारणिका । रचनात्वात् । श्वादिपरिचयान्तः । भूरादिलोकाः नाचेतनकर्तृकाः स्पर्शेनक्रियाविशेषात्प्रत्यक्षपरिचयत्वात् । घटकुल्यादिवत् । प्रधानं स्वतः अकर्तृ । अचेतनत्वात् । स्तम्भादिवदित्यादिभिः प्रयोगैः सत्यतिपक्षत्वाच्च तेनानुमानेन प्रधानं अकारणतयानुपपत्तौ शक्यमिति । नन्वेतैः प्रयोगैः कर्तृत्वस्यैवासिद्धिः, न तु कारणत्वस्येति तत्परिणामाङ्गीकारे को दोष इति चेत् । न । तन्मते पुत्रस्य निष्क्रियत्वेन या काश्चित्क्रियाशक्तिः, सा सर्वापि प्राधान्यवशेवेति रचनाया अपि तदर्थत्वात्सत्कर्तृकाणां लोकानां न तत्परिणामत्वं तैर्लुके शक्यम् । तथा च भूरादयो लोका न प्रधानपरिणामः, तद्विचरन्त्यात् । यद्यद्भित्तम्, तन्न तत्परिणामः, यथा घटादिः, कुल्यालदित्यनुमानेन लोकैः परिणामत्वे निष्ठे प्रधानत्वोपादानतायाः अन्विष्टतः कारणत्वस्यैव ततो निष्ठेः । इदमेव सूत्रे चकारेण सूच्यते ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

अत्रापि अनुपपत्तेरिति पूर्वसूत्रैकदेशो नानुमानमिति चातुर्वर्तते । तथा च श्रद्धानुपपत्तेरिति हेतोः कारणतया प्रधानानुमानं न कार्यमित्यर्थः । ननु पूर्वहेतुवैत साङ्ख्यमते निराहृतैः किमस्व भवोऽनभिमिति चेत् । उच्यते । रचना द्विविधा । स्वप्नरचना जनरचना च । तत्र स्वप्नरचनामत्राच्च साङ्ख्यानानुमाने द्विपेति, जनरचनायाः अचेतनशुद्ध-

शोणितपरिणामरूपत्वात्पूर्वोक्ते रचनात्वहेतुकेऽनुमाने जनशरीररचनाया रचनाविषयत्व-
हेतुके च जनशरीरस्याचेतनत्वहेतुके च शुक्रशोणितयोर्दृष्टान्तीकरणे तेषां साधारणत्वा-
पत्त्या नैः स्वानुमानदूषणममनानः पुनः प्रत्यवतिष्ठदित्यस्तस्तेषां शुद्धेरेव प्रयोजनत्वात् ।
कथं शुद्धिरिति चेत्, इत्थं, प्रवृत्तिर्नाम प्रयत्नस्तरत्पूर्विका क्रिया वा । तथा च ब्रह्मा-
ण्डशरीररचना न केवलचेतनकारणका, प्रवृत्तिपूर्वकरचनात्वात् । मातापितृमृत्तित्पूर्वक-
शुक्रशोणितपरिणामरूपकजनशरीररचनावत् । भूतदिलोकाः न केवलाचेतनकर्तृकाः, प्रवृ-
त्तिपूर्वकरचनाविषयत्वात् । पुरुषशरीरवत् । प्रधानं न स्वतः कर्तृ, प्रवृत्तिमत्वे सत्यचेत-
नत्वात् । जीवशरीरवदिति विशेषणादिना शुद्धेः । नापि हेतुनतेकीदृष्टान्तेनाचेतनप्रवृ-
त्त्युपपत्तिः । तत्रापि चेतनाधिष्ठानसत्त्वेन केवलाचेतनप्रवृत्त्यभावाद् बोध्यः ॥ २ ॥

पयोभ्रुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

ननु मास्तु पेन्वादिदृष्टान्तेन प्रवृत्तेः केवलाचेतनधर्मत्वम्, तथापि क्षीरजलदृष्टान्तेन
केवलाचेतनधर्मत्वं प्रवृत्तेः सुवचम् । यथा दुग्धमानपविश्रयपार्श्वं च पयो विचित्रफेनर-
चनं करोति, यथा च नद्यादिजलं स्वत एव स्यन्दते, तथा च विचित्रलोकादिरचना
केवलचेतनकर्तृका रचनात्वात्, दुग्धमानपयःफेनरचनावत् । बभ्राद्यर्था प्रधानप्रवृत्तिः
केवलाचेतनधर्मः प्रवृत्तित्वात् । नद्यादिस्यन्दनप्रवृत्तिवदिति प्रयोगात् । अतः प्रवृत्तेरपि
क्रियाविशेषत्वमेव, न तु प्रयत्नपूर्वकत्वमित्यत आह पय इत्यादि । अत्रापि नानुमानमित्य-
नुपपन्नः । तथा च उत्तरीत्या पयोभ्रुवदृष्टान्तेनाचेतनधर्मत्वं प्रवृत्तेर्नानुमानमित्य-
नुपपत्तिः । तस्मिन्नापि दृष्टान्ते दोहनाधिभ्रगणयोश्चेतनस्यैव प्रयोजकत्वात्, नदीप्रसङ्गपादो च
मेधानामेव चेतनानां प्रयोजकत्वाच्चैवमपि रचनामाहृद्योरचेतनधर्मत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥३॥

व्यतिरेकानवस्थितेऽन्यपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

एवं प्रकृतेः कर्तृत्वे दूषणस्युक्ता तस्याः स्वतः परिणामे दूषणमाह । व्यतिरेके-
त्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुपपन्नः । व्यतिरेकेण कार्यकरणं विना अनवस्थितिः, अवस्थित्य-
भावे व्यतिरेकानवस्थितिः, ततोपि बाधकात् प्रधानं स्वतः परिणामशीलत्वेन नानुमात-
व्यम् । व्यतिरेकानवस्थितिवे कृत इत्यत्र आह । अनपेक्षत्वात् । प्रधानस्य स्वकारणोप-
न्यानपेक्षत्वात् । तथा च प्रधानं यदि स्वतः परिणमेत, सर्वदेव कार्यात्वविवरे स्यात्, न
तु जातु प्रलयः, गुणत्रयस्य युगपत् शोभागचेत्तदीयकापेययौगपचिञ्जकारेण सद्गुची-
यते । तस्मात्प्रधानस्य स्वभावतः परिणामो न युक्तिसह इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

नन्वस्वाधिर्दृष्टान्तान्तरे प्रधानस्य स्वतः परिणामः समर्थनीयः । प्रधानं स्वभावादेव
परिणमेत, अचेतनत्वात्, तृणादिवदिति । यथा हि तृणशुद्धजनजनि गवादिपशितन्नि

स्वभावेव एव क्षीराकारेण परिणमन्ते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेणैति, एवं चानपेक्षा-
हेतुको व्यतिरेकानवस्थितिर्दोषोपि न भवतीत्याशङ्क्यापमाह । अन्यत्रेत्यादि । अत्रापि
पूर्ववदनुपपन्नः । अन्यत्र शुद्धादौ दुग्धरूपस्य तृणादिपरिणामाभावात्, तृणादिकमपि न
स्वभावेनस्तथा परिणमति । तथा च प्रधानं न स्वभावादेव परिणमति अचेतनत्वात्
तृणादिवदिति हेतुदाहरणयोः साधारणत्वेन एतदृष्टान्तबलादपि केवलप्रधानस्य कारण-
तयानुमानं न कर्तुं शक्यम् । चकारात् घासपश्यादिरूपा गवादिचेतनक्रियापि तत्र
प्रयोजिका दृश्यते । अतो लोकदृष्टान्ताभावात्चेतनं प्रधानं न कारणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

पूर्वमूत्रेष्वनभ्युपगम्य प्रधानकारणवादो दूषितः । इदानीं स उपगम्य दूष्यते ।
यया हेतुवैत्सर्ग्यं स्वत एव प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि पुरुषभोगार्थं स्वत एव प्रवर्तते
इत्यभ्युपगमेपि प्रधानमप्यहेतुनुमानं न कर्तुं शक्यम् । अत्रापि पूर्ववदनुपपन्नः । अशक्यत्वे
हेतुः । अर्थाभावात् । अर्थः प्रयोजनं तद्भावात् । प्रयोजनं हि प्रेक्षातर्कं धासते ।
मेक्षापूर्वकारित्वस्य चेतनधर्मत्वाद्चेतने प्रधाने तस्य धक्तुमशक्यत्वात् । तथा च लोके तथा
अदर्शनेनासङ्गतस्तथाभ्युपगम इत्यर्थः ॥६॥ इति प्रथमं रचनातुपपत्तेरित्यधिकरणम् ॥१॥

पुरुषाश्रमवदिति चेत्तत्रापि ॥ ७ ॥ (२-२-२.)

पूर्वमूत्रेषु सप्तसु वेत्तलप्रधानकारणवादो निराकृतः । इदानीं दृक्शक्तिः पुरुषः
क्रियाशक्तिराशित्यात्पङ्कः दृक्शक्तिःश्रम्यमर्थं प्रथमं क्रियाशक्तिमदाह्वान्योन्योपकाराय
सृष्टिं कुर्याति । अथवा । यथा अयःकान्तः सन्निधिमन्त्रेण लोहे क्रियाश्रयादयति, एतस्यैव
पुरुषसन्निहितं सृजत इति पुरुषेतिप्रधानकारणवादे निराकरोति । पुरुषेत्यादि ।
अत्रापि पूर्ववदनुपपन्नः । उत्तरीत्या पुरुषवदभ्यवह प्रधानमेरणपङ्कीक्रियते इति चेत्,
तथापि तस्मिन्नापि पक्षे प्रधानस्य कारणत्वेनानुमानं न कर्तुं शक्यम् । तत्र हेतुदोषताद-
वष्टयम् । तत्र प्रकरणबलादेव लभ्यत इत्यतो नोक्तम् । तेनायमर्थः । यदि पुरुषस्य
भेदकत्वं स्वाभाविकम्, तदा प्रधानस्याप्रयोजकत्वात् कारणत्वमिति कारणत्वमङ्गदोषस्तद-
वस्यः । यदि प्रधानतन्म, तदा पूर्वोक्ता अचेतनलकृता दीपास्तदवस्था इत्युभयथाव्यस-
ङ्गतः पक्ष इति । स्रवणान्तु तु पुरुषश्च अश्रम्य च पुरुषाभ्यानौ ताभ्यामव्यसम्बन्धः
पुरुषाभ्यवत् । द्रव्यान्ते श्रयमाणो वतिः प्रत्येकमभिसम्बन्धयत इति ॥ ७ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

अत्रैव दूषणान्तरमाह । अङ्गित्वेत्यादि । यच्चयोरन्योन्योपकारकत्वमङ्गीकृतम्, तच्च
दा स्याद्यदि गुणप्रधानभावेनैकस्याङ्गत्वमन्यस्याङ्गित्वं स्यात्, तच्च न सम्भवति । पुरुष-
स्याङ्गित्वे तस्य पुरुषान्तरवैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्तस्य च श्रोतव्यवैचयैव सम्बन्धेन ब्रह्मवाद्-

प्रवेशात् । श्रौतधर्मानङ्गीकारेण कालक्रमेणिकाशयैरपरामृष्टत्वस्य तत्रावश्यवत्कल्पताया योगिष्वदीश्वरसिद्धया मतदानिप्रसङ्गात् । यदि च तद्विषया मङ्गुतेरङ्गित्वमाद्रियते, तदा तस्याः स्वातन्त्र्यात्तया पुरुषाय प्रवेशो न दृशेयितव्यः । तथा सति दुःस्वाभावेन पुरुषस्य विरागाभावात्कैवल्यस्यैव पञ्चव्याप्त्यानानिर्मास इत्युपयथाप्यङ्गित्वात्तुपपत्तेः पूर्वोक्तः पक्षो न सङ्गत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञाशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

नन्वन्यथा वयमनुमास्यामहे, यथा न कोपि दोषो भवति, गुणास्तावदन्योन्याभिमवाप्त्योन्याश्रयान्योन्यजननान्योन्यमिथुनक्रियात्वाच्चलस्वभावाः, तथा च गुणाः एवं विभागशः प्रवृत्तिमन्तः चलस्वभावत्वात् । चलद्वलद्वलवदिति प्रयोगात् । एवं सति तमसा रजःसत्त्वयोर्नियमने प्रलयः, रजसा तमोनियमने सृष्टिः, सत्त्वेन तमोनियमने स्थितिः, एवमन्यान्यपि कार्याणि मिथुनीभावादिना । एवं सत्त्वोद्रेके तेन प्रकाशादात्मविकेके सति निर्मास इत्याशङ्क्यापामाह । अन्यथेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । चोपयै । एवमन्यथानुमितौवपि न चेतनाधिष्ठितायाः प्रकृतेः कारणत्वस्यानुमानं शक्यम् । कुतः । ज्ञाशक्तिवियोगात् । ज्ञानशक्तेस्त्वभावत्वात् । एवं तत्कालिकक्रियानुमितस्तेषां स्वभावात्सदा स्याद्यदि गुणेषु ज्ञानशक्तिः स्यात् । सा तु पुंशुकृत्योः संयोगात्पूर्वं गुणसाम्यरूपायां प्रकृतौ न भवद्विरङ्गीक्रियत इति कथं गुणप्रत्युत्पत्तिः । न च दृष्टान्तबलादिति शक्यम् । जीवत एवाश्वत्थस्य दलस्रज्जलात्त्रापि चेतनाधिष्ठितानुमानात् । अन्यथा छिन्नाश्वत्थशाखाया अपि दलचलनं दृश्येत । अतोऽन्यथानुमितौवपि न सिद्धिः । यदि च चेतनाधिष्ठानसाधैदिकत्वमङ्गीकृत्य प्रथमः साध्यते, तदा पुंशुकृत्योर्नित्यविद्यत्वेन तदधिष्ठानस्यापि नित्यत्वात्प्रलये च कालस्यापि त्वन्मते नाशाद्वियोगकस्याभावेनाङ्गित्वशोकरतीत्या अनिर्मासप्रसङ्गः । तस्मादसङ्गतोऽप्यपि प्रकार इत्यर्थः ॥ ९ ॥

विप्रतिषेधाच्चामञ्जसम् ॥ १० ॥

सर्वपक्षसाधारणं दूषणमाह । विप्रतिषेधेत्यादि । 'केचित् षड्विंशतिं प्राहुरिद्रे पञ्चविंशतिम् । सप्तके नवषट् केचिच्चत्वार्योकादशापरं । केचित्सप्तदशं माहुः षोडशैके त्रयोदशैके'कादशस्कन्धोक्तरीत्या सामञ्जसमतवर्तिनां परस्परविरोधाच्चायुक्तं साम्जस्यमतमित्यर्थः ॥ १० ॥ इति द्वितीयं पुरुषात्मवदित्यधिकरणम् ॥ २ ॥

महद्वीधैवद्वा नृस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥ (२-२-३.)

एवं साम्जस्यमतं निराकृत्येदानीं नैयायिकादिसमयः समष्टुपन्ना निराक्रियते । अत्र वाङ्मन्दो विकल्पार्थः । कृणभसास्रचरणानुयायिनो हि नित्येभ्य उपादानभूतेभ्यः परमाणुभ्यो अणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति । अङ्गुलमत्तन्तूनां तन्तुभ्यः पदस्यैति

सूक्ष्मादेव स्थूलोत्पत्तिदशनात् परमाणुनामवयवाङ्गीकारे चानवस्थापचेत्तत्रैव कारणताया विश्रान्तेः । तत्र जीवाद्यष्टसहस्रकृतेऽश्वरेच्छावशात्परमाणुषु कर्मोत्पद्यते । ततस्ते परमाण्वन्तरेण संयुज्यमानाः प्रत्येकं अणुकल्पं कार्यमात्रमन्ते । परमाणुगुणाश्च अणुकुणुगान् । परमाणुपरिमाणं च नृस्वपरिमण्डले च । तत्र परमाणुभ्यां अणुकारम्मे तद्वत्तद्विस्सङ्घयया अणुकपरिमाणमपि नृस्वपरिमण्डलात्मकारमभ्यते । न तु महपरिमाणम् । तस्य बहुत्वेन प्रचयवियोगेण वा भवनात् । अणुकारम्भकपरमाणुशोच तदभावात् । ततस्तेभ्यः स्थुल्य्यादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिति । तामिमां परमाणुकारणप्रक्रियां दूषयिष्यन्मयमं अणुकपरिमाणं दूषयति । महदित्यादि । परमाणुद्वयसंयोगे अणुकुणुत्पत्त्यत इत्युक्तम् । तत्र नृस्वपरिमण्डलाभ्यां परमाणुभ्याम्युत्पाद्यमानः संयोगो यद्युपर्ययो भावेन, तदा अणुकं महत्स्यात् । यदि प्राक्पश्चाद्भावेन, तदा अणुकं दीर्घवत्स्यात्, संयोगस्याप्यङ्गित्वनियमादित्यर्थः । एतस्य सूत्रस्याप्रियेण सूत्रेण सहाभ्ययो वक्तव्यः । उपहासार्थमेतदनुवादः । य एवं लोकतत्त्वमपि न जानन्ति, ते कथयतामत्तत्तं ज्ञास्यन्तीति ॥ ११ ॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

नन्वेवं अणुकपरिमाणे दूषणेन किं सिद्धमत आह । उभयपयेत्यादि । उपर्ययोभावेनाप्रवयवाङ्गत्वात् नृस्वपरिमाणेन परमाणुसंघट्टनं । परमाणो भवेत्साभावात्तदस्युक्तोद्देश्याप्रायेण अणुकस्यापि परमाणुभावापत्तेः । ननुपर्ययोर्भलेन्स्माभिरपि परिमाणान्तरं न स्वीक्रियते, तथाप्याश्विनयं त्वदण्डवारितमतो न कोपि दोष इत्यत आह । न कर्मेति । नकारो देहलीदीपवदुत्पत्त्यसंभव्यते । परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्मापि न सम्भवति, ईश्वरेच्छया तदनुसृष्टीताद्यष्टदात्मसंयोगेन वा परमाणुषु कर्माङ्गीकारे तेषां प्रलयश्चाप्यापि सत्त्वेन तदानीपि कर्मापत्त्या अणुकस्यापि । प्रयत्नवदात्मसंयोगेन तदङ्गीकारस्त्वसङ्गतः । तदानीं शरीराभावाच्चदानीं तनात्मभेदः संयोगस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नजनकत्वात् । अन्यथा मुक्तेरपि तदापत्तेः । प्रयत्नाभावे च तेषु कर्मायोगात् । अतस्त्वदभावः स्वस्वरविरोधात् हेत्वभावाच्च अणुकस्यैवाभाव इति सिद्धमित्यर्थः । एवं च नृस्वपरिमण्डलाभ्यां परमाणुभावं जायमानं अणुकं महद्वीधेत्वा स्पादुभयथापि न, तज्जनकं कर्मापि न, अतो हेतुद्रवात्तदभावो अणुकस्याभाव इत्यन्वयो बोध्यः । तस्मादसङ्गतः परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

अत्रापि तदभाव इत्यनुषङ्गते । परमाणुअणुकयोः कारणकार्ययोः सम्बन्धस्य समवायाभ्याभ्युपगमादपि अणुकस्याभावः । समवायो ह्ययुतसिद्धयोः सम्बन्धः, अयुतसिद्धौ च तौ ययोद्विरोधरत्नद्वैक्यपराश्रितयोवावच्छिद्ये । स च सर्वेणैको नित्यो

व्यापकश्चेत्यभ्युपगम्यते । एवमभ्युपगम्यमानः समवायः सम्बन्धत्वात्सम्बन्धिद्वयस्वरूप-
निरूप्यः । सम्बन्धि च ग्रन्थेन न सदातनं असत्कार्यवादाभ्युपगमात् । अतः
छष्ट्यारम्भकाले समवायस्य वक्तुमशक्यत्वादिषु ग्रन्थकस्याभावः । किञ्च । साम्याद-
नवस्थितेः । अभ्युपगम्यमानः समवायः सम्बन्धत्वात्संयोगेन तुरयो वक्तव्यः । तथा
सति संयोगस्य यथा सम्बन्धिनि स्थित्यर्थे सम्बन्धान्तरस्य समवायस्यापेक्षा, तथा
समवायस्यापि स्थित्यर्थे सम्बन्धान्तरं वक्तव्यम् । तत्रश्च तस्यापि तस्यापीत्यनवस्थितिः ।
तथा चातोपि हेतोः समवायायोगात्तु ग्रन्थुकाभावा इत्यर्थः । सिद्धान्ते तु प्रादेयस्योपादानेन
सह तादात्म्यमेव सम्बन्धः प्रत्यसिद्धः । घटादिकं यदात्मकं कुण्डलादिकं सुवर्णात्मक-
मित् प्रत्यक्षेणैवावगमाद्भाते न कश्चिदोषः ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

तदभाव इतीहाप्यनुपपन्नते । सामग्रीसमवधानेऽप्यर्थे कार्योत्पत्तिः । प्रकृते च
परमाणोः समवायिनः ईश्वरेच्छादेर्निमित्तस्य नित्यत्वेन तज्जन्यकर्मसंयोगोरपि पूर्वमेव
भावाभित्यमेव सर्गापत्त्या परमाणुजन्यग्रन्थुकाभावा इत्यनोप्यसङ्गतः परमाणुकारण-
वाद इत्यर्थः ॥ १४ ॥

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययोऽदर्शनात् ॥ १५ ॥

एवं ग्रन्थकद्रुषणेन परमाणुकारणवादे निरस्तेपि यावत्पेक्षां नित्यत्वं न दृष्यते,
तावदनन्यथासिद्धनियतपूर्ववैतिल्यरूपस्य तदीयस्य कारणलक्षणस्य परमाणुत्वभिमानेन स
वादः पुनरुचितेदस्तदभावाच्च परमाणुनित्यत्वं दृश्यति । रूपादीत्यादि । यद्दि रूपादि-
मत्तदन्वित्यमिति व्याप्तेः विपर्ययः परमाणुनामप्यनित्यत्वम्, तथा च परमाणवो नित्याः,
सन्ने सत्परमाणवत्वाद्वाकाश्रयदिति साधने अनित्या रूपादिमत्त्वाद्वादादिबदिति प्रति-
साधनस्य सच्चात् । किञ्च । यद्रूपादिमत् तन्न परमाणुतुल्यादिवदिति व्याप्तेस्तेष्वपरमा-
णुत्वरूपोपि विपर्ययः । न च प्रमाणत्वेन परमाणुव्यतिरिक्त एव रूपादिमत्त्वानित्य-
त्वयोर्व्याप्तिरिति वाच्यम् । कुतः । अदर्शनात् । न हि परमाणुर्दृश्यते । येन तद्दृ-
कस्याकारणत्वस्य हेतोः पक्षपर्यवतावसीयेत् । न च तज्ज्ञानेनमित्तिः सम्भवति । अतः
प्रमाणत्वलाभावाच्च तथा वक्तुं शक्यम् । न च कार्यानुपपत्त्यापि तथा शक्यम् । अणुत्वक-
प्रक्रियैव तस्तिद्धेः । अतः परमाणुकारणताया असङ्गतत्वमित्यर्थः ॥ १५ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

दृषणान्तरमाह । उभयथेत्यादि । परमाणुनां रूपादिमन्ने अनित्यत्वं तद्वाहित्ये
कार्यमतरूपादीनां निर्मूलत्वमित्युपपत्त्या दोषात् । चकारेण इतिद्राचूर्णमेलेन विजातीय-
रूपदर्शनात्सजातीयसम्बन्धकत्वानियमविरोधाच्चासङ्गतोऽपि वाद इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

एतन्मतस्य विशेषतो यत्पूर्णं तत्त्वयोजनमाह । अपरिमहेत्यादि । शिक्षानां एतद-
परिग्रहात् अत्यन्तं सर्वथा नापेक्ष्यते, अत एतस्य विशेषेण दृषणमित्यर्थः । चकारोपि-
करणपूर्तिद्योतकः ॥ १७ ॥ इति तृतीयं महरीचैवेद्वैतव्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

एवं समुद्रव्या वैशेषिकादिसमयो निराकृतः । अतः परचूनविधातिभिर्बाहसमयो
निराक्रियते । ते च बाह्याः षट् । चार्वाकाः १, वैभाषिकाः २, सौत्रान्तिकाः ३, योगा-
चाराः ४, माध्यमिकाः ५, आर्वाताश्च ६ । तत्र बृहस्पतिप्रतीकलोकाप्युत्पत्तेश्चाद्रुसारीणो
देहात्म्यादिनः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः तन्मतमत्यसङ्गतत्वाच्चासचरणैरुपेक्षितम् । शेषेष्व-
द्याश्रवतारो बुद्धशिक्षया वैनाशिकाः । तेषां वैनाशिकोचरं पूर्वं निराक्रियन्ते ।

समुदाय उभयहेतुकेपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥ (२-२-४.)

तत्र चतुर्णामपि बौद्धानामप्यात्मन्ने तैवक्यम् । बाह्ये तु वैभाषिकाः सर्वार्थान्
प्रत्यक्षानुमानसिद्धान्तः सतः क्षणिकान् वदन्ति । सौत्रान्तिकास्तु बाह्यान्वदार्थान् ज्ञानान-
नुमेयान् वदन्ति । योगाचारस्तु अर्थजन्यं क्षणिकविज्ञानमेव सत्यं अर्थास्त्वसन्तः स्वाम-
कत्या इत्याहुः । माध्यमिकास्तु, न सन्नासन्न सदसन्न च सदसद्विज्ञानम्, किन्तु शून्यं
सर्वमित्याहुः । तत्राद्या उभये समुदायद्वयं जीवभोगार्थं संदृश्यत इति मन्यन्ते । तत्र पर-
माणुसमूहः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयसमुदायो बाह्य एकः स पृथिव्यादिरूपेण संदृश्यते ।
ततः पुनः स एव भौतिकसङ्घातहेतुतां प्रतिपद्यते । द्वितीय आभ्यन्तराश्रयवैशेषिक-
समुदायः । स च रूपविज्ञानवेदान्तसंज्ञासंस्काराख्यस्कन्धपञ्चकसमुदायात्मकः । तत्र
शरीरं रूपस्कन्धः । अहमित्याकारमिन्द्रियादिजन्यं ज्ञानं विज्ञानस्कन्धः । तदेव विच-
यालयविज्ञानेतिव्यवहित्यमाणं जीवः । मिथाप्रियविषयस्पर्शं या सुखदुःखाद्यवस्था सा
वेदानस्कन्धः । सविकल्पः प्रत्ययः संज्ञासंस्कारयोग्यः संज्ञास्कन्धः । रागाद्यं क्लेशा मद्-
मानाद्य उपक्लेशा धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः । एवं बाह्याभ्यन्तरयेदभिपुञ्जद्वयवैशेषिका-
रेण सकललोकयात्रानिर्वाहे सति नात्या नित्यो नाप्यवयवी कश्चित् स्वीकार्यः । एते च
बाह्याभ्यन्तराः सर्वेयाः क्षणिकाः । 'क्षणिकाः सर्वेसंस्कारा' इति बुद्धवचनात् । अयं
च समुदायो नेश्वरहेतुत्वसद्वान्तर्हीकारात् । किन्तु परमाणुपुञ्जःस्कन्धपञ्चकं चेत्युभय-
हेतुक इति तदुभयसङ्घातसम्बन्धे निर्वातस्यदीपनपूर्वकं क्षणिकविज्ञानात्मकस्य जीवस्य
रूपवेदान्तसंज्ञासंस्कारात्मकः संसार आसंस्कारस्यारक्षणपरम्परयावतिष्ठते । शीघ्रे
तु संस्कारस्कन्धे तैलादिसये दीपवदेव निधांणमृच्छति । सेयमभावमाप्तिरेव मोक्ष इति ।
तदिदं दृश्यति । समुदायेत्यादि । उक्तरीत्या उभयहेतुकेपि समुदायेक्ष्णिकपिमाणे
तदभाप्तिः, जीवस्य तादृशसंसारप्राप्तिः । बुद्धवचनात् सर्वेषां क्षणिकत्वाभ्युपगमात् तेषां

निर्णयपारतया नश्वरतया च समुद्रापघटनानुपपत्त्या कथञ्चित्प्रभावेन समुद्रापघटनाङ्गी-
कारे वा तत्तद्विश्वरीराणां पर्यायेण घटनायाः परिमाणभेदादेशानुपपत्त्या रूपकत्व-
सम्बन्धस्यासम्भवाच्चन्मूलकस्य वेदनारस्कन्धात्मकस्य संसारास्याप्राप्तिः । तथा चासङ्गतं
पुञ्जस्य कारणत्वमित्यर्थः ॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

अत्रापि तदप्राप्तिरित्यनुपपत्त्ये । क्षणिकत्वात्सर्वाधि सूत्रांशेनाशंभय, अंशान्तरेण
परिहरति । इतरेतरेत्यादि । यदुक्तं सर्वसृष्टिकल्पेन जीवस्य संसाराप्राप्तिरिति ।
तथा । इतरेतरप्रत्ययत्वात् । हेतुं हेतुं प्रत्ययं ते गच्छन्तीति प्रत्ययाः साधारणकार-
णानि । इतरेतरं प्रत्यया इतरेतरप्रत्ययास्तेषां भावस्वत्त्वं तस्मात् । अयमर्थः । यद्यपि
सर्वे क्षणिकं तत्र चाविद्यासंस्कारविज्ञाननामरूपपडावयवसत्त्वेदनातुष्णोपादानभवजाति-
जरापरणशोकपरिवेदनादुःखदुःमैर्नस्त्वानामितरेतरकारणतया चक्रवर्परिदृष्टिः, तथापि न
कारणव्यक्तिं प्रति कार्यव्यक्तेः कारणता । किन्तुचरोचरं प्रतिपूर्वपूर्वस्यैवमितरेतर-
प्रत्ययत्वाद्चरोचरसृष्टिकविज्ञानसन्ततिरूपस्य जीवस्य वाद्यार्थसन्ततिरूपानां रूपादि-
स्कन्धानां सम्बन्धात्मके संसारे तादृशसम्बन्धात्मकसंस्कारस्कन्धेन नानाविधशरीराणां
तत्परिप्राणादिभेदानां च सिद्धिः संस्कारविरामावेवाभावरूपमोक्षस्यापि सिद्धिर्नैव तत्र
इति न पुञ्जस्य कारणतायां काव्यनुपपत्तिरिति चेत् । न । अस्त्यनुपपत्तिः । कुतः ।
उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । ये हीतरेतरप्रत्ययाः पूर्वसृष्ट्यास्तै उत्पत्तिमात्रं प्रतिनिमित्तभूताः
स्वसदर्थान् सन्ततिमुत्पत्त्याव नश्यन्ति । तथा सति विज्ञानसन्ततिरूपस्य जीवस्य पूर्वका-
लीभित्वाभियस्यसंस्पर्शभेदसंभानात्कार्थं वेदानादिरस्कन्धात्मकसंसारसिद्धिः । अथानुस-
न्धानमपि कथञ्चिदुपपत्त्ये, तथा सति सन्तानिनः स्थिरत्वापत्त्या सर्वसृष्टिकत्व-
प्रतिज्ञाभङ्गः । विज्ञानसन्ततिरूपस्य जीवस्य क्षणिकत्वेनास्थैयद्रूपादिरस्कन्धसम्बन्धवियो-
गार्थं प्रयत्नानुपपत्तिः । अर्थानां क्षणिकत्वेनास्थैयसमुद्रापघटानुपपत्तिश्चेति संसाराप-
प्राप्तिरूपं दृष्ट्वां दुर्बुद्धरमित्यसङ्गता पुञ्जस्य कारणतेत्यर्थः ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

अत्रापि पूर्ववदनुपपत्तिः । ननु यथा दीपज्वाला उत्पद्यमानैव संहन्यते विषयी-
भवति च, तथा पदार्थान्तरमपि संहस्यत इति न समुद्रापघटानुपपत्तिः । विषयीभावाच्च
नास्थैयैषि संसाराद्यनुपपत्तिरित्यत आह । उत्तरेत्यादि । अयमर्थः । उत्पद्यमानस्य
संहन्यमानत्वं वदता उत्पत्तिः पूर्वं विचार्या । उत्तरोत्पत्तिः किं पूर्वोत्पत्तिज्ञे किं वा
पूर्वनाशज्ञे । नाद्यः, उत्पत्तिज्ञ एव कार्यकारणङ्गीकारे पूर्वापरभावाभावेन कार्य-
कारणभावविरोधादेकमपि न स्यादित्यनुत्पत्त्यापत्तेः । न द्वितीयः । उत्पन्नस्य स्थित-

स्यैवोत्पादकत्वदर्शनाश्रयतत्सददर्शनादुत्तरोत्पत्तिरिति चमये पूर्वनाशादुत्पत्त्याकारभावेनानुत्पत्त्या-
पत्तेः । तथा चोभयथाप्यसङ्गतात्समुद्रापघटानुपपत्तिः संसाराद्यप्राप्तिश्च तदवस्थैत्यतोपि
तत्पत्त्ये ॥ २० ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

नन्वसत्यपि हेतावभावादेव फलोत्पत्तिरिति न कोपि दोष इत्यत आह ।
असतीत्यादि । असति हेतो फलोत्पत्त्यङ्गीकारे प्रतिज्ञोपरोधः, चतुर्विधात् हेतुत्वं प्रतीय-
विचचैत्ता उत्पद्यत इति प्रतिज्ञाया भङ्गः । चतुर्विधा हेतवस्तु आलम्बनप्रत्ययः समन-
न्तरप्रत्ययोपिप्रतिप्रत्ययः सहकारिप्रत्ययश्चेति । तत्रालम्बनप्रत्ययो नाम विषयः तेन
विचस्य नीलाद्याकारता । समनन्तरप्रत्ययः पूर्वविज्ञानं तेन बोधरूपता । अधिपतिप्रत्यय
इन्द्रियं तेन रूपादिग्रहणप्रतिनियमः । सहकारिप्रत्यय आलोकादिस्तेन दृष्टीमस्य
स्पष्टार्थता । एवमेतैश्चतुर्भिर्हेतुभिर्नीलाद्याकारकविज्ञानात्मकं चित्तं विचारिभिरहेतुजायेचाः
मुखाद्यधोत्यद्यन्ते । यदि ह्यसत्येव हेतो फलोत्पत्तिरङ्गीक्रियते, तदैवं प्रतिज्ञा उप-
रुध्यते । अन्यथा । यद्यस्यां प्रतिज्ञायं वस्तुनः चतुर्विधहेतुप्राप्त्या तृणान्तरसम्बन्धे-
नास्याः क्षणिकत्वप्रतिज्ञाभङ्गकत्वादिषु नाद्रियते, तदा यौगपद्यम् । हेत्वभावेन सर्वत्र
मुलभत्वात्प्रतिबन्धाभावेन सर्वै सर्वत एकदैवोत्पद्येत । तथा चोभयथाप्यसङ्गतं सौगत-
मतमित्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

तदुक्तमूल्यविषयकारं दूषयित्वा नाशकारं दूषयति । प्रतिसङ्ख्येत्यादि । प्रति-
सङ्ख्यानिरोधो नाम भावानां बुद्धिपूर्वको विनाशः । तद्विपरीतो निर्हेतुकः स्वभावाद्वा
जायमानोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधः । तयोरपत्तिः असम्भवः । कुतः । अविच्छेदात् । विधो-
षेण छेदः विच्छेदः निरन्वयध्वंसः तदभावात् । तत्र मते पदार्थानां सदृशसन्तानजनन-
स्वभावतया, बुद्धेश्च परस्वभावनाशकतायाः क्रायदृष्टतया सन्ततेरन्वयिरूपोच्छेदाभावेन
सन्तानिनो निरन्वयध्वंससाभावात् प्रतिसङ्ख्यानिरोधासम्भवः । भावपदार्थभावात्स्य तत्र
मते क्षणिकत्वेन क्षणिकानां च नाशकसम्बन्धस्य क्रायदृष्टतेरान्वयस्यापि क्षणिकतया
स्थित्यभावे नाशकसम्बन्धसाभावात्कर्षण इव द्रव्यादिसन्ततेरन्वयिरूपोच्छेदाभावेन निर-
न्वयध्वंससाभावाद्प्रतिसङ्ख्यानिरोधस्याप्यसम्भव इत्यर्थः ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

पूर्वमूले कार्यविचारेण दूषयित्वा स्वस्वविचारेणान्न तौ दूषयति । उभयथेत्यादि ।
अत्र पूर्वमूलात्साध्यांशोऽनुवर्तते । प्रतिसङ्ख्यानिरोधात्मर्गतो यो अधिधानाशस्तमित्तु सति
मोक्ष इति क्षणिकवादिनो विज्ञानवादिनश्च मन्यन्ते । तत्र सपरिकराया अधिधायया निर्द-

तुके विनाशोद्गीक्रियमाणे अर्धचतुष्टयाभ्यासादिज्ञानविधासककारणवैकल्पं द्वयोस्तुल्यम् । यदि स निरोधः सहेतुकोऽङ्गीक्रियते, तदा निहेतुकत्वप्रतिष्ठागारानिरपि द्वयोस्तुल्या । विज्ञानवादप्रतिष्ठे विज्ञानातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वात्साध्यनाशकयोरप्यभावात्सहेतुको वक्तुमपि न शक्य इत्यधिकं दूषणम् । अतः सहेतुकत्वपक्षे निहेतुकत्वपक्षे च दोषाभिरुपद्वयस्याप्यभासिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

अतः परमाकाशं दूषयति । आकाश इति । अत्राप्यभासिरित्येकदेशोऽनुवर्तते । आकाशप्रपञ्चपरणाभावमात्रं निरुपाख्यमिति यदुक्तं तस्याभासिः । कुतः । अविशेषात् । यथा भ्रूमौ घटो जले नौकेत्यादौ भूतान्तरं आभारत्वव्यवहारस्तथात्राकाशे शूद्रोऽत्र श्वेन इति व्यवहारं भूतान्तरतुल्यताया अविशेषात् । तथा च नावरणाभावमात्रं निरुपाख्यं वा आकाशमिति तत्र तथात्वस्याभासिरित्यर्थः ॥ २४ ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

एवं क्षणिकवादिप्रसंगे विशेषतो निराकृत्येदानीं संक्षेपेण निराकरोति । अनुस्मृतेश्चि । अत्राप्यभासिरित्येकदेशात्तद्वृत्तिः । अनु पश्चात् स्मृतिरनुस्मृतिः प्रत्यभिज्ञानं तस्मादपि हेतोः क्षणिकवादास्प्राप्तिः । अयमर्थः । क्षणिकवादी हि सर्वस्य क्षणिकत्वं मन्थानोऽनुभवितुस्तु भूतिविषयस्य सदृशसन्तानेन प्रत्यभिज्ञानमुपपादयति । तदनुसङ्गतम् । प्रत्यभिज्ञाने यः पूर्वं दृष्टः स एवार्थं पदार्थ इति । योर्हं पूर्वमद्राशं सोऽहिर्दानीं पश्यामीत्याकारः, तत्र च स इत्यनेन पूर्वकालवर्तिनोऽयमहिमित्यनेनोत्तरकालवर्तिनोऽभूतिविषयस्यानुभवितुश्चैक्यस्य परामृष्यमाणतया पूर्वापरकालवर्तिन एकस्य सिद्धत्वेन तत्र क्षणिकसन्तानस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तथा च तत्पेदन्तादिसामानाधिकरण्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानात्मकानुस्मृत्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धे बाह्यार्थांनामात्मनश्च स्वैर्ये सर्वोपि क्षणिकवादाः सर्वत्र बाधित इत्यर्थः ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

वैनाशिकाभिमतं क्षणिकवादाप्रतिष्ठागारानुस्यूत्यादानीं 'नानुपपद्यते प्रादुर्भावा'दिति बुद्धशून्याचदभिमतामभावाद्भावात्परि निराकरोति । नास्त इत्यादि । असतः अभावाद्दलीकादा भावोत्पत्तिर्न सम्भवति । कुतः । अदृष्टत्वात् । केवलस्य निःप्रतियोगिकत्वाद्दृष्टत्वात् । अलीकादुत्पत्तेषाददृष्टत्वात् । यत्र यत्र बाधः कार्यजनकत्वेनोदाहृत्यते अङ्कुरदक्षिणदक्षिणतिस्यले, तत्र तत्र बीजदुग्धमत्पिण्डादिप्रतियोगिक एव दृश्यते । स च भावान्स्थास्य एव । प्रतियोगिकत्वभावविशेषणकत्वेन तदेकव्यङ्ग्यत्वात् । न कापि केवळः । अत उपपदेस्थले तदवस्थान्विशिष्टो भाव एव कारणम् । शशशृङ्गादिभ्य

उपपत्तिस्तु न कस्यापि दृश्यत इति नोपपद्यते प्रादुर्भावस्थलेऽप्यभावस्यालीकस्य वा न कारणतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

अभावकारणवाद एव दूषणान्तरमाह । उदासीनेत्यादि । च पुनः एवं अभावमात्रस्य केवलस्य कारणत्वे; उदासीनानां इहवीजवलीवादिंसाधनशून्यानामपि सिद्धिः कृष्यादिफलनिष्पत्तिः स्यादिति शेषः । अभावस्य सर्वत्र गुलभत्वात् । सा तु न दृश्यते, अतो नामावस्य कारणतेत्यर्थः ॥ २७ ॥ इति चतुर्थे सद्युदाय उभयहेतुकैपीत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥ (२-२-५)

एवं दशभिर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मते निरस्ते विज्ञानवाद्यपि कारणशो निराकृत एव । तथापि कार्यशे तन्मते पूर्वस्वादिज्ञानमतस्तदपि निराचष्टे । नेत्यादि । यत्नेन ज्ञानं साकारमभ्युपगच्छता विचित्रवासनावशाच्च तादृशज्ञानोत्पत्तिपक्षीकृत्तवात् बाह्यः प्रयत्नो नास्तीत्यभावा इत्यन्ते, स न युक्तः । कुतः । उपलब्धेः । इन्द्रियसम्बिकर्षे बाह्यमप्युपलब्धमभ्यनन्वात् । अयमर्थः । यत्नेन ज्ञानं साकारमित्यन्ते, तन्निक सर्वाकारम्, उत यत्किञ्चिदाकारम् । आद्ये सर्वानेवाकारान्मुगपदेन प्रकाशयेत् । द्वितीये त्वेकमेव प्रकाशयन्न कदापीतरं प्रकाशयेत् । न च समनन्तरप्रत्ययात्कादाचित्कारकारसिद्धिः । उक्तदूषणस्य तत्प्रवाहेपि तोल्यात् । न च वासनावैचित्र्येणोपपत्तिः । सर्वमेव वैचित्र्यं युगपदेव प्रकाशयेत् । अतः आकारकादाचित्कत्वोपपत्तये बाधोर्धोऽव्युपपत्तयेऽपि । तस्मान्न तस्याभाव इति ॥ २८ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

ननु विमतं नीलादिकं अस्तित्, उपलब्धमनन्वात्वाद्यं हेतुनैकान्तिकः । स्वप्नशुक्लरजतादिदृष्टान्तेन तदभावस्यापि सायपितुं शक्यत्वादित्यत आह । वैधर्म्यादित्यादि । विमतं नीलादिकं अस्तित् । उपलब्धमनन्तवैपि स्वप्नादिवैधर्म्यात् । वैधर्म्यं निहेतुकतात्कालिकान्ययाभाववदभावभ्याम्, बाधाबाधाभ्यां दुष्टादुष्टकारणजन्यत्वाभ्यां बोध्यम् । प्रवृत्तेर्बाधत्वात्नोसार्षं स्वस्य प्रवृत्तेर्विजातोपि चकारणं सूच्यते । तस्मात्प्रपञ्चः सत्य इति सिद्धम् ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

ननु वैधर्म्यमप्युपपत्तम् । स्वप्नेपि स्वप्नान्तत्वेवैधर्म्यदर्शनात् । अतो विचित्रवासनाभ्यो विचित्राणि ज्ञानानि तेभ्यः पुनस्त इति चक्रवदनादिपरिदृष्टमङ्गीकृतौ किमपि न दूषणमिति शङ्कायां वासनां दूषयति । न भाव इत्यादि । वासनापरम्परायाः सञ्ज्ञायाः नोपपत्तिः । कुतः । अनुपलब्धेः । अर्थं विना वासनानामुपलब्धेः । अयमर्थः ।

वासना नाम अनुभवजनितः स्मृतिजनकः संस्कारः, अनुभवकार्यजन्यः । यदि ह्यर्षे विनै-
वाद्युभवो वासना वा स्यात्, तदा स्वप्नं दृष्टोत्थितस्य तदनुभवजन्या वासनास्ताभ्यथ
तादृशानि विज्ञानान्येवावुत्पेरन् । न तु तद्विदृशशानि जाग्रदज्ञानानि भवेयुः । तादृश-
विज्ञानवासनोपमर्दकस्य बाधार्थस्य स्वप्नते अभावात् । दृश्यते त्वन्यथा । अतोर्थ-
व्यतिरेकेण वासनाया अभावादर्थांस्वप्नतेन वासनोपलभ्येत्त्वात्वप्यतिरेकाभ्यामर्षेसिद्धेवै
बाधार्थापलापः शक्य इति नार्थं विना वासनोपलभ्येत् ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

दृष्णान्तरमाह । क्षणिकत्वादिति । वासनाजनकं प्रवृत्तिविज्ञानं पूर्वज्ञणवृत्ति ।
तदाधारभूतमालयविज्ञानं तत्समानकालम् । तथा सति प्रवृत्तिविज्ञानेन यदा वासनोत्पाया,
तदानीं प्रवृत्तिविज्ञानाधारस्यालयविज्ञानस्य नष्टत्वादाधाराभावेनापि वासनानुपपत्तिः ।
न च तत्सन्तानेनोपपत्तिः । विदृशविज्ञानानुपपत्त्यादीनां दृष्णानां प्रागेव व्युत्पादि-
तत्वात् । तस्मादसङ्गतमेवेदं मतमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

सर्वथातुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

किं बहुना । यथा यथा विचार्यते, तथा तथा सर्वप्रकारेणातुपपत्तिरेव स्फुरतीत्य-
सङ्गतमेव सौम्यं दर्शयन्मित्यर्थः । एतेनैव माध्यमिकमतमपि दूषितमायम् । स हि तत्
असत् सदसद्विज्ञणमिति चतस्रोपि कोटीः विधूय शून्यमेव तत्त्वमाह । तत्र येन भ्रमाणेन
सकोटिचतुष्कं विधूय शून्यतां साधयति, तत्त्वमाणं सन् न वा, यदि तत्, तदा सर्वशू-
न्यत्ववतिज्ञाहानिः । यदि न, तदा चतुर्ध्याः कोटयविधूयनानापि तथा, तदभावेन सर्वशू-
न्यताया असिद्धत्वाच्चेति ॥ ३२ ॥ इति पञ्चमं नामाव उपलब्धेतिरत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३३ ॥ (२-२-६)

एवं पञ्चदशभिः सौगतसमयो निराकृतः । इदानीं चतुर्भिरार्हतानां समयो निरा-
कियते । एत एव क्षणिका दिगम्बरा नैनाशोच्यन्ते । एते ह्यन्तमिहः प्रपञ्च उदासीनाः
परिच्छया सर्वं वस्तु नित्यत्वानित्यत्वसत्त्वासत्त्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिरित्येकान्तिकमिच्छन्तः
सप्तमङ्गीनर्यं नाम न्यायमवतारयन्ति । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च;
स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः । स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च स्यान्नास्ति
चावक्तव्यश्चेति । ऐकान्त्यस्य सप्तमङ्गा याता यस्मिन् असौ सप्तमङ्गी । सर्वं पदार्थाः
केनचित्सदिति केनचिदसदिति केनचित्सदसदिति केनचिदनिर्वाच्यमिति सत्त्वेनानि-
र्वाच्यमिति, असत्त्वेनानिर्वाच्यमिति सदसत्त्वेनानिर्वाच्यमित्येवं तेन तेन पुरुषेणोच्यमाना
नैकान्तत ऐकरूप्येण निर्धारयितुं शक्यन्तेऽतः सर्वं एव नैकान्ततो निश्चिताकाराः ।
स्याच्छब्दोभीष्टार्थः । तथा च सर्वेषांकाराः सर्वत्राभीष्टा इति । तद्व्यपति । नैवादि ।

अयं सप्तमङ्गी नयो न सङ्गच्छते । कुतः । एकस्मिन्नसम्भवात् । सप्तानां भङ्गानामेक-
स्मिन्न काल एकस्मिन् पदार्थे असम्भवात् । न हि यद्यदास्ति, तत्तदा नास्तीति सम्भ-
वति । सर्वजनीनप्रत्यक्षविरोधात् । न च प्रयो वट्पुरुषेणास्ति पयादिरूपेण नास्तीत्येवं
सम्भवत्येव भङ्ग इति वाच्यम् । तत्रास्तित्वास्त्योविषयभेदादैकान्त्यापञ्जकत्वेन भङ्गत्व-
स्यैवाभावात् । तस्मादप्युक्तमेवेदं दर्शनम् । ब्रह्मणि तु शब्देन विद्वत्प्रत्यक्षेण च प्रमित-
त्वात्परिगणितगुणत्वाच्च न श्रौते मते किञ्चिद्वृणम् ॥ ३३ ॥

एवं चात्माकात्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

प्रपञ्च उदासीनतया तद्वृष्णाङ्गीकारे दृष्णान्तरमाह । एवमित्यादि । एवं च
एवमपि सति प्रापञ्चिकदृष्णाङ्गीकारेपि सति आत्माकार्स्न्यम् । वस्तुपरिच्छेदाङ्गीकाराद-
सत्त्वत्वम् । त्वया हि जीवोस्तिकायेषु गम्यते । अस्तित्राणशब्दश्चानेकदेशनतिद्वेषत्वाच्च-
कल्येन परिभाष्यते । वस्तुपरिच्छेदे च सर्वस्मिन्नान्नतोऽस्तत्त्वनास्तितापत्त्वहानिः ।
यदा । अकार्स्न्यं क्लृप्तशरीरतुल्यत्वामानः । तथा च पूर्वोक्तदृष्णाङ्गीकारेपि शरीरप-
रिमाणाम्भवादिनस्तव सर्वेषां शरीराणामेकपरिमाणामाभावेन आत्मनस्तदुच्यत्वामाभाव
इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

न च पर्यायद्वयविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

देहपरिमाणत्वाद्दृष्णो समाधिमाशङ्क्य परिहरति । न चैत्यादि । न च जीवो
नानाविधशरीरेषु तत्त्वकर्तृभिः प्रविशैस्ततो निर्गच्छन्मपि तत्त्वच्छरीरावयवोपचयापचया-
नुसारेण स्वावयवोपचयापचयाभ्यां पर्यायत्वात् न कमिकादवस्थाविरोधात् पर्यायाक्रमाद्वा
तत्त्वपरिमाणस्याविरोधोपि न च, वैव, कुतः । विकारादिभ्यः विकारावयवत्वानित्य-
त्वानां प्राप्तेः । तथा चानित्यत्वाप्राप्तेन वृष्यमोक्षान्गीकारो बाध्यतेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्यायवस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

दृष्णान्तरमाह । अन्येत्यादि । अन्येत्यप्यमोक्षावस्थावस्थितजीवपरिमाणस्य
अवस्थितेः अवस्थानात् अनपायात् । चोप्यर्थः । पूर्वोक्तदोषपरिहारायापि उपभयनित्यत्वात् ।
उभयोः संसारमोक्षावस्थयोर्जीवपरिमाणस्य नित्यत्वम् । न ह्येकस्य वस्तुनः कदाचित्प-
रिमाणं नित्यं कदाचिदनित्यमिति वक्तुं शक्यते, लोके तथा अदर्शनात् । अतोऽन्यथा-
द्वयेपि परिमाणस्य नित्यत्वात् अविशेषः देहपरिमाणत्वात्सिद्धया न स्वद्वयमित्यसिद्धिः ।
तथा चासङ्गतमेवेदं दर्शनमित्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति षष्ठं नैकस्मिन्नसम्भवादित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

एतेषु वट्स्वप्नधिकरणेषु तत्त्वस्मृतिविरोधेन ब्रह्म जगदुपादानं न वेति सम्बन्धे,
नेति पूर्वः पक्षः । सर्वसम्भवानामप्युक्तत्वाद्ब्रह्मसोपादानमिति सिद्धान्तो बोध्यः । षष्ठे तु,
ब्रह्मेव विकृद्ब्रह्मधारं नेवरदिति नियमो घुच्यते न वेति सम्बन्धे, स्यादादिति सर्वत्र

२३०

भातमकाशिका ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

तथाभ्युपगमाग्नेति पूर्वः पक्षः । स्याद्वाद्दस्यासङ्गतत्वात् ध्रुत्या भक्तपत्यक्षेण च तथा प्रथितत्वाद्युक्त एव नियम इति प्रकारान्तरमधिकं ज्ञेयम् ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥ (२-२-७)

पराभिमेतान् जडजीवाभिराकृत्य पराभिमेयीश्वरं निराकरोति, अणुमात्रस्यापि वेदविरोधस्य दृष्टत्वबोधनाय । अत्र पत्युरितिपदेभाषिकरणभेदबोधकम् । पूर्वोक्तेषु मतेषु पत्युरभावात्, तेन स्मार्तस्य पत्युनिराकरणमिदानीं प्रकृत्यत इत्यर्थः । तत्र ताव-
ज्ञौतमीयैरौलकैरैरुप्यगमैः पातञ्जलैः शैवाद्याद्युपतकालाद्युक्तवापालिकभेदेन चतुर्विधमहि-
श्वरेश्वरो निमित्तकारणत्वेनाङ्गीक्रियते, न त्पादानत्वेनापि । तेषामयमाशयः । चेत-
नस्य खल्वधिष्ठातुः कुलालादेः स्वस्वकार्ये कुम्भादौ निमित्तत्वमात्रं दृष्टम्, न त्पादानत्व-
पादानत्वयोर्बिभ्रद्वत्त्वादिति । तदिदं दृश्यति । पत्युरित्यादि । अत्र पूर्वाधिकरणारम्भ-
सूत्राश्रयदोऽनुवर्तते । यदेतैस्तात्कारिकादिभिः केवलं निमित्तकारणत्वेनेश्वर इष्यते, तत्र ।
कृतः । पत्युरसामञ्जस्यात् । पत्युरीश्वरस्य केवलनिमित्तत्वे असामञ्जस्यात् वैपम्यनेष्टुपा-
दिभिः सर्वसमत्वनिवृत्त्या लौकिकेश्वरत्वसोदोषत्वापत्तेः । तथा च ध्रुतिपनादस्य दृष्टा-
पुरोधे इदं महादूषणमापततीत्यसङ्गतं तन्मात्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

संनधानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

दृष्टानुसारेण दूषणान्तरं वदति । संनधेरत्यादि । अत्र पत्युरितिपदे विभक्ति-
विरचिणामेनानुपपन्नते । तात्कारिकादिभिरङ्गीकृत ईश्वरो जीवानां पतिर्न । कृतः । संनधा-
नुपपत्तेः नियम्यनियामकभावप्रयोजकस्य संनधस्यानुपपत्त्यनागतत्वात् । तथा हि । निमि-
त्तानाश्रयज्ञातीकारात्र जीवेश्वरोः समवायः । उभयोरेपि विशुत्वेन कर्मावयवयोरभावाच्च
संयोगः । नाप्यजः संयोगः । अनुपपत्त्यनिरस्तत्वात् । नापि स्वरूपसंबन्धः । स्वरूपस्य
नित्यविशुत्वादिभिस्तुल्यत्वेन तस्य नियम्यनियामकभावप्रयोजकत्वात् । अतः संनधा-
नुपपत्तेर्न जीवानां पतित्वेनेश्वरस्य सिद्धिरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

दूषणान्तरं पुनरप्याह । अधिष्ठानेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुपपन्नः । तात्कारिकाधिभि-
मतः पतिर्न । कृतः । अधिष्ठानानुपपत्तेः । अधिष्ठानं शरीरं तदनुपपत्तेः । स हि
कर्तृत्वेन कल्प्यमानः शरीरी कल्पनीयः । तथा सति तच्छरीरस्य कर्ता कश्चित्कल्प्यः ।
शरीरस्य जन्यत्वनिमित्तम् । कर्ता तु न वञ्चः शक्यते । सृष्ट्यादौ जीवानां निःशरीरतया
असम्भवात् । दृष्टापत्तीविरहे केवलजीवाद्दृष्टस्याप्यधिकञ्जिकत्वात् । निःशरीरत्वादेवै-
श्वरोपि न स्वशरीरकर्ता । न च तश्चित्यं निरवयवम् ; अदृशेनाचयात्वासिद्धेः । अधि-

ष्ठानपदे आधारस्यापि सङ्गः । आकाशादेरनित्यद्रव्यस्याधारत्वात्पुनपचेरपि न निरधिष्ठा-
नकर्तृत्वेन सिद्धिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

करणवच्चेत्र भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

अधिष्ठानराहित्यस्यादोषत्वमाशङ्क्य परिहरति । करणवदित्यादि । करणवदिति
द्वितीयायै वतिः । तथा च यथा शरीररहितोपि जीवो मनश्चक्षुरादिकं करणप्राप्तमधिष्ति-
ष्ठति, स्वस्वकार्ये भेरयतीति यावत्, तथा ईश्वरोपि जीवानधिष्ठास्यतीति चेत् । न । कृतः ।
भोगादिभ्यः भोगादिदोषपक्षकः । यथा हि करणान्यधिष्ठितान् जीवः पुष्पनापाभ्यां
सुन्दुःखरागद्वेषादिभाषन्वति, तथेश्वरोपि स्यात् । तत्र तदसंयोगं निरामकभावमाह ।
इदानीमपि निरतिशयैश्वर्यस्यासिद्धत्वात् । अतो नानेनापि दृष्टान्तेनाधिष्ठानसम्भव
इत्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता न ॥ ४१ ॥

दूषणान्तरादपि तार्किकसमयो न युक्त इत्याह । अन्तवत्त्वेत्यादि । जडजीवयो-
नियमनार्थे ईश्वरोभ्युपगम्यते, नियमनं चैतयायं सम्भवति, अतस्तेषामपिचाङ्गीकाराय । न
तथा सति तेषामन्वयस्यम्, इयथापरिच्छिन्नेषु प्रयादित्यन्तवत्त्वस्य दृष्टत्वात् । यदि चैत-
ज्ञिया जीवानां इषावकत्वादसङ्ख्येयत्वञ्च नेयत्वाङ्गीक्रियते, तदा असङ्ख्येयस्य सर्वा-
ज्ञेयत्वनिमित्तमसर्वतद्विषयज्ञानयेश्वरं अभावेनासर्वज्ञता स्यात् । अत उभयथापि दोषाद-
सङ्गततात्कारिकसमय इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति सप्तमं पत्युरसामञ्जस्यादित्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥ (२-२-८)

अथ भागवते मते कश्चिदर्थं निराचष्टे तस्यांशस्य श्रुतिविरुद्धत्वस्यापनय । न च
मोक्षार्थं 'पञ्चरात्रस्य कुलस्य वक्ता नारायणः स्वयंमिति वाक्याचस्य भगवत्कृतत्वेन
कथं तत्र श्रुतिविरोधः सम्भवतीति शङ्कयम् । कौर्मं चर्ददेशाध्याये गौतमसमुत्पनि-
विभोहनाय कृतानां श्लाघाणां मते 'पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथास्यानि सहस्रस्र' इति पञ्च-
रात्रस्यापि गणनया तत्रापि तावन्देशस्य मोहनार्थे बुद्धिपूर्वं स्थापनेन तत्सम्भवस्य
युक्तत्वात् । न च 'सङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । आत्मप्रमाणान्येतानि न
हन्त्वपानि हेतुभि'रिति मोक्षधर्माविरोधः ; 'अस्रपादप्रणीते च काणादेः साङ्ख्ययोगयोः ।
त्यास्यः श्रुतिविरुद्धोऽस्यः श्रुतेकशरणैर्द्वैभि'रिति पराशरोपपुराणोक्तदिशा तावदंश्वयति-
रिक्तांशे हेतुभिर्न हन्त्वपानितीति तदर्थेनाविरोधात् । एतेषां सर्वेषामात्मप्रमाणानां भग-
वदेकनिष्ठत्वे प्रमाणत्वम्, पुःस्फूर्तिकान्यायेश्वरणे समवायान्वयमिति मोक्षार्थं तत्रैव नित्य-
पांश्च । एवं सिद्धे विरुद्धांशे सोऽय उदाह्रियते । ते हि वायुदेवः परं ब्रह्म तस्यात्सङ्ख्यैर्णो
जीवस्तस्यात्मपुत्रो मनस्तस्मादिन्द्रियदोहङ्कार इत्येवमुत्पत्तिप्रक्रियां वदन्ति । चतुर्णामी-

श्वरत्वं च । तदत्र दृश्यते । उत्पत्त्यसम्भवादिति । उत्तरदृश्यस्यो नकारोवाप्यन्वेति । यदत्र जीवस्योत्पत्तिरुच्यते । तत्र । कुतः । उत्पत्त्यसम्भवात् । जीवस्य जन्यत्वाङ्गीकारे अनित्यत्वापस्या मोक्षसाधनशासनवैकल्यात्प्रसङ्गेन 'न जायते न म्रियते' इति श्रुतिविरोधेन च उत्पत्तेरयुक्तत्वात् ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

दृषणान्तरमाह । न चेत्यादि । यदुच्यते सङ्कर्षणसंज्ञकाज्जीवात्प्रयुञ्जसंज्ञं मन उत्पद्यते, प्रयुञ्जसंज्ञकान्मनसोनिरेद्धसंज्ञकोद्भवा इति, वदति न । कुतः । लोके कर्तुः सकाशात्करणोत्पत्तेरदर्शनात् करणादपि कार्यान्तरदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

अथोच्यते सर्वे एते विज्ञानादिमन्तः परमेश्वरा एव, तथा सति विरुद्धधर्मावस्थात्वात् कोपि दोष इति । तत्राह । विज्ञानेत्यादि । उत्करीत्या विज्ञानादीनामीश्वरधर्माणां तेषु सद्भावे तदप्रतिषेधस्तेषामनियमनम् । तथा सत्यनेकेश्वरत्वापरित्यग्यैः ॥ ४४ ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

शाण्डिल्यशतसुधु वेदेषु परं श्रेयोऽलम्बथा इदं शास्त्रमधीतवानित्यादिरूपवेदनिन्दामुचितात्तद्विरोधाच्च । तथा वैतम्ब्यो दोषेभ्य एतवानसो न युक्त इत्यर्थः । तथा च वेदविरुद्धानां स्थूलानामप्राप्त्याप्याप्त तापिः स्वतः किञ्चिदकलमिति सिद्धम् ॥ ४५ ॥ इत्यष्टमसूत्रसंभवादित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रार्थचरणैकतानश्रीब्रह्मजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितानां ब्रह्मसूत्रटीको द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥ (२-३-१)

द्वितीये पादे श्रुतिविरुद्धस्तिनिराकरणेन तद्विरोधस्याकिञ्चित्करत्वात्प्रापानेन वैदिकवाक्ये प्रमेयविरोधो नापादायितुं शक्यत इति प्रतिपादितम् । तृतीये पादे श्रुतिवाक्यानां विप्रतिषेधपरिहारार्थं तेषां परस्परविरोधः प्रतिपाद्यते । न चास्य प्रथमपादेन गवायैता, तत्र ब्रह्मरूपत्वे तदर्थेषु च यो विरोधस्तस्य परिहारात् । अत्र तु जडानां जीवानां संबन्धी यो विरोधः स परिहित्ये इति तदभावात् । न च ब्रह्मविज्ञानात्प्रायाः प्रविज्ञानत्वात्तद्विहायैवविचारस्य किं प्रयोञ्जतमिति शङ्क्यम्, ब्रह्मभावे जडजीवयोरापि

ब्रह्मात्मकत्वात् । न च तथापि मुख्यं विहायास्य करणे किंपावश्यकमिति शङ्क्यम् । जन्माद्यधिकरणविषयपरिज्ञानोपनयनेन मुख्योपयोगितायास्यावश्यकत्वात् । अतो द्वितीये प्रासङ्गिके परिहृत्य प्रस्तुतस्य श्रुत्यविरोधस्यैव पुनर्विचारोत्तरप्रमाणोत्पत्त्यादे विधीयते । तत्र जीवविचारे प्रमासाविचर्यासूचीकृताहन्त्यायेन पूर्वं जडविचार आरभ्यते । जडानां सृष्टिर्द्वान्ते द्विधा । भूभौतिकं सर्वं ब्रह्मणः सकाशादेव विष्कृलिङ्गन्यायेन साक्षादुत्पद्यत इत्येका विधा । विषयदािक्रमेणोत्पद्यत इत्यपरा । न च सर्वस्य ब्रह्मण्यत्वे अजन्तस्यावश्यकत्वात् तथा सत्युत्पत्तेरभावात्सृष्टिरेवासङ्गतिरिति वाच्यम् । अनामरूपत्वानोपेक्ष्य नामरूपव्यवस्थाभिष्यक्तैरेव सृष्टितया तस्या अजन्तविरोधात् । सा च जडस्यैव प्रलये प्रतिनियतनामरूपत्यागेन सर्वेषां जडानामेव ब्रह्मण्येकीभावात् । जीवानां तु स्वरूपतिरोभावभावेनाविभागोपि स्वरूपनाद्वन्त्यात् । न चैवं सति ब्रह्मणो जीवकारणत्वाभावाः । विभागद्वारा कारणत्वस्य सिद्धेः । 'अनित्ये जनने नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतो माकथं चेति सा त्रिषे'त्यभियुक्तमसिद्धेरादिर्भावाशङ्केर्षेविध्यात् । एवं च कालविशेषे प्रतिनियतनामरूपशास्त्रित्वं कार्यत्वम् । सर्वदातच्छालित्वादिकं च नित्यत्वमिति फलति । एवं सिद्धायां सृष्टौ क्रमिकायां तस्यां सन्देहः । छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मित्युपक्रम्य, 'तदैक्षत त्वेजोऽञ्जजते'ति तैजोब्रह्मसृष्टिश्चक्षा, न वाद्यत्वात्तयोः । तैचिरीये तु 'ब्रह्मविद्यामोति पर'मित्युपक्रम्य 'तस्मादा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिना आकाशादिकोक्ता । तत्र किंपाकाश्च उत्पद्यते, न वा । तत्र तावत् नोत्पद्यत इति प्राप्तम् । कुतः । अश्रुतेः । अत एवोत्सृष्टादिदशेषेषु तदवयवानङ्गीकारोपि । न च साङ्ख्यादिदशेषेषु तामसाहङ्काराद्युच्यत इति स एव तदवयवस्यानीय इति युक्तम् । श्रौतानां वादिनां तद्विरुद्धाङ्गीकारस्य युक्तत्वात् । श्रुतो ब्रह्मण एव सर्वत्र कारणत्वात् । अतस्तस्मात्सापूर्वकसृष्टिर्बोधकं छान्दोग्यवाक्ये तदुत्पत्तेरनुक्तत्वात्तदोक्तत्वात् नोत्पद्यत इति ॥ १ ॥

अतः समाधानः सिद्धान्तमाह ।

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यातर्कयति । अस्ति वियदुत्पत्तिस्त्विचिरीयके । यद्यपीसापूर्वकसृष्टिः सा न भवति, तथापि तदुक्तादत्तेरे ईसापूर्विकायां कस्यचन विरोधस्याभावात्तदुक्तमपि ग्राह्यमेव । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमतिज्ञाया अतुरोपचैचिरीयस्येत्साकाङ्क्षित्ये छान्दोग्यस्यस्य चाकाशादितासाङ्गत्वेवधारिते द्वयोः क्रमसृष्ट्येकार्थ्येनैकवाक्यस्यसिद्धेय ॥ २ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ ३ ॥

सूत्रत्रयेण पुनः पूर्वपक्षं वदन्नुत्पत्तिं समर्थयति । विद्यदुत्पत्तिरावरणनिवारणेनाभिव्यञ्जनादौषी भविष्यति । कुतः । असम्भवात् । लोके हि सावयवस्यैवोत्पत्तिर्दृश्यते, आकाशस्य तु निरवयवत्वात्समावयवभावेनासमवायिनसद्व्यवयवयोगस्याप्यभावेन निमित्तभूतादीश्वराज्जीवाद्यष्टाच्च केवलदुत्पत्तिर्न वक्तुं शक्यते । किञ्च । व्यापकस्योत्पत्तिः प्रत्यक्षविद्वात् । किञ्च । ब्रह्मणो अमूर्तत्वाचेनाकाशावर्णस्याप्यशक्यवचनत्वात्सृष्टेः पूर्वपाकाशभासोपि न वक्तुं शक्यः । अतो निरवयवत्वविश्रुत्वाभ्यामसम्भवात्सा गौणी, ब्रह्मपक्षस्यैवमुच्यते, यथा गोअश्वपक्षेऽप्येव त्वपशव इति । लोकेऽप्यवकाशं कुर्वन्ति गौणप्रयोगदर्शनाच्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु श्रुत्यपेक्षया लोकस्य दुर्बलत्वात् समादिफलकतया पूर्वकाण्डस्यापि लोका-
नुरोचित्वात्तदादायोचरकाण्डव्याकुलीकरणमनुचितमित्यत आह ।

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

‘वायुरन्तरिक्षं च एतद्द्रव्यं’ इति । ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य’ इत्यमृतवन्नित्यत्व-
बोधकाण्डव्यादापि गौणीत्यर्थः ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

ननु वैशिष्टीयोक्ताया विद्यदुत्पत्तेर्गौणत्वं न वक्तुं शक्यम् । तत्र सम्भूत इत्येकस्यैव
पदस्योचरत्वावर्तनादेकत्र गौण्ये मुख्यत्वेऽङ्गीकारे युगपद्विद्वयविरोधावत्सैरित्याशङ्क-
यामाह । स्यादित्यादि । इत्यामाशङ्का न कार्या । यत एकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य ‘तपसा
ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मे’ इति श्रुतेः प्रथमवाक्ये मुख्यम्, द्वितीये गौणी दृश्यते, तद्व्यापि
सम्भवात् । न च तत्र प्रयोगेदोस्तं, नात्र, सम्भूतशब्दस्यैकस्यैव प्रयुज्यमानत्वात्, अतो
न स दृष्टान्त इति शङ्क्यम् । अत्रापि वाग्यान्तरे सम्भूतशब्दस्य नुरावर्तनेनैवान्वयस्य
भवनेन प्रयोगभेदस्यात्रापि सत्त्वात् । तस्माद्गौण्येवाकाशसम्भूतिश्रुतिरित्येवं प्राप्ते
तत्परिहरति ॥ ५ ॥

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाण्डवद्भ्यः ॥ ६ ॥

यथाकाशोत्पत्तिश्रुतिर्गौणीत्यङ्गीक्रियते, तदा शब्देभ्यः प्रतिज्ञाहानिः ‘येनाश्रुतं
श्रुतं भक्त्ययमत्वं मतमविज्ञातं विज्ञातं’मित्यादिशब्देभ्यः सिद्धाया एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य
प्रतिज्ञायाः हानिः । मत्प्रियापदे सुषां सुलुगिति षष्ठ्यालुङ् । कथं तस्याः हानिरित्यत
आह । अव्यतिरेकात् । कार्यत्वेन रूपेण व्यतिरेकस्याभावात् । अयमर्थः । छान्दोग्यवाक्यं
हि तवोपजीव्यम् । तत्र या एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा, साप्रे ‘यथा सोम्य एकेन दृष्टि-

ष्ठेनेत्यादिना प्रकृतिविकारभावेन व्युत्पाद्यते । यथाकाशो नोत्पद्येत, तदा तस्य ब्रह्मवि-
कारत्वाभावात् स ब्रह्मविज्ञानेन न विज्ञायेत । न च स्वरूपसंबन्धेनाकाशस्य ब्रह्मसंबन्धत्वा-
त्स्यापि ज्ञानं सुशक्यमिति वाच्यम् । तथा सति तस्य ज्ञानस्योभयविद्विज्ञा जायमानत्वे-
नैकविज्ञानजन्यत्वाभावाद्दुस्तान्दमन्यवविरोधाच्च प्रतिज्ञाहानिनात्तदस्यैव स्यात् । न च
जीववर्दशब्देन तस्य ज्ञानं भविष्यतीति वाच्यम् । अंतस्य लौकिकज्ञानाविषयत्वात्,
आकाशस्य च तद्विषयत्वेनाश्रयत्वात्तदवयववचनत्वादिति ॥ ६ ॥

यावदिकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

नन्याकाशो नोत्पद्यते, निरवयवत्वात् व्यापकाच्च, यदेवं तदेवं ब्रह्मवत्, यज्ञैवं तज्ञैवं
पटादिविति प्राक्कृतस्यानुमानस्य न परिहारः, तदभावे च न गौण्या अपि निवृत्ति-
रित्यत आह । यावदित्यादि । तुशब्द आकाशोत्पत्त्यसम्भवात् न वारयति । इयं
शंका न कार्या । कुतः । यावदिकारं सकले विकारे विभागोऽस्ति । लोकवत् । यथा लोके
विकृतं मात्रमुत्पद्यते, तथाकाशोपि । अत्र व्याप्तिदृष्टान्तोद्योगस्यासात्त्वस्यनुमानं दर्शि-
तम् । आकाश उलयते विकृतत्वत् । विकृतो लोकिरुक्त्यवहारविषयत्वात् । यदेवं तदेवं
पटादिवत् । यज्ञैवं तज्ञैवमीश्वरवदिति । तथा च पूर्वोक्तानुगतस्य सत्यपिपक्षत्वात्
तेनाकाशस्यानुत्पन्नत्वसिद्धिरित्यर्थः । न ‘चाकाशवत्सर्वगतश्च नित्य’ इति श्रुतेः ब्रह्मेवो-
पमानत्वेनाच्यमानस्याकाशस्य व्यापकत्वनिवृत्त्ययोः श्रावणाच्चद्विरोध इति शङ्क्यम् ।
‘समोनेन सर्वेणैत्यत्र सर्वस्य भगवदुपमानताया भगवतः सर्वपरिमाणवशेषेण इवास्यापि
भगवतो नित्यविशुत्त्वभावन एव तात्पर्यात् । न च सादृश्यं विना उपमानताया असम्भवं
इति शङ्क्यम् । लोकदृष्टया सादृश्यमादाय तत्सम्भवात् । न चात्र मानाभावः । ‘न
तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, न तस्य प्रतिभा अस्ती’ इति सामान्यविषयश्रुतेः ‘यथायानाकाशा-
दिति नमोऽय्यायस्त्वशुक्तेश्च तत्र मानत्वात् । एवं वाक्यान्तरेपि बोध्यम् । तस्मादीदृष्टान्तं
वाक्यानाम्ब्रह्मबोधनार्थमात्र तैराकाशानित्यत्वसिद्धिरिति सोऽप्युत्पद्यत इति सिद्धम् ॥ ७ ॥
इति प्रथमं न विद्यदित्यधिकरणम् ॥ १ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥ (२-३-२)

‘भ्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सेपानस्त्वमिता देवता यद्वायु’ इति बृहदारण्यके
वायोरनस्त्वमित्वब्रह्मवाद्यदुत्पन्नत्वस्यापि सिद्धिः श्रुतिविनिर्दिष्टास्तन्नेहै, भूतात्मा वायु-
नोत्पद्यते । छान्दोग्ये तद्भ्रुवेरिति पूर्वपक्षे आह । एतेनेत्यादि । एतेनाकाशोत्पत्ति-
समर्थनेन मातरिश्वा मातयेन्तरिक्षे ष्यति गच्छतीति मातरिश्वा वायुव्याख्यातान्छान्दो-
ग्योक्तप्रतिज्ञानुरोधिनीभिः पूर्वोक्तप्रतिक्रियत्त्वमित्यनेन समर्थयति इत्यर्थः ॥ ८ ॥ इति
द्वितीयं मातरिश्वेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

असम्भवस्तु सतोनुपपत्तेः ॥ ९ ॥ (२-३-२)

ननु 'हरितो रोरितादासीदुन्मुस्तस्याभवस्तुष्ट' इत्यादिपुराणवाक्येष्वन्तेरुपर्य-
यैकत्वदर्शनात्सदेव सोम्येदमत्र आसीदिति श्रुतावगपस्तेरुपर्ययैकत्वस्य शक्यवचनत्वा-
दाकाशत्रयद्रव्यगोच्यत्वपिरस्तिवितैवाविकसङ्काशायाह । असम्भव इत्यादि । तुरुक्तसङ्का-
निरासे । सतः सन्मात्रस्य उत्पत्तेरसम्भवनः । न हि कार्योत्पत्तिवृत्तान्तेन कारणस्याप्यु-
त्पत्तिवैक्यं शक्यते । न हि कुण्डलोत्पत्तौ कनकोत्पत्तिः । नामरूपविशेषाभावात् । किञ्च,
'तुष्यतु दुर्जनं' इतिन्यायेन स्त्रीक्रियमाणाय अपि तस्या असम्भवनः । कुतः । अनुपपत्तेः ।
सा हि स्वतोपपत्तो वा । नाशः । असम्भवात् । नान्यः । अनवस्थापत्तेः । अतो यदेव
मूलं तन्मित्यपिमिति तदेव ब्रह्मेति तस्य नोत्यपिचिरिर्त्यर्थः ॥ ९ ॥ इति तृतीयमसंभव इत्य-
धिकरणम् ॥ ३ ॥

तेजोतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥ (२-३-४)

तेजः किं साक्षात् ब्रह्मणः सकाशाद्ब्रह्मण्यते, उत परम्परयेति सन्देहः । छान्दोग्य-
तैत्तिरीयश्रुतौ परस्परविरोधात्सन्देहोत्पादिके । तत्र छान्दोग्यश्रुतेरीक्षापूर्वकत्वेन मुख्यत्वा-
त्साक्षात्पक्ष एव श्रेयानित्यत आह । तेजोत इत्यादि । तेजः अतः बायुत एवोत्पद्यते । कुतः ।
तथा ह्याह । 'बायोरग्नि'रिति श्रुतिः हि यतो हेतोः तथा बायोरेव सकाशाचेजस उत्पत्ति-
माह तस्मात् । अयपर्यः । छान्दोग्यशाक्यं प्रतिज्ञासिद्धयर्थं तैत्तिरीयमपेक्षत इति साधि-
तम् । तथा सति तस्य तैत्तिरीयश्रुतौ प्रथमिति निर्वाहवादम् । तत्र या पञ्चमी बायुपदे, सा
वेदान्तार्थे, तदा ब्रह्मणः सकाशाद्ब्रह्मण्यतन्तरे तेज उत्पत्तमित्यर्थो भवति । यदा तु सा हेतोः,
तु (तदा) बायोः सकाशादित्यर्थो भवति । यद्यप्युभययापि प्रतिज्ञा सिध्यति, तथाप्यात्मन
इति प्राथमिकी पञ्चमी हेतोः, 'पृथिव्या ओषधयः' इत्यादावपि मृत्युज्ञानुरोधादित्यपेक्षे
हेताविति हेतोरेव मायापाठो युक्तः, नानन्तर्यस्य । अत्र च 'तेजोऽज्जते'ति साक्षा-
दुच्यते, अत उभयसामञ्जस्यार्थं बायुभावापन्नब्रह्मणः सकाशातेजस उत्पत्तिः । एवमा-
काशभावाद्बायोस्तिपि ज्ञातव्यमिति ॥ १० ॥ इति चतुर्थे तेजोऽज इत्यधिकरणम् ॥ १॥

आपः ॥ ११ ॥ (२-३-५)

तथा ह्यारहेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा च आपस्तेजस उत्पद्यन्ते । हि यतो हेतोः
श्रुतिद्वयमपि तथाह 'तेज ऐशत तदयोऽज्जते'ति 'अधेराप' इति च । अतो नात्र किञ्चि-
द्विषयवित्यर्थः । अन्ये तु, अतः श्रद्धस्याप्यनुवृत्तिमिच्छन्तः । सूत्रप्रयोजनं त्वविरोध-
रूपान्नं, श्रुतौ कापि न विरोध इति ॥ ११ ॥ इति पञ्चमपाप इत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरैभ्यः ॥ १२ ॥ (२-३-६)

'ता आप ऐशत बहुधः स्वामि प्रजायेयीति ता अन्नमसृजन्ते'ति । अत्र सन्देहः ।

किमन्नशब्देन पृथिव्युच्यत, उत व्रीह्यादय इति । यद्यप्युपजीव्ये तैत्तिरीयवाक्ये अद्वयः
पृथिवीत्युक्तम्, तथापि 'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योश्च'मित्येषु दर्शनापत्त्या तैत्तिरीया-
नुरोधादाकाशावायुव्यवधानं तेजसोऽभ्युपगतम्, तथा पृथिव्योषधिव्यवधानमन्नस्यास्तीकृत्तु
शक्यते, रुदिश्च स्वीकृता भवतीति गुणाः, तथापि भूतमायपाठस्यागोचरपेक्षितमौक्तिकग्रहणं
च दोषः । पृथिवीग्रहणे तु रुदित्यागो महान् दोष इत्यतः पक्षद्वयस्याभ्यं तत्र बीजम् । पूर्वप-
क्षस्तु, अन्नपयः इति सोम्य मन आगोमयः प्राणस्तेजोमयी वागित्यनेजसोः सहकारात्पृ-
थिवी लोकासिद्धिर्वाद्यादिकम् । 'तस्यापयश्च कचन वर्षति तदेव भृषिद्यमन्नं भवतीति वर्षण-
भृषिद्यल्लिङ्गादौषधयोप्यत्र सम्भवन्ति । अद्यत इत्यन्नमिति योगोपि विप्र तुल्यः । कीरःदिशु
सृष्टस्रणस्य पशुव्योषधिमक्षणस्य घुरुपादिपशुभक्षणस्य दर्शनात् । अतोत्र यौगिकमाय-
पाठशब्दीनां त्रयाणामप्यविरोधादिति । सर्वोच्यते । अन्नपदेन पृथिव्येव ग्राह्या । नान्यद-
दयम् । कुतः । अधिकाररूपशब्दान्तरैभ्यः । अधिकारः मस्तावः, स भूतानामेव, न भौति-
कानाम् । 'यत्कृष्णं तदन्नस्यै'त्यनेनोक्तं नीलं रूपमपि पृथिव्या एव, भूतसहपाजान् ।
'अद्वयः पृथिवी'ति शब्दान्तरम् । तेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः । एतैयोगमैवेत्यर्थं परिहित्वे ।
लक्षणा तु नास्त्येव, अतोन्नपदेन पृथिव्येवात्रोच्यत इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इति पञ्च
पृथिव्यधिकारैत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

तदभिधानादेव तु तद्विज्ञातसः ॥ १३ ॥ (२-३-७)

एवं तैत्तिरीयश्रुत्येकवाचयतया छान्दोग्येपि क्रमेण ब्रह्मणः सकाशात्ब्रह्मभावात्त-
द्विदित्यवधारितम् । तत्र संशयः । क्रमशःशब्दाकाशादयः किं स्वतन्त्राः स्वस्वकार्ये
सृजन्ति, उत परमेश्वरतन्त्रा इति । तत्र तावत् मासम् । 'आकाशाद्वायुः बायोरग्नि'रिति तैत्ति-
रीये, 'तेज ऐशत बहु स्या'मिति छान्दोग्ये भूतानां वेत्तायाश्च हेतुत्वस्य कर्तृत्वस्य कथ-
नार आकाशादयः स्वतन्त्रा एव सृजन्तीति । एवं प्राप्ते, अभिधीयते । तदभिधाना-
दित्यादि । तुशब्द उक्तपूर्वपक्षश्रुत्यादयः । स एव परमात्मा वाचादीन् सृजति ।
तथाकाशादिसृष्ट्यैः कथमभिधानं इत्यत आह । तदभिधानादिति । 'बहु स्यां प्रजायेये'ति
श्रुत्या सहस्रमहेणोक्तात् आकाशस्यः स्यात्, बायुरूपः स्यामित्यादिरूपास्तस्य तत्पदुपयव-
नाभिध्यानात् । न चाभिधानस्य तेजःप्रकृतिसाधारण्यश्च तस्य ब्रह्मतत्त्वाभिधान-
ल्लिङ्गत्वमिति शङ्क्यम् । तेजःप्रकृतियपि तस्यदोषनिवन्धने प्रकरणेन च तस्य ब्रह्म-
धर्मत्वनिश्चयात् । अतस्तस्य तस्य कार्यस्योत्पादनार्थं तदभिधानं तत्सदादात्मकत्वं तेन
च तच्छब्दावाच्यत्वमित्युपपत्तेः । ननु याश्रुतमेव कुतो न सृष्टत इत्यत आह । तद्विज्ञा-
दिति । सर्वत्र वेदान्तेषु 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोगिनः । यतः प्रसूता जगतः प्रसूती । पृथ-
पृथिव्यां सिद्धम् यः पृथिवीमन्तर' इत्यादिविदुः सर्वकर्तृत्वस्वरूपाद्ब्रह्मल्लिङ्गात् । तथा वातो यथा

श्रुतार्थस्यावगममित्यर्थः । एतेन महतो देवताया वा यत्कार्यं जायमानं ह्यवधे, तत्सर्वं ब्रह्मण एव तत्पदात्मकाज्जायत इति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इति सप्तमं ब्रह्मिध्यानादेवेत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

विपर्ययेण तु क्रमोत् उपपद्यते ॥ १४ ॥ (२-३-८)

ननु तैत्तिरीये छान्दोग्ये श्लोः क्रमो निरूप्यते । न तु प्रलयस्य । नैयायिकास्तु सप्तवाच्यसमाधिकारणनाशात्कार्यनाशमङ्गीकुर्वन्ति, तत्किमादरणीयं क्रमच्छब्दाभिति संशयः, नैयायिकमतस्य लौकिकत्वात्, युष्कश्च्युतो 'यथा सुतीसात्वाकादिसिद्धुक्लिङ्गाः सवहस्रः प्रभवन्ते सरूपाः, तथाऽस्ररादिविधाः सौम्य भावाः प्रवर्तन्ते' तत्र वैवापियन्ती'त्यत्र यौगपथेनैवाप्यभ्रावणाच्छ्रुतं यौगपथमादरणीयमिति प्राप्तम्, तत्राह । विपर्ययेणेत्यादि । तुः उक्तशङ्कानिरासे । क्रमच्छब्दो येन क्रमेणोत्पत्तिर्न तेन क्रमेण प्रलयः, किन्तु तद्विपरीतः प्रलये क्रमः । अतो ब्रह्मणः सकाशादुत्पत्त्यनन्तरं यतस्त्वैव प्रलयः । ननु तथापि बुद्धौ कथयमारोहेत्, तत्राह । उपपद्यते इति । न ह्यत्र युगपच्छ्रित्तो येन यौगपथमाद्रियेत । नापि वैशेषिकादिवद् ध्वंसपन्नो येन तदुक्तमाद्रियेत । अत्र तु श्रोतः सत्कार्यवादः, इत्यधिकप्रलयो तु निर्गमप्रवेशो, अतो येन क्रमेण निर्याति, तद्विपरीतक्रमेण प्रविशतीति विपरीतक्रम एवोपपद्यते, नान्य इत्यर्थः ॥ १४ ॥ इत्यर्षमं विपर्ययेणेत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तच्छिद्धादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

मन्त्र तैत्तिरीयानुसारेण छान्दोग्यस्य सर्वं महाशुभोत्पत्तिवाच्यं विचारितम् । अतः परं श्रोत्रमनसोरुत्पत्तिक्रमो वक्तव्यः । छान्दोग्ये 'अनेन जीवेनात्मानुमविश्ये'ति, 'बोद्धवानां कलानामेका कलातिशिष्टासी'दिति तयोः सिद्धबन्दिदेशादित्याज्ञायापमाह । अन्तरेत्यादि । पूर्वं तैत्तिरीयैकावयवतया छान्दोग्यवाच्यं विचारितम् । एवं सति छान्दोग्ये सिद्धबन्दिदेशेणैव तैत्तिरीये आकाशाद्यभ्रमयन्तस्युत्पत्तिश्चिह्नत्वा ततोऽन्यमायादयो निरूपिताः । तत्रान्तरपरयाभ्ररसमयत्वादित्दया तर्किर्देशात् तत्कारणसामग्री औपध्यकत्वात् । तत्र आन्तः प्राणमयः तत्साप्त्री वायुकाकाशपृथिवीरूपा, तच्छिरःमभृत्तिक्रमेण प्राणव्यानापानाकाशपृथिवीनामेवोक्तत्वात् । एवमेवद्वयसाप्त्री 'ओषधिभ्योऽभ्र'मित्यन्तेन पूर्व-श्रुत्युक्तौ । आनन्दमयस्तु परमात्मा मूलकारणम् । स तु 'तस्याद्वा एतस्मादात्मनः' इति मूलकारणत्वादात्मयदेवैकोक्तः । अतः परं मनोमयविज्ञानमवाच्यवशिष्येते । तत्र छान्दोग्यैकवाच्यतात्स्यारणाय विपरीतक्रमेणाह । अनन्तरा विज्ञानमनसी इति । पद्ये विद्यमाने विज्ञानमनसी किं भूतेभ्यः पूर्वश्रुत्ये, उत पश्चादिति वक्तव्यम् । तत्र पूर्वपक्षी आह । क्रमेण तच्छिद्धादिति । पूर्वमात्मनः सकाशादाकाशोत्पत्तिक्रमेणानन्दमयनिकटे विज्ञानमयः हरे क्रमोपपत्तौपि हरे आकाशादिव्यतिः प्राणमय उक्तः, अतोऽत्र परमात्मनिकटे बचन-

कृष्णयोर्छिद्धादाकाशात्पूर्वं मनस्त्वमादपि पूर्वं जीव इति । तत्पूर्वम् सिद्धबन्नाह । इति चेन्नाविशेषादिति । एवं न वक्तव्यम् । कुतोः । अविशेषात् । एतयोर्नामरूपविशेषाभावात् । छान्दोग्ये जीवस्यात्मपदेन विशेषितत्वात् । तैत्तिरीये च तथिमनस्योके 'अभ्र-व्येष्टुष्यसत्' इति ब्रह्मत्वेन कथनात् । मनसोपि छान्दोग्येऽनेन पोषणस्वैवाभिमततया तज्जन्मनोऽनभिमेत्याह । तैत्तिरीये तस्य वेदरूपतायाः स्फुटत्वात् । अस्तस्योत्पत्तिर्न वक्तव्येऽर्थः । नन्वत्रान्तःकरणवहिरुत्पत्तिरुत्पत्तिक्रमः कुतो न विचारित इति शङ्क्यम् । प्रश्नोपनिषदि स 'प्राणमयश्चत प्राणच्छङ्कां स्वं वायुव्योतिरापः पृथिवीमिन्द्रियं मनोऽभ्र'मिति भावणेनानन्दमयत्वादिति ॥ १५ ॥

चराचरव्यपाराश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

ननु मनोमयस्य वेदस्य विज्ञानमयजीवस्य चानुत्पत्तिर्न युक्ता, तदनुत्पत्त्वो सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । न्यवहारमात्रस्य तदधीनत्वात् । न हि जीवं विना संसारा वा द्युद्युष्ट्यां कर्मेक्षणमप्यधिकारी वा कश्चिज्जवेत् । न वा वेदे विना धर्माधर्मादिकसमस्तार्थी-मवगन्तुं शक्येत । अतस्तयोस्त्यधिकृतव्येत्यत आह । चराचरेत्यादि । वरमधरं च चराचरे स्थारजङ्गमे शरीरे तयोः शरीरयोर्व्येपाराश्रयः समागमहेतुकः संबन्धः । स तु जीवस्य स्यात् । 'जावमान' शरीरमभिसम्पद्यमान उक्तमिष्यन्त्रियमाण' इति श्रुत्या सम्भ्यु-त्कमाभ्यां देहसम्पन्नेनेव जननमरणयोस्तत्त्वादिति । ननु यदि जीवस्य समागममात्रम्, नोत्पत्तिः, तदा जातकर्मादिसंस्काराभावप्रसङ्गः । न हि ते शरीरस्य क्रियन्ते । तथा सति मृतकोत्पत्तावपि कर्तव्याः स्युः । अतस्तस्याःपुन्यत्तिः स्वीकार्येत्यत आह । तत्र्यपदेशो भाक्त इति । तयोर्नेममरणयोर्नाम जीवे व्यपदेशः, देवदत्तो जातो, देवदत्तो मृत इत्यभिहायः, स तु भाक्तः, शरीरस्य जन्ममरणशालित्वात्तत्संबन्धेन लाक्षणिकः । ननु येन लाक्षणिकत्वमुच्यते, स संबन्धो लक्षणारूपः, को वस्यत आह । तज्जावभावित्वादिति । तस्य भावस्त-ज्जावः शरीरेऽहमित्यभिमानस्तेन भवति व्याप्तिसिद्धति तच्छरीरस्तज्जावभावी तच्चात् । तथा च शरीराभिमानरूपः संबन्धो लक्षणारूपः, तदेतदुक्तत्वेन आतादित्योगस्य भाक्तत्वम्, जातकर्मादिसंस्काराणां च देहविशिष्टविवक्ष्यमित्यर्थः । एवं जीवस्य देहसम्पन्नेनैतोत्पत्ति-मत्वम्, न तु स्वत इति सिद्धम् ॥ १६ ॥ इति नवममन्तरा विज्ञानमनसीत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताम्यः ॥ १७ ॥ (२-३-१०)

ननु पूर्वं नामरूपविशेषसंबन्धात्त्वाज्जीवस्य नोत्पत्तिरित्युक्तम्, तत्र नियापकं किमप्यस्ति, न वेति शङ्कानिरासायाधिकरणान्तरमारभते । तत्र जीवस्यैव देवदत्तादि नाम, न शरीरमात्रस्य । मृते देवदत्ते गथाभादादिकरणानुपपत्तेः । एवं नामसंबन्धे तत्र सिद्धे सोप्युत्पद्यते इति प्राप्तम्, तत्राह । नात्मेत्यादि । आत्मा जीवो नोत्पद्यते । कुतः । अशुद्धैः ।

जीबोत्पत्तिबोधकभ्रुत्वमत्वात् । लोकेऽपि देवदत्तो जात इति देहोत्पत्तिरेवाभिलष्यते, न तु तस्मादिदंकेणालम्बनः । 'अज्ञादङ्गात्सम्भवसि इदयादधिजायते' इत्यादिश्रुतावपि देहोपलक्षित एव जीवः प्रतीयते, अतः आदादिशालेऽपि देहोपलक्षित एव ब्राह्मणः । अन्यथा तु देहवदन्तित्यायां पुत्रेष्टियायाश्चादादिद्विलम्बनसङ्गात् । प्रेतादिपूर्वजन्मकथनाद्युपपत्तेः । अतो देहस्यैव अन्मादिघर्मवत्त्वात्संबन्धनैव जीवस्य जन्मादिघर्मवदेव इति निश्चयः । विष्णु-ल्लिङ्गवदशुभरणं तु नोत्पत्तिः । नामरूपविशेषसंबन्धाभावात् । नामरूपान्तरसंबन्धव्यैबोत्पत्तित्वम्, न केवलस्य व्युत्थरणस्येत्यत्र किं गमकमिति शङ्क्यम् । 'पयोर्णेनामस्तन्तुनोबरे-दित्यव्यवहितपूर्वेषु कस्य दृष्टान्तस्यैव गमकत्वात् । अन्यथैकेन निर्वाह इतरवैयर्थ्यमसङ्गात् । अतस्तन्तुनां नामरूपसंबन्धादयं दृष्टान्तः प्राणादीनां नामरूपान्तरसंबन्धत्वात्प्राप्त्यवबोधको, विष्णुल्लिङ्गदृष्टान्तस्तु जीवानां व्युत्थरणमात्रबोधक इत्यास्येयम् । ननु दृष्टान्तस्याप्यन्यापि नेतुं शक्यत्वात्तत्रान्तरात्रेण निर्वाह इत्यत आह । नित्यत्वाच्च ताभ्य इति । ताभ्यः 'अयमा-त्सोऽग्नोरुत्पन्नः ।' 'न जायते न भिद्यते वा विपश्चित् ।' 'नित्यो नित्यानमात् ।' 'अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराण' इत्यादिश्रुतिभ्यो' नित्यत्वाद्रूपि । तथा च न जीवस्योत्पत्तिरि-त्यत्र श्रुतिरेव निगाधिकेति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति दशमं नाल्माश्रुतेरित्यधिकरणम् १०

ज्ञोत एव ॥ १८ ॥ (२-३-११)

अतः परं जीवस्य गुणान् विचारयन् प्रथमतश्चेत्तयं गुणमाह । इ इति । जानातीति शः । ज्ञानधर्मा । यो यदुणकः, स तदात्मक इति ज्ञातेः सम्प्रत्यक्षे साधितत्वात् ज्ञान-स्वरूप इत्यपि । कुतः । अत एव । 'विज्ञानात्प्रमेरे केन विज्ञानीयात् ।' 'न पश्यो मय्यु-पवसति ।' 'एव हि द्रष्टा श्रोता मन्ता रसयित्तेत्यादिभ्यः, 'अज्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः विज्ञानं यज्ञं तनुत' इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्य इत्यर्थः । तेन काणश्चान्नामिदं न केवलं चिद्धर्मा । नापि साङ्ख्यवदकेवलं चिद्रूपः । किन्तु चिद्धर्मा चिद्रूपश्चेति सिद्धम् ॥ १८ ॥ इत्येकादशं श्लोक्तं एवेत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥ (२-३-१२)

अतः परं जीवस्य परिमाणं विचार्यते । शारीरकब्राह्मणे 'स वा एष महानज आत्मे'ति, कौश्रीतकीब्राह्मणे च 'योयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेष्विति श्रावणेन, श्वेता-श्वतरे च 'आराधमात्रो हवरोपि दृष्ट' इति, 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः, स चानन्त्याया कल्पव' इत्यनुत्पत्त्याश्रयेण सन्देहात्, बहुभिः सांख्य-नैयायकादिभिर्जीवस्य व्यापकत्वाङ्गीकाराद्याप्यक एव जीव इति भासते, आह । उत्क्रान्-तीत्यादि । अत्र पूर्वसूत्रादत एवेत्यनुत्पत्तौ ततः पूर्वैस्मादात्मेति च । सूत्रयोजना तु, जीवात्मा, उत्क्रान्तिगत्यागतीनां संबन्धी । कुतः । अत एव । उत्क्रान्त्यादिविबोधक-

श्रुतित एवेति । उत्क्रान्तेः श्रुतिस्तु कौश्रीतकीब्राह्मणे प्रतर्दानरूपायां 'स यदाऽस्मा-च्छरीरादुत्क्रान्तिरस्यैवैतेः सर्वैस्क्रान्ती'ति । गतिश्रुतिरपि तत्रैव गात्रह्यापिभ्येत्ये-संबादे । 'ये के चास्मादुत्क्रान्त्यान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वं गच्छन्ती'ति । आगतिश्रुतिस्तु बृहदारण्यके शारिर्ब्राह्मणे । 'तस्मादुत्क्रान्त्योरेत्यस्यै लोकाय कर्मेण' इति । तथा च व्यापकत्वं उत्क्रान्त्यादिक्रियाबोधकश्रुतीनां पीढापत्त्या न तथा, किन्त्वयुरेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

ननुत्क्रान्तिगत्यागतयो ल्लिङ्गविशिष्टस्यैव, न केवलस्येति, यथा स्थूलशरीरोपा-धिना जन्मपरणव्यपदेश औपचारिकः, तथा ल्लिङ्गशरीरोपाधिक उत्क्रान्तिव्यपदेशोऽपि तत्त-आह । स्वात्मनेत्यादि । जीवात्मा स्वात्मना स्वस्वरूपेण चकारादिन्द्रियैः सहापि उत्त-रयोः गत्यागतयोः संबन्धी । अत एव । तन्नोदकश्रुतिभ्य एवेत्यर्थः । तास्तु । 'ऊर्णना-भिर्षया तन्मत्सृजते सञ्चरत्यपि । प्राग्रतश्चमे तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनरिति ब्रह्मोपनिषदि । 'अनेन जीवेनात्मनाऽप्युपविश्येति छान्दोग्ये । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्तेती'ति बृहदारण्यके । 'कामरूपमुत्सञ्चर'ञ्चिति तैत्तिरीये भृगुपनिषदि । एवमेतासु चतसृषु जीवस्य पदवस्थाः प्रदर्शिताः । तत्र जामत्युपाधिपरिष्णङ्गादिन्द्रियैः सह गत्यागतिसंबन्धी । स्वमे त्विन्द्रियाणां लयेन साक्षिण एव केवलस्य स्वयंज्योतिष्वात्स्वत्वात् । उद्यमप्येवम् । अनुपवेशस्योपाधिपरिष्णपदकत्वाद्दुपवेशदशायां केवल एवेति स्वात्मना । अप्ययः सुप्रतेऽप्युपलक्षकः । तत्राप्युपाधिलयापथा । सुक्लो तु प्राणो नास्ति, बुद्धिरपि नास्तीत्येवं स्वात्मना गत्यागतिरसंबन्धाच्चैव स्वतोयुरेवेत्यर्थः ॥ २० ॥

नाप्युत्तच्छ्रुतेरिति चैत्रेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

व्यापकत्वमात्रज्ञ च परिहरति । नेत्यादि । जीवात्मा नाप्युपवितुर्परति । कुतः । अतच्छ्रुतेः । बृहदारण्यके 'स वा एष महानज आत्मे'ति । कौश्रीतकीब्राह्मणसमाप्तौ 'योयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यनुत्पत्तिरुद्धमहत्त्वसर्वभागव्याप्यत्वश्रुतेरिति चेत् । न । एताभ्याम-णुत्वाभावात् न सिध्यति । कुतः । इतराधिकारात् । इतरस्य परब्रह्मणः अधिकारात्, प्रस्ता-बात् । आधायाः ब्रह्मपकरणस्यत्वं 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनेत्यत्र व्युत्पादितम् । द्वितीयस्याः समाप्तौ 'इदं सर्वं यदयमात्मे'ति सर्वात्म्यस्वरूपाङ्गीकाराद्विज्ञानादवगम्यते, तस्मादित्यर्थः ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

हेत्वन्तरमाह । स्वेत्यादि । बृहदारण्यके 'स्वयं विद्वह स्वयं निर्मायं स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिती'ति जीवशाचकः स्वशब्दः । उद्धृत्य वस्त्वन्तरात्पुण्यकृत्य मानं उन्मा-नम् । 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याया कल्पव' इति । 'अङ्गुष्ठाग्रो रवितुल्यरूपः सङ्क्रान्त्याङ्कारसमन्वितो यः । बुद्धेर्गुणेनात्म-

गुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट इति श्वेताश्वतरे उक्तम् । ताभ्यामपि जीवोपशुरेव सिध्यति । स्वमे व्यापकस्य शरीरपरिमाणकस्य च विहारसम्भवात् । उक्तोभ्याना-
सम्भवाच्च । चकारेण उप्योतिर्भावोक्तं 'सन्ध्यं कृत्यं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने
निष्ठुञ्चे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं वैद्युक्तं सत्यावागतदर्शनं सत्कृष्यते ।
तथा चैभ्योपि हेतुभ्योपशुरेव जीव इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

ननु सत्यमेभिरशुद्धं सिध्यति, तथापि जज्ञमाहादौ सकलशरीरव्यापित्वस्या-
शुपलक्ष्या बाध्यते, अतोत्राशुत्वसाधिका युक्तिर्वैकल्पिकत्वात्काम्यां तामाह । अविरोध
इत्यादि । जीवे अशुत्वसर्वशरीरव्याप्योविरोधो नास्ति, तादृशसामर्थ्यवत्त्वात् । अयं च
हेतुदृष्टान्तेन सूच्यते । चन्दनवदिति । यथा चन्दनं शरीरैकदेशे स्थितं सकलदेशमुखं
जनयति, यथा च तरुणदृष्टवत्तैलकटाहं निक्षिप्तः सर्वं तैलं शीतलं करोति, तद्वत् ।
सामर्थ्येनाङ्गीकारेण मूलधुन्मानवावर्धयेत् 'स चानन्त्याय कल्पत' इति 'कष्टं सामर्थ्यं'
इति सामर्थ्यार्थकथातुपयोगो बोध्यः । चन्दनसूक्ष्मावयवः सर्वदेहवसर्पणमङ्गीकृत्य दृष्टान्तं
व्याकुलपूतार्थं 'श्वरं हन्ति शिरोरुद्धा सहदेवी जटा यथे'स्यपि दृष्टान्तो बोध्यः । चन्द-
नपदं तु सूत्र उपलक्षणविषयोक्तमित्यदोषः ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाशुपगमाद्बुद्धि हि ॥ २४ ॥

ननु चन्दनदृष्टान्तेन सामर्थ्यव्याप्तिसाधनमुक्तम् । चन्दनं एकदेशस्यापित्वस्य
प्रत्यक्षतो निश्चितत्वेन ततः सकलशरीरव्यापिशैश्वर्यप्रत्यक्षत्वेन च चन्दने व्यापनसामर्थ्य-
कल्पनाया उचितत्वेपि जीवे शरीरैकदेशस्यापित्वस्य प्रत्यक्षेणानिश्चयादृष्टान्तवैषम्येन जीवे
तादृशसामर्थ्यसिद्धिर्न भवतीत्याशङ्क्यामाह । अवस्थितोऽपि । अवस्थितोऽपि अत्र पूर्ववत्तादविरोध-
पदमनुवर्तते । अवस्थानमवस्थितिः । विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, तस्मात् । अनुपहृतत्वञ्चि
तमृत्कटाहं वैकदेशावस्थानस्य प्रत्यक्षगोचरत्वरूपाद्विशेषभाष्यचन्दने भवतु नाम तथा ।
जीवे तु न तथा वक्तुं युक्तम्, तादृशवस्थितिवैशेष्याभावादिति चेत् । न । कुतः । अशु-
पगमात् । जीवस्यापि स्थानविशेषस्याशुपगमादविरोधः । ननश्चुपगमसिद्धान्तत्वस्यभो-
जक इति शङ्क्यामाह । हृदि हीति । हि 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे' इति श्रौतयुक्तिसञ्ज्ञा-
वाद्बुद्धि हृदयदेशे जीवस्थितिः । तथा च श्रुत्यन्तरम् । 'दृह्यन्तज्योतिः पुरुषः । स वा एष
आत्मा हृदि । हृद्येष आत्मे'त्यादि । तथा च प्रत्यक्षेण चन्दनस्यैव जीवस्यापि हृदयवस्थितेः
शब्दान्निश्चये सामर्थ्येन सर्वशरीरव्याप्तौ दृष्टान्तवैषम्याभावेनाविरोध इत्यर्थः ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

श्रौतरीत्या समाधानेपि लौकिकः प्रतिवादी न तूष्णीको भवतीति लोकरीत्या

युक्तिमाह । गुणादेत्यादि । वाशब्दोनादरे । लोकवत् । लोक इव गुणादविरोधः । यथा
लोके एकदेशस्थापिनोपि मणोः प्रभास्यो गुणो बहुदेशं व्याप्नोति, तथा जीवस्यापि
वैकल्पिको गुणः सर्वं शरीरं व्याप्नोतीति । न च प्रभाया द्रव्यत्वम् । स्वर्गात्पुलम्भात् ।
मण्याच्छादने बहिस्तदनुपलम्भात् मणिनामो नाशब्धेति ॥ २५ ॥

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

प्रभायां गुणत्वस्य सन्दिग्धत्वान्नयं सिद्धं दृष्टान्तमाह । व्यतिरेक इत्यादि । विशेष-
पेयातिरिच्यते इति व्यतिरेकोऽर्थिकदेशदृष्टवत्त्वम्, सोप्यनुयुयते गुणविशेषे । कुत्रेत्या-
काङ्क्षायामाह । गन्धवत् । यथा गन्धश्चम्पकादेस्तद्विधिं देशं चपलभ्यते, तद्वदित्यर्थः ।
अन्यर्थः श्रुत्याप्युच्यते । 'यथा हस्तस्य सम्युपस्थितस्य दूराद्गन्धो वास्तेवै पुष्पस्य कर्मणो
दूराद्गन्धो वाती'ति ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

वैतन्यस्य गुणत्वे प्रमाणमाह । तथेत्यादि । यथास्माभिर्गुणाद्व्याप्तिरुक्ता, तथा
च तेनापि प्रकाशेण दर्शयति श्रुतिः । कौशीतकिब्राह्मणे वालापयज्ञातस्रजुसंवादे 'तं होवा-
चाज्ञातस्रजुर्वैषे पृथ्वालाके पुरुषोऽप्यश्रित्य यत्रैतदश्रुत पतदापा'दिति प्रतिज्ञाय, 'हिता
नाम पुरुषस्य नाश्वी हृदयात्पुरीततमपिमतन्वन्ति, तद्यथा सहस्राया केस्रो विपाटित-
स्तावदुष्ण्यः पिङ्गलस्यापिभ्रस्तिदृष्टिं शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्य च तासु तदा
भवती'ति हृदयायतनत्वं तादृशनाडीयुः स्थानेनाशुपरिमाणत्वं चाभिधाय, तस्यैव हृदया-
यतनस्यागोरातनः । स एष माण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोचय्य
आनन्त्याग्रेभ्य' इति प्रज्ञात्परनोक्तिपूर्वकं परिष्टत्कयनाभैतन्नेन गुणेन सर्वेशरीरव्यापित्वं
दर्शयति । अन्यथा अणोर्वाप्तिनोपपद्येत । अतोऽशुत्वबोधनपूर्वकं व्याप्तिबोधनाभैतन्यं
गुण एवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

हेत्वन्तरमाह । इन्द्रपदार्थसंवादे 'प्रहया शरीरं समाख्ये'ति प्रज्ञायाः करणत्वेन
पृथगुपदेशसम्भवात्पदवाच्यं चैतन्यं गुण एवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वाच्च तद्ब्रह्मपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

ननु परिमाणविषयिणी विप्रतिपत्तिस्तदा निवर्तते, यदा जीवस्य ब्रह्मणः सकाशा-
ज्ज्ञेदः मिद्धः स्यात् । स एव तु नास्ति । छान्दोग्ये 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्त्व'मिति
सर्वस्य ब्रह्मत्वरक्तत्वमुक्त्वा, अग्रे 'स आत्मा तत्त्वप्सी'ति सर्वसाञ्चित्तत्वात् संप्रदायस्य
जीवस्य तत्पदसापानाधिकरण्यप्रावणं परमेव ब्रह्म जीव इति साधयति । ब्रह्मणश्च
व्यापकत्वं 'सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिशनेषु स्फुटम्, अतः कथमशुन्नमिति शङ्कया-

माह । तद्गुणस्यादि । तु शब्द उक्तशब्दात्प्राप्तव्यर्थः । उक्तव्यपदेशमात्राश्रुताभावश्च न कर्तव्यः । कुतः । उच्यतेऽथः जीवस्य ब्रह्मत्वेन कथनम् । तद्गुणसारत्वात् । तस्य ब्रह्मणो गुणाः साराः प्रचानभूताः जडवैलक्षण्यकारिणो यस्मिन् । जीवस्य तादृशत्वात् । तथा ब्रह्माश्रयस्यादिना राजर्षेण यथावत्येव राजपदयोगो गौण्या, तथा ब्रह्माश्रयस्यादि-ब्रह्मपर्येण जीवेषु गौण्या ब्रह्मत्वव्यपदेशः । प्रज्ञायाः ब्रह्मपर्येण तु 'प्रज्ञा च तस्यात्सद्युता पुराणी'ति श्वेताश्वतरे । द्रष्टृत्वादीनां 'तदा एतद्वर्षं गच्छेत् अष्टमं द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं' इत्यादौ प्रसिद्धम् । न एव यथा जीवे प्रचानभूता इति त्विन्द्रतर्देनसंबादे 'यश्च या वाचं समारब्ध वाचा सर्वाणि नामान्प्राप्नोती'त्यादिवाक्येषु । गौण्या च जीवे ब्रह्मत्वं भेदेयीब्रह्मणे 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः भियो भयस्यात्पनस्तु कामाय पतिः भियो भवती'त्युक्तमनाहृत्य वाक्यान्वयादिभिर्हेतुभिर्ब्रह्मणो वाक्यावैश्वर्यवतिपादानेन भियस्वस्यापि ब्रह्मपर्येण साधितेऽर्थात् सिध्यति । जीवब्रह्मणोर्भेदश्च 'सुषुप्त्युत्क्रान्तोर्भेदेन'त्यत्र साधितः । अतो ब्रह्मव्यपदेशमात्राश्रुतवाचः । नन्वेतदयुक्तम् । तन्मस्यादिवाक्ये तस्य ब्रह्मत्वं कथतो निरूप्यते । न हि निरूपणस्थल एवोपचारः सम्भवतीत्यत आह । प्राज्ञवदिति । सम्भवति निरूपणस्थलेऽप्युपचारो यथा प्राज्ञे । तथा हि । नृहृदाश्रयके शारीरकब्रह्मणे सुषुप्त्यवस्थासामयिकं जीवस्वरूपं निरूप्य, 'तपसा भूयसा शिवा सम्यग्चित्तको न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति जीवब्रह्मणोर्भेददृष्टान्तेनिरूपणात्पश्चरे, 'एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनारयना सम्यग्चित्तको न बाह्यं वेद नान्तर'मिति भेदमभि-धाय, कः प्राज्ञ इत्याकांक्षायां प्राज्ञस्वरूपमाह । 'तदा अस्वेतदित्थं'दोऽयहतपाप्याऽभ्यस्वरूप-मशोकान्तमत्र पिता अपिता भवती'त्यादि । प्राज्ञश्च सुषुप्तिसाक्षीति प्राज्ञरूपे नृशरीर-शरणीये च सिद्धम् । 'विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादस्तेजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पाद ईश्वरमास्तस्यरीय' इति । प्राज्ञे च ब्रह्मण्यर्था बोधकत्वे । 'एव सर्वेश्वर एव सर्वज्ञ एषोऽनन्तर्याम्येव योनिः सर्वस्य प्रमवाप्ययो हि 'भूतानां'मित्यनेन । तदनन्तरं 'अथ तुरीय ईश्वरप्रासः स्वराट् स्वमीश्वरः स्वमकाशभरतात्वा ओतानुभान-नुभाषित्वे'रित्युक्त्वा ओतादयो विधीयन्ते । एवं सति शारीरकब्रह्मणे अत्र रूपमिति-कथनात् तापनीये च तुरीयस्य स्वयमीश्वरस्येवप्रासत्वकथनेन प्राज्ञस्य ब्रह्मपान्तत्वबोच-नाच्च प्राज्ञो नेश्वरः । किन्तु तस्य रूपान्तरम् । वसिष्ठोपचारो निरूपणस्थल एव स्थलेन शारीरकब्रह्मणे, तथा जीवेषु तन्मस्यादिवाक्येषु निरूपणस्थल एषोऽप्युक्तो बोधः, एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽन्यत्रापि तथेति न्यायादित्यनेन ॥ २९ ॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तेदर्शनात् ॥ ३० ॥

ननु जीवस्य ब्रह्मणः सकाशाद्देदाङ्गीकारे अन्यत्वं सिद्धम् । हीनत्वं त्व-त्तानीश्वराद्यनुभवसिद्धम् । एवं सत्पत्न्यस्य नीचस्य सर्वोक्तत्वेन व्यपदेशः कथं

यत्ने । न हि प्रामाणिकैः सर्वथा अयुक्तैर्वै व्यपदेशः क्रियते । अथ ब्रामाधीनो राजस्वके-रामस्वकां राजेति राजधर्मन्यायाया प्रयुज्यते, तथा जीवे आनन्दांशप्राप्तयेन ब्रह्मधर्म-न्यायात्ब्रह्मत्वमयोगः प्राज्ञवदुक्तः, सोऽप्युक्तः हाताधिकारे राजस्वक इव । तुरीयस्यमाने प्राज्ञ इव च तस्यापि तिरोधानसम्भवेन वैयर्थ्यापत्तेरिति शङ्कनायामाह । यावदित्यादि । यावदात्मभावित्वात् । यावदिति यदात्मनिवृत्तौ । भावित्वं ब्रह्मेशीलत्वम् । आत्मान-मनतिक्रम्यानन्दांशस्य वर्तनशीलत्वात् । आनन्दांशस्य प्राक्तज्योत्तरं सर्वदा वर्तनादिति यावत् । अतो न दोषः । नानन्दांशस्य पुनरितरोधानम् । कुतः यावदात्मभावित्वमित्यत आह । तदर्शनात् । 'स खल्वेवं वर्तयन्मान्'तुः ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते । 'अथ वेद ब्रह्मैव भवति ।' 'तस्य तावदेवं वर्तय वाचम विमोक्षयेय सम्पत्स्य' इत्यादिश्रुतान्-द्रष्टव्यैर्थादीनामुक्तत्वेन तस्य सर्वदा ब्रह्मात्मकत्वेनानुभववादिति । न च प्राज्ञवचित्तोऽप्य-मानन्दांशस्य शङ्क्यम् । सम्पन्नत्वकस्य चित्तोपस्थापित्वकत्वात् । यदा । यावदवधारणे । यावदात्मा संसारी । व्यपदेशस्य तावद्ब्रह्मेशीलत्वात् । न दोषः । नायुक्तत्वम् । तदर्शनात् । 'अथ वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुते ब्रह्मभावस्यैव दर्शनादिति । पूर्वव्याख्याने जीवभाव-स्योत्तरावधिग्रहणम्, अत्र तु ब्रह्मभावस्य पूर्वान्वधिग्रहणमिति विशेषः । एतद्वर्ति तु यावदा-त्मभावित्वपदम्, अन्यथा नित्यत्वपदमेव ब्रूयादिति बोध्यम् । अत्र च 'उत्क्रममित्यत एवं भावा'दित्योऽल्लोमिमत्वं समर्थितं भवति ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

ननु पूर्वैवसत्त्वेदानन्दांशस्य प्राक्तज्यम्, तदा जन्मत्वेन नभ्यत्वेन व्याप्तेरानन्दांश-तिरोधानस्य सम्भवाच्च यावदात्मभावित्वं ब्रह्म शक्यमित्याशङ्कनायामाह । पुंस्त्वेत्यादि । तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । व्यपदेशदृष्टशायापि नात्यन्मानन्दांशस्यासम्भवं । कुतः । अस्य सतोभिव्यक्तियोगात् । अस्यानुद्गतस्य सत्त्वतदानीमभिव्यक्त्या संसर्गात् । अत्र दृष्टान्तः । पुंस्त्वादिवदिति । पुंस्त्वं सेकादिसामर्थ्यम् । आदिपदेन कथादिगतं विश्वमादि । तथया वास्ये विद्यमानमेव यौत्वेन प्रकाशते, तद्दत् । तथा नानन्दांशस्य जन्मतेति यावदात्म-भावित्वं निश्चायमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाच्यः ॥ ३२ ॥

ननु व्यपदेशप्रमाश्रित्य किमित्यानन्दांशस्य योऽदृष्टशायामेव प्राक्तज्यम्, नान्यदे-त्यङ्गीक्रियते, तत्र हेतुं न पश्याम इत्याकाङ्क्षायास्तोषाग्नेन्यायानुपपत्तिरुप हेतुमाह । नित्येत्यादि । अन्यथा । पदानन्दांशप्राक्तज्यकादाचित्कत्वं नाभ्युपगम्यते, तदा पसत्र्यं सम्भवति । जीवे सच्चिदानन्दानां त्रयाणां नित्यगुणविद्यमसङ्गो वा, नित्यमनुपलब्धि-प्रसङ्गो वा, जीवो निरानन्द एव, ब्रह्म त्वानन्दरूपमेवेत्यन्यतरयोर्नियमो वा । पश्याम आनन्दांशस्य नित्यगुणव्यपत्त्या संसारात्सत्यायाः अनुपपत्तिः । द्वितीये त्रित्वं विद्यमानस्या-

२४६

भावकशिक्षिका ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

प्यानन्दांशस्यानुपलब्ध्या मोक्षदशाविरोधः । तृतीये 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्त-
ब्रह्मभावविरोधः । तस्मात्पूर्वोक्तप्रसाङ्गीकारे औतान्ययानुपपत्तिरेव हेतुरित्यर्थः । एवमशुद्धं
जीवस्यावधारितम् ॥ ३२ ॥ इति द्वादशश्लोकांतिगणयागतीनामित्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥ (२-१-१३)

अतः परं कर्तृत्वं विचार्यते, जीवेस्ति, न वेति । साङ्ख्यैः प्रकृतिगतमेव कर्तृत्वं
जीवे भासत इत्युच्यते । नैयायिकैस्तु जीवगतमित्युच्यते । अत्र जीवे ज्ञानरूपत्वाङ्गीकारः
साङ्ख्यानानाम्, ज्ञानवत्त्वाङ्गीकारो नैयायिकानामप्येत्यतः सन्देहः । तत्र साङ्ख्यमतस्य
शिष्टप्रतिगृहीतत्वात् कर्तृत्वमिति प्राप्ते, आह । कर्तेति । कुतः । शास्त्रार्थवत्त्वात् । शास्त्रस्य
अर्थवत्त्वं शास्त्रार्थवत्त्वं तस्मात् । शास्त्रस्य फलवत्त्वादिति यावत् । अपमर्थः । 'कारीयां
दृष्टिकामो यजेत, षोडशविद्यमेव स्वर्गकामो यजेत, अथ खलु क्रतुयमः पुरुषो यथा
कतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथैतः प्रेत्य भवति, स कर्तुं कुर्वती'त्यादिभिर्वेदेषुद्-
यनिःश्रेयसफलायै यज्ञोपासनादीनि कर्माणि विहितानि । तत्र स्वर्गकामादिपदोक्ते
कर्तारि विचार्यमाणे ब्रह्मणो न कर्तृत्वम्, आप्तकामत्वात् । नापि जडयाः प्रकृतेः, तादृशका-
मभावेन बोधाभावे चाज्ञवत्त्वात् । यदि पुनर्जीवस्यापि कर्तृत्वं नोच्यते, तदा तादृ-
शाधिबिद्वत्कर्तृत्वस्यापि स्वर्गकामादिपदानि कृष्णन्ति शास्त्रनियर्थ्यमापादयेयुः । अत एक-
हेतोर्भावः कर्तेति । न च 'प्रकृतेः क्रियमाणानां'ति गीतादिवाक्यविरोधः । तस्य लौकिक-
कर्तृत्वनिषेधपरत्वात् । अन्यथा 'अधिष्ठानं तथा कर्तेति कर्तृत्वोक्तिविरोधापत्तेः ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

ननु प्रतीयते शास्त्रेषु कर्तृत्वं कामिनां जीवानाम् । कामस्तु मनोधर्मः, श्रुतावेव
प्रसिद्धः, 'कामः सङ्कल्प' इत्यादीनां मनस्त्वभावत्वात् । मनश्च प्राकृतम्, अतो जीवस्य प्र-
कृतिसंघट्टस्यैव तद्विवेकाग्रहात्कर्तृत्वं शास्त्रसार्थव्यवस्थित्वेन तेन जीवस्य वास्तवकर्तृत्वप्रसिद्धि-
रित्यत आह । विहारोपदेशात् । छान्दोग्ये दहरवियायां 'स यदि पितृलोककामो भवती'-
त्यादिना 'यं कामं कामयते, सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्पिष्टति, तेन सम्प्रभो मरीचत' इत्य-
न्तेन तत्तत्समुत्पानादिकथनमुल्लेखतो विहारस्य स्वैच्छाकीडात्वकर्मगोरूपस्योपदेशादहर-
विदो भोक्तृत्वं भासते । न च तादृशस्य विवेकामहः सम्भवति, अतः कर्तृत्वमपि तस्य
सिद्ध्यति, 'साधुकारी साधुर्भवती'ति कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्याश्रयत्वात् । अतो
जीव एव कर्ता ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

सङ्कल्पस्य मनोधर्मत्वाद्दहरविदोपि मनःसंघट्टत्वमेव, न केवलसङ्कल्प, अतो नानेन
जीवे कर्तृत्वसिद्धिरित्याशङ्क्यां हेत्वन्तरमाह । उपादानादिति । बृहदारण्यके दृशलाङ्किक-

ब्राह्मणे 'य एव विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानधादाय ए एषोन्त-
र्हृदय आकाशस्तास्मिन् शेत' इति । 'स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जन-
पदे यथाकामं परिवर्ततेतन्मेवैव पतलाणाम् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' इति
स्वप्नाभ्यस्याप्यप्रधानबहुलायामपि प्राणानामभवत्वेति हि रिन्द्रियाणां पृथक्पथा ब्रह्मप्राणप्राण-
दानीभिन्द्रियेभ्यो विधिकस्यैव गृहीतृत्वमुच्यते, अतो दहरविदः सङ्कल्पोपपत्त्यर्थं एव
ज्ञातव्यः । 'कामः सङ्कल्प' इति श्रुतिस्तु लौकिकतत्परा । अतः स्वातन्त्र्यादात्मन एवो-
भयत्रापि कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्र्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

एवं श्रुतार्थापत्त्या जीवस्य कर्तृत्वं साधयित्वा साक्षात् श्रुत्या साधयति । व्यपदे-
शादिति । 'विज्ञानं यत् तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चे'ति यज्ञादिविस्तारणक्रियायां प्रथमा-
विभक्त्या अत्र विज्ञानरूपो जीवः कर्तृत्वेनोच्यते । अतः कर्तृत्वं सन्देह एव नास्तीत्यर्थः ।
ननु साङ्ख्ये जुदेरेव कर्तृत्वान्गीकारादस्यापि श्रुतौ बुद्धिरेव कर्मा विज्ञानपदेनोच्यत
इत्याशङ्क्य परिहरति । न वेदित्यादि । अत्र श्रुतौ बुद्धिरेवोच्यते, जीवो न, चेत् ।
निर्देशस्य विभक्तिरूपस्य विपर्ययः अन्यथा रूपत्वं स्यात् । प्रथमास्थले तृतीया निर्दि-
श्यते, यथा 'विज्ञानेन विज्ञानमादाये'ति । यदि च कारकमात्रस्य स्वाती पचतीत्यादिवच-
नव्यापारे स्वातन्त्र्याच्च दोष इति विभाष्यते, तदापि स एव दोषः । एतस्य श्लोकरूप
विज्ञानमयमुपक्रम्य पठित्वादेव तदैकाग्र्यात्तुरोपेन विज्ञानमयपदेपि विज्ञानपदस्य मुद्रिबा-
चकत्वे मयदो विकाराधीनत्वात् । सा च 'अचञ्चन्न्ती'ति व्याकरणसूत्रस्यनियमादि-
रूप्यत इति तस्य विज्ञानमयमयोगस्य विपर्ययः स्यात् । तस्मात् विज्ञानमयो जीव एवेति
तस्यैव कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

ननु जीवस्य कर्तृत्वं स्वातन्त्र्यं भवति । स्वातन्त्र्ये च सदा स्वहितमेव कुर्यात्, न
स्वाहितम् । इत्येते तु तत्करणमपीत्यतो न कर्तृत्वं जीवस्य युक्तमित्यत आह । उपल-
ब्धिवदनियम इति । साङ्ख्यते त्वे भोक्तृत्वस्याङ्गीकाराद्भोगस्य च सुखदुःखसाक्षात्कारा-
यकत्वाच्च स्वातन्त्र्यं तु तवापि वाच्यम् । तथा सत्युपलब्धिवत् उपलब्धिभूये कार्ये
इव अनियमः । तत्र यथा चक्षुरादीनि करणानि व्यापारयन्निष्ठानिष्ठं चोपलभत इत्य-
नियमः, एवं क्रियारूपेपि कार्ये तत्करणानाभिन्द्रियाणां व्यापारणादिदृग्मनिष्ठं चाभोती-
त्यनियमः । तथा च दोषपरिहारयोः साम्यान्वैवं पर्ययुगोभो युक्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

मन्योपलब्धिदृष्टान्तो न युक्तः, उपलब्धेः मयागवस्तुपरतन्त्रत्वेन देवादिपि सम्भ-

वात् । कर्मणस्तु बुद्धिपूर्वकस्वयत्ननिष्पाद्यत्वेन स्वायत्तताया दृष्टान्तवैषम्यात् । अतः साम्याभावाद्युक्तः पर्यययोग इत्यत आह । शक्तिर्यादि । न दृष्टान्तवैषम्यम् । ब्रह्मेः सामर्थ्यस्य विपर्ययादभावात् । यदि ईश्वरवत्समर्थः स्यात्, स्वानिष्ठं यत्नं न कुर्यात् । सामर्थ्यं तु नास्ति । अत उपलब्धिबद्धं कर्मण्यपि देशादेशादिति तस्मिन् दृष्टान्तसाम्याभावेन कर्तृत्वहानिरित्ययुक्त एव पर्यययोग इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

सामाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

ननु शक्त्यभाव एव कृत इत्याकाङ्क्षायामाह । समाधीत्यादि । योमेन हि जीवे हानक्रियाशक्तौ सिध्यतः । समाधिस्तु तदङ्गभूतोत्सवदभावात्, यकारेण तादृग्प्रजाभावाच्च शक्त्यभाव इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

यथाच तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

ननु यदुक्तं भोक्तृत्वकर्तृत्वमपि न पर्यययोग्यमिति, तदयुक्तम् । कर्मकराणां राजभटानां युद्धादिकर्तृत्वेपि तत्सुखभोक्तृत्वाभावेन कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यादित्यत आह । यथेत्यादि । यथा तसा रथं पीठं वा निर्माय तत्रास्ते दिवहरति । यथा च स्वथो न श्यामियते, करणद्वारा च व्यामियते । यथा च स्वार्थमिवाभ्यासार्थमपि करोति, तद्दुःखयथापि जीवस्य कर्तृत्वं सिध्यतीति कर्मकरदृष्टान्तः साधारणो न कर्तृत्वभाषक इत्यर्थः । न च कर्तृत्वस्य द्वुःखस्पर्शं शङ्क्यम् । पयःपातृत्वादेः सुखरूपत्वेन तथा नियमाभावात् । नापि तत्सन्ने अनिमोक्षः शङ्क्यः । ब्रह्मणि तत्सन्नेपि तस्य नित्यव्यक्तत्वात् । अतः मङ्गलपथीय एव कर्तृत्वं दोषाः, न वास्तव्ये । तस्माज्जीवस्य स्वार्थं परार्थं कर्तृत्वं कारयितृत्वं च तत्र दृष्टान्ते साधितं बोध्यम् ॥४०॥ इति त्रयोदशं कर्ता श्लाघ्यवैक्यादित्यधिकरणम् ॥२३॥

परायु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥ (२-३-१४)

एवं निर्धारिते जीवकर्तृत्वे, तर्हि नैयायकादीनामपि स्वातन्त्र्येण, उत ब्रह्माधीन-
तयेति सन्देहः । 'पुण्यः पुण्ये'नेति 'एव उ एव सायु कारयती'ति विरुद्धश्रुतिद्वयदर्शनात् । तत्र ईश्वराधीनत्वं, ईश्वरस्य स्वैत्रं समत्वेन जीवस्य दुःखभोगासम्बन्धभाक्तामादित्यस्य प्राणसाधितस्य कर्तृत्वाधीनत्वात्तदप्यनाथेयेति स्वातन्त्र्येणेव युक्तमित्याकाङ्क्षाया-
माह । परादित्यादि । तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । कर्तृत्वं ब्रह्मणमतमेव, परात् ब्रह्मसंभवात्
देश्वर्थादिवत्परं जीवे यासते । कृतः । तच्छ्रुतेः । तस्यैव कर्तृत्वकारयितृत्वजन्यत्वात् ।
'नाम्योस्तस्मिन् ब्रह्मे'त्यादिषु 'स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता' 'सर्वमिदं प्रजास्ती'त्यादिषु
सर्वकर्तृत्वस्य, 'एव उ एव सायु कर्म कारयति त एवमेव लोकेभ्य उक्थिमीती'ति
कारयितृत्वस्य च ब्रह्मण्येव भाषणादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

ननु ब्रह्मणः कारयितृत्वं न युज्यते, वैषम्यनैर्घृण्यमाप्तेः । न च वैषम्यनैर्घृण्यमाप्ते
तयोः परिहृतत्वात् शङ्कापकाश इति शङ्क्यम् । तत्र कर्मानादित्येन तत्सापेक्षतया
कृतस्य परिहारस्य कारयितृत्वानादित्यामस्तत्वेनायुक्तत्वादिति शङ्कायामाह । कृतेत्यादि ।
तु, उक्तशङ्कानिरासे । कारयितृत्वानादितया ब्रह्मणि वैषम्यादिदोषो न भवति । यतः
परमात्मा कृतप्रयत्नापेक्षः । तैत्तिरीये 'सोकापयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोत्पत्तयः ।
स तपस्तपना इदं सर्वमैश्वर्यजित यदिदं किञ्च । तत्शङ्का तदेवानु भावियशतु । तदनु प्रविश्य
सच्च व्यापारपदम् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं
च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवदिति तस्त्वैव बहुभवनोक्तानीचभवेनेच्छाम्यामालोचने-
नानुपवेशपूर्वकनानाविषद्वैधीभावकथनोत्तरं सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वनिगमनात् सर्वस्य ब्रह्म-
रूपत्वे समानेपि तत्तत्स्वभावेद्देश्याप्यकारणकत्वाभावेनालोचितत्वात्सायात्तेन स्वभावेन
यो जीवकृतः मयत्नस्तत्सापेक्षः कारयति । वेदेन पदार्थगुणदोषो वर्णयति । यथा पुत्रं
यतमानं बाहू पदार्थगुणदोषो वर्णयन्नपि यत्प्रयत्नाभिनिवेशं यश्नति, तथैव पिता कारयति,
तद्वत् । एवं सति उक्थिनीपत्यथो निनीपतीति या श्रुतिः, सा सवेत्रं कारणत्वं ब्रह्मण-
एवेति बोधनाय जीवपरत्नोत्तरं फलदानेच्छामनुवदति, कारणश्रुतिश्च तदनुकूलसामग्री-
सङ्गहनरूपं कारयितृत्वम् । तथा च गुणदोषकथनपूर्वकं तद्विच्छानुसूक्तसामग्रीसमापदके-
पितरि यथा न दोषः, किन्तु पुत्रस्वभाव एव दोषः, तथा न ब्रह्मण्यपि, किन्तु जीव एव ।
नन्वेवं कथने किं बीजमत आह । विहितेत्यादि । विहितप्रतिषिद्धयोर्वैयर्थ्यम्, आदि-
पदेन प्रमाणव्यापारावैयर्थ्यं प्राप्ताणिकेस्रावत्कृतप्रमाणानुसरण्यन्तकृततदनुसरणवै-
यर्थ्यं चेत्येभ्यो हेतुभ्यः । अन्यथेतोषां वैयर्थ्यमेव स्यात् । ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य फलदातः
सत्त्वात् । कर्मपक्षे पूर्वपूर्वकमेव तादृशात्तद्वत्स्वभावात्कर्मफलपरम्परायाः सिद्धेरन्वपर-
म्परात्वापेक्षेण । तथा चैतद्गीजमित्यर्थः । एवं चाग्नेदं सिध्यति । भगवान् स्वकृतप्रया-
दारक्षार्थं तज्ज्ञापकं वेदमाविशकार । तत्र च फलदाने कर्मापेक्षाश्रावणात्फलदाने
कर्मापेक्षः, कर्मणि जीवकृतप्रयत्नापेक्षः, मयत्ने तत्कर्मापेक्षः, कामे लोकप्रवाहापेक्षः,
कारयतीति । एवं फलदाने जीवकृतप्रयत्नापेक्षोपि न स्वातन्त्र्यादीयते । तथैवालो-
चितत्वात् । आलोचनानुसारेण विविधं फलं जीवेभ्यो दददपि न वैषम्यादिदोष-
ग्राम्यत्वनि, सर्वरूपत्वात् । कर्मणामप्यनादित्वं भगवद्दर्भत्वादेवेति ॥ ४२ ॥ इति चतुर्दशं
परम्बु तच्छ्रुतेरित्यधिकरणम् ॥ १४ ॥

अंशो नानान्यपदेशान्दन्त्या चापि दाशकितवादित्य-
मधीयत एके ॥ ४३ ॥ (२-३-१५)

एवं जीवस्य कर्तृत्वं अद्याधीनमित्यवधारितम् । अतः परं जीवस्य ब्रह्मसंबन्धि रूपं निरूप्यते । अंश इति । जीवो ब्रह्मणोऽंश एव । कुतः । नानाव्यपदेशात् । नानात्वेन व्यवशेषो नानाव्यपदेशः । 'तत्रै व्वात्मानो व्युत्थरन्ति । कपुपचरणा रमणीयचरणा' इति श्रुतौ बहुवचसङ्ख्याविशिष्टत्वेन ब्रह्मणः सकाशादिभक्तत्वेन च व्यपदेशः कथनम्, तस्मात् । न च श्रुतौ 'निरफळं निष्कर्मं शान्तमिति' निरंशत्वभावणादंशत्वमौपचारिकमित्येव वाच्यम् । 'सर्वतः पापिपादं तद्' 'अपाणिपादो जननो शरीरोऽसौ ।' 'आसीनो दूरं ब्रजति ।' 'अव्ययैव तद्विदिताद्यो जविदिता'दित्यादिश्रुतिशतेषु ब्रह्मणो विष्कन्दधर्माभ्यन्तल्लोक-विष्कन्दधर्मत्वयोः श्रावणादत्रापि व्युत्थरणादिव्युत्थितत्वेन निरंशत्वेन्यंशानामङ्गीकर्तुं शक्यत्वपथा औपचारिकांशत्वकल्पनाया अप्रयोजनकत्वादिति । ननु नानाव्यपदेशमात्रेण जीवस्यांशत्वं न वक्तुं शक्यम् । अंशत्वे साजात्यस्य सुवर्णत्वप्रादिषु दृष्टत्वेनात्रापि ब्रह्मसाक्षात्पायातात् । न वैश्रापयिः कर्तुं शक्यम् । 'ब्रह्मादाहा ब्रह्मदासा ब्रह्मोमे कितवा उते'ति श्रुत्यन्तरे ब्रह्म-विष्कन्दत्वभावानां दाशादीनां ब्रह्मत्वभावणेन मूढत्वव्यसमावीयेषु तेषु ब्रह्मकार्यताया एव स्फुटीभावात् । न च तयोपचार इति वाच्यम् । तथा सति कार्यत्वस्याप्यभावे यैदा-पावादिकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमविज्ञानाभावः प्रसज्येत । अतो जीवस्य लोकभूतादिककार्यत्व-मेव युक्तम्, न त्वंशत्वमिति शङ्कायाभाह । अन्याया चापि । चोवभाष्ये । प्रकाशान्तरेणापि । एतस्याः श्रुतेर्विचारोपेक्ष एव जीवः । कुतः । दाशकित्वादित्वमपीयते एके । एके शास्त्रिनः ब्रह्मान्यु दाशत्वादिविधानाङ्गस्यो दाशकित्वादित्वं पठन्ति, न तु दाशान्यनु-कायेन ब्रह्मत्वं तस्मात् । स्वात्कार्यत्वं यदि दाशादीनस्य ब्रह्मत्वं विधीयेत । त्वीयते तु विपरीतम् । अतो ब्रह्मण इव शरीरत्वं तन्निश्चितत्वं च । इम इत्यनेन सजीवानां देहानां परामर्शात् । निवेशाशांशद्वारेण सम्भवति । यथा चन्द्रमसो जलादिषु, यद्वैश्याः पिण्डादिषु । अत एव पतञ्जलिविचारोपेक्षादृशान्यु विवेचयभावाव्ययत्तुपपत्त्या अंश एव जीवः । न चास-जातीयत्वस्य बाधकत्वं शङ्क्यम् । तस्य देहनिवेशहेतुकत्वात् । देहनिवेशस्य चानन्द-सिरोभावेहेतुकत्वात् । अतो देहनिवेशेन कार्यत्वेपि स्वरूपेण कार्यत्वाभावात् तित्यत्व-विष्कन्दत्वादितिः साक्षात्कल्प्य विष्कन्दत्वस्य ब्रह्मणोऽंश एव जीव इत्यर्थः । ४३ ॥

मन्त्रवर्णनम् ॥ ४४ ॥

अव्यन्तरसम्भवे मन्त्रेषुपि तु हेत्यन्तरमाह । मन्त्रेति । पुरुषसूक्ते 'पुरुष एवेदंशस्यै-मित्युच्यते' पादोऽयं विद्या भूतानी'ति वदति । श्रीभागवते पुरुषसूक्तस्याख्यानभाष्ये 'पादेषु सर्वज्ञानानि पुंसः स्थित्तिभक्तौ विद्म'रिति व्याख्याति । अतोऽस्यान्वयमत्रर्गाजीवानां पादत्वेन पादेषु स्थितत्वेन चांशत्वमित्यर्थः । ४४ ॥

अपि स्मर्यते ॥ ४५ ॥

गीतायां 'मयैवांशो जीवल्लोके जीवभूतः सनातन' इति स्मर्यते । तेन त्रिव्यानु-मेयवेदस्याप्यत्र सम्प्रतिरित्यर्थः । ४५ ॥

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

एवं त्रिभिर्जावस्थांशत्वं निर्धार्योक्तत्वे प्राप्ता दोषाः परिह्रियन्ते । तत्र परमात्मनः पुरुषरूपत्वान्जीवानां हस्तपादादिवदंशत्वे तदुत्पत्तेन परस्यापि दुःखित्वं श्वादिस्वाङ्गुल्या-भाह । प्रकाशोत्पादि । अत्र एवमित्यनेन जीवनिष्ठः प्रकारो बोध्यते, स च नेत्यनेन निषिध्यते । तेन च निषेधेन निषेधहेतुभूतः प्रकारोऽपि सूत्र्यते । तथा सति एवं जीव-वदुःखी परः परमात्मा नास्ति, किन्त्वित्योक्त्या प्रकारान्तरेण सर्वैकरूपेनास्ति । अतो न दुःखीत्यर्थः । ननु सर्वैकरूपे कुतो न दुःखमित्यतो दृष्टान्तमाह । प्रकाशादिवदिति । प्रकाशादिविमिति । यथा प्रकाशेन न सृष्टेस्वभावैर्वा तापः, शीतलस्त्वैर्वा शैत्यम् । तथेति । तदुक्तमेकादशस्कन्धे भिक्षुगीतायां 'नाशेहि तापो न हिमस्य तस्सा'दिति । अतो द्वैत-वदुद्दिश्यस्य तस्यैव दुःखम्, परस्य तु सर्वैकत्वमुद्दिरेवेति न तस्य दुःखमित्यर्थः । शब्दा । यथा सृष्टेस्य प्रकाशः स्वांशभूतस्य रूपस्य दोषेण न दुष्यति, तद्वदित्यर्थः । रूपस्य प्रका-शांशत्वं द्वादशस्कन्धे उक्तम्, 'सृष्टेश्चुस्तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग्भवे'दिति ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

स्मरन्ति चर्षयंशिनो दुःखासंबन्धम् । तथा हि मोक्षधर्मं 'तत्र यः परमात्मा हि स तिर्यो निर्गुणः स्थतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा । कर्मात्मा त्वपरो योसौ मोक्षधर्मैः स युज्यते' इति । चकारात् श्रुतिरपि । 'सृष्टौ यथा सर्वलोकस्य सृष्टौ न लिप्यते चाङ्गुलैर्बाहोदोषैः, एकस्त्वया सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह' इति कठपण्ड्याम् । एवं सूत्रद्वयेनैको दोषः परिहृतः ॥ ४७ ॥

अनुज्ञापरिहारो देहसंबन्धाङ्गोपेतरादिवत् ॥ ४८ ॥

ननु जीवस्य भगवदंशत्वे ब्रह्मण इव विधिविषयत्वयोगात्फलसंबन्धाभावः । तत्रश्च पूर्वाक्तस्य शास्त्रार्थवचस्य बाधः । किञ्च । शास्त्रस्य जीवाधिकारकत्वाजीवस्य चानेक-वेहसंबन्धात्को जीवः शूद्रः को वा भार्येति हानमप्यशक्यम् । तदज्ञाने च 'ऋतो भार्या-क्षेपेयात्' । 'न शूद्राय मतिं दद्या'दिति शास्त्रविषयज्ञानाभावाच्चशास्त्रव्याकुलीभावमाव्य-वस्थायां निषिद्धफलभूतदुःखित्वत्वाव्यपयोग इत्याशङ्क्यं परिहर्तुमाह । अनुज्ञेत्यादि । अनुज्ञापरिहारो विधिनिषेधो । तौ यद्यपि जीवस्य स्वरूपेण तिथ्यादिविषयत्वाभावात् सम्भवतः; तथापि देहसंबन्धात् । यो देहो देहा अप्यासन्न भगवद्विच्छया वा शरीरक, तत्संबन्धात्सम्भवतः । ननु स्वतोऽविषयत्वमन्यसंबन्धाच्च तद्विषयत्वमिति कथमवगन्तु

शक्यत इत्यतो दृष्टान्तमाह । ज्योतिरादिवत् । ज्योतिरादयोऽप्युदकपृथिव्यः, तद्वत् । तेषां यथा स्वतो विध्याद्यविषयत्वेपि शब्दसंबन्धादिभिरुद्गालभाष्यसंबन्धादुदकं चत्वालसंबन्धात्तद्ग्राह्यं च परिहित्येति, श्रोत्रियादिसंबन्धात् सत्त्वदुपादीयते, तथाचान्तमस्यम्, अतो देहसंबन्धाभोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

ननु देहसंबन्धेन विध्याद्यविषयत्वपरिहारो न युक्तः । वाच्यकौपारादिविदेनेन देहस्य प्रतिक्षणमन्यान्यतया कर्मकाले ब्राह्मणत्वादेरभावात् । जीवैक्येन तत्र ब्राह्मणत्वाद्यापादाने तु देहात्करेपि तस्य सत्त्वेन सर्वेसङ्करपसङ्क इत्यत आह । असन्ततेरित्यादि । अव्यतिकरः असङ्करः । जीवैक्यायाः सङ्कर आपादितः, स न भवति । कुतः । असन्ततेः । देहान्तरे तस्याः सन्ततेरभावात् । एवं सङ्करे परिहिते सन्ततैक्येन तत्र देहे ब्राह्मणत्वादेः सत्त्वात्सुलेनानुब्रह्मपरिहारविषयत्वमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

ननु सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोऽसिः सच्चिदानन्द एव भवेत् । तथा सति ब्रह्मण इव तस्यापि संसारप्रवाहे प्रवेशोऽनुपपन्न इत्यत आह । आभास एव चेति । आनन्दाद्यस्य तिरोभावात् चकाराद्भगवदाकारस्य च तिरोभावाज्जीवो ब्रह्माभास एव । यथाऽनाचारि-ब्राह्मणो ब्राह्मणाभासस्तथा । तथा चानन्दाद्यतिरोभावात्संसारप्रवाहे प्रवेशः, तत्सम्पत्तो च पुनर्भ्रमत्वमेवेति न कोपि दोष इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

एवं जीवस्याणुत्वं नानात्वादिकं च श्रुत्यनुसारेण व्यवस्थाप्य साङ्ख्यनैयायकार-भिर्मतं जीवस्वरूपं निराचष्टे । ते हि पुरुषबहुत्वमानानात्वं च भोगव्यवस्थायाः आद्यः, भोगव्यवस्थां चादृष्टानियमेन । निमित्तभूतस्यादृष्टस्य भोग्यत्वविदेशवर्तित्वेनात्मनां व्यापकत्वं च । तद्व्यपयति । अदृष्टानियमादिति । स्यादात्मनां व्यापकत्वम्, यदि भोगव्यवस्था-यादकमदृष्टं प्रत्यात्मनियतं व्युत्पादयितुं शक्येत । तदेव तं न सम्भवति । विद्युनां सर्वेषा-मारधनां सत्कलमूवैद्वेषसंयोगित्वेन सर्वेन्द्रियमनःशरीरसंयोगितात् । तत्तद्विन्द्रियसंयोगादि-जन्यानां ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां सर्वेषात्वसूत्रव्यवस्थापय्या तज्जन्यकर्मिभिः सर्वेष्वप्यात्मसु सर्व-विधादृष्टोत्पत्तो वाचकाभावेन तस्य तस्यादृष्टस्य तत्तदाधनि नियन्तुमशक्यत्वादिति ॥ ५१ ॥

अभिसम्प्यादिवपि चैवम् ॥ ५२ ॥

ननु यद्यत्वेवं साधारण्यमस्ति, तथापि तत्तच्छरीरेन्द्रियमनोभिमानस्य तस्मिन्स-स्मिन्नैवात्मनि दर्शनाच्च हेत्वपेक्षायां विलक्षणमनःसंयोगस्य ईश्वरेच्छाया नियामकत्वे सुलेनानुब्रह्मनियमसिद्धिरित्यत आह । अभीत्यादि । अभिसन्धिः पूर्वोक्तोभिमानस्तत्तदाद्यो

हेतवस्तेष्वपि, एवं पूर्वतुल्यत्वम् । तथा च । विलक्षणमनःसंयोगस्यापि सर्वेषु विश्वव्याप्तसु तुल्यत्वाभावाद्दृष्टानियमसिद्धिः । न चेश्वरेच्छया नियम इति वाच्यम् । साङ्ख्यमते त्वस्यैवाभावात् । नैयायकमत ईश्वराङ्गीकारेपि तदिच्छाया आकारः अयमनेन प्रकारेणेदं सङ्कामित्येव वाच्यः । स त्वव्याप्त्यावादेपि तुल्य इति न तेनात्मनां नानात्वव्यापकत्व-सिद्धिरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

नवात्मनां विश्वेष्वपि तेषु तादृकः ऋतेश्वरेदेशविशेषोऽस्ति येनादृष्टादिकं व्यव-स्थाप्यत इति शङ्कायामाह । प्रदेशेत्यादि । स्वबलोपे पञ्चमी । प्रदेशविशेषात्मकस्य व्यवस्थाप्यत इति चेत् । न । कुतः । अन्तर्भावात् । आत्मान्तरप्रदेशस्यापि तत्रान्तर्भावात् न तत्सिद्धिः । यदा । प्रदेशस्य क्रियारहितत्वेन स्थिरतया तं प्रदेशं विहाय देहस्यान्यत्र गमने तस्य प्रदेशस्यान्तर्भावात्तिरोभावाददृष्टादिकं न व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तथा च श्रुत्युपपन्नमरहितं तन्मतमसङ्गतमेवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति पञ्चदशमोऽंशो नानाव्यपदेशादि-त्यधिकरणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीभट्टभाषाचार्यवरणैकतानश्रीब्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तो द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

तथा प्राणः ॥ १ ॥ (२-४-१)

पूर्वपादे जीवस्य स्थूलशरीरनिष्पादकानां भूतानामुत्पत्तिक्रमादिकं विचार्य ततो जीवस्य स्वरूपादिकं विचारितम् । अस्मिन् पादे तु जीवशरीरान्तर्भवतिनां प्राणादीनां स्वरूपादिकत्वकारणं विचार्यते । तत्र शरीरान्तर्भवतिनां शरीरान्वयस्यतिरोक्तानुविधायि-त्वात्किं शरीरवदुत्पत्तिनाशशालित्वम्, उत जीवबहुद्रुपगमनशालित्वमिति संशये, प्राणादि-निस्त्यागमकस्य श्रुतानुपपन्नमा 'देहत्वाज्जायते प्राणः' इति श्रुतकं जन्मोपलम्भाच्च शरी-रारम्भकभूतज्जननादिशङ्कायां पूर्वपादान्ते जीवं निरूप्यत्र जीवैकत्वात्साधारण्यमर्थवत् प्राणेवन्तित्तिशक्तिः । तथा प्राण इति । लिङ्गे मनसो मूढत्वत्वादेकचक्षुः । 'अथ इ प्राणा अहं श्रेयसि व्युत्तिरे' इत्यादिश्रुतिषु प्राणसब्द इन्द्रियेषु प्रसिद्ध इति 'प्राणाच्च मिथा' इति तयात्वं बोधयितुं प्राणसब्दप्रयोगः । ननु प्राणेऽपि विपदादिव्यमतिदेशे 'स प्राणमहन्ते'ति श्रुत्युक्तं सड्यत्वरूपं जन्मलिङ्गमतिदेशकं लभ्यते । जीववर्मातिदेशे तु न किञ्चिदति-देशकं पस्याव इति चेत् । न । 'स यदास्माच्छरीरात्कृत्वाकामति सर्वैवेतैः सर्वैकत्वापत्ति ।

स यथा महाराजो जानपदान् ग्रहीत्वा स्वे अनपदे यथाकामं परिवर्तते, एवमेवैव एतन्ना-
पान् ग्रहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' इत्यादीनां उत्कान्त्यादिद्वेषकानां
सर्वासां जीवसहभावबोधिकाणांशुपयपीनामतिवेषकत्वात् । 'विभक्तिभिर्द्वेषधर्मभावयोः श्रुत्वा
स्यात्स्वधर्मत्व'मिति पूर्वोक्तत्रयान्येन तासांमेवोपयपीनां ग्राह्यत्वात् । छत्रत्यर्षिचारेरेपि
विसर्गस्य व्युत्करणरूपताया एव सिद्धेर्जायत इत्यर्थस्यापि प्रादुर्भावरूपत्वेन तयोरेव्यतिरो-
धाच्च । न च जैवधर्मातिदेशो पृथग्विचारार्थानां धृत्वात्तराणामानर्षेयं शङ्क्यम् । प्राणेषु
चिदस्यस्यापि तिरोभावेन पृथग्विचारस्यावश्यकत्वात् । न च तद्गुणसारत्वान्नपदेव-
योरभावः शङ्क्यः । ब्रह्मदारण्यकं 'प्राणा वै सत्य'मिति सत्यस्य ब्रह्मधर्मस्य, 'प्राणो वै
ब्रह्म वाग्वै ब्रह्म'ति तद्व्यपदेशयोरपि सत्त्वात् । अतोत्र जीवधर्माणामेवातिदेशो युक्तो, न
वियदादिधर्माणाम् ॥ १ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

अतिदेशकमाक्षिप्य समाधत्ते । उत्कान्त्यादिश्रुतिर्नाशोत्पत्तिपरतया सत्यत्वादिश्रु-
तिशोषासनापरतया प्राणेषु गौणीति चेत् । न । कुतः । गौण्यसम्भवात् । गौण्या असम्भयो
गौण्यसम्भवस्तस्मात् । पूर्वोक्तत्रयया प्राणा इत्यनुवर्तते । 'स यदास्माच्छरीरा'दिति वाक्ये
प्रथमा श्रुतिस्तन्नाशविधायिका । द्वितीया तु तामेवान्शु तत्र प्राणादीनां जीवसांशं
विधत्ते । अत एकस्या एनोक्तान्तिश्रुतेर्जायते ह्युक्त्यम्, प्राणेषु गौणस्वमिति युगपद्ब्रह्मिद-
विचरोधाच्च सम्भवतीत्यतस्तद्व्यत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्रात्र श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

ननु यद्यप्यतिदेशो जीवतुल्यत्वमापाति, तथाप्युत्पत्त्यनन्तरं चिरकालस्यापित्वेनापि
तदुपपद्यते, अतो न तेषां नित्यत्वमिति शङ्कायामाह । तदित्यादि । अत्रापि पूर्वोक्तदुष्टादिः ।
तस्याः अष्टोः सकाशात्कामाणां स्थितिश्रुतेः । वाजिनामग्रिपकरणे 'असदा इदमग्र
आसीत्तदाहुः किं तदसदासीदित्युपयो वाव तमे असदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति
प्राणा वा ऋषय' इति श्रूयते । अतः सष्टिमाकालवर्तित्याभित्यक्तम् । चकारान्तोत्ते
तेषामपि ब्रह्मसम्पत्तेः स्वत्वान्तरे श्रावणं सङ्गृह्यते । 'न तस्मात्प्राणा उत्कान्त्यन्तैव सम-
वनीयते । ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येती'ति । न च 'सचेद सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मिति
श्रुतेः अष्टोः पूर्वो ब्रह्मातिरिक्तसत्त्वान्तिषेधात्तद्विरोध इति शङ्क्यम् । एतस्याः प्राणस्वमित्य-
पेक्षयापि पूर्वोक्तान्तबोधकत्वेनाविरोधात् । न चात्र मानाभावः शङ्क्यः । असत्यत्वेन
प्राणानामव्यक्ततया ब्रह्मरूपेणैव स्थितिबोधनात् । अतो यथा जीवस्य उद्गमानन्तरं
न्यक्तीभावः, तथा प्राणानामिति तेषु ब्रह्मांशा एव, न तु कार्यरूपा इति नित्यत्वं
निर्वाणमित्यर्थः ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

ननु माकं श्रुतेः प्राणस्वित्तोषिकायाः श्रुतेरवान्तरमलयात्तावत्स्थितस्य प्रभाषतेः
प्राणानां तदानीं सत्तावोधकत्वेनाप्युपपद्यमानत्वाच्च तथा जीवत्वप्राणनित्यत्वात्प्रोक्तं युक्तं
इत्याकाङ्क्षयां हेत्वन्तरमाह । तदित्यादि । अत्रापि पूर्वोक्तदुष्टादिः । 'मनः पूर्वोक्तं
वागुत्तररूप'मिति श्रुतेर्वाचः पूर्वोक्तं मनः । किञ्च । मनोपपत्त्यात्मानस्युपपत्त्यं तदवयव-
कत्वानां 'तस्य यजुरेव शिर' इत्यादिना तदवयवानां वेदरूपत्वमुक्तम् । वेदाश्च 'एवं
वा अरे अस्य महतो ब्रूतस्य निःशसितं यद्वेदो यजुर्वेद' इति 'वाचा विश्वानित्यप्ये'ति
व श्रुत्या भगवन्निःश्वाररूपा नित्या इति तेषां स्वरूपत उत्पत्त्यभावाद्ब्रह्ममात्रम् । तथा
सति तत्पूर्वरूपस्य मनसः कथमुत्पत्तिः सम्भवति । तस्माच्च तस्याप्युत्पत्तिः, किन्तुद्गमा-
त्रम् । अतो जीवतुल्यत्वाद्युक्तमेव नित्यत्वम्, न त्वाग्र इत्यर्थः । जैवानां तु प्राणमनो-
वाचां तद्व्यतिर्यायेव तथात्वसिद्धिरिति न कोपि शङ्कालेशः ॥ ४ ॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

एवं प्राणमनोवाक्चरतिदेशिकाया उपपत्तेः सिद्धादपि चक्षुरादिषु सा न स्फुटेत्यतो
हेत्वन्तरमाह । तस्तेत्यादि । अत्रापि पूर्वोक्तदुष्टादिः । शरीरप्राणेषु 'सद्यत्कामन्ते
प्राणोन्तुत्कामपति प्राणमन्तुत्कामन्ते सर्वं प्राणा अनन्तुत्कामन्ती'त्यनेनोक्ता सप्तानां प्राणानां
या गतिः, सा सप्तगतिः, तस्याः 'अथाकूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यतीत्याहुः'रित्यादिषु
पूर्वोक्तान्येषु गत्या विशेषितत्वात् ततो वा जीवमनस्य विशेषितत्वात् एकीभावेनोक्तत्वात्
जीवतुल्याः प्राणाः । तथा चानन्तरस्य भागवत्प्रज्ञत्वनियमाज्जीववदेव नित्याः प्राणा
इत्यर्थः । चकारेण त्रतमीपांसदिष्टुर्कं चक्षुरादीनां देवतात्वेन संवादेन च चेतनतुल्यत्वं
सङ्गृह्यते । एतन्मन्त्रेन्द्रियाणांस्त्वस्यादिविचारेण नित्यत्वं समर्थितम् ॥ ५ ॥ इति प्रथमं
तथा प्राण इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

हस्ताद्यस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥ (२-४-२)

'ते प्राणाः कतो'त्याकाङ्क्षयां सप्तप्राणाः प्रभवन्तीति । अष्टौ ग्रहा अष्टाविग्रहा
इति । सप्त वै शरीण्याः प्राणाः द्वावन्तार्चाविति । नव वै पुरुषे प्राणाः नाभिदेशमीति ।
दश वै पशोः प्राणाः आत्मीकादशे'धेवमादिषु नानासङ्ख्याप्रावण्येन श्रुतिविप्रतिषेधे किं
युक्तमिति संशये, तत्सङ्ख्या निर्धार्यते । तत्र, सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादिति प्रतिज्ञाय,
गन्त्रसप्तमी 'सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाश्रयाभिहिताः सप्तसप्तैः सप्तलोकेषु
सप्तानामेव गतेर्निगमनाज्जीवोत्क्रमणसमये सप्तानामेव च गत्या जीवगतेर्विशेषितत्वाच्च
सप्तैवेति युक्तम् । अन्ये त्वेतेषामेव दृष्टिभेदाद्भेदा इति वस्तुत्वे पूर्वोक्ते प्राप्ते, आह ।

हस्ताद्य इति । तुः पूर्वपत्निरासे । 'हस्तौ चादात्म्यं च उपत्यञ्जानन्दयित्वं पायुष
विसर्जयित्वं च पादौ च गन्धं च वेति शुनौ चक्षुरादिगणनायां हस्तादीनामपि चतुर्णां
गणनाया चक्षुरादितुल्यस्य स्थिते निर्णीते सति, अतः ततुल्यत्वादेव हेतोः नैवम् । सतिषेति
न, किन्तु ततोऽधिकः । 'इन्द्रियाणि दृशैकं' च । 'इन्द्रियाणां मनमात्मी'ति गीतायाम् ।
'एकादशेन्द्रियचयू'रिति पञ्चमस्कन्धे पुरञ्जनापोख्यान अध्यात्मपारोक्ष्ये वाक्याच्छेकज्ञे-
रर्थः । अत्रान्तरगणनास्तु सप्तगणना तु प्राधान्याभिप्राया । अष्टगणना तु बन्धकत्वाभि-
प्राया । नवेति त्वनाद्वैतद्वाराभिप्राया । दशेति द्वारमात्राभिप्राया । चतुर्दशसङ्ख्या त्वन्तः-
करणस्य चतुर्विधत्वात्तदादायेत्यविरोधः ॥६॥ इति द्वितीयं हस्ताद्य इत्यधिकरणम् ॥२॥

अणवश्च ॥ ७ ॥ (२-४-३)

परिमाणनिर्धारणेऽपिदम् । तत्र किमेते सर्वे प्राणाः समानपरिमाणाः, उत नाना-
परिमाणा इति सन्देहः, त्वचः शरीररूपापित्वस्य चक्षुर्जनसो दृष्टाहित्वस्य वाचो दूरग-
मनस्य च दर्शनोदये महान्तः श्रेयाः सूक्ष्मा इति प्राप्ते, आह । अणवश्चेति । चोचधारणे ।
पूर्वोक्तया उक्तान्त्या दृष्टिपूर्ववर्तित्वश्रुत्या च गतिमत्त्वे नित्यत्वे च सिद्धेऽणव एवेत्यर्थः ।
सर्वेशरीररूप्यास्यादिस्तु सामर्थ्यादुगव्याप्या च जीववदेव बोध्या । गुणम त्रिदशकृतभूत-
पोषितत्वेन च स्वयं एव बोधः ॥ ७ ॥ इति तृतीयाणवधेऽधिकरणम् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥ (२-४-४)

इन्द्रियाणि विचार्येदानीं मुख्यमार्णं विचारयति । तत्र मुख्यप्राणस्य नित्यतायाः
स्कृष्टताया अश्रवणात्प्राणसंबन्धे अवहताप्यत्वादिरूपमाहात्म्यश्रावणाच्च स नित्यो न वेति
सन्देहः 'प्राणो नाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठे'ति छान्दोग्ये ज्येष्ठेऽनन्त प्रथमोत्पन्नत्वलाभान्माहात्म्य-
त्वचनित्यत्वयोर्व्यतिरेकभावाच्चानित्य एवेति प्राप्तः, आह । श्रेष्ठेति । भाववृत्तवृत्ते 'नास-
दास्ती'दित्युपक्रम्य 'आनीदवातं स्वधया तदेक'मिति वातरूपतानिषेधपूर्वकमनन्तत्वकस्य
धर्मस्य पूर्वं सत्त्वादर्शनाद्ब्रह्मणोऽनन्तत्वको यो धर्मः स एव मुख्यः प्राण इति नित्यो
गतिमानुषपरिमाणश्च । चकारेणातिदेशः सूचयते । न च ज्येष्ठपदाल्पधयोत्यन्तं शङ्कयाम् ।
गुणाधिक्येपि सया एववहारात् । अत एव 'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्यां सम्भृतानी'ति । 'अथाप्यगुणै-
रवरजोऽपदितेः सुवाती'मित्यादिप्रयोगः । तस्माच्चित्त्यः । गतिमत्त्वस्यानुत्कान्तिभूतत्वेन
सिद्धत्वाच्चाणुरित्यर्थः ॥ ८ ॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

ननु मुख्यः प्राणो वायुरेवास्तु । 'यः प्राणः स वायुः । एव वायुः पञ्चविधः
प्राणोऽनानो ध्यान उदानः समानश्चेति श्रुतेः । अथवा । इन्द्रियाणां क्रियास्तु । साहच्ये

तथाह्निकारात् । अतस्तस्यातिरिक्तत्वकल्पनं न युक्तमत आह । नेत्यादि । यदाश्चित्तम् ।
तत्र । कृतः । पृथगुपदेशात् । 'एतस्माज्जायते प्राण' इति वायुप्राणयोः पृथगुपदेशात्
इन्द्रियैः पृथगुपदिष्टाः साहचर्यिभिमतोऽप्येतेन्द्रियैः योपि भेदसिद्धेय अतिरिक्त
एवेत्यर्थः ॥ ९ ॥ इति चतुर्थं श्रेष्ठेत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

चक्षुरादिवचु तत्सहश्रिण्यादिभ्यः ॥ १० ॥ (२-४-५)

स प्राणः स्वन्नः परतन्त्रो वेति सन्देहः, 'सुष्ठुष बागादिषु प्राण एको मृत्युनाऽन्नाः
प्राणः संवर्षो बागादीन् संवृष्टे । प्राण इतरान् रक्षति मातेव पुत्रा'निरादिश्रुतिषु प्राणस्य
मृत्युसंसर्गशून्यता इतरसङ्घसिद्धताया इतररक्षताप्राय कथनात्स्वतन्त्र इति प्राप्ते, आह ।
चक्षुरादीत्यादि । उक्तपूर्वपत्निरासायैस्तुभन्दः । चक्षुरादिवच्यमप्यस्वतन्त्रः । कृतः ।
तत्सहश्रिण्यादिभ्यः । तैः सह श्रियं शसतं तदादिभ्यः । श्वेताश्वतरे 'त्रिकर्मतं
रथाय समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सम्भिवेदय । ब्रह्मोद्भवेन प्रतरेत विद्वान् क्षोभांसि,
सर्वाणि भयावहानि । प्राणान्मपीदृशेह सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीते-
तीन्द्रियाणां हृदि सम्भिवेदानेन शसनञ्च प्राणानामायामेन पीडया तच्छाश्रनस्यापि
श्रावणात् । आदिपदाज्जत्वजीवोपकरणत्वादिभ्यश्च चक्षुरादिवच्यवहारे जीवाधीनः ।
मुख्यविचारे तु प्रभोपनिषदि भगवद्गीनोत्वस्यादिश्रावणाद्भगवद्गीन इत्यर्थः ॥ १० ॥

अकरणत्वाच्च न दोषतया हि दर्शयति ॥ ११ ॥

न 'न्येकादशमी मनसो हि रजस्य आहृतयः पञ्चविधोऽभिमानः । मात्राणि कर्माणि
पुंरं च वदन्ति हैकादश वीरभू'रिति योगतन्त्रे एकादशानामेव हृदीनां नीचोपका-
रकाणां सिद्धत्वात्प्राणस्य वैशुचित्पराहित्येन जीवोपकरणताया एवाभावाज्जीवोनीत्यं
न युक्तमित्यत आह । अकरणेत्यादि । प्राणस्य उक्तदृष्टिराहित्यं न दोषः । न जीवोपक-
रणत्वविषयकम् । कृतः । अकरणत्वात् । करणस्यैव हि व्यापारवन्म्युपकरणतासम्भवादकम्,
न स्वकरणस्यापि । अतस्तदभावे न दोषः । ननु किमत्र मानमित्यत आह । तथा हि
दर्शयति । हि यतो हेतोः तथा । अकरणत्वेपि कार्यवन्म्युपकरणत्वं श्रुतिरेव
दर्शयति । 'तस्मिन्नुत्कामत्यर्थेते सर्वे एकोत्कामन्ते, तस्मिश्च प्रतिष्ठामने सर्वे एव प्रतिष्ठन्ते,
तथया मसिकायुक्तरराभात्समुत्कामन्ते सर्वा एकोत्कामन्ति, तस्मिश्च प्रतिष्ठामने सर्वा एव
प्रतिष्ठन्' इति । तस्मात्प्राणहेतुवैक्यं शरीरस्थितिव्यापारभावेपि स्वस्वरस्थितिमन्त्रेण तस्य
जीवोपकारित्वाद्गुपकरणत्वं निर्वाच्यम्, अतस्तत् जीवाधीनत्वं सुस्वरमित्यर्थः ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तेर्मेनोवध्यपदिदयते ॥ १२ ॥

ननु व्यापाराभावे जीवोपकारित्वमेव दुर्घटमित्यत आह । पञ्चेत्यादि । पञ्चवृत्तेः
'अहमेवेत्यञ्जयात्मानं प्रविभज्येतद्भागमवह' इत्यादीनां 'त्युक्ता या पञ्चया इतिः सा

पञ्चदशः, ततो हेतोः मनोवत्, यथा मनो द्वारभेदेन स्वरूपत एकादशदशषिकम्, तथा व्यपदिश्यते, पञ्चदशत्वविभागेन कारिकरः प्राणश्रुत्योच्यते । अतो व्यपदेशमाभाष्याद्यापाराभावेपि जीवोपकारित्वं सुचम्येवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अणुश्च ॥ १३ ॥

ननु पञ्चदशत्वविभागे सति कथमणुत्वमित्यत आह । अणुश्चेति । चकारादुक्त्वात्प्रायश्चित्तश्रुत्युक्तधर्माणं समुच्चयः । तथा चाणुत्वसाधकानां धर्माणं भूयस्त्वात् पञ्चदशत्वस्य सामर्थ्येनापि सम्भवान्नुक्तिभिः सर्वेशरीरव्याप्तेरपि सम्भवात्तद्वत्करणोत्तरमग्निः पोषणेन बहिःप्रत्ययस्यापि सम्भवत्तद्व्याधिविभागेऽप्युक्तं निर्वाचमित्यणुरेवास्तस्यः प्राण इत्यर्थः । अतिदेशेनाणुत्वस्य पूर्वं प्राक्त्वेपि दृष्टिविभागेन जायमानस्य सन्देशस्य निवारणार्थेदं सूत्रम् ॥ १३ ॥ इति पञ्चदं ब्रह्मरादिबन्धित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥ (२-४-६)

अध्यात्मस्थितानां बागादीनां देवताधिष्ठानवृत्तां गृह्णतिः स्वत एव वेति सन्देशे, अन्तर्प्राप्तिब्राह्मणोक्तस्य ब्रह्ममेरस्याण्डरूपरूपविशेषकार्याथैवतया तत्र देवताधिष्ठानस्यावश्यकत्वादाध्यात्मिकानामेतेषां विशेषकार्याभावाद्भोग्यान्वस्य च जीवाधिष्ठानादेव सम्भवाच्च देवताधिष्ठानापेक्षेति मासम्, तत्राह । ज्योतिरित्यादि । उक्तपक्षवारणार्थं तुच्यम् । आध्यात्मिकानामप्येषां ज्योतिरादि । अग्न्यादिकम् । अधितिष्ठतीत्यधिष्ठानम् । 'नन्वादित्वात्कर्त्तरि श्रुः' 'सामान्ये नपुंसके' अधिष्ठात् अवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । कुतः । तदामननात् । ऐतरेये ऋष्यादौ 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुलं प्राविश' इत्यादिभिर्देवताया इन्द्रियारूपेण गोलके प्रवेशकयनात् । तथा ऋष्यादौ या पर्मादा इवरेण कृता सर्वं तदनुसारणैव तः ऋषिभक्तीति इदानीमपि सर्वेन्द्रियाणां देवतासंबलितत्वम् । अन्यथा अणूनां इन्द्रियाणां एकस्मिन्नेव शरीरे उपसीणत्वाच्चरीरान्तरे तच्छून्यता स्यात् । अतः दुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वेन द्वितीयस्कन्धे 'योध्यात्मिकोयं पुरुषः सोसायेवाधिदैविकः । यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्युतो ह्याधिभौतिक' इत्याध्यात्मिकाधिदैविकयोरेक्यकथनासुदनुसरणीयम् । तथा सति इन्द्रियदेवता अग्न्यादिरूपानेकरूपभवन्नसमर्था सर्वेशरीरेषु प्रविष्टेति सङ्गच्छते । अनेकेन्द्रियोत्यत्तिनाशकल्पनापेक्षया देवतासामर्थ्येयात्रकल्पने ह्यपयं च भूयो भवति । ब्रह्मब्राह्मणोक्तः प्राणस्य समष्टिव्यधिष्ठानः सामान्यविशेषभावेन व्याप्तिकोपि सङ्गच्छते । तस्मात्सर्वदा देवताधिष्ठानमावश्यकमित्यर्थः ॥ १४ ॥ इति षष्ठं ज्योतिराद्यधिष्ठानं त्वित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥ (२-४-७)

अधिष्ठानभूतं यदग्न्यादि, तर्कि मुख्यप्राणसहितं सत् बागादीनीन्द्रियाण्यधि-

तिष्ठति, किंवा स्वतः केवलमेवाधिधिष्ठतितीति सन्देशे, स्वत एवाधिधिष्ठति । पूर्वैस्मिन्नधिकरणेऽग्न्यादीनामेवाधिष्ठात्त्वसाधनात्तदधिष्ठानमात्रेणैव बागादीन्द्रियव्यापारस्य सर्वेजीवसाधिध्यादेश्च सिद्धथा इतरसाक्षित्ययोजनाभावात् । तदङ्गीकारे चान्यदीनामप्यधिष्ठात्त्वन्तरापेक्षासम्भवात्तत्रेणैव तस्यापीत्यव्यवस्थानाच्च । अधिष्ठात्त्वस्यैव देवतात्वेन तस्या अधिष्ठेयतायां देवतात्वव्याघाताच्च । अतः स्वत एवेति पूर्वपक्षः प्राप्ताः, तत्राह । प्राणेत्यादि । प्राणवता प्राणसहितेनाधिष्ठात्त्वनाधिष्ठितं बागादि । कुतः । शब्दात् । 'सोयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत' इत्यादिरूप्यादुद्गीयब्राह्मणस्याद्वाक्यचयात् । तत्र हि 'द्वयाः प्राजापत्या' इत्यादिना इन्द्रियाधिष्ठातृणां देवानामसुराणां चैषु लोकेषु स्थाषाञ्चत्वा, प्रतिबन्धकासुरातिक्रमेण तेषां स्वजिगमिषायां 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिभिर्ब्रह्मैव तत्वात्सिभवगत्य, तत्रासुररुक्तमतिवर्षं चाकलय्य, आश्वलाह्मणे यज्ञवल्क्येन 'उद्गात्रत्विजा वायुना प्राणने'ति कथनादुद्गीथेनासुरातिक्रमेण स्वर्गाक्रमणं निश्चित्य, बागादीनामृद्गात्त्वेन हतवन्तः, ततस्तेषां सर्वेषां पर्यायेणोद्गातृणामसुररुक्ते पापमेषु श्रमात्मकमृत्युव्याप्त्या अप्रतिरूपवदनादिरूपदोषसंशुद्धांस्तान्तीक्ष्ण्यासप्तं प्राणसुद्धातारं चक्षुः, तस्य यदा वैशम्यमसुराः प्रवृत्ताः, तदा यथाऽग्नायं गत्वा लोष्टुभिर्हंसो भवति, तथा असुरा एव नष्टाः, तदा तेन सर्वेषां देवानां पापसंबन्धवारणेन 'न ह वै देवान् पापं गच्छती'ति श्रुतिविभक्तिषोपि निवारितः । ततः 'सा वा एषा देवता एतासां देवतानां पारं मृत्युमपहृत्यापिनां मृत्युमत्यसंहतः । स वै वाचमेव प्रथमात्मवहत् । सा यदा मृत्युमपहृत्युच्यत सोऽग्निराभवत् सोयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत' इत्यादिना मुख्यप्राणाश्रयवशाद्वाग्माद्यधिष्ठात्त्वदेवानां मृत्युरूपश्रमात्मकपापनिन्द्या प्रतिबन्धकासुरातिक्रमेण दीप्यमानत्वादिकमुक्तम् । अतो दीप्यमानस्यैवाधिष्ठात्त्वत्वात्प्राणवतेऽग्न्यादिनाधिष्ठितं बागादीति सिद्धम् ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

ननु प्राणसंबन्धस्य अन्यत्वात्कादाचित्कत्वेन निष्ठत्वाद्यधिष्ठात्त्वमप्यनियतं स्यादित्यत आह । तस्येत्यादि । प्राणस्य चकारात्संबन्धस्य नित्यत्वाद्गन्त्यादीनां सर्वदाधिष्ठात्त्वान्नान्यस्यमित्यर्थः । प्राणनित्यता तु श्रेष्ठैत्यधिकरणे 'आनीदवात्'मिति श्रुतिविचारेण निर्णयता । तत्संबन्धनित्यता तु छान्दोग्ये प्राणानां अहंश्रेयोविवादे अन्येषां प्राणानां मुख्यप्राणं विना स्यात्तुमशक्तिबोधकवाच्यैर्निर्णयते । न चैवमेतस्यावस्थासङ्गतत्वं शङ्कनीयम् । जीवपरिकरेषु मुख्यप्राणस्य मुख्यमात्यस्यानीयत्वेन तदधिष्ठानविचारस्याप्यावश्यकत्वात् । तदधिष्ठानेनैव जीवभोगस्य सुखेन सिद्धेति ॥ १६ ॥ इति सप्तमं प्राणवतेत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशान्दन्त्यत्र श्रेष्ठम् ॥ १७ ॥ (२-४-८)

ननु इन्द्रियाणां प्राणाधीनसर्वव्यापारत्वात्प्राणव्यपदेशाच्च प्राणवृत्तिरुपाणीन्द्रियाणि, किं वा नानाकारकणाच्छान्तराणीति सन्नेह्ये, नानाकार्यकरणस्यापानादिवत्सम्भवात्प्राणवृत्तिरुपाणीन्द्रियाणीति प्राणो, आह । तदिन्द्रियाणीत्यादि । तदिति लुप्तविभक्तिकं पदम् । तानि इन्द्रियाणि तत्पानतराणि । कुतः । तद्व्यपदेशात् । 'एतस्याज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे'ति श्रुताविन्द्रियबन्धनेन व्यपदेशात् । यदि हि प्राणवृत्तिरुपाणि स्युः, जननश्रुताविन्द्रियपदेन न व्यपदेशान्ति स्युः । प्राणाधीनव्यापारत्वं तु स्वाभिभूयन्त्यायेनोपपद्यते । प्राणानामव्यपदेशस्तु द्रोणकणादिषु कुड्कव्यपदेशवदुपपद्यते । अतो भिन्नव्यपदेशान्यानां ऋचिदेकव्यपदेशवत्त्वेपि नैकत्वम् । नन्वेवं सति प्राणापानादिबन्धवाच्यत्वादासन्त्येपि तर्हि भेदः स्यादित्यत्र आह । अन्यत्र श्रेष्ठ्यादिति । प्राणस्य ते यौगिकाः शब्दाः पाचकपाठकादिषु । अतो न ते भेदाका इत्यर्थः ॥ १७ ॥

उक्तोपोद्वलनार्थं सूत्रद्वयेनान्यदपि हेतुद्वयमाह ।

भेदश्च्युतेः ॥ १८ ॥ वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

यत्रापि प्राणवृन्दमयोगः, तस्यापि श्रुतौ 'तद्युक्तामन्दं प्राणोद्वृत्तामिति प्राणमनुक्तामन्तं सर्वं प्राणा अनुक्तामन्ती'ति भेदश्रवणात् । 'एवं ह वै परे देवे मनस्येकं भवती'ति सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वापञ्चला च 'प्राणायम एवैतस्मिन् युक्तं जायती'ति प्रभोपनिषदि वैलक्षण्यबोधनात् पूर्वोक्तरीत्या स्वाभिसेवकत्वं स्थित्यापि वैलक्षण्याच्चेन्द्रियाणि प्राणाञ्जिन्धान्येष्वेति सिद्धम् ॥ १८-१९ ॥ इत्यष्टमभिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादित्यधिकरणम् ॥८॥

संज्ञामूर्तिऋसिस्तु त्रिद्वर्कवत् उपदेशात् ॥ २० ॥ (२-४-९)

श्रुतानां विषयदादीनां भौतिकानां लोकानां च सृष्टिः परमेश्वरादेवेति निर्णाय नामरूपव्याकरणमपि परमेश्वरादेवेति निर्णेतुमधिकरणान्तरमारभते । संज्ञेत्यादि । तत्र लोके नामरूपव्याकरणं कुलालादिजीवेषु प्रसिद्धम्, श्रुतौ च परमेश्वरादुक्तम्, अतः सन्नेह्ये, जांच एव तत्कर्तेति युक्तम् । श्रुतौ 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति तदर्थकमपेशो जीवस्यैव गृह्यतत्त्वात् । न च करणत्वबोधकतृतीयविरोधः । चारणे परबलं प्रविश्याकलयामीतिवचस्या अविरुद्धत्वात् । न च तेषामलौकिके तत्करणे असामर्थ्यं शङ्क्यम् । जीवसमाहिरूपस्य हिरण्यपरस्य समवेत्तादिति पूर्वपक्षानिराकरण्याय तुशब्दः । संज्ञामूर्त्यौर्नामरूपयोः कृत्स्नः करणम्, सा तु त्रिद्वर्कवैतः 'सिपं देवतेस्त इन्ताहृषिमोसिद्धो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति 'तासां त्रिद्वत् त्रिद्वर्कवैकैकं करवाणी'ति वीक्षणकारकयनेन त्रिद्वर्कतां परमेश्वरतत्त्वाभिधेया । कुतः । उपदेशात् ।

उप समीपे एकस्मिन्नेव वाक्ये देशात् त्रिद्वर्कणनायरूपव्याकरणयोः प्रसिद्धान्त् । अत्र च तदानीं जीवस्य शरीरसंबन्धाभावाच्च नामरूपव्याकरणद्वैतं संभावयितुं शक्यम् । ऋत्तिरमन्तरेण तत्कार्यस्य काण्टदृष्टत्वात् । अतः 'सर्वाणि व्याणि चित्तस्य वीरः नामभि कुत्वाभिबद्धं यदास्त' इति श्रुत्यन्तराद्भगवानेव नामरूपव्याकर्ता । न च जीवव्यपदेशवैषम्यं शङ्क्यम् । तत्रोपदेशमेवैतत्करणेन तद्व्यपदेशव्यापार्यकत्वादिति । तस्याद्भगवानेव नामरूपप्रथक्कर्तेति सिद्धम् । सृष्टिमक्रिया तु द्वितीयस्कन्धश्रुतयोधिनोतोवगन्तव्या ॥ २० ॥ इति नवमं संज्ञामूर्तिकृत्स्नित्वव्यधिकरणम् ॥ २० ॥

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥ (२-४-१०)

इदानीं त्रिद्वर्कणप्रसङ्गादिदं विचारयेत् । 'अन्नमश्रितं त्रेधा विधीयते तस्य' वः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽपिष्टस्तन्मनः । आपः पीताश्लेषा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं यो मध्यमस्तन्मूत्रं योऽपिष्टस्तन्मूत्रं योऽपिष्टः स प्राणः । तेजोश्रितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्य भवति यो मध्यमः सा मज्जा योऽपिष्टः सा बाहू । अथयमं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वा'मिति मन-ज्जादीनां भौतिकत्वं श्रूयते । 'एतस्याज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चै'त्यत्र स्वातन्त्र्यम् । एवं श्रुतिविप्रतिषेधात्संशये किं युक्तमित्यपेक्षायां पूर्वपक्षमाह । मांसादीनि । मांसादि, पुरीषमांसं मूत्रलोहिते अस्मिन्पञ्चा व । भौमं स्वस्तकारणजन्मं 'भूमिः स्थितौ स्थानमात्रं' इति कोशात् भूमिरुत्पत्तिस्थानं तज्जन्मं यथायथं तेजोवन्नप्रकृतिकात् । तत्र हेतुः । यथा शब्दम् । अन्नमश्रितमित्यादिश्रुत्या निःसन्दिग्धमिति तदनाचदन्तिकात्कर्म्य वृत्तौनाम् । एवं निःसन्दिग्धत्वे सति इतरयोर्मनःप्राणयोरपि यथाशब्दं भौतिकत्वं मन्तव्यम् । चकारेण छान्दोग्ये यथा तेजोमयीति । तथा परंतरे अग्निवग्भूत्वेति वाचोपि निःसन्दिग्धत्वं सद्गृह्यते । तथा च सर्वेषां तथात्वे एतयोरपि तथात्वमेव युक्तम् । उद्गमश्रु-तित्तु स्तुतिपरा, अतो भौतिकान्येव मनज्जादीनीति प्राप्तमित्यर्थः ॥ २१ ॥

वैशेष्यान्तु तद्वादेस्तद्वादः ॥ २२ ॥

अत्र समापत्तेः । तुः पूर्वपक्षानिरासे, वैशेष्यात् अक्षादिभिर्मनःप्रभृति विशेष्यते । छान्दोग्ये 'पञ्चदशानि मास्री'रित्यारभ्य 'साज्ञेनोपसमाहिता प्राञ्जाली'दित्यन्ते ब्रह्मे कार्यसमत्वेन व्यक्तीक्रियते । अतो विशेषणं विशेष्यस्य भावो वैशेष्यं तस्यादेव हेतोस्तद्वादः । अन्नमयत्वादिवादः । न च प्राणवाचोस्तथात्वात्प्राणपदान्तात्सन्नेह्यम् । काममपः पितृत्वविच्छेदनिर्देशेनोपोपादितथायत्वात् । किञ्च । उद्गीयब्राणणे 'अथा-

त्यनेऽन्वयमागायत्, यत् किञ्चाभ्यपयते, अनेनैव तद्व्यत' इति प्राण एव सर्वस्या-
न्नस्याचा निर्दिष्टः । ऐतरेये वागादयोऽन्नार्थं ह्यत्वादित्यानेषु प्रविष्टा चक्ताः; प्रथमसृष्टौ
भिक्षतया च निर्दिष्टा इत्यचूत्वेनैवाभिधेताः । अतोपि नाम्नादिकार्थभूताः । अन्नं
चादनीयमात्रम्, न तु पृथिवी, तत्र तद्रूपकस्याभावादिति । अतो मनआदीनि न भौति-
कानि, किन्तु तत्त्वान्तराणीति सिद्धम् । तद्वाद इति वीप्साऽऽध्यायसमाप्तिश्लेषिका ॥ २२ ॥
इति दशमं मांसादिभौमित्यधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रार्थचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां
ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं द्वितीयाध्यायः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भावप्रकाशिका ।

श्रीमद्भोस्वामिश्रीव्रजनथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचिता ।

(ब्रह्मसूत्रवृत्तिः)

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिचरक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥ (३-१-१.)

प्रथमेऽध्याये वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयं, द्वितीयाध्याये च तेषामितरेतरा-
वितोषं, तद्विरुद्धानां स्थूलादीनां चाप्रामाण्यं प्रतिपाद्योपनिषदामेव मुख्यतया ब्रह्मबोधकत्वम्,
नेतरेषामिति ह्येकीकृतम् । अतः परं तृतीयेऽध्याये उपनिषदां ब्रह्मबोधनप्रकारश्चिन्त्यते, किं
सर्वाऽप्युपनिषदाः संहत्यैकां विद्यां जनयन्ति, उत तत्संख्यादिभेदेनानैकामिति । किञ्च ।
ताः सर्वत्र न जनयन्ति, किन्तु जन्मना कर्मणा शुद्धे पुंसि जनयन्ति मर्यादायाम् । पुष्टौ
तु केचले शुद्धान्तःकरणेऽपि जनयन्ति । तस्मात्प्रथमपादे प्रकारशेषतया तदधिकारिणो
जन्मप्रकारस्तत्सङ्गातं च निरूप्यते, द्वितीये तस्य ब्रह्मभावात्सियोग्यताविचारपूर्वकं विष-
यावधारणप्रकारश्चिन्त्यते, तृतीये च बोधसौकर्यायै गुणोपसंहारः, चतुर्थे च तद्ब्रह्मभूत-
क्रियोपसंहार इत्येतत्सर्वं विद्याजननोपयोगिनः । निरूप्यते । तत्र प्रथमे पादेऽधिकारिणो
जन्मोच्यते । तत्र बृहदारण्यके छान्दोग्ये च पञ्चाधिविद्यायाद्युक्तम्, 'असौ वाक् लोको गौत-
माभिस्रस्त्यादित्य एव ममिद्रस्मयो धूमोऽहरविश्वन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गान्ता-
स्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुहति, तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' इत्यादिभिः पञ्च-
भिर्वाक्यैः । तत्र द्वितीये वाक्ये पञ्चन्यायव्यवस्थित्युद्देशनिहादनयो विस्फुलिङ्गान्ताः, सोमो राजा
होम्यम्, वर्षं फलम्, तृतीये पृथिवीसंवत्सरकाशराशिदिगवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गान्ताः,
वर्षं होम्यम्, अन्नं फलम्, चतुर्थे पुरुषवाक्प्राणविद्वाचक्षुःश्रोत्राणि विस्फुलिङ्गान्ताः, अन्नं
होम्यम्, रेतः फलम्, पञ्चमे योषोपखोपमन्त्रणयोनितदन्तःकृत्यभिनन्दा विस्फुलिङ्गान्ताः,
रेतो होम्यम्, गर्भः फलम्, तदर्थे च, 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति
स उल्पावृत्तो गर्भो दश वा नव वा भासानन्तः शयित्वा यावद्वाद्य जायते, स जातो याव-
दायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽप्यय एव हरन्ति, यत एवेतो यतः संयतो भवति' इत्यन्तेन ।
अर्थस्तु, एतेष्वग्निषु देवा लोकपालाः कर्मसचिवाः श्रद्धादीनि जुह्वतीति । तत्र श्रद्धा-
पदेनाप उच्यन्ते, 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुत्यन्तरात्, न च शुद्धिजनकत्वसाम्याद्

गौणीति शंक्यम्, वैदिके निघण्टौ श्रत्यदस्य सत्यनामसु गणिततया श्रुत् सत्यं दधातीति श्रद्धा इत्येवं योगस्य शक्यपचनत्वात्, एवञ्च शुल्केकाश्री देवेहुतानां श्रद्धास्थानामापां परिणामः सोमो राजा संभवति, एवं हुतास्ता आपो शुल्केकस्यमंगारत्वेनोक्तं चन्द्रमनुप्रविश्या-पूर्वमाणपदस्य पञ्चदशकलाभिः पोषणतामारभन्ते, एवमप्यऽपि, पञ्चमेऽपि, पञ्चमेऽपि हुतः सोमो राजा वर्षं भवति, तत्र वर्षं श्रुतिव्ययी हुतमन्नं भवति, तदन्नं पुरुषायै हुतं रेतो भवति, तद्रेतश्च योषायै हुतं गर्भो जायते, तदाह 'इति तु पश्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति । ततो वैराग्यार्थमाह 'स उक्त्वाहुतो गर्भे' इत्यादि । अत्र यद्यपि पश्चाद्दुतीनां पुरुषमावसाधारण्यं प्रतीयते, तथापि चन्द्रगतः साधारण्यस्यापे स्त्रेषु परिहृणीयत्वात् सर्वसाधारण्यं तासाम्, अतः पूर्वजन्मनि ये निष्कामवैराग्यदिकर्तारो ज्ञानरहितास्तेषां ज्ञानाभावेन यज्ञाभिष्यक्त्यभावात् मोक्षः, कामभावाच्च न स्वार्गदिसुखतया फलम्, साक्षाद्द्वैदिक-कर्मणः फलावश्यंभावनियमाच्च न वैयर्थ्यम्, किन्तु 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' इति गीतावाक्यात्पावनता, अतस्तादृशयज्ञकर्तृणां हविर्हृष्टीत्वा कर्मसचिवा देवाः वाजिशालीयपद्मश्रीयन्त्राणोक्तरीत्या आहुतिभिः स्वर्गं आनीतं यजमानं प्रत्युपकर्तुं तस्यापे ज्ञानजननार्थं पश्चादभिरुच्यते देहं संपादयन्तीति तत्पराः पश्चाद्दुतयः ।

तत्रापामेव होम्यत्वश्रावणाजीवेन्द्रियाणां होमाभावेनाशुद्धिमाशेष्य तेषामपि होमं वक्तुमधिकरणमारभते । तत्रैते पश्चाद्दुतयो पूर्वमर्ग एव, अर्चिर्मर्गोऽपि वेति संदेहः । 'तत्र इत्थं विदुषे चैमेस्ये श्रद्धातप इत्युपायते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' इति पश्चाद्विज्ञानवतां यन्त्राचिरादिमार्गः, तत्र तथा देवहुतानां स कुतो न भवेदिति युक्तिः पुनरावृत्तिश्च संदेहधीनम् । किञ्च, योग्यदेहनिष्पत्यर्थं स्वयमेव भूतसहितो गच्छति, उत श्रद्धाहोमानन्तरं सोमभावे वा भूतसंवन्यः । 'तदेव तस्यह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्ये'ति देहान्तरप्राप्तिसाधकस्य मनःप्रधानस्य लिङ्गस्य 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्तु षोडशविस्तुतु'मिति पञ्चभूतसाहित्यसंस्थौ श्रुतौ प्राणानामेतेकमप्यश्रावणा भूतान्तेकमाश्रावणं च संदेहधीनम् । तत्र श्रौतेऽपि श्रौतन्यायेनैव निर्णयसोचितत्वात्, भूतान्तरसाहित्ये होम्यानामर्पां गौणत्वापत्तेः संस्कृतभूतोपस्थापकस्याभावात्, तादृशयज्ञोपकार्यस्य यजमानस्य शरीरवियोगोत्तरं देवानां तावद्विलोच्य कारणभावाच्च श्रद्धासंपन्नोभोमानन्तरं होमानन्ते भूतसंवन्यः, अतो न भूतैः परिष्वक्तो गच्छति, इति प्राप्तम् ।

तत्राभिधीयते । तदन्तरमपि पश्चाद्विद्यादि । 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' इति प्रश्नाक्ये पुरुषपदस्य जीवाधिष्ठितदेहपत्न्यात्तस्य निष्कामयज्ञादिकर्तृजीवकस्य अन्तरे मध्ये मोक्षलक्षणस्य मुख्यफलस्वार्थकं प्रतिपत्तौ योग्यशरीररूपावान्तरफलप्राप्त्यर्थम्, तस्य मुख्यफलस्य वा, अन्तरे या प्रतिपत्तिरवान्तरफलं तदर्थं वा, शरीरकारणभूतैर्युतैः संपरिष्वक्त एव जीवो रहति । पूर्वशरीराभिष्कम्ब्य शुल्के गच्छति । 'तं विद्याकर्मणी सन्त्वारभेते,

पूर्वप्रज्ञा च' इति श्रुतौ जीवदशासंबन्धिज्ञानेन्द्रियजनितं ज्ञानं कर्मेन्द्रियजनितं कर्म, 'यं वापि स्मरन्भाव'मित्युक्ता मरणकालीना प्रज्ञा च भाविदेहार्त्तमकारणत्वेन श्राव्यते । अत्र च होमे कर्मणो रूपभूता आप उपलभ्यन्ते इति जीवदशासंबन्धिकर्मरूपभूतानि सूक्ष्मभूतान्तरारण्यं तं परिष्वजन्तीति तैः परिष्वक्तो द्विवि गच्छति । तत्र हेतुः । प्रश्ननिरूपणान्याम् । 'वेत्ये, यथा पश्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति प्रश्नः । 'असौ वा लोको गौतमाभिः'रित्यादिरूपं प्रतिवचनं निरूपणं ताभ्याम् । अयमर्थः । प्रश्ने पुरुषत्वं बक्ति । पुरुषश्च न देहभावात्, किन्तु जीवाधिष्ठितः । छान्दोग्ये 'प्राणो हि पिता प्राणो माता' इत्यत्र जीवविशिष्ट एव तत्तच्छब्दाव्यक्तानिर्णयेन पुरुषपदेऽपि तन्नायस्य तुल्यत्वात्, अत्र च सिद्धवत्कारण पुरुषतावचनात्, निरूपणेऽपि अङ्गरूपेण पूर्वं सतश्चन्द्रस्य 'सोमो राजा भवति' इति राजत्वकथनतः प्रत्यक्तकचेतनान्तरसाहित्यसूचनेन, अन्याधिष्ठानादन्यदीयदेहासंबन्धेन सोमाधिष्ठानाद्यजमानदेहस्य वक्तुमशक्यतया च प्रथमाहुतौ जीवसाहित्यं प्राप्यते, तथा वर्षस्योपरे पातेऽन्नस्य मांसादिभावे रेतसो वृथापाते गर्भस्य खावादौ च पुरुषभावाभावादत्र फलोपहितैस्तैः सर्वैराहुत्यन्तरेऽपि तस्याप्यते । अतः कर्मानीतस्य मपरिकरस्य होम्यत्वेन लाभदित उक्तमपे संस्कृतः सूक्ष्मभूतैः संपरिष्वक्त एव रहति । एवं जीवसाहित्येऽप्यपामेव होम्यत्वात्किन्तु यथा वाजसनेयिनां षष्ठेऽश्रावणौ पुरुषस्य होम्यत्वेऽपि शरीरस्य मुख्यत्वम्, तदन्तन्मुख्यत्व्याभिप्राया । अयं च देव-कृतो होमस्तत्र तं ज्ञानार्थं तथा जनयतीति परिणामसुखदत्तादिभिमानरहित्येनैव तत्र जीवस्थितेश्च न दुःखहेतुः । तस्मात्सर्वं सुष्ठु । अतो होम्यऽप्यं गौणत्वस्य परिहृतत्वात्, तावां द्रव्यत्वेन कर्मरूपतया तदमोप्रयोजकानां पूर्वजन्मीनकर्मणामेव रूपभूतसंस्कृतभूतोपस्थापकत्वात्, अन्मोमस्य दिव्युक्तत्वेन तावत्सर्वतामनस्यैव देवविलम्बे कारणत्वाच्च संस्कृतभूतसंपरिष्वक्त एव रहति, नतु श्रद्धाहोमोत्तरं भूतसंबन्ध इति सिद्धम् ॥ १ ॥

॥ ग्यात्मकत्वात् नु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

ननु सकलभूतसंस्कारकत्वमस्य होमस्य न युक्तम्, 'वाक्येऽपामेव होम्यत्वेनोक्त्या तन्मायसंस्कारकत्वस्यैव प्रतीतिः । न चापि भूतान्वरोपलक्षकत्वमिति ज्ञान्यम् । उपलक्षणायां नियामकानुपलम्बता, तैत्तिरीये द्विदैवत्वहविःस्तुतौ 'असि चैव तेन मा-सं च यजमानः सं-संस्कृत' इति श्रावणेनान्यसंस्कारस्य प्रमेव सिद्धतया तद्विरोधाप-चेभ्योयज्ञायामाह 'ग्यात्मकत्वात्' इत्यादि । तुरुक्तज्ञाननिरासे । अपां ग्रहणे तेजोच-ज्ञानि श्रावणं । कुतः । व्यात्मकत्वात् । होम्यानामर्पां यष्टिनिर्माणोत्तरवर्तित्वेन त्रिवृत्क-ततया भूतान्तरसाहित्यात् तेषामनुक्यापि प्राप्तेः । नन्वेवं सति तेज एवाक्तं स्यात्, श्राव्यात्, न त्वाप इत्याकांक्षायामाह 'भूयस्त्वात्' । नन्वेवं नियामकानां चतुर्नां सत्त्वात् । तावि च 'आयुः स्वभावतो मेधा' इति शुद्धत्वम्, श्रद्धाजनकतया सर्वप्राविशष्टत्वम्,

मध्यमावातेजोऽन्नसंघटत्वम्, बृहदारण्यकोक्ते ऋषयो भास्वरवर्णपुरुषतया दीक्षित-
तुल्यतया वक्तव्यत्वम्, पयःसोमादिरूपबहुदेवकत्वम्, वृष्टयन्नरेतःशोणितरूपेण बहु-
धापरिणामः, द्रव्यभूयोवरत्वं चेति बोध्यानि । न चोक्ततैत्तिरीयश्रुतिविरोधः । अश्वि-
मांसयोः पूर्वयोस्तदेहनिवृत्तानेव निवृत्तत्वात् । अतोऽग्निदेवार्थं भूतमात्रसंस्कारस्यावश्य-
कत्वादायमेव ग्रहणं युक्तमित्यदोषः ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

लौकिकीं युक्तिमपि दर्शयति । प्राणस्य गतिः प्राणगतिः, 'तमुक्तामन्तं प्राणोन्क्ता-
मति' इति श्राविता । अतः स निगेच्छन् स्वाध्यायक आप आदायैव निर्गच्छति । लोके
तथा दर्शनात् । अपां प्राणायामकत्वं च 'काममपः पिबे' त्यत्र श्रावितम् । एतेनैव मनसा-
न्नग्रहणं वाचा तेजोग्रहणं च बोधितं ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

अद्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणं' इत्यादिश्रुत्यन्तरे प्राणानाम-
ग्न्यादिगतिरैतान्तात्मिका श्रूयते, उक्तश्रुतौ चोक्तमणस्य, अतः परस्परविरोधात्तन्न विनिगमने-
ति चेत्, न । कुतः । भाक्तत्वात् । अग्न्यादिगतिश्रुतिर्हि बृहदारण्यक आर्चमागशास्त्राणस्या,
मरणावस्थां सिद्धवदनुवदति, सावस्था च मुक्तामुक्तयोस्तुत्या, तत्र मुक्तस्येन्द्रियाणि 'अत्रैव
समवनीयन्त' इति श्रुतेर्ब्रह्मण्येव लीयन्त इत्येकः पक्षः । 'स वाचमेव प्रथमामत्यवह'दिति-
श्रुत्युक्तीत्या देवभूतानि भवन्तीति द्वितीयः पक्षः । तयोर्मध्ये देवभावपक्षमादाय प्रवृत्तेर्यं
श्रुतिः प्रकरणव्यतिरेकेणासुक्तविषये त्वया नीयमाना अप्ययमिव बोधयन्ती भाक्ता भवति ।
अतो भाक्तत्वात्तन्न विरोधाप्रायिका, तस्मात्सिद्धे उक्तमणे भूतैः संपरिष्क्तो गच्छतीति
सिद्धम् ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिनिचेन्न ता एव श्रुतपक्षेः ॥ ५ ॥

ननु पञ्चाग्निविद्यायां प्रथमाहुती श्रद्धा श्रुता, नापः । तासु । 'पञ्चम्यामाहुतावापः
पुरुषवचसो भवन्ती'ति फलकथने श्रूयन्ते, उपक्रमस्त्वसंज्ञातविरोधलाहुर्बलः । नच मनोवर्षस्य
होमायोग्यत्वं शङ्क्यम्, मनसा सह होमोपपत्तेः । नच तस्याः गौणत्वापत्तिः । यथा 'हरु-
णया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या गवा सोमं क्रीणाती'त्यत्र कर्मेऽरुणगुणस्य मुख्यत्वं गौरव्यावच्छेदक-
तया, तथात्रापि मनोऽवच्छेदकतया तल्पदेवः । अतः प्रथमाहुतावपावश्रवणात्तामिः परिष्क्तो
च युक्त इति चेत् । न । ता एव अपः श्रद्धापदेनोच्यन्ते । हि युक्तोपर्ययः । वैदिके निघण्टौ
श्रदित्यस्य सत्यनामत्वात्, श्रुत् सत्यं दधातीति श्रद्धेत्येवं योगेनासु प्रवृत्तिसौकर्यात् । एतद्वा
अपां नामधेयं गुह्यं यदाधात्वा' इतिवत् 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुत्या योगरूढत्वस्यापि वक्तुं
शक्यत्वात् । अत्र विनिगमकं हेतुमाह उपपत्तेरिति । उपक्रमः प्रश्नवाक्यम्, तादृगेव चोप-
संहारे वाक्यमप्यदधितिम्, अद्वाभ्यस्तस्य मध्ये श्रुत इति तेन तौ नान्यथा नेतुं शक्यौ । श्रद्धा-

पदप्रयोगस्तु कामनाकृतकर्मव्यावृत्त्यर्थः, कायुकानां फल एव श्रद्धावत्त्वात् । अतो निष्क-
मप्रयुक्तबन्धित्वमाहुतीनां बोधयितुं प्रथमाहुतिहोम्ये प्रश्नापदप्रयोगः । तेन प्रथमाहुताव-
प्यत्स्यतां श्रवणम् ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिनि चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

जीवः संस्कृपापरिष्क्तो रंहतीति निर्णायितम् । तत्रेदं विचार्यते । किं सर्वं जीवाः
संपरिष्क्ता रंहन्ति, उत ज्ञानोपयोगिन एवेति संशयः । संशयबीजं तु श्रुतौ विशेषाश्रवणम्,
देवानां तदुपकारार्थं प्रवृत्तिश्च । तत्र श्रौतेऽर्थे श्रुतानुसारिकल्पनया एवोचितत्वात् । पञ्चाग्नि-
ब्राह्मणेऽपि कारिविशेषाश्रवणात् सर्वमेव पञ्चाहुतिप्रकार इति हृदिक्रत्याह अश्रुतत्वा-
दित्यादि । पञ्चाग्निब्राह्मणेऽपि कारिविशेषस्याश्रुतत्वात् सर्वमेव होम इति सर्वेऽपि मृतसंप-
रिष्क्ता गच्छन्तीति चेत् । न । न सर्वेषां होमादिः कुतः । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । 'यो
वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते, नास्येष्टाय श्रद्धत' इत्यश्रद्धालुनिन्दया, 'उभयेभ्य देवमनुष्या
इष्टाय श्रद्धदधत' इति श्रद्धालुस्तुत्या च श्रद्धावत एव यज्ञः फलमुख इति पूर्वकाण्डे
लभ्यते । ते च निष्कामयष्टारोत्र श्रद्धापदोक्त्या प्रतीयन्ते, देवानां च तेषामेव प्रत्युपकार
आवश्यक इति देवानां होतृत्वेन च ते प्रतीयन्ते । 'अथ ये ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासत'
इत्यादिना धूममार्गव्युत्पादने 'आकाशाबन्धमसमेव सोमो राजा' इत्यादिना इष्टादिकारिणां
सोमभाव उक्तः । अत्रापि प्रथमाहुतिफलं सोमभाव इति सोमभावश्रुतिसम्प्रादीर्षादि-
कारिण एव प्रतीयन्ते इति त एव तथा रंहन्ति, न सर्वे इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

भाक्तं वानात्मविश्वास्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

ननु यदि सोमभावश्रुतिसाम्यादिष्टादिकारिणो रंहन्तीत्युच्यते, तदा सोमभावे तेषा-
मनिर्दे श्रूयते । 'एष सोमो राजा तदेवानामजं तं देवा भक्षयन्ति' इति, समानश्रुतौ 'चाप्या-
यस्वापक्षीयस्वेलेवमनांस्तत्र भक्षयन्ति' इति । अतः किमेतयाहुत्या । किंच, चन्द्रव्रतेऽपि
देवात्रभूता इति देवाः स्वायं कथं पर्व-न्यामौ ब्रुहुयुः । अतः पञ्चाहुत्यभाव इत्याशङ्क्या-
माह 'भाक्तं वेत्यादि । वाद्यः शङ्खापरिहारे । तेषां सोमभावो भक्षणं च
भाक्तम्, गौणम् । कुतः । अनात्मविश्वात् । सोमभावे मुख्ये हि मुख्यं भक्षणं संभवति,
स हि मुख्यो ब्रह्मभावे सति भवति, 'स सर्वं भवति, तद्वैतल्यस्य न ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे
मनुस्त्वमदं सूर्यं' इत्यादिश्रुतेः । एतेषां तु स न, तथा सति मोक्ष एव भवेत् । अतो-
नान्त्ववित्त्वात् सोमभावे गौणेऽन्नभावस्य गौणतया भक्षणमपि गौणमेव । अत्रोपग्रहंमहाह
तथाहि दर्शयन्तीति । तथा शब्दस्य गौणत्वात् ननु सोमभावं हेतोः 'श्रावत्संपातमुपतिवा' इति
श्रुतिरेव दर्शयति । यावत्कर्मफलभोगं वासेन बोधयति । अतो यथा 'अथ योऽज्यां देवता-
मुपास्ते, न स वेद यथा पशुदेवं हि देवानां पशुः' इत्यत्र यथा पशुशब्दो गौणः, एवञ्च

भक्षणमपि गौणम् । तथा च यथा 'खियं भुङ्क्ते' इत्यत्रान्यवहारो भोग एव, न तु चर्वणादिकम्, तथा भक्षणमपि सहक्रीडादिकमेव । अतस्तेषामनिष्टाभावात् क्रोधि दोषः । एवं प्रथमा-
हुतिः सफला विचारिता ॥ ७ ॥ इति प्रथमं रहस्यधिकरणम् ॥ १ ॥

कृतान्त्येऽनुशयवान् दृष्टस्त्वितिभ्यां यथेवमनेषं च ॥ १ ॥ (३-१-२.)

द्वितीयामाहुतिं विचारयितुमधिकरणान्तरमारभते । तत्र हि सोमस्य पर्जन्ये होमे वृष्टि-
त्वम् । तत्र रूपरसादीनां हीनतया प्रतीयमानत्वाद्यागस्यान्तरफलं चन्द्रलोके भुङ्क्ते इति
निश्चितम् । तत्र भोगे संशयः । किं सर्वमेवावान्तरफलं भुङ्क्ते, उत अनुशयवान् वृष्टिर्भवतीति ।
अनशयो नाम शेषः । अनु पश्चात् शेषे भोगानन्तरं तिष्ठतीत्यनुशय इति व्युत्पत्तेः । एत-
द्विचारप्रयोजनं तु सद्भासनयाग्रिमजन्मनि सदाचारयुक्तस्य भवनम्, अन्यथा सर्वस्य
स्वभावाधीनतयोभयविषं कर्म संबधतीति निरनुशयत्वे, पूर्वकृतदुष्कर्मभोगस्यानुकलात् तेन
कपुपयोनिवृत्त्यापद्यत, न च वेदेषुतेसदभावः, 'आचाराहीनं न पुनन्ति वेदाः' इति बाधो-
पलब्धेः । तस्माद्विचार आवश्यकः ।

तत्र पूर्वः पक्षः । आहुतिभिर्दुल्लोके नीतानां तदशौ देवहोमोत्तरं सोमभावे तत्र
बहुकालावस्थानं धूममार्गिणामवस्थापौधिकया 'तस्मिन् यावत्संपातयुपित्वायैतमेवाध्वानं
पुनर्निवर्तन्त' इति श्रुत्या कर्मभोगोत्तरं भवतीत्यवसीयते, सम्यक् पतत्युत्पलसाहोकात्सर्वं
लोकमिति व्युत्पत्त्या संपातपदेन कर्मभोगानात् । एवं सति सत्कामानां धूममार्गिणां यथा
युक्तभोगोत्तरमावृत्तिः, तथैवेषामपि प्रारम्भभोगोत्तरमेव वृष्टिभाव इति न्यायसाम्यास्तिस्यति ।
स च भोगः सत्कामानां मुख्यं फलम्, निवृत्तमानामयान्तरफलम्, उभयबापि फलत्वस्या-
प्रम्यत्वात्सर्वस्य भोगः प्राप्नोति, शेषाङ्गीकारे 'यावत्संपातयुपित्वा' इति श्रुतिबाधप्रसङ्गात् ।
न चानुशयभावे सद्भासनाश्रुत्यायामग्रिमजन्मनि सदाचाराभावप्रसक्तिः शङ्का । उक्तरूपेदे-
वोद्यमैरेव ज्ञानोपयोगिशरीरभावादेव पटे छिन्नरत्नवदर्थकालादेव सदाचारसिद्धेः । अतो
निरनुशय एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति ।

एवं प्राप्ते, अभिधीयते । कृतेत्यादि । कृतस्य सोमभावस्यात्यये नाशे सति, न च
कृतपदेन कर्मैव कृतो न शक्यत इति वाच्यम्, तस्य मुख्यफलाधिकत्वेनावान्तरफलभोगा-
नाशत्वाभावादत्ययपदविरोधापत्तेः । कर्मपदप्रयोगाभावाच्चेति । अतः सोमभावनाशे-
ऽनुशयवान्यान्तरफलसाधकलेशसहित एव वृष्टिभावं प्राप्नोति । कुतः । दृष्टस्त्वितिभ्याम् ।
लौकिकप्रत्यक्षेण सूत्र्या च तथा निश्चयात् । दृष्टं तावलोके भोगसाधनमूतदख्यनाशेऽपि
भोगसाधकताद्यदेहवन्नादिसहित एव तस्मात्स्यानादपगच्छति । यदि फलशेषो नाङ्गीक्रियेत,
तदा देहादेरपि कर्मजन्यत्वेन कर्मनाश एव तत्रासात्सप एव देहः पतेत् । अतो यथा
लोके सातुशयो गच्छति, तथात्रापि बोध्यम् । स्मृतिश्च पञ्चमस्कन्धे देवगाया, 'यद्यत्र नः
स्वर्गसुखावशेषितं सिद्धस्य दत्तस्य कृतस्य शोभनम्, तेनाजनाभं स्मृतिमजन्म नः स्याद्वै

हरिर्धेन्द्रजतौ शं तनोति' इति । अस्यां स्मृतौ 'शेषितं सिद्धे दत्तं कृतं'मित्यनुकत्वा, 'सिद्धस्य
दत्तस्य कृतस्य शोभनं मिति यदुक्तम्, तेन कर्मजन्यफलशेषरूपानुशयलाभः । अतो दृष्टस्य-
तिभ्यां तथा सिद्धत्वात् ज्ञानौपर्यिकं जन्मानुशयवत एव भवति, तदभावे पूर्व-
जन्मस्युत्पन्नावादिपशुपातकारिणि । नन्वेतादृशानुशयाङ्गीकारेण पूर्वजन्मस्मारकं संस्कृते-
न्द्रियारिक्मेव वक्तव्यम्, तत्र देहमन्तरेण स्वकार्याक्षमं सत् देहमाक्षेप्यतीति तत एव
योग्यदेहः संस्पृतीत्यप्यपह्नो व्यर्थ इत्यत आह यथेनमिति । धूममार्गे 'यथेन'-
मित्युक्तम् । अत्रायंश्च वृष्टिभावादिरूप्यते । अतोऽपरिभ्रष्टे ल्यक्ते तद्विरूप्यते । तस्मान्न तद्वै-
र्थम् । अत्र शास्त्रे निष्कामकल्पत्वेनाभावादिनि । ननु यदि पूर्ववदेवापरिभ्रक्तत्वम्, तदा
पूर्ववद्भोगसाहित्यमप्यापद्येतेति । अत आह अनेषं चेति । न एवम्, अनेवम्, पूर्वप्रकार-
युक्तागमनं नास्ति, भोगस्य जातत्वात् । चक्राण्ये वैराग्यसाहित्यं सृज्यते । तस्मादनुशयवान्
देवकृपायुक्तो वैराग्यसहितो वृष्टिर्भवतीति सिद्धम् ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्णोर्जिनिः ॥ ९ ॥

ननु नाशोत्पन्नजन्मार्थमनुशयपेक्षा । कुतः । चरणात् । 'तय इह रमणीयवराणां
रमणीयां योनिमापेरन्', कपुचरणाः कप्यामिति पूर्वजन्मविहिताचार्येण तादृशताद्य-
योनिश्रावणात्प्रकृते पूर्वजन्मनि सदाचारादेव समीचीनं जन्म भविष्यतीति, किमु-
शयेनेति चेत् । न । कुतः । उपलक्षणार्था, चरणश्रुती या योनिरुक्ता, सा पूर्वजन्मकृतकर्म-
ज्ञापिका, न तु तस्मिन् जन्मनि समीचीनकर्मनियामिका । अन्याथा प्राधान्यानां निषिद्ध-
करणं न स्यात् । अतस्तदर्थमनुशयेऽवश्यमङ्गीकार्यं 'साधुकारी साधुर्भवती'ति श्रुत्यनुसारेणै-
तजन्मन्यपि कर्मानुशय एव नियामको मन्यव्यः । न च चरणश्रुतिविरोधः । 'अपचेर' इति
गत्यर्थस्य ज्ञानार्थतायां व्यवधारणकल्पनया पूर्वजन्मज्ञापनार्थतया विरोधाभावात् । तस्मादियं
श्रुत्युपलक्षणार्थैत्यनुशयो ज्ञानोपयोग्यार्थमप्युच्यते इति काष्णोर्जिनिराचार्या मन्यते ।
नानग्रहणं मतान्तरत्वं बोध्यते । तेन सिद्धान्ते पञ्चाशिविद्यायां फलशेषरूपानुशयाङ्गीका-
रात् कर्मशेषरूपानुशयभाव इति नाशङ्का, न चोत्तर । पञ्चाशिविद्यायां उपसमावस्य निय-
तत्वेनान्यभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् । न चैवं सति योग्यन्तरेपि मास्तु कर्मानुशय इति
शङ्क्यम् । एतस्याः श्रुतेः प्रकरणग्रहीतत्वेनान्यत्र न्यायमपवादकत्वाभावात् । अतोऽन्यार्थ
कर्मानुशयवश्यकत्वात् प्रसङ्गेनैदं मतान्तरदिवनं बोध्यम् ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

ननु पूर्वजन्मनि सत्कर्मज्ञानेन नास्मिन्नन्मनि कापि फलासिद्धिः । अतश्चरणश्रुते-
रुपलक्षकत्वाङ्गीकारे आनर्थक्यं दुर्वाच्यम् । तथा न तस्या जन्मविधायकत्वमवश्यमङ्गीकार्यम् ।
तथा सति निष्कामयजुर्तरुपि चरणदेव देहोत्पत्तिर्भविष्यतीत्यनुशयसद्भावो व्यर्थ इति

चेत् । न । कुतः । त्वयैकस्त्वात् । अपेक्षत इत्यपेक्षः पचाय च, तस्या अपेक्षस्तदपेक्षस्तस्मात् । धूममार्गमुपक्रम्य चरणश्रुतेः पठितत्वेन धूममार्गस्य चरणपेक्षत्वात् । द्विविधो हि धूम-
मार्गो निष्कामसकामभेदेन । तत्र निष्कामस्य पञ्चाग्निविधायाम् प्रवेशश्च तत्र चरणपेक्षा ।
सकामे तु 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिवैधं गुणभेदतः' इति गीतोक्तरीत्या कर्मकर्तृवैविध्ये
केचाभिन्नरूपान्देव योनिरिति तस्या नानर्थक्यम् । तत्रापि रमणीयानां कर्पूयानां च
नानायोगीनामुक्तत्वात्तत्रियामकतया कर्मानुश्रयस्त्वावश्यक एवेति तस्याः श्रुतेर्योनिरात्र
कर्मानुश्रयोपलक्षकत्वं तदाप्युद्धरणम् । तस्मात्प्राप्तुशय एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति सिद्धम् ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

असुकृफले विहितनिषिद्धे कर्मणो एवाशुशय इति बादरिचार्यो मन्यते । तथा
चासुकृफले ते एवाशुशय इति 'मोक्षपर्यन्तं सोऽनुचार्तिव्यते' इतिसूत्रेण बोध्यते । 'तु'शब्दो
निरनुशयशङ्कानिवृत्त्यर्थः । अश्रायमाशयः । निष्कामकर्मणो पावनत्वात्तत्रकारणोपनाय पञ्चाग्नि-
विधायः प्रवृत्तत्वात्तानि श्रुलोके यजमानमानीय तिरोदधति । तदनन्तरकार्यं तु तद्व्यापारभूता
देवा एव कुर्वन्तीति तत्र कर्मानुश्रयः, किन्तु फलाशुशय एव, यः पुनः सकामकर्मो-
त्यको धूममार्गस्तत्र तु कर्मानुश्रय एव । अत एवैकादशे 'आत्मा च कर्मानुश्रयं विधुय'
इति भगवतोक्तम् । अतस्तन्मार्गीयानुश्रयं संमद्हीतुं मान्तराण्युपन्यासः । तेन सोमाहुतिः
फलाशुशयवत एव वृष्टिभावनमिकेति विचारितमिति ॥ ११ ॥ इति द्वितीयं कृतात्ययाधिकरणम् २

अनिष्टादिक्रारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥ (३-१-३.)

ननु 'ये वैके चासात् लोकान्यपान्ति चन्द्रमसमेव ते गच्छन्ती'ति कौशीतकिनः समा-
मन्ति । तत्र 'ये वैके चे'ति सामान्यवचनात्सर्वैर्देवैश्च सर्वेषां सोमभवनं श्रुतम् । तेषां दिक्रा-
रिण्यतिरिक्ता अपि संमद्हीतुं शक्यन्ते । अत्रापि धूममार्गीयस्य पुनरावृत्तुपसंहारे कष्टे चरणाः
कर्पूयां योनिमापयन्त इति श्रावणादपि तथा । तेन सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति द्वितीयानुश्रय-
मार्गो सर्वसाधारणो । किञ्च । कर्मोक्तमविकर्मण्यपि सर्वसाधारणानीति विहितकर्तुरपि काल-
कर्मत्वभाववशात् त्रयं संभवति । तत्र ज्ञानभावे फलभोग्यैवत्यात्तद्भोग्यः सोमभावानन्तरं
वृष्टयन्त्ररेः कमेण यदा जन्म, तदा वक्तव्यः । अतः सोमभावानन्तरमेव सर्वेषां जन्मप्राधि-
रिति यत् पूर्वाधिकरण इष्टादिकारिणामेव सोमभावाधिकारित्वं पञ्चाग्निस्मिद्धेद्द्वानां फलाशुशय
एवेति प्रतिपादितम्, तदसुकृमिति पूर्वपक्षः ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेनरेषामारोहाबरोही तद्गन्तिदर्शनात् ॥ १३ ॥

अत्र समापत्ते । संयमनेत्यादि । 'तु' उक्तपूर्वपक्षनिरासे । संयमने यमसन्निधाने अनु-
भूय पुण्यपापफलं भुक्त्वा इतरेषामिष्टादिकारिण्यतिरिक्तानामारोहाबरोही लोकान्तरियसु-
खभोग्यमाराहे, तत्तत्तदनुभवावरोहश्च भवति, ननु सोमगतः पूर्वमः । कुतः तद्गन्तिदर्श-
नात् ।

नात् । तेषामिष्टादिकारिणां तद्व्यतिरिक्तानां च परस्परविलक्षणगतेः श्रुतासुक्तत्वात् । वेदे हि
सकामानीष्कामभेदेन द्विधा गतिः । तत्र सकामा कामभेदेनानन्तविधा । विष्कामा ज्ञानरहिता तु
वैदिकगृह्यस्मार्तभेदेन वा चित्तशुद्धितद्भावव्याप्यां वा द्विविधा । तत्र गृह्यस्मार्ते यमापीना ।
'वैवयुते विविच्यन्ते यमे राजन्ति ते जनाः, ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चातुत्वादिन'
इति तैत्तिरीयश्रुतेः । श्रौते तु सोमभाव इति तूक्तमेव । तथा चैवं विसद्व्यगतिदर्शनाच्च
सर्वेषां सोमगतिरिति पूर्वविकरणद्वयसापत्तिर्द्वयं कोऽपि न दोष इत्यर्थः ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

एतमर्थं व्यासादयः स्मरन्ति च । 'यमेन गृह्यस्तत्राह देवदेव जगत्सते । पूर्वं त्वमश्रुं
सुंख उताहो नृपते शुभम्' इत्यादि । चात् लोकप्रसिद्धिः ॥ १४ ॥

अपि सप्त ॥ १५ ॥

पापोपभोगार्थं यमालयगमनश्रीकार्यम्, यतस्तत्र रौरवाद्यः सप्त नरकाः सन्ति ॥ १५ ॥

तत्रापि च तद्वापाराद्विरोधः ॥ १६ ॥

ननु यमगतिरधिकारिभेदादङ्गीकृता, नरकेषु च चित्रगुप्तादयो भिन्ना एवाधिकारिणः
सन्तीति सापि गतिरतिरिक्ता स्यात् । तथा सति श्रुतिविरोधः । तत्र धूमाचिरादिभेदेन
गतिद्वयस्यैवोक्तत्वादिति । अत आह तत्राप्रीत्यादि । नरकादिषु येऽधिकारिणस्ते
यमापीना इति । तत्रापि यमस्यैव व्यापाराच्च श्रुतिविरोधः । नहि गतिद्वयमेव श्रौतम्,
मन्त्राल्लेखेन यमगतेरपि सिद्धत्वात् । यदि सा न्गङ्गीक्रियेत, तदा धूमादिमार्गद्वयस्याप्यनङ्गी-
कारापत्तिः । अर्चिरादौ 'आदित्याचन्द्रमस'मिति, भस्मदौ 'आकाशाचन्द्रमस'मिति,
'पञ्चाग्नौ सोमो राजा भवति' इति श्रावितयायाश्चन्द्रमसोऽंके के चे'ति कौशीतकिश्रुत्यनुरोधेन
सर्वपरतायां चन्द्रगतिरैकैव श्रौती स्यात्, तथा च मन्त्राल्लेखविरोधः । अङ्गीकृते तु तत्र
यवच्यापारे मन्त्राल्लेखोपाचन्द्रयमगती द्वे अपि स्याताम्, कौशीतकिवाक्यस्यार्चिरादि-
वाक्ये रूपसंहारेऽर्चिरादिधूमादिमार्गावपि सुखेन स्यातामिति सर्वविरोधाद्यमगतिरस्तीति
सिद्धम् ॥ १६ ॥ इति तृतीयमनिष्टादिकारिणामित्यधिकरणम् ३ ॥

विश्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥ (३-२-४.)

ननुसंहाराङ्गीकारे कौशीतकिस्थसर्वेदसंकोचस्तु स्यात् । किंच, यदि यमग-
तिरर्थभेदात् स्यात्, तदा पञ्चाग्निविधायस्तावे साशुच्यत । अतः संकोचाभावाद्यानुक्ति-
निर्वाहाय च सा नाङ्गीकार्येति शङ्कयामाह विच्येत्यादि । उक्ताशङ्कानिरासार्थं तुयुक्तम् ।
नहि तृतीयमार्गमात्रं पञ्चाग्निविधाप्रस्तावे विद्याकर्मणोरुक्तं; किन्तु देवयानपितृयाणयोः
प्रकृतत्वात्प्रश्रय तावैव पूर्वस्तुक्तिः । अतस्तदनुक्तावपि न यममार्गासिद्धिः । संकोचोपि
यमगतिबोधकवाक्यान्तरमूलक इति न दुष्टः । तस्मान्न यमगतेर्वाप इत्यर्थः ॥ १७ ॥

न तृतीयेऽनथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

ननु यदि यममार्गः पृथगङ्गीक्रियते, तदा पञ्चाभिधियाप्रस्तावे यस्तृतीयत्वेनाङ्गी-
कृतः, 'अथैतयोः पथोर्न कर्तव्येन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावतीनि भूतानि भवन्ति,
जायस्व श्रियस्वेति तृतीयं स्थानम्, तेनासौ लोको न पृथगे, तस्माज्जुगुप्सेते'ति निन्दया
द्वयोः स्तुत्यर्थः । स एव तृतीयोऽस्तु । तत्र यममार्गान्तर्भावस्य शक्यवचनत्वादित्यत आह
न तृतीय इत्यादि । यममार्गस्य तस्मिन्नविशेषो न । कुतः । तृतीये 'जायस्वे'तिमार्गे अत-
थोपलब्धेः यममार्गविलक्षणभोगोपलब्धेः । समानश्रावणे 'कीटाः पतञ्जा यदि दन्दश्शकम्'
इति छान्दोग्योक्तक्षुद्रभूतनिष्कर्षार्थिणां च रौरवाद्यथाभावात् ॥ १८ ॥

स्मर्यतेपि च लोके ॥ १९ ॥

साधकान्तरमाह । अपिचान्यदपि यमगतिसाधकमस्ति, यतो लोके मूर्च्छादिपु-
यमलोकगमनसंभाषणपुनरागमनानि स्मर्यन्ते, तस्मात्संस्तृतिः ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

यमपुसुषा इत्यन्ते कैश्चिदज्ञामिलप्रभृतिभिः । चकारात्तद्वाक्यान्वयि श्रयन्ते ।
तस्माद्यमगतिरस्तीति तस्यामेव 'जायसे'तिमार्गस्य निवेशः । तस्मिन्नपि योनिषाहुल्येन
विवेचकस्यावश्यमपेक्षणादिति ॥ २० ॥ इति चतुर्थं विचारकर्मणोरित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

तृतीयश्चाब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥ (३-१-६.)

एवमधिकरणद्वयेन प्रासङ्गिकं विचार्येदानीं 'दृष्टेरन्नं भवती'ति सफलं तृतीयाहुतिं
विचारयति । श्रुतौ हि 'दृष्टेरन्नम्' इत्युक्तम्, तत्रत्यश्वकिरुद्धम्, बीजादन्नोत्तरसिद्धदर्शनात् ।
अतः संदेहः, किं दृष्टेर्निमित्तत्वम्, उत समवायित्वमिति । तत्र बीजावर्षा विनाशोत्पत्त्यदर्शनात्
दृष्टेर्निमित्तत्वमेव । अतोऽन्नस्यासंस्कृतबीजादेव भवनाद्योग्यदेश्यस्यर्थं यद्दृष्टेरन्नमित्युच्यते,
तदसंततमिति प्राप्ते, अभिधीयते तृतीयेत्यादि । तृतीये दृष्टिर्होमे शब्दाच्चिरोधः, अन्न-
फलजनकहोम्यद्रव्याचकस्य वर्षशब्दस्य जलमात्रसंज्ञाहकतया कारणभूते निमित्तभूते च
जले साधारणत्वात्समानेन वर्षशब्देनावरोधः कारणभूतस्यैव ग्रहणम् । कुतः । संशोकजस्य ।
'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यादिके सन्दर्भे 'तदेव ऐश्वर्यं, ता आप ऐश्वर्यं' इतिकारण-
भूतं जलं प्रकृत्य, 'तस्माद्यत्र कचन शोचति स्वदेते वा पुंसस्तेज एव तदप्यापो जायन्ते'
इति भौतिकविद्वृत्कृतदशायां कारणकार्यवैजात्यं बोधयित्वायि 'तस्माद्यत्र कच वर्षति तदेव
भृषिष्ठमन्नं भवति' इति कारणत्वेन श्रावणात् । तत्र पञ्चाभिधियायां देवहोमालकारणभूत-
जलस्यैव दृष्टिरिति न तत्र बीजान्तरावरोधः । दृष्टेरन्नमिति संस्कृतान्नमेव
योग्यदेश्यत्वादकम् । संशोकजपदोक्तिस्तु 'यदश्वशीयत तद्रजः+हिरण्यमभव'दिति श्रुत्य-
न्तरसंमतिस्त्वचनार्थम् ॥ २१ ॥

साभ्यास्यापत्तिरूपपत्तेः ॥ २२ ॥

ननु कारणजरूपदृष्टिर्न वक्तुं शक्यते, यतः समाने धूममार्गोऽस्य तदैक्ये वा
दृष्टेरन्नभावोक्तौ, 'यावत्सापतमुषित्वा, अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशा-
द्वायं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभवति, अन्नं भूत्वा भेषो भवति, भेषो भूत्वा प्रव-
र्षति । त इह व्रीहियवा औषधिन्यस्तयस्तिमलाभा इति जायन्ते' इति श्रयंते । अत्र च 'यथेत'-
मित्यनेनाकाशमवरोहतीत्युच्यते । आरोहे 'आकाशाच्चन्द्रमस'मित्युक्तत्वात् । ततो वायुमाग-
तस्यापे वायुर्भूत्वेत्यादिना क्रमेण वायुधूमम्रभेषोव्रीह्यादिभाव उच्यते, ते च वाय्वादिव्यस्त-
दनन्तरभाविताऽभ्याः, अतस्तन्मध्यपातेना प्रवर्षतिशब्दात् दृष्टिर्नैव कार्यजालमिदं, न
कारणजलात्मिका, ततश्च बीजान्तरस्यावश्यकत्वाच्च दृष्टोर्नयोग्यदेश्येदकारणत्वमित्याशङ्क्या-
माह सैत्यादि । सा वाय्वादिरूपापत्तिः, आभ्यास्यापत्तिः, वाय्वादिवदाभानरूपा विपत्तिः,
सामनेनैवावपन्नस्य वाय्वादिक्रमेण जरुभावापत्तौ कान्तिनाशात् । तत्र दृष्टिमावार्थमाग-
च्छन्त्याहुतिर्मध्ये वायुसादृश्याद्वायुर्भूत्वे'त्युच्यते, एवमथेपि । कुतः । उपपत्तेः । अन्य-
स्यान्वयेन कथने आहृतेरेव नियामकत्वस्य चित्रतुष्यादी दर्शनात् । 'आदित्यो यूपः' इत्यादौ
च तथासिद्धत्वाच्च । न च भूत्वाश्रुतेर्विरोधः । भवनेन अन्यस्यान्यभावं वदन्त्याः श्रुते-
र्गोणत्व एव तात्पर्यमिति । तस्मादाहुतिमात्रेण न स्वरूपाभ्यांसाभाव इति सोमाहुतेरेव
तत्पदाख्या दृष्टिरूपतायामपि कारणरूपत्वानुपायात् तत एव ज्ञानयोग्यदेश्येद्विषयादक-
मन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ २२ ॥

नानिच्चिरेण विद्योपात् ॥ २३ ॥

स्वरूपान्यथाभावाभावे उपपत्त्यन्तरमाह नेत्यादि । सापेति पूर्वसमादित्तैते । तथा च
तद्रूपता नानिच्चिरेण, न बहुकालम्, तृतीयाप्रतिरूपकमिदमभ्ययम्, न तु तृतीयार्थकम् ।
कुतः । विद्योपात् । 'अतो वै सतु दुर्निष्पत्त'मित्यनेनात्राभावापन्नस्यैव बहुकालश्रवणात् ।
दुर्निष्पत्तरमिति दुष्पात्तरम्, वर्षलोपशब्दान्दसः । अतस्तृतीयाहुतौ शीघ्रमायाति । न
चावरोहद्वेष्टस्यात्र सिद्धौ धूममार्गात् को विशेष इति शक्यम् । एतस्य हेतुस्य धूममार्ग
प्रस्तुत्योक्तत्वात्पञ्चाग्निमार्गस्य ततो मिश्रत्वे अत्र वैजात्यादिमतो निरभिमानस्यैव ताद्रूप्यान्न
हेतुदोषः । ऐक्यपक्षे तु ज्ञानिनो गृहस्थस्य दुर्दुर्भलाज्जघन्य एव हेतोर्न न मध्यमाधिकार्या-
दाविति विशेषसत्त्वात् ॥ २३ ॥ इति पञ्चमं तृतीयशब्दावरोधाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्याधिष्ठितेऽर्षवदभिलापात् ॥ २४ ॥ (३-१-६.)

चतुर्थ्याहुतिर्विचार्यते । अन्नभूतस्य होम्यत्वमुपपद्यते, न वा, अन्नभूतस्य रतेमोऽ-
स्युपपद्यते न वेति । तत्र 'संसर्गैः कर्मदोषायांति स्थानरतां नर' इतिस्मृत्यान्नस्य पापजन्यत्वे
सिद्धे, पूर्वाहुतियुद्धस्य जीवस्यात्र प्रवेशसंभवात् । अन्नस्य संस्कृताहुतिजन्यतया तद्विन्न-

त्वाङ्गीकारोपि कण्डनपाकादिदुःखेन जीवापगमसंभवश्च न तेतोभाव इति प्राप्ते, प्रथमं रेतोभा-
वानुपपत्तिं परिहरति अन्येत्यादि । अत्रापि साभेति पूर्ववदनुवर्तते अन्याधिष्ठिते,
दृष्टेरन्नभावसमय एवान्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादौ । अपूर्ववत्, न पूर्व; अपूर्वः अतिथिः तद्वत् ।
न पूर्ववत् अपूर्ववत् । पूर्ववैलक्षण्येन वा साभा, तद्भावपत्तिः । न पापजन्यान्नवदस्यान्नभा-
वापत्तिः, किन्तु तद्वैलक्षण्यतया, यथा ह्यन्यशुद्धं ज्ञातिभित्तिशुद्धत्वंनाभिमानितया, तथास्थितिः ।
यथा वा पूर्वं वाच्यादिसारूप्यम्, तथा नान्नसारूप्यम्, किन्तु तद्वैलक्षण्येन । कुतः ।
अभिलाषान् । अत्र हि पूर्ववत्सद्भावमात्रं न वदति, किन्तु 'व्रीहियथा औषधिवनस्पतय-
स्तिलमाषा इति जायन्त' इति जगति स्थितव्रीह्यादिकप्रकरणेन जननमेवाभिलषति । तथा सति
यथान्येषु व्रीह्यादिषु तदधिष्ठानुदेवतया नियुक्ता जीवास्तानाम्त्वन्नाभिमान्यन्ते, एवम-
त्रान्यन्येऽभिमान्यन्ते । अयं त्वनभिमानस्तत्र तिष्ठति । तथा सति नास्य कण्डनादिक्लेशः,
नापि जडभावः । न च कण्डनादिभिर्जीवापगमः । तादृशस्यापि बहुकालस्थितौ कृमिक्रीडा-
दिभावदर्शनात् । अतोऽभिमानस्याभिमानिनां च रेतोभावो नायुक्त इति सिद्धम् ॥ २५ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दान् ॥ २६ ॥

नन्वन्याधिष्ठानेऽङ्गीक्रियमाणे यातनाजीवानामशुद्धत्वात्तदधिष्ठितमन्नमशुद्धं स्यात्,
तथा च कथं योग्यदेहसंभव इति चेत्, न । कुतः । शब्दान् । देवा अन्नं शुद्धति तस्या
आहुते रेतः संभवतीति देवैराहुतिरूपेण होमवचनाच्छुद्धत्वम् । अन्यस्यापि होम्यस्या-
न्नस्य संस्कारणैव शुद्धिरितिहापि होमाख्यसंस्कारशब्दाच्छुद्धमेवात्रमिति सिद्धम् ॥२५॥
इति षष्ठमन्याधिष्ठित इत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

रेतः सिग्योगोथ ॥ २६ ॥ (३-१-७.)

पुरुषेऽन्नहोमेऽन्नस्य रेतोभावे सति रेतयो होम्यत्वम् । तदुपपद्यते नवेति संदेहे
पञ्चमाहुतिं विचारयति । तत्र पुरुषेऽन्नहोमेऽपि शाल्यकौमारवापकेषु रेतोभावव्य-
भिचारात्साध्येऽपि सर्वस्य रेतोभावाभावात्, रेतोभावेऽपि नियमेन योनौ संकाभा-
वात्, पुरुषप्रयत्नस्य सत्त्वेन देवापेक्षामावाह होम्यत्वं नोपपद्यत इति प्राप्ते । उच्यते ।
रेत इत्यादि । सृजे रेतःसिक्वपदेन पुरुषपदस्य विवरणं क्रियते । तेन पौरुषधर्म-
वानुच्यते । पौरुषं च देशकालसंविधानेन मच्चवद्रेतःसेकसामर्थ्यम् । तादृग्धर्मवति योऽ-
न्नहोमः, स प्राणाग्निहोत्रोपनिषदायुक्तप्रकारेणेति तत्र देवापेक्षा । न हीन्द्रियाधिष्ठादे-
वप्रसादं विना तथा भोक्तुं शक्यते । ईश्वरेच्छया भवनेऽपि तेषामेव द्वारत्वात् । अत एव
तस्यान्नस्य रेतोभावो योनौ नियमेन संकथं पुत्रमन्थनाह्नपोक्तरीत्या भवतीति सुखेन
होम्यत्वं संगच्छत इति पूर्वोक्तदोषनिरासः । ननु कथमेतदवगम्यते, यत्पुरुषपदेनैतावलभ्यत
इति । तत्राह अथेति । आनन्तर्यात्, शरीरापेक्षेव देवानामुद्यम इति स कथं पञ्चमा-

हुतावेव व्यभिचरेत् । अतः पुरुषे आहुतिनाज्ञानमात्रा रेतोमात्रफलं, किन्तु रेत-
सिग्योगपर्यन्तेत्यर्थः । योगपदेनात्र नान्याधिष्ठानम्, किन्तु एकस्यैव संबन्ध एकस्यैवो
ल्लसः प्रायोदशैनादिति सूच्यते ॥ २६ ॥ इति सप्तमं रेतःसिग्योमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥ (३-१-८.)

हृद्यमानं निरूप्य फलं निरूपयति । तत्र हि 'तस्या आहुतेर्गर्भः संभवती'त्युच्यते ।
तत्र संदेहः । योनावन्तःस्थितमेव फलम्, उत बहिर्निर्गतामिति । तत्र गर्भशब्देनान्तः-
स्थित एव, शरीरपत्त्वे गर्भंशुक्तिबाधप्रसङ्गात् । न च पञ्चम्यामाहुता'वापः पुरुषवचस'
इत्युपसंहारविरोधः । अत्रे कर्तव्याभावेन तथोक्तिरित्यविरोधात् । तथा च षष्णामासानन्तरं गर्भं
ज्ञानसंभवात् तत एव पुरुषार्थसिद्धेर्गुरुपसत्यादिकं तेन न कर्तव्यमिति प्राप्ते,
अभिधीयते । योनेरित्यादि । योनेर्निर्गीतं शरीरमेव गर्भशब्देनोच्यते । अरण्यदेसुस्थितस्याग्नेः
फलरूपत्वदर्शनेन अत्रापि सिद्धस्यैव फलनाया युक्तत्वात् । न च गर्भाभिकं फलोपधा-
यकम्, बहिर्निर्गतस्य वैष्णव्या मायया ततिरोधानात् । न च गर्भपदविरोधः । मातृपरिधा-
न्यत्वाय तथा वचनात् । शरीरपदेन वैराग्यवत्ता सूच्यते । तस्माच्छरीरमेव फलमिति
सिद्धम् । तस्माद्योग्यदेहसाधनसहितो ब्रह्मज्ञानार्थं निरूपितः ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं योनेः
शरीरमित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसंहार्यचरुणैकतानश्रीत्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविर-
चितायां ब्रह्मसूत्रबुक्तौ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ श्रीः ॥

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ (३-२-१.)

पूर्वास्मिन् पादे जीवस्याधिकारिणो ज्ञानोपदेशयोग्यदेहप्राप्तिर्निरूपिता । सा तदार्थवती स्यात्, यदि जीवस्य मुक्तौ स्वरूपयोग्यता स्यात् । अत एककार्यकारिलेन तन्निरूपणायां पाद आरभ्यते । दैहिकी योग्यता ब्राह्म, वैवी त्वान्तरी, इत्यन्तर्ज्जत्वात् ततः पश्चात्प्रान्न-निरूपणाच्च पूर्वं निरूप्यते । तत्र स्वप्नस्य सत्यत्वे तत्कृतगुणदोषसंबन्धः प्राप्तयोग्यदेहस्यापि जीवस्य भवेत्, ततश्च पूर्वनिरूपिता शुद्धितया स्यादिति स्वप्नस्य मिथ्यात्वं दर्शयितुमधिकरण-मारभते । तत्र स्वप्नसृष्टिः सत्या मिथ्या वा इति संशये, सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षमाह । संच्ये जाग्रत्सुषुप्तयोः सन्धौ भवे स्वप्नाख्ये स्थाने सृष्टिर्जायते । तत्र प्रमाणं वदति आह्वेति । 'तस्य वा पतस्य पुस्यस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं' मि-सुपक्रमस्य, बृहदारण्यके श्रुतिराह 'न तत्र रथान् रथयोगान् न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादिना । हि सुकोऽयमर्थः । दर्शनसंवादिखात् । देवा-दिवक्तव्यानां प्रबोधोत्तरमपि षाधाभावाच्च । तस्मात् स्वप्ने सृष्ट्यन्तरमस्ति ॥ १ ॥

सा सृष्टिर्जीवकृता, परमेश्वरकृता वेति संदेहे पठति ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

काठके चतुर्थबल्लभां 'य एष सुषुप्ते जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः, तदेव शुके तद्व्रज तदेवाभ्युत्सुच्यते' इत्येके शाश्विनो निर्मातारमाहुरिति पूर्वसूत्रोक्ता आहतिक्रिया वचनविपरिणामेन संबध्यते । 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणोन्वेत्ययोक्ताः पुत्रादयश्च तथाहुः । तेषां कामविषयानां वक्तृत्वं तु 'तपांसि सर्वाणि च यदहन्ती' ति-वदोषकत्वान्नोध्यम् । 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके' इति पूर्वश्रुतौ कामशब्दस्य काम-विषयेषु प्रयुक्तत्वात् । 'कामं काम'मित्यर्थापि कामविषयाः पुत्रादयो निर्मिता ब्राह्म इति बोधनाय तद्वहणम् । तथा च 'स्वयं निर्माते'ति श्रुतावनन्तरं 'प्रसृपितौ'तिक्रयनात् स्वापेन लिङ्गेन प्रकरणं ब्राह्मं बाधित्वा, जीवकर्तृकत्वमपि संदिशतेति तदभावार्थेतत्स्वप्नण-यनम् । एतद्विषयवाक्ये 'सुषुप्ते जागर्ति'ति जागरणलिङ्गात्प्रकरणत्वात् 'तदेव शुके'मित्वाक्य-शेषाच्च भगवन्निवेन कर्तव्यवर्थायते । ब्रह्मकर्तृका च सृष्टिः सत्येवेति प्राप्तज्ञानयोग्यदेहस्यापि जीवस्य स्वप्नगुणदोषसंबन्धस्वप्नवर्जनीयत्वात् व्यर्थो योग्यदेहारम्भ इति प्राप्तेऽभिधीयते २

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिन्नव्यक्तस्वरूपत्वान् ॥ ३ ॥

स्वप्नसृष्टिर्मायामात्रम् । माया नाम परब्रह्मोद्भक्तः शक्तिविशेषः । 'नटवन्मूढ माया-भिर्मायेशान्नो जिगीपसी'ति वरिष्ठे प्रतीन्द्रवाक्ये तथा दर्शनात् । तन्मात्रं तदुपादायकं

मिथ्या चन्द्रजालिकसृष्टिबन्धाधिकी मिथ्या । कुतः । कात्स्न्येनानभिन्नव्यक्तस्वरूपत्वान् । देशः कालो विषयसन्निरिपिन्द्रियव्यापारो बाधकाभावश्चेत्यपेक्षिता सामग्री कात्स्न्यम् । तेन अनभिन्नव्यक्तं अप्रकटीकृतं स्वरूपं यस्याः । तादृशत्वात् । तथा च तद्विरुद्धतयो-द्भूतत्वात्सा मिथ्येति जीवस्य तत्कृतगुणदोषसंबन्धमावाप्त साधनसंपादितयोग्यदेहवैषम्य-मित्यर्थः ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विद् ॥ ४ ॥

ननु यदि स्वकीर्णार्थं सृजति, तदा तत्तत्तत्तत्सामाक्षिकमेव कुतः सृजतीत्यत आह । स्वप्नः शुभाशुभफलसूचको भवति । तथा च प्रतिनियततच्छुभाशुभसूचनार्थं तथा सृजतीत्यर्थः । इदं च प्राप्तयोग्यदेहस्याध्यावश्यकम् । तेन अवरुद्धाधेनिवतकोपा-यस्य कर्तव्यत्वादिति । चकारात्कचिदाज्ञानानादेरप्यनुकूलः । प्रत्यक्ष आज्ञानादौ कलिका-लादेर्बोधकत्वादिति । हि सूक्तार्थां सूचकत्वादिरूपार्थः । प्राप्तजायति सूचितफलस्यैव दर्शनादिति । सूचकत्वे प्रमाणमाह श्रुतेरिति । सा च 'यदा कर्मसु काम्येषु क्षियं स्रेषु प्रपद्यति, ससृष्टिं तत्र जानीयात्सिन्धस्रनिदर्शनं' इति । तथा 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती'तिरुवा । किंच, आचक्षते च तद्विद् । स्वप्नाध्यायविद ऋषयश्च 'आरोहणं गोशुभकुञ्जराणां'मित्यादिकं शुभादिमूचकतयाचक्षत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

ननु जीवार्थं भगवन्स्तादृशीं सृष्टिं करोतु, प्रदर्शयतु च, परन्तु जीवस्य ब्रह्मांशत्वाहुः-खिलत्वमेव कुत इत्याशङ्कयामाह ।

पराभिध्यानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययो ॥ ५ ॥

उक्तायज्ञां वारयितुं तुशुद्धः । जीवस्यैश्वर्यादिकं तिरोहितम् । तत्र हेतुः पराभि-ध्यानात् । परस्य भगवतोऽपिनो ध्यानं परकर्तृकं जीवकर्मकं सर्वप्रकारेण भोगस्यालोचनं तस्मात् । ततो भगवद्दर्शितरोधानात् अस्य जीवस्य बन्धविपर्ययो संसारासक्तिरूपो बन्धो भगवद्दर्शितरोधपरितीर्णमेव त्वं च । तत्रार्थं विभागः । ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वम् । वीर्यतिरोभावात्सर्वदुःखसोद्बलम् । यशस्तिरोभावात्सर्वहीनत्वम् । श्रौतिरोभावात्साम्यादिस-र्वापद्विषयत्वम् । ज्ञानतिरोभावाद्देहाहङ्गबुद्धिः सर्वविपरितीज्ञानम् । वैराग्यतिरोभावाद्द्विषया-सक्तिः । भगवद्दर्शितरोधानकार्यं च बन्धादीति । तथा च ब्रह्मांशत्वेपि ब्रह्मधर्मतिरोधानात् दुःखित्वमित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं स्वप्ननेत्रेच्छेच्छैश्वर्यादितरोभावं निरूप्य मतान्तेण तन्निरूपयति ।

देहयोगात्सोऽपि ॥ ६ ॥

वाशब्दोऽनादरेः सः सर्वतिरोभावो विपर्ययो वा । अपिशब्दादहन्ताममतारूपो बन्धश्च देहयोगात् सूक्ष्मदेहसंबन्धात् । तथा च देहसंबन्धात् दुःखित्वं तद्वियोगे पुनै-

श्र्यादिप्राप्तिरित्यर्थः । पूर्वमते तु विद्यमानेऽपि देहे तदाप्तिरिति विशेषः । तेन कदाचिदाश-
रेच्छया, कदाचित् देहयोगेन विकल्प इति बोधितम् ॥६॥ इति प्रथमं सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

एवं स्वप्नस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गेन जीवस्य विपरितज्ञानजनकमज्ञानं निरूप्य केवल-
मज्ञानं निरूपयति अज्ञानस्यानं स्वाभावानं च निरूपयति ।

तद्भाषो नाडीषु तच्छ्रुतेरतस्मिन् च ॥ ७ ॥

कौशीतिकेनाश्रणे श्रूयते, नाडीरनुक्रम्य 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न
कंचन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवतीति' । तथा बृहदारण्यके 'प्राज्ञेनात्मना संप-
रिच्छतो न बाह्यं किंचन वेद नान्तर'मिति । तत्र स्वप्नवन्मायिकप्रपञ्चसृष्टिर् भगवान्करोति,
न वेति संशयः । काठके सुप्तौ सृष्टिनिर्माणश्रावणात् विषयवाक्ये च दर्शनाभावमात्रश्राव-
णात् संदेहः । तत्र 'य एष सुप्तो जागर्ती'ति काठके जीवस्वप्नमाये भगवत्कृतसृष्टेरुक्तत्वात्
कौशीतिकेवाक्ये च स्वप्नदर्शनमात्रनिषेधात् बृहदारण्यके जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चवोरविशेषादादर्शन-
स्यैव कथनात् सृष्टेरनिषेधे सुप्तावपि प्रपञ्चसृष्टिर्स्तीति प्राप्तम् । तत्रोच्यते । तद्भाष्य
इत्यादि । तस्य स्वप्नसृष्टिनिर्माणस्याभावो नाडीषु, तथाऽस्मिन्पि तद्भाष्यः । कुतः । न च्छ्रुतेः ।

सुप्तावस्थायां प्रपञ्चाभावहेतुबोधकाकामरूपत्वथुतेः । काठके हि 'कामं कामं पुरुषो निर्मि-
माण' इति कामविषयाणां निर्माणश्रावणात् पुरुषकामनया स्वामिः प्रपञ्चो बोधितः । बृहदा-
ण्यके तु 'तदा अस्यैतदात्मकाममासकाममकामं रूप'मिति सुप्तावस्थायाकामकामं रूपं
जीवस्य श्राव्यते । अतः सुप्तावस्थाया अकामरूपत्वबोधिकाया श्रुतिः, तैव हेत्वभावाद्द्वारा
स्वामप्रपञ्चाभावबोधिका । तत इत्यर्थः । अत्र नाडीप्राप्तमिति चेति द्वयोः स्थानयोर्द्विधास्तु-
पुसिर्द्विधेति सूच्यते । हितास्थ्या हि स्वप्ननाड्यः पुरीतत्यन्ताः हृदयदेशाद्बाह्यदेशवर्तिन्यः ।
पुरीतस्तु हृदयवेधनम् । हृदये तु जीवस्येन्द्रियाणां च स्थितिः । तत आभ्यन्तरः पर-
मात्मा । तत्र निद्रया यदा हितासु पाल्यते, तदा स्वप्नं पश्यति । यदा ततः प्रत्यवसृष्ट्य
पुरीततो निकटे नाडीप्रान्तभागे गाढसुषुप्तिः । यदा पुरीतदन्तर्हृदयाकाशे सुसंपत्तिरिति ।
तत्र कामनाभावः स्थानद्वयेऽपि तुल्यः । ज्योतिर्भाष्ये 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते
न कंचन स्वप्नं पश्यति ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यः' इति । 'अथ यत्र सुप्तो न कंचन
कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तदा अस्यैतदात्मकाममासकाममकामं रूपम्, तथा
प्रियया श्रिया परिष्वक्त' इति नाडीपरमात्मभेदेन अथशब्दात्कृच्छेदेन च श्रुतस्य 'यत्र
सुप्त'वाक्यस्याभ्यासतस्तथा निश्चयादिति । तस्मात् द्विविधायामपि सुप्तौ न प्रपञ्चसृष्टिरिति
सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति द्वितीयं तद्भाष्यो नाडीश्रित्यधिकरणम् ॥ २ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥ (३-२-३.)

एवं स्वप्नसुप्तौ सहेतुके विचारिते । अथ जाग्रदवस्थाहेतुं विचारयति अतः
प्रबोधोऽस्मात् ।

बृहदारण्यके ज्योतिर्भाषणे श्रूयते । 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्ना चरित्वा
दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च प्रतिन्यायं प्रतिमोन्प्रावर्तति बुद्धान्तायैवेति । अर्थस्तु स वा एषः
प्रकृतः स्वयंज्योतिर्जालौतस्मिन्संप्रसादे सुप्तुतिस्थानेन रत्ना प्राज्ञेन सह संपरिष्वज्य
चरित्वा तदानन्दमनुभव स्वप्ने पुण्यं पापं तत्तत्कलं च दृष्ट्वैव प्रतिन्यायं गमनप्रतिश्रुत्यं
यथा स्यात्तथा प्रतियोगिनि स्वस्थितिस्थानं योगिनिः तल्लक्ष्मीकृत्य आद्रवत्यागच्छति बुद्धान्ताय
जागरणायति । तत्र प्रबोधे संशयः । नाडीभ्यो भगवतो वा सकाशात्पुनर्हृदयदेशं समा-
गत्य जागर्ति, उत यत्र सुप्तः तत एव जागर्तीति । तत्र श्रुतौ 'चरित्वेति गत्यर्थक-
धातुत्वत्वाप्रत्ययेनाद्रवणात् पूर्वमपि गमनस्य श्रावितत्वात् स्वस्थानं हृदयदेशं गत्वैव
जागर्तीति प्राप्ति, उच्यते । अतो नाडीभ्य एव प्रबोधः । न हि गर्तव्यतिस्य प्रबोधे
विनाश्रय गमनं संभवति । न च चरित्वेत्यस्य विरोधः । तत्र भक्षगार्थस्यापि प्रहीतुं
शक्यत्वात् । 'अनन्दसु'गिति श्रुत्या तत्रानन्दभोगस्योक्तत्वादिति । किंच । प्रबोधोऽ-
स्मादात्मन एव सकाशात् । प्रियेव प्राज्ञेन संपरिष्वक्तस्य बोधाभावे आगमनासंभवात् ।
अतो यत्र स्वपिति, तत एव प्रबुध्यते, नतु हृदयदेशमागत्येति सिद्धम् ॥ ८ ॥

स एव तु कर्मानुसृष्टिशाब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

नतु प्रियेव प्राज्ञेन परिष्वक्तस्य ब्रह्मलोकं गतस्य तत्र प्रबोधेन ज्ञानसंभवे युक्त
एव भवेत्, न तु पुनरागच्छेत्, अतस्त्वं 'तोषो न युक्त इत्याशङ्क्यामाह स एव-
स्यादि । उक्तशब्दां परिहरति सुशब्दः । अस्मादपि प्रबोधे स एव जीवः । कुतः ।
कर्मानुसृष्टिशब्दविधिभ्यः । लौकिके कर्मणि स्वापास्त्यै सामिकृते पुनरुत्थाय तस्मात्पानात्,
पूर्वदृष्टस्योत्थानोत्तरं स्मरणात् । तथा 'कैव तदाभूत्, कुत एतदागादि'त्येषैव इत्यनेन
स्वापोत्थानकालवर्ती एक एव पराश्रयत इत्येतदादिसंशदात् । 'श्वोभूते ब्रह्माणं वृणोते'
इत्यत्र पूर्वोपरदिनवर्ती एक एव वरणकर्तृत्वेन पराश्रयत इत्येतदादिविषेभ्येत्यर्थः ।
न च मुक्त्यापत्तिः । बोधसमये भगवता मर्यादास्कार्यं ज्ञाननिवारणात् । 'सति संपद्य
न विदुः, सति संपद्यामह' इत्यनेन तथा निश्चयात् । तस्य ज्ञानस्य परावत्त्वादिसंकारक-
दर्शनेरुत्थानाभावाच्चेति ॥ ९ ॥

सुप्त्येवसंपत्तिः परिज्ञेचात् ॥ १० ॥

नतु यत्र कर्मानुसृष्टयो न सन्ति, तत्राप्यो भविष्यति, कश्चिन्मूर्च्छादिविशेषे सर्व-
स्युतिनाशेन सुप्तभावदर्शनात्, यथामरुनामके राजनि, तादृशस्यले यथान्येनैव लौकिक-
वैदिकव्यवहाराः, तथाप्यत्रापि भविष्यन्ति, किंच, अनुस्मरणायो बुद्धिवृत्तयः, बुद्धि-
श्रोत्राधिः तत्र यो जीवः प्रवेक्ष्यति, स एव जीवो गङ्गाप्रवाहस्य जलानुभवद्वयोपि
तद्व्यपदेशं लम्बा तत्कार्यं करिष्यतीति किं स एवेति निवेद्येनेत्याशङ्क्यामाह सुप्त्ये

इत्यादि । सुग्वे सुग्वभावे सति, अर्थसंपन्निरेव तदतिदतरानिश्चायिका साधारण्येव बुद्धिः । अतः सा अर्थज्ञानरूपैव । तस्या अर्थत्वे तु सुग्वस्य यथाधिकारभावेन तत्र विष्यप्रवृत्त्या कर्मानुसृत्योश्च प्रत्यक्षत एव चाप्येन, पूर्वप्रवृत्तानां च जीवनाधिकारेण क्रियमाणतया लौकिकव्यवहारस्यापि अपूर्वस्याभावेन तत्र स एवायमिति निश्चयस्य विलक्षण-व्यवहारभावेन चान्योऽयमिति निश्चयस्य चाभावत् । न चामरुण्यायेनान्यत्वे निश्चेतुं शक्यम् । ब्रह्मवैतत्रब्रह्मखण्डे मूर्च्छितोपवहेणजीवेन पूर्वजीवसत्तायाः स्मरणात् । नन्वेवम-निश्चये सार्थापि कुत इत्याशङ्क्यां तत्र हेतुमाह परिदोषात् । प्रसक्तप्रतिषेधे यस्तद-प्रतियोगी स परिशेषः । प्रकृते च स एव वा, न वेति संदेहे, एकरानिश्चायकप्रमाणा-भावात्रिषेधाप्रतियोगित्वेन संदेह एवावशिष्यत इति संदेहादिवाचां, न तु निश्चयात् । अतो सुग्वदृष्टान्तेन सौषुप्तिकसिद्धान्तमङ्गाभावात् सुषुप्तबुद्धेः स एवेति निश्चयः । एतदेवै-कादशस्कन्धेऽप्युक्तम् । 'यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थाव्युक्ते समस्तकरूपैर्हृदि तस्यद-क्षान्, स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः स्पृत्यन्वयात् विगुणत्वविदभिन्द्रियेश' इति । तस्मा-त्सर्वावस्थास्येक एव जीवः स्वप्नादिदोषसंस्वरहित उत्तमदेहयुक्तो भगवज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारीति सिद्धम् ॥ १० ॥ इति तृतीयमतःप्रवेश इत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥ (३-२-५.)

ज्ञानाधिकारिविचारोत्तरं ज्ञानविषयनिर्धारो युक्त इत्यवसरसंगत्या विवक्षित-ज्ञानविषयस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विचारणीयम् । तदर्थं प्रथमं विरुद्धवाक्यानां निर्णयः कियते । यद्यपि प्रथमाध्याये ब्रह्मैकमेव सर्वेषु वेदान्तेषु कारणत्वेन प्रतिपाद्यत इति सिद्धम्, द्वितीये च कारणवाक्यगतविशेषपरिहारेण तदेव दृढीकृतम्, परन्तु कारणभूतब्रह्मस्वरूपं किं सधर्मकं निर्धर्मकं वा, जीववत्सदोषं वा यावदोपरहितं वेति न निर्णीतम् । अतस्तादृशवाक्या-न्यत्र चिन्त्यन्ते । एतद्विचारे स्वरूपसंदेहाननायात् वाक्यानामभेदप्रकृत्याप्रसक्तौ सर्वमण-धर्मत्व स्यात् । तत्र स्वरूपाविरोधेऽपीतेत्तविरुद्धानां स्वतन्त्रधर्मणां विचारोऽपिमे पादे कार्यः । जडजीवधर्मत्वेन प्रतीतानां धर्माणामत्र विचारः कियते । 'मनोमयः प्राणशरीरो भासुः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादि-छान्दोग्ये शाण्डिल्यविधायान् श्रूयते । अन्यत्र तु 'अग्रणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति, 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्येष्ववस्थितम्' इति, 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'अशब्दमस्पर्श-मरूपमन्धर्यं तथाऽरसं नित्यमगन्धवद यदस्मूलमनणु' इत्यादि च । तत्र संदेहः । किमुभयलिङ्गं ब्रह्म, आहोस्विदन्त्यतरलिङ्गमिति । न च मनोमयादिवाक्योक्ता धर्मा जैवा एवेति युक्तम् । ब्रह्मप्रकरणपठितत्वात्, लोकप्रतीतेः श्रुत्येषेक्षया दुर्भेदत्वात्, अस्पृश्यादि-वाक्ये च निषिध्यन्त इत्युभयविषयवाक्यदर्शनं संदेहबीजम् । तत्र धर्मश्रुतेरुपासनार्थयतो-

पचारादपि नेतुं शक्यत्वात्, निषेधश्रुतेस्तु प्रयोजनान्तरशून्यतया स्वरूपबोधनमात्रैकक-लत्वात् निविशेषलिङ्गमेव प्रतिपत्त्यमित्येति पूर्वः पक्षः । अथवा । सुप्ते निषेध्यमेव पक्षद्वयमत्र पूर्वपक्षत्वेन ग्राह्यम्, तेनैवाधिकरणकारणव्यवर्तिरिति । तत्रापि नानाप्रकारोर्विरोधं परिहरिष्यन्तु अत्र मतान्तरनिषेधपूर्वकं प्रथमतः विरोधं स्थापयित न स्थानत इत्यादि । अत्र केचि-द्व्रह्मवादेऽकदेशिन ऋषयः एवं श्रुत्याविरोधमाहः । 'यतो वा इमानि' 'सदेव सौम्य' इत्या-दिभिर्भगवत उपादानकारणत्वस्य सिद्धत्वात् कारणं भगवान् सर्वत्रैवापादेये कार्येऽस्ती-त्यविवादम् । ततश्च यथा कारणभूता पृथिवी पटपटस्तम्भादिषु वर्तमाना तत्तद्भूता भूते, एवं भगवानप्यस्थूलादिषु द्रव्येषु, रसादिषु गुणेषु, तत्तद्भूतां दधानस्तत्तद्ब्रह्मवहारभाग-भवतीति स्थानत उभयलिङ्गमुपपद्यत इत्येकं मतम् । अथवा । कारण एव तत्पटदशावच्छे-देन रूपतदमात्रौ वर्तते, अचिन्त्यसामर्थ्यवत्त्वात्, स्वतस्तस्याभावे सति स्थानतस्तदङ्गीका-रोपि न युज्यते, स्थाने तथात्वे कुत इति विमर्शो असतः सत्ताप्रसङ्गादित्यपरं मतम् । तदु-भयं स्थानतोऽपीति पदद्वयेनानुश्रव निषेधित न स्थानतोऽपीति । स्थानमुपाधिः, तस्मा-दपीति प्रदेशभेदाच्च परस्योभयलिङ्गं न संभवति । कुतः । सर्वत्र, सर्वेषु वाक्येषुप्य-लिङ्गस्य रूपस्योपादित्यमानत्वात् । एवं चत्त्रैव प्रयोगोऽपि सिध्यति । परस्योभयलिङ्गमुपा-धिभेदात्वंदशंभेदाच्च, न सर्वेषोपादित्यमानत्वात् । पदेवम्, तदेवम् । यत्रैवम्, तत्रैवम्, लोकचदिति । सर्वेषोभयलिङ्गमेव रूपमुपादिश्यत इत्यत्र किं मानमित्याकाङ्क्षायामाह हीति । सर्वत्रैतादृशरूपस्योपादिश्यमानत्वं युक्तम् । सर्वकामादिवाक्यानामशब्दादिवाक्यवत् ब्रह्म-स्वरूपप्रतिपादकत्वात् ब्रह्मणश्चैकत्वात् । यथा दीपिदन्तो गज इत्युक्ते शुष्णदण्डकमनुक्त-मपि अविनाभृत्साध्यश्च्यते, तद्वदत्रानुक्तानामपि लाभतः । स्थानप्रयुक्ततत्त्वधर्मवाचकतायां तु तस्य धर्मस्याप्राप्तत्वे तेषामनुपादकत्वात् वैयर्थ्यापत्तेः । न चाचिन्त्यसामर्थ्यात् तत्पदादेशि-कत्वं युक्तम् । सामर्थ्यस्याचिन्त्यत्वे तदतो ब्रह्मणोऽप्यचिन्त्यतायां तज्ज्ञानानुदयेन 'तमेव विदित्वा अतिश्रुत्युमेति' इत्यादिश्रुत्युक्तमुक्तेरपि चाप्यपत्तेः । अतो मतान्तरानुसारेण ब्रह्मणि जडजीवधर्मणां सत्त्वासत्त्वयोर्वैकल्यमुपशक्यत्वात् सिद्धः श्रुतिविरोधः ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनान् ॥ १२ ॥

प्रकारान्तेषोभयलिङ्गविरोधसमाधिमाहाङ्गव परिहरति न भेदादित्यादि । नोभ-यलिङ्गोक्त्या विरोधः संभवति । कुतः । भेदात्, लोके तत्तत्कारणकारणेषु सर्वत्र भेदाङ्गी-कारात् । तथा च प्रपञ्चविलक्षणं ब्रह्म मिन्नम्, पञ्चसलक्षणं च मिन्नम् । तथा ज्ञातं ब्रह्म मिन्नम्, अज्ञातं च मिन्नमित्येकस्य भेदस्याङ्गीकारे सर्वमुपपद्यत इति चेत् । न । कुतः । प्रत्येकमतद्वचनान् । मधुभाषणे 'इयं पृथिवी सर्वथां मधि'त्यादिषु पृथिव्यवगन्त्याकाश-वाग्धादित्यचन्द्रादिविद्युस्तनयित्त्वधर्मस्यमानुषात्मवाक्येषु 'यश्चायं तेजोमयोऽनुत्तमयः

पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, अयमेव स योऽयमात्मा, इदम-
सृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वं मिलेवं प्रत्येकमेवेदवचनात्, कार्यकारणरूपप्रकरणात् भेद-
विषेधनात् । तथा च तत्तद्वाक्येषु तत्तद्ब्रह्मश्रावणेऽपि प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सर्वत्रैकत्वात्
सर्वत्र सर्वं कार्यं सर्वं कारणं सर्वाणि रूपाणि सर्वं प्रकाराश्च सन्तीति विरोधतादवस्थ्यात्र
भेदाङ्गीकारेण श्रुतयो योजयितुं शक्या इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अपि चैकमेके ॥ १३ ॥

एवं प्रत्यक्षश्रुत्या भेदं निराकृत्य कदाचित्स्मार्ततया भेदस्य नित्यानुमेयवेदमूलत्वं
शङ्केत कश्चिदिति, तन्निराचारार्थमाह अपीत्यादि । अपिच भेदाभावे प्रमाणान्तरं च ।
तदाह एवमेके । एवं भेदनिषेधेनाभेदम्, एके क्त्वमध्यन्दिनशास्त्रिनो वदन्ति । 'मनसै-
वेदमासध्यम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'सृष्टोः स सृष्ट्यामोति य इह नानेव पश्यति'
इति । अत्र पूर्वं 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादिना प्राणायामाधिदैविकं तन्निर्णायकं ये विदुः, ते
ब्रह्म विदुरित्युक्त्वा तस्यैव प्राण्यत्वं बर्दस्तस्य स्वरूपमाह 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति ।
अर्थस्तु, इह मनसैवाप्ये ब्रह्मणि न नानास्ति, यत्किञ्चन नियम्यत्वेनावयत्वेन वातिरिक्ततया
वेदनविषयं भवति, तत्सर्वं ब्रह्मेव, न तु तदतिरिक्तम् । ननु विलक्षणप्रतीतिविषयस्य
कथमप्युक्तमिवत्याशङ्कायां भेदाङ्गीकारे बाधकमाह 'सृष्टोः स' इत्यादि । अत्रेशब्दं
विनापि भेददर्शनसिद्धेरविषयेन 'बहु स्या'मिति इच्छाप्राप्तं नैमित्तिकनामानात् व्यव-
स्यते, तेनेच्छया विलक्षणप्रतीतिः, अद्यत्त्वं तु स्वाभाविकम् । अतो वास्तविकं सजा-
तीयविजातीयस्वगतभेदं यः पश्यति, तस्यैव दोष इति बोध्यते । तेन स्मार्तो भेदः प्रमाण-
शून्य इति सिध्यति । तथा च श्रुती ब्रह्मण उभयलिङ्गस्य सिद्धत्वात् तेन विरोधे श्रुती-
नामबाधकत्वमेवेति सिद्धम् । एवमाक्षेपसङ्कल्पानेनापि कारणेन विरोधः साधितः ॥ १३ ॥
इति चतुर्थमुभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अरूपबन्धे हि तन्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥ (३-२-५.)

एवमुभयलिङ्गश्रुतीर्विरोधे सिद्धे, सर्वकर्मत्वादयो धर्मा ब्रह्मणि सन्ति वा, न वेत्तिसं-
देहः । उक्तविधवाक्यश्रवणं संदेहबीजम् । तत्र तुल्यबलविरोधसमाधानायोगाद्युक्त-
द्वयमप्यबाधकमिति पूर्वपक्षः । तत्रैकदेशितमत्स्याप्यमे किञ्चिदंशेनादरणीयत्वात् प्रथमं तन्म-
तेन समाधानमाह अरूपेत्यादि । एवं विरोध आपतिते, अरूपबन्धे, रूपते व्याह्रियत
इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वम्, तद्युक्तं रूपबन्धेन, तद्विलक्षणमरूपवत्तादृश्यमेव ब्रह्म
प्रतिपत्तव्यम् । कुतः । हिर्द्वैती । कार्यकारणयोर्शाशिनोश्च वैलक्षण्यस्य सुकृताद्भेदोः । ननु
कारणस्याशिनः कार्यादेशाच्चावैलक्षण्यस्यापि संख्यात् कर्म वैलक्षण्यस्यैव युक्तत्वम्, अत
आह तन्प्रधानत्वात् । तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वात् मुख्यत्वात् । यत्र हि यत्प्रतिपाद्यते, तदेव

मुख्यमिति, ब्रह्मप्रतिपादने तदधर्माणां मुख्यत्वम्, नान्यधर्माणाम्, तस्मात् । तथा च यथा
अस्थूलादिवाक्ये 'एतद्वैतदक्षरम्' इति केवलं ब्रह्म प्रकृत्य प्रमाणान्तरानधिगताः प्रशासना-
दय उच्यन्ते, तथा चेदुच्येरन्, तदा सर्वकर्मत्वादीनां मुख्यत्वं भवेत् । उच्यन्ते तु
(लौकिकधर्मतुल्या लोकप्रसिद्धाश्च) । 'मनोमयः प्राणशरीर' इति शरीरविशिष्टे ब्रह्म प्रकृत्य,
धर्माश्च प्रसिद्धत्वेनानुभव, सर्वेषां कर्मैव कर्म यस्मैति समासात्, सर्वं कर्म यस्मैत्यादिसमा-
सान्तेऽपि, किं सर्वमित्याकाङ्क्षायां सर्वपदेन लोकप्रसिद्धस्यैवानुवादात् । अतः शरीरधर्मा
एव सर्वकर्मत्वादयः, अमुख्यत्वात्, ते भगवत्युपचर्यन्त इत्येव युक्तमित्यर्थः । तेन
कार्यधर्माणां कार्यवदेव ब्रह्मत्वम्, न तु ब्रह्मधर्मत्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

प्रकाशबन्धवैधर्म्यात् ॥ १५ ॥

मन्वेवं सर्वकर्मत्वादीनामीपचारिकत्वे केवलस्य ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वा-
पत्तिः, न च प्रशासितुत्यादिभिर्व्यवहारसिद्धिः, तेनामलौकिकत्वेन सम्यग् बुद्धवाना-
रोहात्, अतः शास्त्रवैकल्यम्, तादृशस्य मनोगोचरत्वाभावात् 'मनसैवैतदासध्यम्' इति
श्रुतिविरोधः, 'तं स्वैपनिपदं पुरुषम्' 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिविरोधेभ्योऽशङ्क्य
परिहरति प्रकाशेत्यादि । यथा सौरः प्रकाशः, अन्व्यवहारायैव्यवहार्यश्च न स्वयं कर्तुं
शक्यते, न वा निरुध्य स्थापयितुम् । आगते तु सूर्ये मेवाद्यभावे सांनिध्यमात्रेण व्यवहर्तुं
शक्यते, तथा लौकिकव्याप्नोभिर्न व्यवहर्तुं शक्यते, ईश्वरसन्निधाने तु शक्यते इति
न श्रुतिद्वयविरोधः । ननु कुत एतदवधारितम्, तत्राह अर्थव्यष्टीति । अन्य-
थान्यतरश्रुतिवैधर्म्यमेव स्यात् । तथाच श्रुतार्थापच्यैतदवधारितमित्यर्थः । चकारात्
'आसीनो ह्ये' ब्रजति' इत्यादिबलाद्ब्रह्मवद्दर्माणां लोकविरोधः परिह्रियते । तस्मात् ते धर्मा
अकारणकार्यत्वात्त्रित्या अलौकिकाश्चेति न कश्चिद्दोषः ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६

ननु धर्माणामेतादृशत्वकल्पनापेक्षया अलौकिकेन्द्रियकल्पनैव लघीयसीत्याशङ्कायाम्,
तथा कल्पने चापकमाह आहोत्यादि । षोडशवाणे, श्रुतिः स्वयमेव तन्मात्रं कृत्स्नं ज्ञानि-
कत्वस्यैव ब्रह्माह । 'स यथा सैन्यध्वजोऽनन्तरोऽयाबः कृत्स्नो रसधनः, एवं वा अरे
अयमात्मानन्तरोऽयाबः कृत्स्नः प्रज्ञान एव' इति । तथा च स्वरूपातिरिक्तानामिन्द्रिया-
णामभावात् तथा कल्पना न युक्तैत्यर्थः । न चेन्द्रियाभावात्क्रियाभावः शङ्क्यः । 'एतस्यैव
महतो भूतस्य निःश्रसितं यद्वेदेदः,' 'स यथा सर्वसामान्यं समुद्र एकायनम्, एवमेतेभ्यो
सूतेभ्यः समुत्थायै'त्यादिभिस्त्वेव क्रियाणामुक्तत्वात् । अतो नेन्द्रियाणि, किन्तु सर्वाकार-
स्वरूपं वस्त्वेव तादृशमिति मन्तव्यम् । श्रुती कृत्स्नपदेन विशेषणात्, तस्य चाकृत्स्नत्व-

बुद्धयुत्पादकप्रकारसत्त्वे एव तन्निवारकतया सार्थक्यात् । चकारेण 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इति श्रुतिसमुच्चयः । तस्मान्निन्द्रियकल्पनया अविरोध इत्यर्थः ॥ १६ ॥

दर्शयति चाधोऽपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

ननु ब्रह्म जगत उपादानं निमित्तं चेति पूर्वं सिद्धम्, कारणधर्मो एव च कार्ये भवन्तीति लोके सिद्धम्, अतो लौकिकाः कार्यगताः कार्याद्योऽपि ब्रह्मणि स्वसमानधर्मानुमापकाः, अत्र श्रुती च विहिता इति प्रमाद्यद्वयप्रमितत्वात् ते तत्र मन्तव्याः, अकामास-कामादिश्रुतिभिस्ते निषिध्यन्तेऽपि, वेदवादिनां लघुमात्रमप्यन्यथाकल्पनं नोचितम्, अतो विरोधो दुर्वार इत्याशङ्क्य परिहरति दर्शयन्तीत्यादि । न हि वयं किमपि कल्पयामः, अपि तु श्रुतेरेव जडजीवधर्माणां भगवत्प्रभावं मूर्तामूर्तब्रह्मणे दर्शयति । 'दे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चे'त्यादिना, अपिदेवताध्यात्मिकभेदेन द्रेशा पञ्चभूतान्युक्त्वा, 'अथा आदेशो नेति नेती'ति निषेधमाह । तत्र किं द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति द्वयोः स्थापनं क्रियते, किं वा पूर्वोक्तं सर्वं वीक्ष्यया निषेधति, उत रूपद्वयं निषेधति, ब्रह्म परिशिनाष्टि, अथवा पूर्वो नञ् भूतराशिं निषेधति, द्वितीयो वासनाराशिम, इत्यादि संदेहे, श्रुतिः स्वयमेव निषेधवाक्यं विवृणोति, 'न लेतस्मादिति, नेत्यन्यत् परमस्ती'ति । अत्र व्याख्येये वाक्येऽप्यशब्दः प्रक्रमभेदकः, अत इति च हेतोः, उक्तान्यां रूपाभ्यां कार्यभ्यां हेतुभ्यां ज्ञाप्यस्य ब्रह्मण आदेश उपदेशः 'नेति नेतीति' । अत्र पूर्वं इतिशब्दः प्रकारं द्वितीयशै-तावत्वं वक्ति, तत्र पूर्वं नेतीति वाक्यं व्याचष्टे 'नष्टोतस्मादिति'ति । हि यतो हेतोः पञ्चभूतान्येतस्मादुपादानभूताब्रह्मणो जातानि, अतः कार्यकारणयोः प्रकारैक्याभावादित्येवं कार्यप्रकारकं ब्रह्म नेति । द्वितीयं व्याचष्टे 'अन्यत्परमस्ती'ति । तथा च इति एतावद्ब्रह्म-प्रकारकत्वेऽपि समवायिमात्रं न, अपि स्वत्यदित्येऽतिरिक्तं परमस्तीति, अतोऽत्र न सर्व-निषेधः, नापि रूपद्वयनिषेधः, नापि भूतवासनाराशयोनिषेधः, न वा तत्स्थापनमात्रमित्यर्थः । तेन माहाराजनादित्युत्परिणामरूपमरूपत्वाज्जायतेति बोधयन्ती अनामत्ववाराणाय नाम निरूपयति 'सत्यस्य सत्य'मिति । नाम निरूप्य पूर्वोक्तव्याख्यानवाक्यस्यार्थान्तरवाराणाय तन्निर्विकं 'प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति' । प्राणन्तीति प्राणाः, पूर्वोक्ताः, ब्रह्मकार्यभूताः, वै निश्चयेन सत्यम्, नाविधका ब्रह्मविवर्तक्याः । तत्र हेतुः । तेषां प्राणानां एव परमात्मैव सत्यं स्वरूपभूत इति । यद्वा, सद्रूपत्वात्स्वरूपत्वाच्च सत्यं प्राणास्तेषामेव स्वरूप-भूत इति । तथा च न ह्यस्मादिति व्याख्यानवाक्यमपि निषेधस्य न प्रपञ्चे पर्यवसानं गमयति, न वा ब्रह्मणः सर्वविशेषशून्यत्वे, किन्तु ब्रह्मणः प्रपञ्चप्रकारकत्वे उपादान-मात्रत्वे च पर्यवसानं गमयतीति, एतदर्थं नामरूपवत्त्वार्थं च नामनिषेधनमित्यर्थः । अतः प्रपञ्चातिरिक्तस्य ब्रह्मणो विचयनान्तात् तल्पिप्रपञ्चधर्मवचनमौपचारिकमेव युक्तम् ।

श्रुत्यैव तथा प्रतिपादनादिति । चकारः सर्वतुल्यनुसंधानार्थः । किं च, अथोपि । अथेति पदोक्तः प्रक्रमभेदोऽपि ब्रह्मणो भिन्नप्रकारानां ज्ञापयति । तेनापि तेषामौपचारिकत्वमेव युक्तम् । श्रुतेरन्यार्थानानिराकरणायाह अपि स्मर्यते इति । गीतायाम् 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्त्वामसद्गुण्यते' इति । 'ज्ञेयं यत्तत्त्वयथासि' इति ज्ञेयं ब्रह्म प्रस्तुत्य, तन्निरु-पणे क्षेत्रभूतं सदसच्च निषेधतात्ययं निषेधोऽपि प्रापञ्चिकधर्माणं ब्रह्मण्यौपचारिकत्वं ज्ञापयति । अतः श्रुतिसम्युत्पत्त्येव तथा निर्णय इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा मूर्त्येकादिवत् ॥ १८ ॥

प्रपञ्चधर्मो भगवत्पुत्रपारादुच्यन्त इत्यत्र गमकान्तरमाह अत एवेत्यादि । अत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अत एव प्रपञ्चधर्माणां भगवत्पौत्रपारिकत्वमाश्रित्येनोपमा 'समः प्लुषिणा, समो मशकेन, समो नागेन, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः, समोऽजेन संवेण' इति वाक्य उच्यते, अन्यथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुतिविरुध्यते । अतस्त-त्त्वदर्शनसंयन्धेनोपचारादेवोपमेत्यर्थः । ननु 'समो न' 'तत्सम' इति वाक्यद्वयं परस्परविरु-द्धम्, अतो नोपमावाक्येनौपचारिकत्वनिर्णय इत्याशङ्क्य, उपमाया निर्णोकत्वे दृष्टा-न्तमाह मूर्त्येकादिवदिति । संप्रेण सहितं कं सूर्यकम्, आदिपदेन चन्द्रकम्, तद्वत् । 'यथा ह्यमं ज्योतिरास्मा विवस्वानतो भिन्ना बहुषेकाऽनुगच्छन्' 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव'दिति वाक्ये जलसंश्लिष्टस्य सूर्योदयथा ब्रह्मोपमानत्वम्, एवं दृष्ट्यादि-संश्लिष्टस्य तत्समत्वमनौपचारिकत्वमित्यर्थः । चकारस्तु अग्रे चक्षुष्यस्य विरोधाभास्य समुच्चयकः । एकदेशिमतीनाधिकरणवृत्तयोक्तकः । तस्माद्ब्रह्मजीवधर्माणां भगवत्पुत्रपारः, निषेधस्तु मुख्य इति स्थानत औपचारिकं सर्वकामादिजडजीवधर्मवत्त्वम्, स्वतरतु तद्रहितत्वमित्येकदेशिमतं सिद्धम् ॥ १८ ॥ इति पञ्चममरूपवदेव होत्याधि-करणम् ॥ ५ ॥

अम्बुवदग्रहणान्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥ (३-२-३.)

मुख्यमविरोधप्रकारं वक्तुमेकदेशिनं दृषयति अम्बुवदित्यादि । एवञ्चात्र पूर्वो-क्तान्येव विषयसंश्रयतद्बोद्धव्यम् । एकदेशिसिद्धान्त एव पूर्वः पक्षः । तुल्यवदन्तं पक्षं वारयति । तथास्तुमुक्तरीत्या जलसुक्तस्यकम्पादिदृष्टान्तेनौपचारिकं सर्वकामादिधर्मवत्त्वं ब्रह्मणो न, उपाधिसंबन्धेनौपचारिकं न संभवति । कुतः । अम्बुवदग्रहणान्तु । स्वच्छमम्बु द्रुस्थितं सूर्यमेवैः किरणैः संबद्धं गृह्णाति, नतु विवृत्करणे समवायितया प्रविष्टं ज्योतिर्गृह्णाति, इह नृपाधिभूतं मनःप्राणादिकमस्वच्छम्, ब्रह्म च समवायिव्यतिरिक्तं व्यापकतया संबद्धम्, अतो गृहीतुं न शक्नोतीत्यम्बुवदग्रहणादित्यर्थः ॥ १९ ॥

बुद्धिहासमाकस्वमन्तर्भावाद् उभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

ननु यथेकदेशिमतीयोऽविरोधप्रकारो न संभवी, तदा विरोध एव स्थिर इत्याकाङ्क्षायासुपाधिसंबन्धोपगमेपि सिद्धान्तरीत्या समाधत्ते बुद्धद्वैत्यादि । यथा व्यापकस्याप्याकाशस्य करकाद्यन्तर्भावाद्बुद्धिहासमाकत्वम्, एवं ब्रह्मणेपि व्यापकस्यैव मनःप्राणसुपाध्यन्तर्भावात् सर्वकामादिधर्मत्वत्वम् । न चैवं सति सर्वकामत्वादीनामीपि चारिकत्वानुपायात् किमेकदेशिदूषणेनेति शक्यम् । करकाद्यन्तःप्रविष्टकाशबुद्धिहासयोः करकादिप्रवेशव्यङ्ग्याकाशधर्मत्वनेव लोके भूयानवकाशः, अल्पोऽवकाश इति प्रत्ययात्, वेदेऽपि यथावकाशं ब्रह्मन् यथावकाशं प्रतिग्रहानिति चयने ग्रहप्रतिग्रहसंज्ञकानामागमकानाम्, पूर्वोपहितैश्चकामध्ये योऽवकाशः, तत्रोपधानविधान आकाशस्यैव यावन्मितत्वबोधनात् तदनुपाधिव्यङ्ग्याकाशधर्मत्वमेव निश्चीयते, एवं श्रुत्युक्तानां सर्वकामत्वादीनां ब्रह्मधर्मसाधने कावश्यकमेतत् आह उभयसामञ्जस्यादिति । निर्धर्मकसधर्मकबोधकवाक्यद्वयसामञ्जस्यात् एवं निर्बन्धेन साध्यते, अन्यथा एकतत्त्वव्यवबोधकत्वात्समसजसमेव स्यात्, अतस्तथेत्यर्थः ॥ २० ॥

दर्शनाद्य ॥ २१ ॥

एवं सर्वकामादीनासुपाधिसंबन्धेनाभिव्यज्यमानत्वे तेषां नैमित्तिकत्वेनागन्तुकत्वमेव, न तु नैसर्गिकत्वम्, तथा सति षड्विधाकाले तदभरहितमेव सेत्स्यतीत्याशङ्क्यां तद्विवर्तनाय हेत्यन्तरमाह दर्शनादिति । षोऽनुक्तसमुच्चायकः । 'उभयसामञ्जस्यादेव'मिति पदद्वयं पूर्वसुत्रादनुवर्तते । तथा च वैश्वानरविद्यायां प्रादेशमानस्याभिविमानत्वसुखसल-पुरुषविधत्वपुरुषान्तःप्रतिष्ठितत्वानाम्, काठके च 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'आसीनां दूरं ब्रजति' इत्यादिविरुद्धधर्माणां केवलं ब्रह्मैव प्रकृत्य दर्शनात् । अग्रे च 'अगरीरं शरीरेष्वनवत्येष्ववस्थित'मिति निगमनदर्शनात् । अवतारदर्शायासुदुःखलघुबन्धनादिषु तत्का-दीनां तथा प्रत्यक्षात् । इदानीं पौराणेन वाक्येन तत्र तथा निश्चयाच्च । एवं यादृक् श्रुतौ प्रत्यक्षादिना च प्रतीयते, तादृशमेव ब्रह्म । तत्र हेतुः उभयसामञ्जस्यादिति । अन्यथा एकस्मिन्नेव वाक्ये उपदिष्टानां धर्माणां मध्य एकत्रयाप्य एव स्यात् । अत एव श्रौतात् प्रत्य-क्षाच्च दर्शनात् वस्तुभवावत एवाविरोधसिद्धौ तेषां धर्माणां नैसर्गिकत्वमेवेति विरुद्धधर्मो-श्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतौ न कश्चिद्विरोध इत्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रकृतैतानावचं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

एवं सर्वप्रकारैः परिहृतेपि विरोधे यः शंकाभ्यमानो वस्तुनस्तादृक्त्वभावमन्वानोऽस्तु-लादिवाक्यैः सर्वविशेषनिषेधादविरोधं न मन्यते, तदर्थं युक्त्या विरोधं परिहरति प्रकृतै-

त्यादि । प्रकृतैः गाव्युपक्रान्ते प्रपञ्चे गार्गाप्रिंशे वा य एतावन्तः परिदृश्यमाना यावन्तो लौकिकाः पदार्थस्तेषां धर्म एतावच्चरन्तु, तद्वि यतः प्रतिषेधति, मङ्गल्यस्तुलादिवाक्येन निषेधति, अतो ब्रह्मणि अगौलक्षण्यमेवास्तुलादिवाक्यैः प्रतिपाद्यते, अतो वेदोक्ता धर्मा न तेन निवारयितुं शक्यन्ते । ननु कुत एतदवगम्यते, तत्राह ततो ब्रवीति च भूयः । ततो निषेधानन्तरं तस्मिन्नेव वाक्ये तमेव धर्मं भूयो वाहुल्येन पुनर्बो ब्रवीति, यथा अस्तु-लादिवाक्ये 'अवागमनः अमुक्'मित्यनेन प्रशासनकारणं निषिध्य, तदनन्तरं 'एतस्यैवा-क्षरस्य प्रशासने चावाशुभिवी विभूते तिष्ठत' इति वक्ति, तथा सर्वधर्मनिषेधश्रुतेन वेदानं निषिध्य, 'एतद्विदित्वा' इत्यादिना तद्वक्ति, एवं 'न तदभोति किञ्चन' इति व्याप्तिं निषिध्य, 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'त्यनेन तं वदति । एवमेव तैत्तिरीयेपि 'यथा वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति पूर्वोक्तं निषिध्य, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति तदुत्तरार्थे वदति । चकारात् क्वचिदेकोपास्याने वक्ति, क्वचिदिभागे साक्षात् एकवाक्ये वक्तोति संश्रुयते । अतः साध्ये कर्मणि षोडशिश्रुणाप्रद्वानवत् नित्ये ब्रह्मणि प्रशासितुलाप्रशासितुल्यबो-यत्वज्ञेयत्वबोर्विकल्पस्य वक्तुमशक्यतया वाक्यस्याबोधकताप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थं लौकिकं निषेधति, अलौकिकं भूत् इति व्यवस्था मन्यन्ता । स्थूलत्वादीनां लौकिकानामेव निषेध-दर्शनात् । ईदृशप्रशासितुलादीनामलौकिकानामेव विधानदर्शनात् । अतो ये वस्तुत्वभावतो विरुद्धधर्मोपशयत्वं न मन्यते, त एवं श्रुत्यक्षराण्यनुसन्धाय लौकिकालौकिकविभागरूपया युक्त्य विरोधपरिहारमवगच्छन्तित्यर्थः ॥२२॥ इति षष्ठमन्वुवदग्रहणादित्यधिकरणम् ॥१॥

तद्व्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥ (३-२-७.)

अत्र यद्यपि शब्दबलेन विरोधः परिहृतः, तथापि शब्दस्यार्थोपीनत्वाद्दबलेन विचारो ज्यायान्, अर्थस्तु ब्रह्म न केनापि दृष्टम्, शब्दस्तुभयथापि वक्ति, 'न चक्षुषा गृह्यते', 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगामान्मैक्षत', 'नापि वाचा' 'सर्वे वेदा यत्सदामानन्ति', 'अप्राप्य मनसा सह' 'मनसैव तदात्तव्यम्', 'अरूपमव्ययम्' 'तस्य हैतस्व पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासाः', 'अकाममाप्तकामम्' 'सर्वकामः', 'अगन्धरसरम्' 'सर्वगन्धः सर्व-रसः', 'अपाणिपादः' 'विश्वतश्चक्षुःरित्यादि । 'निर्गुणश्च' 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि । अतः शब्देन न कश्चिन्नैश्च इति तानि सर्वोपयेवापि विषयः । तदर्थनादर्थस्य हैतुस्य प्राप्तम्, तद्युज्यते न वेति संशयः । तत्र पूर्वपक्षमाह तदित्यादि । तत् ब्रह्म अच्यक्तमेव भवितु-मर्हति । कुतः । आह हि । 'स एव नेति नेत्यात्मा' 'अद्यक्षा नहि गृह्यते' इति । 'न हि गृह्यते' इत्यनुभवसाक्षिकं प्रमाणं श्रुतिराह । न हि केनचित्क्षुषा मनसा वा ब्रह्म दृष्टमस्ति । सर्वरूपत्वे तु सर्वैरेव द्रष्टुं शक्यते । अतो धर्ममुत्तेन निरूपकणामनुभवविरुद्ध-त्वाद्युपचरितार्थत्वमेव युक्तम्, श्रुत्यनुभवाभ्यामव्यक्तत्वेनेव ब्रह्मणः सिद्धान्तादिति प्राप्ते ॥२३॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानान्याम् ॥ २४ ॥

समादधानः सिद्धान्तमाह अपीत्यादि । अपिः पूर्वपक्षिगर्हणायाम्, मूर्खः पूर्वपक्षी, अनुद्धा लौकिकप्रत्यक्षेण श्रुत्यर्थव्यवस्थानानात् । संराधने सम्यक् सेवार्थं तोषे जाते ब्रह्म दृश्यते । कुतः । प्रत्यक्षानुमानान्याम् । कैवल्योपनिषदि 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगोऽद्वैतीयो'ति शिवाकारस्य भगवतो मनसा ज्ञानं संपादयेति आश्चर्ययानं प्रति ब्रह्मणोक्तम् । तथा कण्ठके मुण्डके च 'यमेवैष श्रुयते तेन उन्मत्तस्यैष आत्मा विद्युतेषु तनुं स्वाम्' इत्यङ्गीकारितेतुके तनुविवरणयुक्तम् । तत्र तद्विषयं चाक्षुषं गमयति । तथा मुण्डक एव 'यदा पश्यः पश्यते स्वमवर्णम्' इति, 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्तत्स्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति च श्रुतिः प्रत्यक्षा । गीतायां 'भक्त्या त्वनन्याया शक्य अहमेव विभोऽर्जुन, ज्ञानु त्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप' इति स्मृतिरनुमानम्, तान्याम् । यद्वा । 'अनेकषाहु-दरवक्रनेत्रं पश्यामि' इति संराधकस्य प्रत्यक्षम्, ध्रुवादिम्यक्षातुमानम्, तान्यां वार्यः । तथा च श्रुतिस्मृतिभ्यां स्पष्टयुक्तप्रत्यक्षानुमानाभ्यां वा साधनसंपादितसम्यक्प्रत्यक्षादर्थ-स्वभावेऽवधारिते तद्वत्त्वादेव द्विविधवाक्यविशेषनिर्णय इत्यर्थः ॥ २४ ॥ इति सप्तमं तद-व्यक्तमाह हीत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

प्रकाशादिषद्वावैशेष्यं प्रकाशाश्च कर्मण्यभासात् ॥ २५ ॥ (३-२८.)

अत्र संराधकप्रत्यक्षातुरोधेन ब्रह्मस्वभावो निर्धारयितुं शक्यो न वेति संशये, पूर्वपक्षमाह प्रकाशादीत्यादि । श्रुत्या संराधकप्रत्यक्षेण च ब्रह्मस्वभावो न निर्णेतुं शक्यः । उभयपक्षे नानाविधत्वबोधकत्वात्, एकस्य च वस्तुनोऽनेकविधत्वासंभवात् । अतो वस्तुशक्यैव निर्णयो युक्तः, प्रकाशादिबन्तु, प्रकाशजलसुवर्णवत् । यथा प्रकाशः सूर्यचन्द्रमणिपूष्णशतानुष्णाशीतसर्पशाकं, जलं च हिमतप्तकुण्डादिषु, सुवर्णं च नाना-वर्णं तत्त्वाकरेषु, तथापि न तत्र नानाविधाः स्पर्शा नानाविधं रूपं बाह्यक्रियते, तेज-स्वादिस्वभावदानप्रसङ्गात्, किन्तु एकं वास्तवम्, अन्यदौघाधिकम्, तद्वत्, अवै-शेष्यम्, ब्रह्मणोऽपि निर्विशेषत्वमङ्गीकार्यम् । उन्मं तेजः, शोतं जलमितिवत्, निर्वि-शेषं ब्रह्मेति लोकप्रसिद्धेः । चकारात् 'अप्यथो नहि एष्यते' इति श्रुतेः । ननु संरा-धकप्रत्यक्षस्य तादृशश्रुतेश्च तर्हि का गतिरित्यत आह प्रकाशाश्च कर्मण्यभासात् । तपःप्रधानादिकर्मणि प्रकाशः प्रत्यक्षम्, चकारादत्रत्यक्षमन्यथाप्रत्यक्षं च, अभ्यासा-दनेकवारम् । तथा च, यथेकवारमेकचैव च प्रकटः स्यात्, तदा तदप्रं तथेत्यङ्गीक्रिये-तापि, ननु प्रतिभक्तं प्रतिकर्म चान्यान्यरीत्या प्राकट्ये । अतः प्रकाशोपि कृत्रिम एव, दीपप्रकाशवत् । यदि नित्यः स्यात्, सर्वदा स्यात् । अतो न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णय इत्यर्थः ॥ २५ ॥

श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजनायात्वज्जीकृष्णचन्द्रविरचित ।

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

तत्र श्रुत्यापि न निर्णय इति वक्तुं फलितमाह अत इत्यादि । अतोऽनन्तेन तथा, अभ्यासादेनकरूपेणाविर्भावः । स च निमित्तव्यतिरेकेण नोपपद्यते, अतो 'यद्यद्विद्या त उराग्य विभावयन्ति तदद्रुपः प्रणयसे सदद्रुपहाये'ति तृतीयस्वरूपे स्मरणात् भक्तभाववैत नत्र निमित्तरम् । हि नैमित्तिकत्वादेतोर्न तद्रूप, किन्तु लिङ्ग विग्रह एव भवितुमर्हतीति न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णयः । सविशेषश्रुतिश्च तदनुवादिकेति न तथापि निर्णय इत्यर्थः । तस्मात् सर्वानुगोचरमेव ब्रह्मेति प्राप्तम् ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशाच्च हिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तत्राह उभयेत्यादि । तुगुब्धः पूर्वोक्तं लौकिकसुखयुक्तसारेण श्रुत्यर्थनिर्णयपक्षं व्यावर्तयति । ब्रह्म उभयरूपं नानाकारयानाकारं सविशेषं निर्विशेषं चेत्यादि । कुतः । उभ-यव्यपदेशात् । निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वेन चेत्याद्युभयरूपेण व्यपदेश उभयव्यपदेशस्त-स्मात् । तथा च जन्माद्यधिकरणे 'शास्त्रयोनिता'दित्यनेन शास्त्रगम्यत्वमेव निर्णीतम्, अविरोधे च शास्त्राविरुद्धा एव युक्त्य आदत्तव्या इति, एवं च निर्विशेषत्वभावत्वं यथा 'अगृह्या'दिश्रुतिमूलकम्, एवमनन्तरूपत्वं 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमस-प्रस्ता'दित्यादिश्रुतिमूलकम् । किञ्च, अप्रभूलादिवाक्ये धर्माक्षिपिष्य, अत्रे 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'ति कार्यगुणजनकानन्तगुणवत्त्वं बोधयति । 'अगृह्यो न हि एष्यते' इत्य-त्रापि 'स वायमासा सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति प्रागुच्यते, 'स वा एष मयानज आत्मा अज्ञादो वसुदान' इति चानन्तरम्, एवमन्यत्रापि यत्र यत्र निषेधति, तत्र तत्र तद्वत् इति प्रागेव दर्शितम् । अतः श्रुत्यैव ब्रह्मणस्तादृशस्वभावातिथयानुभवरूपमेव ब्रह्म प्रतिपत्त्यभि-त्यर्थः । ननु यद्युभयलिङ्गं ब्रह्म, तदा संपैषां संराधकानां तथैव प्रकाशोत्, ननु कस्यचि-त्कथञ्चित्प्रत्यस्यान्यथेत्यत आह अहिकुण्डलवदिति । यथा सपे ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च स्वेच्छया भवति, तथा ब्रह्मापि तं तं प्रति तत्तत्फलदित्यथा तथापि भवतीति न दोष इत्यर्थः । तस्मात् श्रुत्या तादृश्यत्वं न विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्मेति न कापि श्रुतिरुचरितार्थेति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं प्रकाशवैशेष्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ (३-२९.)

ननु ब्रह्मस्वरूपविचारेणोपचाराभावाद्गिरुद्धधर्माश्रयत्वाद्विरोधाभावः साधितः, तथापि धर्मस्वरूपविचारेण न सिध्यति, धर्माः किं ब्रह्मणो मिश्रास्तत्कार्यरूपाः, आहोस्वित् ब्रह्मैवेति संशयस्यानपेक्षत्वात्, तत्र लोके पटोयानां रूपादीनां धर्माणां पटसमवेततया तत्कार्यत्वदर्शनेन धर्मनित्यतायां प्रमाणाभावात् स्वाभाविकत्वमात्रेणाकाशत्वादिवि-त्यलकत्पने गौरवापत्तेरिदतीयश्रुतिविरोधपक्षेथ ब्रह्मधर्माः प्रपञ्चवत् कार्याः, ततश्च कारणभूतं ब्रह्म सर्वकल्पनाराहितमेव सेत्स्यतीति प्राप्ते । उच्यते । प्रकाशाश्रयेत्यादि ।

वाञ्छदो धर्माणां कार्यत्वपक्षं व्यावर्तयति । प्रकाशाश्रयवत्, प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयाः सूर्योदयस्तद्वत् । ते यथा प्रकाशेन विनाभूताः कदापि न सन्ति, प्रकाशस्य ततः पृथक् स्थित्यभावात्, तस्मात्वाविकर्षमत्वात्, तदविकररूपेण तदाधारतया स्थितत्वाच्च । नापि स सूर्य एव, मित्रप्रतीतेर्विधमानत्वाच्च । अतः प्रकाशरूपं वस्तु स्वाश्रयोद्विजाभिन्नमेव निसर्गसिद्धम् । एवं ब्रह्मणाम् अपि ब्रह्मणः सकलाद्विजाभिन्ना इति मन्तव्यम् । तथा च यथा, अग्निरो न मित्रम्, न मित्राभावः, किन्तु मित्रविरुद्धसंपत्, एवमज्ञाप्येतयोरेभेदो न भेदः, न भेदाभावः, किन्तु भेदविरुद्धसंपदिति धर्माणां न कार्यत्वम्, नापि ब्रह्मत्वम्, किन्तु सर्वं ब्रह्माभिन्नत्वमित्यर्थः । अस्मिन्नभेदे भेदविरुद्धा संपत् भवत्येवमेव सत्याश्रयाविनाभूतत्वं तद्विहायावर्तमानत्वमिति यावत्, तादृशी बोध्या । एतादृशदृष्टान्ताङ्गीकृतौ हेतुमाह तेजस्तत्त्वादिति । 'तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः' 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' 'भारुप' इत्यादिषु ब्रह्मणः 'तस्य भासा सर्वमिदं विभातो'त्यादौ धर्मस्य तेजोवाचकशब्दाव्याख्यात्वात् । तथा च प्रकाशकत्वभावात्त्वं सर्वतत्प्रकाशोपयोग्या भेदविरुद्धसंपदभेदः, तथा ब्रह्मतत्त्वमैयोरपीत्यर्थः । अतोऽपूर्वत्वं च भक्तेर्दृष्टत्वात् श्रुतावपि तथैव श्रुतत्वात् नात्र युक्त्यन्तरापेक्षेति विरुद्धधर्माश्रयमेव ब्रह्म, न तु निर्धर्मकमेवेति ॥ २८ ॥

पूर्वब्रह्म ॥ २९ ॥

एकदेशिमतेनापि सर्वसमाधानमाह पूर्वब्रह्मेति । वाञ्छदः पञ्चान्तरो । 'अरूपवदेव ही'ति पञ्चस्यार्थां यादृशमेकदेशिना सिद्ध्यन्ति, प्रपञ्चविलक्षणत्वाद्वा पूर्वं निर्धर्मकं समाधिलेपेण न तावन्मात्रम्, किन्तु ततोऽप्यतिरिक्तं सर्वं चिन्मात्रम्, यदाविर्भवति, तदा व्यवहारविषयं भवति, न चेदव्यवहारमैवेति, तादृशं वा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । ततस्त्वेव स्वधर्मरूपेण भवति, तदनु क्रियादिरूपेण प्रपञ्चरूपेण च भवतीति । एतावताप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः सर्ववैदार्थ्यस्य च सिद्धेः । तादृशस्य कथं सर्वभावेन प्राकट्यमित्यत्र लौकिकयुक्तिस्तु नापेक्ष्या । ब्रह्मणो वैदेकसमाधिगम्यत्वात्, 'नैवा तर्केण मतिरानयेति'ति निषेधाच्च । अत एव पूर्वमेतेषां न दोषलेशशङ्का । एवमस्मिन्नधिकरणे उपपत्त्योत्पत्त्या च विचारहयम् । तत्र पूर्वं आचार्यसंमतः । तत्र 'अनुष्ठितिधर्म'ति धर्मानुष्ठितिबोधकस्य पदस्याञ्जयात् । द्वितीयस्त्वेकदेशिसंमतः । तेनानुष्ठितिधर्मपदस्याभिनाशिपदव्याख्यापलाङ्गीकारात्, परं सोऽङ्गीकारो विशेषप्रतिपत्तिरहितत्वाद्गतिकगतिरिति शिथिलः । तथा चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः तत्रात्राञ्जयात्प्रत्ययमाधिकार्यर्थं सोऽपि व्यासपादैः संपृहीत इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरमाह प्रतिषेधादिति । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'ति प्रतिषेधात् । अत्रैकमेवेत्यवधारणादेवेतरनिषेधे सिद्धे पुनरद्वितीय' इतिपदं धर्मनिषेधस्यैव सूच-

कम् । अन्यथा तद्वैधर्म्यापेक्षेति । इयमपि युक्तिः शिष्येऽपि । 'एके मुख्यान्येकेनत्व' इत्येकपदस्य नानार्थतया मुख्यार्थग्रहणे एवकारस्य मुख्यान्तरव्यावर्तकत्वशङ्का स्यादिति तन्निवर्तकत्वाप्यद्वितीयपदवैधर्म्यपरिहारादिति । तस्माद्विदमेकदेशिमतेनेति निश्चयः । चकारः सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासमुच्चयकः । तस्मान्न ब्रह्मणि कश्चिद्दिशो इति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति नवमं प्रकाशाश्रयवद्वैल्यधिकारणम् ॥ ९ ॥

परमाणुः सेतुन्मानसंबन्धभेदव्यपदेशोऽप्यः ॥ ३१ ॥ (३-२-१०.)

पूर्वाधिकरणेषु धर्मविरोधं परिहृत्येदानीं धर्मन्तरविरोधः प्रसङ्गादाशङ्क्य परिहृत्यः । तत्र यथा ज्ञेयाब्रह्मणः फलरूपमुक्त्वम्, एवं पूर्वप्रतिपादितात्फलरूपमाद्यन्तदुक्त्वमस्ति न वेति सेत्वादिवान्यैस्तद्विरुद्धैः 'पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः' इत्यादिवान्यैश्च संदेहै, पूर्वब्रह्ममाह परमित्यादि । अतोऽपि ब्रह्मणः परमुक्त्वमन्यत्फलमिति । कुतः । सेतुन्मानसंबन्धभेदव्यपदेशोऽप्यः । 'अथ य आत्मा स सेतुर्विश्रुति'रिति दहराधिकरणे ब्रह्मत्वेन साधितस्याप्यात्मनः सेतुत्वव्यपदेशात्, सेतुर्हि फलप्राप्तौ साधनम्, न तु फलम् । एतेन देशपरिच्छेदसिद्ध्या अपरिच्छिन्नता निवर्तते । तथा 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानिषोऽन्तर्हृदय आकाश' इत्युन्मानव्यपदेशात्, कालपरिच्छेदसिद्ध्या । तथा, दहरविद्यायामिव 'उभेऽस्मिन् द्वावापृथिवी अन्तेऽव समाहिते' इत्यनेनाधाराधेयभावसंबन्धव्यपदेशात् वस्तुपरिच्छेदसिद्ध्या । तथा, 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते' 'य एषोऽन्तराक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इतिस्यानभेदेन स्थितयोः 'तथैतस्य तदेव रूपं यदुपगृह्य रूप'मित्यादिना धर्मोत्पत्तिदेशमुखेन भेदव्यपदेशात् स्वरूपपरिच्छेदसिद्ध्या । अतो देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमन्यत् किञ्चिदस्तीति प्राशस्तम् ॥ ३१ ॥

सामान्यानु ॥ ३३ ॥

तत्रोत्तरमाह । तुशब्दः सेत्वादित्हेतुभिः परत्वनिराकरणपक्षं व्यावर्तयति । समानस्य भावः सामान्यं तस्मात् । संसारसागरोत्तारपाया सेतुत्वम्, निर्देष्टव्यताकाशत्वम्, कामाभिवेदीहाय च चतुष्पात्वम्, अमृतत्वाय षोडशकलत्वम्, अदुर्लभत्वाय संबन्धः, दिव्यत्वापदिदेशः । गुणाधर्मैव एवं वचनम्, न दोषार्थम् । अतो न 'ततोऽन्यत्पर'मिति शङ्काल्यादनीया । तस्मान्न पूर्वाका दोषाः ॥ ३२ ॥

बुद्धार्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

नन्वसामान्येन कथनस्य किं प्रयोजनम्, अत आह बुद्धार्थ इत्यादि । तथा व्यपदेशो बुद्धार्थः, बुद्धिरुपासना, सैवार्थः प्रयोजनं यस्य तादृशः । यथा भूतादीनां पादत्वज्ञानमुपासनाधर्मः, एवं तद्वह्मणवत्त्वज्ञानाधर्मवत् कथनमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

ननु यदि स्वरूपभेदो नास्ति, तदा स एवायमित्यतिदेशेऽपि हिरण्यमयत्वादित्युद्धिः संपरत्यत इति धर्मातिदेशस्य किं प्रयोजनं अतः स्वरूपभेदाद्यभेव धर्मातिदेश इति शङ्कायां स एवैशुक्तसमानधर्मवत्त्वज्ञानं न भवतीति बोधनाय हेतुं दृष्टान्तं चाह स्थानेत्यादि । धर्मैक्येऽपि स्थानविशेषप्राप्त्या न समानधर्मवत्त्वं दृश्यतेऽप्यत्रैतन्न्यायि तथात्वं भविष्यतीति शङ्कावारणाय धर्मातिदेशः कृत इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह प्रकाशादिवदिति । 'यदादित्यगतं तेज' इति वाक्यात् 'सयैकमेव तेजः सूर्यचन्द्राग्निषु न समानप्रकाशम्, यथा चैकोपि काल उत्तरायणदक्षिणायनयोर्न समानधर्मति, तथात्र न ज्ञेयमित्येतदर्थ-मतिदेशः । अतो नानेन स्वरूपभेदापादानं कर्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

इत आरभ्य प्रमूर्णां लेख इति प्रतिभाति ।

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

इतोऽन्यस्य परत्वाभावे हेत्यन्तरं सूत्राभ्यामाह । सत्यज्ञानादिधर्मवैशिष्ट्येनाद्वैत-श्रुत्या चैतस्यैव सर्वोच्छ्रवस्वमुपपद्यते । ततोऽयमेव परः, नेतोऽन्यः पर इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

यथा सेत्वादयः श्रुत्योच्यन्ते, तथा 'न तत्सम्बन्धाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति समा-भ्यधिकी प्रतिषिध्यते । तस्मादपि तथाति सेत्वादीनां नेतरपरत्वबोधकत्वेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वभाषाग्रशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अविरोधप्रकरणमुपसंहरन् फलितमर्थमाह अनेनेत्यादि । अनेन ब्रह्मणोऽन्यस्य परत्वनिरासेन । आयागशब्दादिभ्यः । आयागो दीर्घ व्यापकत्वमितियावत्, तदो-धकाः शब्दाः आयागशब्दाः, व्यापकत्वबोधकानि श्रुतिवाक्यानि, तान्यादीनि येषां तद्ब्रह्मसं-विज्ञानः । तेभ्यः । 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान् दिवो ज्यानकाशात्', 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽङ्घ्रिशिरोमुखम्, सर्वतः श्रुतिमहोके सर्वमावृत्त्य तिष्ठति' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सिध्यति, अन्यस्य परत्वानिरासे तु न सिध्ये-दित्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति दशमं परमतः सेतुन्मानित्यधिकरणम् ॥ १० ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥ (३-२-११.)

एवमविरोधात् सर्वोत्तमत्वनिरूपणेनोत्तमाधिकारिणां भजनीयस्वप्रयोजकं रूपमुक्त्वा अनुना तदितराधिकारिणां तदाह फलमित्यादि । अत्र ऐहिकामुष्मिकं फलं कर्मस-चिर्वदेवभ्यो वा भगवतो वेति संशयः । तत्रैतेषां कर्मण्युदेत्यत्वात्तेभ्य इति पूर्वपक्षः । तत्रे-दमाह । फलमैहिकामुष्मिकं वा यत्, तत्सर्वमनः परमेश्वरादेव । कुतः । उपपत्तेः । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुतिर्हि निरङ्कुशं सर्वेशितुल्यं ब्रह्मण्यह । अतः सर्वं भगवत एवेति भगवानेव सर्वफलदाता, न ह्यन्यस्य वत्स्त्वान्यो दातुं समर्थ इति ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

किञ्च, 'स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदान' इति साक्षादपि फलदातु-त्वस्य श्रुतत्वादिपि तथेत्यर्थः । पूर्वसूत्रे ईशितन्तं फलदान उपपत्तित्वेन गृहीतः, इह तु श्रुतत्वं साक्षादेव हेतुरुक्त इति विशेषः ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

अत्र फलदाने मतान्तरमाह धर्ममित्यादि । कामनावतो 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिभिः फलं श्रूयते । किञ्च, ईश्वरो न स्वतन्त्रः फलदाने । यदि स्वतन्त्रः स्यात्, तर्हि विधिनिषेधार्थक्यमेव स्यादिति कर्मणः फलमवन उपपत्तिः । अतः श्रुत्युप-पत्तिभ्यां हेतुभ्यां धर्मं फलकारणं जैमिनिराचार्यो मन्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

पूर्वं तु वादारायणो हेतुच्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह पूर्वमित्यादि । तुशब्दोऽस्वातन्त्र्यवैषम्यनैशुण्यशङ्काव्युदासार्थः । पूर्वम् ईश्वरं फलहेतुं वादारायण आचार्यो मन्यते । कुतः । हेतुच्यपदेशात् । 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उज्जिनीषति' 'एष उ एवासाधु कारयति तं यमो निनीषति' इति श्रुतौ तत्तत्फलदित्तया तत्तत्कर्मकारयितुल्यश्रावणेन कर्म प्रत्यपी-श्वरस्यैव हेतुत्वकथनात् । तथा च विधिनिषेधकामनादीनां व्यापारत्वमेवेति न विध्याधानर्थ-क्यम्, आत्मसृष्टेश्च न वैषम्यादिति स एव फलदातित्यर्थः ॥ ४१ ॥ इत्येकादशं फलमत इत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसाम्बार्थचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविर-चितायां ब्रह्मसूत्रब्रह्मसूत्रोत्तीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ (३-३-१.)

पूर्वपादे जडजीवधर्मतुल्यतया प्रतीयमानानां सर्वकामत्वादीनां धर्माणां जडजीवधर्म-
त्वनिराकरणेन ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्थापनेन प्रपञ्चविलक्षणशुद्धसच्चिदानन्दविग्रहाभिन्नत्वं
ब्रह्मणो निरूप्य, अस्मिन् पादे उपासनायै तत्तदुपासनाप्रकरणे पठिताः परस्परविरुद्धा ब्रह्मगता
एव धर्मा उपसंहारार्थं विचार्यन्ते । तदर्थं विशेष्यं विचार्यम् । तत्र वैधैकापीनमिति प्रथमं
वैधैक्यं विचार्यते । तत्र अर्धवैधैकापिनपत्यु कचिद्रोपास्वरूपम्, कचिद्रामस्वरूपम्, कचि-
न्मृदिस्वरूपं च, ब्रह्मोच्यते । तदत्र ब्रह्मं विषयः । रूपभेदेन भिद्यते न वा, उपासना-
विषयाणामब्रह्मत्वमेव वेत्ति संशयः । तत्र यद्युपासनाविषयाणामौपाधिकत्वादविद्याकल्पित-
त्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा सर्वे वेदा यस्यदामानन्तीति प्रकृत्य, 'अणोरणीयान्महतो मही-
या'नित्यादिमन्त्रैर्विरुद्धधर्माश्रयेऽपरिऽप्राकृततन्ती ब्रह्मणि प्रतिपादितस्य सर्वश्रुतिसमन्व-
यस्य विरोधप्रसङ्गात् तदन्यथाज्ञाने 'षोऽन्यथा सन्तमालेनमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन
न कृतं पापं चैरेणात्सापहारिणा' इति श्रुत्युक्तप्राप्रसङ्गोपासनाविषयाणामब्रह्मत्वं तु
न शक्यध्वनयन्म् । अतो यथा आभिक्षाधिकरण आभिक्षा बाणिनात्मकधनविरलद्रव्ययो-
र्विश्लेदेवाजिनोर्देवतयोश्च भेदेन द्रव्यदेवतात्मकयागरूपभेदाध्यागभेदः पूर्वतन्त्रे सिद्धः,
तथात्रोपासनासु वैधैक्यरूपत्वाद्देशानां च धर्माकारादिभेदात् तत्र तत्र 'तयोरैक्यं परं
ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति रामपदेन 'असौ परं ब्रह्माभिधीयत' इत्यादिश्रावणाद्ब्रह्मभेद
एव युक्तः । यदि चैवमभ्युपगमे ब्रह्मनेकत्वप्रसङ्गात् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुति-
विरोधो विभाव्यते, तदा तु धर्मविरोधेन ब्रह्मैक्यस्योपगन्तुमशक्यत्वाद्दुष्पक्षद्वयेपि दोषा-
न्वोभयतः पाश्चाज्जुरिति प्राप्तम् । तत्राभिधीयते । सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि । सर्वैरे-
करूपानिरूपकै वेदान्तैः प्रत्ययः ज्ञानं यस्य, तादृशमेकैव ब्रह्म, न तु प्रतिवाच्यं मिश्रम् ।
कुतः । चोदनाद्यविशेषात् । चोचेतज्जेन इति चोदना विधिवाक्यम् । आदिपदेन
फलसंयोगरूपाख्याः । तथा च चोदना च आदी च तत्समाह्वारश्च चोदनादि । चोदना
आदिः यस्य तदपि चोदनादि । चोदनादि च चोदनादि च चोदनादी, तयोरविशेषभो-
दनाद्यविशेषः तस्मात् । पूर्वतन्त्रे शास्त्रान्ताधिकरणे केवलानां रूपादीनां व्यभिचारि-
त्वं दृढिकृत्य, 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषा'दिति सिद्धान्तसूत्रे फलसंयोगरूपचोद-
नाख्यात्महेतुचतुष्टयसाधारण्येन सर्वशास्त्रोक्तकर्मण एक्यं साधितम्, तथात्रापि तद्-
दृष्टान्तेन ब्रह्म तद्विद्ययोरैक्यं साध्यते । यथैकस्मिन्नभिद्योमे शास्त्राभेदेपि 'सर्वत्र अविद्योभे-
न

यजेत' इत्येव चोदना, फलमपि तदेव द्रव्यदेवतात्मकम्, रूपमपि तदेव, सैवाभि-
द्योम इत्याख्यापीति सर्वशास्त्रासूक्तोप्यभिद्योमो न भिद्यते, एवमत्रापि सर्वेषु वेदान्तै-
रब्रह्मत्वेनैव उपासना विधीयते, साक्षात् परंपरया च मोक्ष एव फलमुच्यते इति रूपचो-
दनाख्यानां फलसंयोगत्वं च साधारण्यात्, ब्रह्म तदुपासना च न भिद्यते इत्यर्थः ।
यद्यपि ब्रह्मणस्तत्साक्षात्कारस्य च न साक्षात्सुखव्यापारविषयत्वम्, तथापि साक्षात्कार-
साधनमूत्रप्रमाणसंपादनद्वारा तादृशश्रुतिसंपादनद्वारा च चोदनासंबन्धसत्त्वात्, तथा सुख-
व्यापारस्यापि संबन्धात् न हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमित्येवम् । न च विज्ञानद्वारा ब्रह्मणि
हेतुसंसर्गसाधनापेक्षया साक्षाद्हेतुसंसर्गवतो विज्ञानादिशब्दान्यस्योपासनस्यैव पञ्चत्व-
मज्ञाद्वैक्यं सूत्रव्याख्यानश्रुतिमिति वाच्यम् । पञ्चवाचकविज्ञानादिपदार्थाहारापेक्षया
पूर्वपादान्तिमसूत्रे 'पूर्वं तु बादरायण' इति पूर्वपदेन परामृष्टस्य ब्रह्मणः सन्निरहिततया
तत्परामर्शस्य लघुत्वेन ज्ञाप्यत्वात् । विद्याविचारस्य वैधैविचारायत्त्वाच्चेति ॥ १ ॥

भेदासत्तिचेदेकस्यामपि ॥ २ ॥

ननु धनविरलद्रव्यधर्मभेदेन द्रव्यस्य भेदः, आकारादिभेदेन देवतायाश्च भेदे याग-
भेदवदुपास्यानां तत्तद्भर्मभेदेन मियोभेदात्, न, हेतुतावच्छेदकामाये चोदनापविशेषरूपो
हेतुः पक्ष ब्रह्मणि, तदुपासने च न, तथा च हताः स्वरूपासिद्धत्वात् न तेन विधैक्यस्य
वैधैक्यभेदस्य वा सिद्धिरितिचेदित्याशङ्क्य समाधत्ते एकस्यामपीति सूत्रावयवेन । एक-
स्यामतिरात्रभ्यक्तौ गृहीतपोऽभिक्षायामगृहीतपोऽभिक्षायाः सकाशाद्गुणाधिक्येन भेदेपि यथा
नातिरात्रभिन्नयागत्वम्, ग्रहणाग्रहणयोरुभयोरपि तदेव कर्माधिकृत्य विधानात्, तथेहापि
ब्रह्मैवाधिकृत्य तत्तद्भर्मवैशेष्यवैशिष्ट्ययोरुक्तत्वात् ब्रह्मणो भिन्नत्वम् । अतो ब्रह्मोपासनाभि-
न्नत्वं तदुपासनासु । तथा च षोडशविग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रवर्मत्वपदत्र तत्तद्भर्मवैशेष्यवै-
शिष्ट्ययोरपि ब्रह्मधर्मत्वेन वैधैक्यभेदस्य विवक्षितत्वात् स्वदुक्तस्य भेदरूपस्य हेतोरेव व्याय-
त्वासिद्धत्वम्, रूपभेदो धर्मभेदात्, आभिक्षादिवागवदिति साधने, न तद्भेदो धर्मभेदात्-
तिरात्रवदिति दृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वात् । अतः सिद्धान्तहेतुर्नदुष्ट इत्यर्थः । एवं सूत्र-
द्वयेन वैधैक्यत्वं विधैक्यसाधन इदं सिद्धम् । यदेवैक्ये सत्येकत्वात् विद्यायामनुक्तानामपि
गुणानामुपसंहारः कर्तुं युक्त इति । तत्रोपसंहारो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विषयविशेषे
नियमनम्, तदत्र तत्तद्भक्त्येऽनुक्तानां गुणानां तेन तेन हेतुना तत्तद्भक्त्योक्ते विषये सत्ता-
मनुसंधाय विशिष्टबुद्धौ विषयीकरणमिति बोध्यम् ॥ २ ॥

स्थाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराश्च सबन्ध तन्निवयमः ॥ ३ ॥

ननु यागदृष्टान्तेन रूपाधर्मभेदाद्विधैक्ये विधानतरोक्तगुणोपसंहारो युक्त इति बृहत्कम्,
तत्र युक्तम्, सर्वेषु शास्त्रासु ज्योतिष्टोमैक्येपि वाजनेनैक्य उक्ते तस्मिन्नेव ज्ञाने तैषि-

रोयोक्तधर्मोपसंहारस्य शिष्टैरकरणात्, एवमत्राप्यथर्वणोपनिषदुक्तोपासनासु वैश्वेक्योपि रूपान्तरे रूपान्तरधर्मोपसंहारो न कार्य इत्येव प्राप्यत इति व्यर्थं तदैक्यसाधनमित्याकाङ्क्षायां तदभावायात् बाधकभावविशिष्टैरेव पूर्वीकहेतोस्वसंहारसाधकत्वमिति बोधयित्-
 गुपसंहारबाधकान्याह स्वाध्यायस्येत्यादि । स्वाध्यायो वेदः तस्य तन्प्राप्त्येन एक-
 मन्त्रवन्न कर्मणि शाखाभेदेषु भिन्नभिन्नप्रकारताबोधकत्वेन समाचारे तन्नियमः, एक-
 मन्ते ज्योतिष्टोमादिलक्षण आचारं तत्तदङ्गाचारानियमः, तावद्विरेवौक्तैर्योगसंपत्तावधि-
 करणस्य निष्प्रयोजनकत्वात् तावतामेताङ्गानां करणम् । हेतुवन्तरमाह अधिकाराचेति ।
 सर्वेषां शाखिनां स्वस्यशाखोक्तप्रकारक एव कर्मण्यधिकारः, न परशाखोक्तप्रकारके ।
 चकोरेण 'यदस्य कर्मणोऽलरीरिच'मित्यायुक्तप्रत्यक्षितश्रवणं समुच्चयिते 'अतोऽधिकार-
 भेदात्प्रायश्चित्तश्रवणाच्च तत्तदङ्गाचारानियमः । तथाच शाखाभेदो न प्रसिद्धः, तदापि नियाम-
 कमाह स्वबन्धेति । यथा सवा होमः ससमर्थयदः शतोदनपर्यन्ताः वेदान्तोदितत्रेता-
 द्यनभिसंबन्धात् आयवैणोक्तैकाधिसंबन्धाच्च आयवैणिकांतामेव कार्यत्वेन नियम्यन्ते, तथा
 विभागाभावदशायापामपि तत्तद्भेदे विद्यमानायास्तस्यास्तस्याः शाखाया एव नियामकत्वात्
 तत्तच्छाखोक्तान्मनानतिरिक्तकरणनियमः । तथा च निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदप्राय-
 श्चित्तश्रवणानि यथा कर्मणि तत्तदङ्गाकरणनियामकानि, तथा विद्यायामपि तांनि निया-
 मकानि । प्रायश्चित्तश्रवणस्थाने त्वन्न 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन
 न कृतं पापं चैरेणात्सपहारिणः' इति वाक्यम् । अतो बाधकभावविशिष्टमेव वैश्वेक्य-
 गुपसंहारप्रयोजकमिति पूर्वीकं नायुक्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ३ ॥

उक्तोद्यम्भार्थं प्रत्यक्षां श्रुतिं प्रमाणत्वेनाह दर्शयतीति । वैश्वेकत्वेन विद्यानामेकत्वं
 श्रुतिरेव दर्शयति, 'सर्वे वेदा यत् पदमात्मन्ती'ति । उपासनाप्रकारभेदेनोपास्यभेददर्शने
 दोषं च दर्शयति । 'यदा ह्यैव एतस्मिन्दुरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य अर्थं भवती'ति । उदि-
 ल्यव्ययमन्यर्थकम् । अरमित्यल्यर्थकम् । तथा च यदा ऋग्यजुष्यमापि भेदं कुरुते, तदन-
 न्तरं तस्य भेदकर्तृमयं भवतीत्यर्थः । अतो गुणभेदस्य स्वरूपभेदाप्रयोजकत्वात्तत्प्रादे
 ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य सिद्धत्वेन 'यदेकमव्यक्तमनन्तरम्'मिति श्रुत्यानन्तरूपत्वस्य
 सिद्धत्वेन, 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति श्रुत्या बहुधा प्राकट्यस्य च सिद्धत्वेन यत्रा-
 धिष्ठानमनपेक्ष्य विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्म भक्तार्थमाविर्भवति, तत्र पूर्णो भगवान्, यत्र पुनः 'सत्त्वं
 रजस्त्वम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय' इत्यत्र भगवद्गुणत्वलेनोक्तं 'सत्त्वं यस्य त्रिया मूर्तिरित्यादौ
 प्रियमूर्तित्वेनोक्तं यत्सत्त्वं तस्य स्वचिकीर्षितकार्योपयोगिनी मत्स्यकूर्मादिरूपां मूर्तिं विधाय
 अत्रापिपिडे बह्विबदव्यकरुणेणविर्भवति, सोऽजावतारः, यत्र पुनः प्राकृत एव शरीरे
 जीवे वावित्यव्यकरुणेण, स तु विभृतिरित्युच्यते । यद्यपि 'तन्मायाफलरूपेण'त्वेकादशस्क-

न्याक्तरीत्या ब्रह्मकार्यरूपत्वात् प्रकृत्येव ब्रह्मात्मकत्वम्, तथापि तत्र तत्कार्यं वा यत्र नाज्ञै-
 किकरूपेणावेशः, तत्र केवलौकिकरूपत्वमित्येव भेदेपि ब्रह्मणः सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वमप्रत्यू-
 हम् । एवं विद्यासु । गुण्डकं ब्रह्मविद्यां प्रकृत्य ततस्तस्यामिव परापरविभागमुत्त्वा, ऋग्वे-
 दादिरूपा अपरा, 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यत' इति कथनात्परापरविभागे सत्यापि
 सर्वमतां ब्रह्मविद्यात्वमप्रत्यूहम् ॥ ३ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ४ ॥

ननु वैश्वेक्यात्प्राप्ते सर्वत्र गुणोपसंहारे, समाचारस्वोक्तैर्निरूपणप्रकारभेदादिभिस्तन्नि-
 वारणं कृतमिति तद्विचारे यस्यकस्याचिद्बाधकस्य सता यत्र कात्यायान्येवेति गुणोपसंहारो
 न क्वचिदपि प्राप्नोति, स चायुक्तः, श्रीरामोपनिषत् 'यो वै रामचन्द्रः स भगवान्, ये च
 मत्स्यकूर्माद्यवतारस्तस्मै नमो नमः' इत्यनेनोक्तावताररूपत्वस्य श्रीरामे, किञ्चा-
 क्रूरस्तुती 'नमस्ते रघुवस्यै रावणात्तकराय च' इति रघुवर्त्यत्वादेः श्रीव्रजनाथे उपसं-
 हारदर्शनात्, एतदृष्टान्तेन मत्स्ये शरचापादीनां पुरुषरूपे लक्ष्योपसंहारोऽर्थादीनां विरु-
 द्धधर्मणामप्युपसंहारस्यपारित्येव्याङ्गात्प्रायां उपसंहारप्रयोजकं वदन् समाधत्ते उपसंहार-
 इत्यादि । उक्तस्यत्वादपि य उपसंहारः, स त्वर्थस्य भगवत्लक्षणस्य वस्तुतः अभेदा-
 दैक्यत्वात् । तथा च येन तदनुधीयते, तेन कार्यं इत्येतदर्थं तदनुसंधानत्वा स्तोपास्ये तदव-
 तारवत्त्वे तेन रूपेण तत्कार्यकर्तृत्वमुपसंहार्यम्, न त्वनेन रूपेण तद्रूपस्तत्कार्यकर्ता वेति,
 अन्येन तु तदपि न कार्यम् । तत्र दृष्टान्तः । विशिष्टोपवत्समाने चेति । विशि-
 ष्णेो येषामसिद्धोऽर्थादीनाम्, ते विशिष्टेषाः, तद्वत् समाने तुल्ये, चोप्यर्थे । तथा च
 तेषामसिद्धोऽर्थादिलक्षणे धर्मे तुल्येपि यथा स्वस्वशाखोक्तस्यैव करणम्, उपसंहारोऽर्थाभेदा-
 संहारः, तथाप्रापि 'इति रामपदेनासौ परं ब्रह्मभिधीयते' 'तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण
 इत्यभिधीयत' इति श्रवणणो ब्रह्मस्वरूपायाभ्येनोपासते, तेन कार्यः । यः पुनरवतार-
 स्वरूपायाभ्येनोपासते, तेन न कार्यः, यथा तच्च अखिनासिद्धोऽर्थादपि परशाखोक्ता-
 न्नज्ञानास्यधिकारभेदादुपसमाञ्जस्यमित्यर्थः । यद्वा । पूर्वसूत्रे उप्येकं विधेक्य उपसं-
 हारबोधके बोधके, तदनुसंधानतो जात्यायुक्त्याङ्गात्प्रायां, 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दित्यनेन
 यथाधिकारमुपसंहाराणुपसंहारी कर्तव्यत्वेन बोधयित्वा, 'विशिष्टोपवत्समाने च' इत्यनेनो-
 पसंहारप्रयोजनमाह । विधेः शेषो विशिष्टेषां; सोऽस्यास्तीति विशिष्टेषवत्, मतुचन्तम्, तादृशं
 सत् यत्समानमेकं तस्मिन्शेषसंहारः । अर्थात् इदं भिन्नं वाक्यम् । तथा च यथा
 तैत्तिरीयशास्त्रप्रथमकाण्डे चातुर्मास्यप्रथमपर्वणो वैश्वदेव्यागस्य 'यदैश्वदेवेन यजते प्रजा
 एव तयजमानः सृजते' इत्येकं फलमुत्त्वा, पुनरपि 'यदैश्वदेवेन यजते अग्निमेव तत्सं-
 वत्समाप्नोति, तस्मादैश्वदेवेन यजमानः संवत्सरोपां स्वस्तिसमाप्नोति' इत्याशासीति द्वितीयं
 फलमाह । तत्र यथैकस्य कर्मणोऽर्थवादे फलद्वयश्रवणात् फलद्वयसाधकत्वोपसंहारः,

तथा यत्र फलद्वयमुपासनायां श्रूयते 'यो मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवति, 'अगाधा गाथा भवती'त्यादि, 'यो ध्यायति सोऽमृतो भवती'तिगोपालतापीयादी, तत्र 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति तद्वैतान् भूत्वावति' इति वाजसनेयिश्रुतेः तत्फलसाधकत्वस्योपसंहार इत्युपसंहारबीजमनेन सूत्रभागेनोक्तम् । तस्मान्न कोपि दोष इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्यथात्वं शब्दादितिचेन्नाविशेषात् ॥ ५ ॥

गुणोपसंहार एव बाधकान्तरमाशङ्क्य परिहरति अन्यथात्वमित्यादि । ननुपसंहारो गुणानां तदा भवति, यदोपासत्यानां ब्रह्मत्वेत्येवं भवति । ब्रह्म तु शब्दान् कृत्स्नः प्रज्ञानघनः' इत्यादिश्रुतेः प्रज्ञानमात्रमेकरसम् । तत्र चेन्नियो विरुद्धः शान्तत्वकूरुत्वतपोभोग्यादय उपसंक्षिपन्ते, तदेकरसत्वहान्या तेषामुपास्यानां रूपाणामन्यथात्वमब्रह्मत्वं स्यादितिचेत्, एवं सूत्रशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण समापते नाविशेषादिति । एकरसत्वं यथा श्रुतिबलान्निर्णयिते, तथा विरुद्धधर्माश्रयत्वमपि तत एव निर्णयिते । अत उभयोरपि श्रौतत्वाविशेषात् तदस्त्वेव तादृशम् । अतो न विरुद्धगुणोपसंहारेण ब्रह्मत्वहानिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्रे 'अन्यथात्वं शब्दात्' इत्यनेन यदाशङ्कितम्, तस्यैव परिहारं प्रकारान्तरेणाप्सिन् सूत्र आह नवेत्यादि । अन्यथात्वं प्रकरणभेदाद्वा न, तत्र घटान्तेः परोवरीयस्त्वादिति । अयमर्थः । श्रुतिप्रामाण्यात् यावदुक्तधर्मवशेषेति सिद्धावपि यत्प्रकरणभेदेन तदमतिरूपमप्य, तत् तस्य तस्याधिकारिणस्तत्तद्व्यवस्थेनोपासने तत्तदभीष्टफलसिद्धयर्थम् । अतो ये ज्ञानाधिकारिणस्तेषामक्षरान्तर्यं 'अद्वयमप्राज्ञ' मित्यादिश्रुतिरद्वय्यादिगुणकं निरूपयति, ये पुनर्मत्तधिकारिणस्तेषां भेदेर्बहुविधत्वाद्युक्तफलसिद्धयर्थं तादृशात्तद्व्यभक्तानुभवयोग्यामाधर्वणश्रुतिनिरूपयति । यथा तैत्तिरीयसंहिताषष्ठकाण्डद्वितीयाध्याये अहीनात्यसोमयागे अहीनस्ये च उपसंहिनसंख्यां पूर्वं विधाप्य तेषु दिनेषु आराध्यावान्तीक्षां 'अस्मिन्ने लोकेषुकेऽस्यात्' इति कामवत उक्त्वा, तदग्रे 'परोवरीयसीमवान्तरदीक्षासुपेयायः कामपेतसुम्भिन्ने लोकेषुकेऽस्यादिति चतुरोऽमेऽथ त्रीनथ द्वावयैकमेव वै परोवरीयस्यवान्तरदीक्षा' इति पठितं यत् परोवरीयस्त्वं तद्वत् । अयंस्तु, सोमक्रवादिने सायमेकं स्तनं पिबेत्, अपरेषुः प्रातर्दो स्तनौ, सायं त्रीन् स्तनान्, परेषुः प्रातश्चतुरः स्तनानिवापराद्यावान्तरदीक्षाकृते स्तनपानसंख्या विहिता । आरं बलीवदप्रतोदनलोहम्, तद्वत्सम्भमं मुखं यस्याः सा आराध्या इति । द्वितीयस्यास्तु तद्विपरीता संख्या । 'सोमक्रवादिने सायं चतुरः स्तनान्, द्वितीयदिने प्रातर्दोन्, सायं द्वौ, तृतीयदिने प्रातरेकम्' इति । एतस्य व्रतस्य दीक्षाप्रकरणे पठितत्वात् दीक्षां विना तथा व्रतकरणे तु न परोवरी-

यस्त्वम्, एवं भक्तिप्रकरणीयानामर्थवोपाधिषुक्तानां रूपाणां न भक्तिरहितोपास्यत्वम् । तथा च तत्तद्भक्तिमतां तयातथोपासनापरिपके तत्र तत्र ब्रह्मत्वस्यानुभव इति नाब्रह्मत्वशङ्कादयः । अमक्तशङ्कामात्रेण तु न तद्वाप इति तेषां ब्रह्मत्वं निर्विघ्नमित्यर्थः ।

यद्वा । पूर्वसूत्रेणान्यथात्वशङ्कामपाकृत्य यः सर्वेषु रूपेषुपसंहारसूत्रेण मिथः सर्ववर्माणोपसंहारः प्राप्तः, सर्वैकान्तिमक्तानुभवविरुद्ध इति तदर्थं गुणोपसंहारव्यवस्थामस्मिन्सूत्र आह नवेत्यादि । सर्वैकत्वतारेषु यस्य भगवदवतारत्वेन साधारणो भक्तिः, तेन सर्वगुणोपसंहारः सर्वत्र कार्यः । यस्त्वेकान्तो तस्यान्तःकरणं स्तोत्रोत्सवैकैव पर्यवसितमिति तस्य रूपाणान्तरेऽन्तःकरणभावात्तेन तद्गुणोपसंहारो न कार्यः । तत्र हेतुः प्रकरणभेदादिति । श्रुत्यादी तददधिकारिणमुद्दिश्य तत्प्रकरणमुक्तमिति प्रकरणपदेनाधिकारो बोध्यते । तथा चोपासकादिभ्य उक्तुष्टाधिकारादित्यर्थः संपद्यते । तदेतदधिकारोत्कर्षादिकं घटान्ते प्रकटयति परोवरीयस्त्वादिवदिति । छान्दाग्ये प्रथमप्रपाठके उद्गीथविधासमासात्तुक्तं 'आकाशो ह्येवैषो लोकेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणं स एष परोवरीयानुद्गीथः, स एषोऽनन्त' इति । तस्यामेव विद्यायामश्वादित्यादिप्रतीकोपासने हिरण्यवमश्रुत्वदयोपि गुणा उक्ताः । तथापि सामगतिपरंपराविशान्तिस्थानभूतः परमात्सरो बराह वरीयानेतादृश्यगुणविशिष्टो य उद्गीथः, तदुपासकस्य स एषोद्गीथ उक्तुष्टो भासत इति । तत्र यथा न हिरण्यवमश्रुत्यादिगुणोपसंहारः, एवमत्रापि साधारणाधिकारादेकान्त्यधिकार उक्तुष्ट इति, तस्मात्सर्वेत्यर्थः ७

संज्ञानश्चेत्तदुक्तमस्ति तदपि ॥ ८ ॥

नन्वेकान्तिनो भवत्तुष्टोऽधिकारः, तथापि 'रामोनायक' इति संज्ञा त्वविशिष्टेल्युपसंहारो किं बाधकमित्येवं सूत्रशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण परिहरति संज्ञान्त इत्यादि । एवं संज्ञानो य शङ्का, तुच्चरं तु पूर्वसूत्रे एव अधिकारोऽप्यव्यादुक्तम् । संज्ञाया व्यवहर्तृभिः कृतत्वेन लौकिकत्वात्, अधिकारस्यान्तरत्वात्, शास्त्रोपस्थात् । नन्वधिकारस्यान्तरत्वेपि न प्रमाणेषु गणना, संज्ञा तु प्रमाणात्संगणितेति कथं न तस्या बलत्वमित्याशङ्क्य, संज्ञैकत्वस्य हेतोरन्वयव्यभिचारमाह अस्ति तु तदपीति । तुः शंकरिणोः, संज्ञैक्यमप्युक्तं गुणोपसंहारो न शङ्क्यः । यतः छान्दाग्ये 'अमित्येतदश्रुत्तुद्गीथमुपासीत' इत्युद्गीथावयवस्य प्रणवस्योपासनमुक्तम्, तथा आदित्याक्षिपुरुषप्रतीकं चोक्तम्, तथा आकाशमुपक्रम्य परोवरीयस्त्वगुणकम् । वाजसनेयके च कृत्स्नोद्गीथविषयमासन्योपासनम् । पतेषु प्रकरणभेदाविषयभेदाभ्यां प्रतिभतभेदेष्वपि उद्गीथोपासनंति संज्ञैकत्वमस्ति । तथा च व्यभिचरितत्वेन तस्याभेदसाधने सामर्थ्याभावात् फलभेदरूपभेदाभ्यां सिद्धे भेदे, उपसंहारप्रयोजकस्यैक्यस्याभाव एव तद्बाधक इत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्यासेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

ननुपास्येषु रूपेषु बाल्यपीगण्ठावयवस्यादर्शनादवस्थाभिश्च विग्रहे न्यूनाधिकारिमाणादिदर्शनात्पुक्तं सच्चिदानन्दरूपत्वमनुपपन्नम्, सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणः सदैकरूप-

पत्वात्, अतस्तेषु प्राकृतत्वमेवाभ्युपेयम्, तथा सति पूर्वसाधितं तेषां ब्रह्मत्वं विरुद्धधर्मा-
श्रयत्वं गुणोपसंहारादिकं च सर्वमसमञ्जसं स्यादित्याशङ्क्याह व्याप्तेरित्यादि । 'सर्वतः
पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमलोकं सर्वमावृत्त्य तिष्ठति' इत्यादि-
श्रुत्या तादृशस्यैव सर्वत्र व्याप्तेः । च्चाकाशादादृशस्यैव 'सर्वरसः' इति श्रुत्या रसरूपत्वेन
समञ्जसम् । यादृशेन रूपेण भक्तानां लीलासरानुभयो भवति, तादृशं रूपं क्रमेण योगमा-
यापन्नत्वात्प्रकटयति, पूर्वं च स्वस्मिन्नेवान्मोक्षयतीति बाल्यादिभानोपपत्तेः पूर्वोक्तं सर्व-
मुपपन्नम् । तथा च न्यूनाधिकरामिणादिदर्शनस्य मायापसारणेहेतुकत्वाद्भिन्नस्य ह्यस्यै-
करूपताया अत्रापि पूर्वसाधितं ब्रह्मत्वादिकं युक्तमेव यावदुक्तधर्मवद्ब्रह्मत्वदीय इत्यर्थः ॥९॥

सर्वोभेदादन्वयत्रेमे ॥ १० ॥

ननु 'अनुच्छित्तिधर्मे'ति श्रुत्या ब्रह्मधर्माणामनुच्छेदश्रावणात् ब्रह्मधर्मत्वेन बाल्या-
दयः सर्वेषु नित्या बान्याः, तत्र तद्वक्तानां स्वलीलातुभावनायै प्रकटः कियन्त इति
तद्वक्तृत्वविशिष्टस्तथा भक्तानामपि नित्यत्वं प्रापयन्ति, कृष्णोपनिषदि तैकस्यैव भक्तस्य
पूर्वापर्यणानेकलीलासंबन्धित्वं बोध्यते । 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगोहिनी'
इत्यादिना, 'सोवतीर्णो महीतले, वने वृन्दावने ऋङ्गन् गोगोपीसुरैः सहे'लन्तेन । तत्रै-
कस्यैव तत्तल्लीलासंबन्धित्वे विरुद्धकालीनां लीलानां युगपदनुभवासंभवात्कर्मोऽङ्गीकार्ये
लीलानामनित्यत्वापत्तिः । नित्यत्वे च तत्तल्लीलासंबन्धिनो भक्तस्य भिन्नत्वापत्तिरनुभव-
विरोध उक्तश्रुतिविरोधश्चेत्युभयतः पशाराञ्जुरित्यावाङ्मयामाह सर्वैत्यादि । सर्वेषां
लीलामध्यापितानां पदायीनां ब्रह्मणा सहाभेदात् । 'तस्मात्प्र भिन्ना एतास्तु आभिषिञ्चो
न वै प्रभुः । भूमातुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गावासिनम्' इति कृष्णोपनिषदभे तेषां
ब्रह्मभेदश्रावणेन तदविनामावात्, भेदविच्छेदोपाभेदात्, अन्यत्र उच्यते तल्लीलायामपि इमे
पूर्वलीलासंबन्धिन एव ते भक्ता इत्यर्थः । न चैवं सति लीलानुभवस्य क्रमिकत्वालीलानां-
मनित्यत्वं शङ्क्यम् । अनुभवानुश्रया श्रुतेर्बलिष्ठत्वात् । 'अह्नसङ्गं करिष्यामि' इति श्रुता-
वज्ञसल्लीलाया भावित्वस्योक्तत्वात् । तथा च 'यतो वाचः' इति 'अनिरुक्तः' इति श्रुत्या
च ब्रह्मणो बान्धनसामोचरत्वस्योक्तत्वात् तदिच्छातत्सामर्थ्ययोर्मेहिज्ञा अवधितपटनार्थी-
यस्तुं युक्त्यगोचरत्वं चातुस्त्वया सर्वाः शङ्का वारणीया इति भावः । एतस्मिन्ने अन्यत्रेति
पदेन लीलान्तर्वेदशान्तरस्यापि संग्रहाद्दिरुद्धिद्वयोर्भक्तयोर्भक्त्ययतिशयेन यत्र युगपदुभ-
यदेशे भगवद्दर्शनम्, यथा श्रुतेरेवजनकरोर्मेहि, तत्र तत्तद्विषयत् तद्वक्तृत्वानामपि साहि-
ल्यात् तेषामपि व्यापकत्वं जातिन्यायेन बोधितं ज्ञेयम् ॥ १० ॥

आनन्दादयः प्रथामस्य ॥ ११ ॥

ननु तेषां ब्रह्मणा सहाभेदे व्यापकत्ववत् पूर्णानन्दैश्वर्यादयोपि धर्मास्तेषु प्रतीयेरन्,
न चैतदस्ति, दुःखसंशयवर्जनां प्रभुप्रायेनाभरणदर्शनात्, तथा एतौनन्दत्वाभावो निश्चिते

तेषां व्यापकत्वमपि न वक्तुं शक्यम्, तुल्यत्वादिवाशङ्क्यामाह आनन्देत्यादि । आन-
न्दैश्वर्यवीर्यादयो धर्माः प्रधानस्य धर्मिणे चक्षणे एव, न तु गुणभूतानां लीलापदार्थानां
तं संभवन्ति । सर्वथा तौष्ये ब्रह्मणः प्राधान्यव्याहतेरित्यर्थः । न चैवं सति व्यापकस्या-
व्यभावः शङ्क्यः । आकाशपरिमाणवत् साहजिकधर्मत्वात् तदुपपत्तेरिति ॥ ११ ॥

मियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचर्यो हि भेदे ॥ १२ ॥

पूर्वसूत्रे पूर्णानन्दत्वादयो ब्रह्मसाधारणधर्मा इति ते विभूतिषु नोपसंहर्तव्या इति
विचारिते, मियशिरस्त्वादिस्मरणादिचार्यन्ते, तेषामुपसंहारः पुरुषरूपोपासने प्रामोदितं, स
च विरुद्ध इति कथं कार्येः ; किञ्च, मोदप्रमोदादुपचितानन्दरूपी प्रदेशयेदनेकोक्तो,
ब्रह्म तु नित्यानन्दैकरसम्, अतस्तत्र तत्कथनमुपपन्नमिति द्वयमाशङ्क्य तदधिकारिणं
प्रत्यनुपसंहारोपसंहारी छेपेण वदन् तां शङ्कां परिहरति मियेत्यादि । पूर्वसूत्रादत्र 'प्रधा-
नस्ये'तिपदमनुवर्तते । हिहेतौ । प्रधानस्य मियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः मियशिरस्त्वाद्य-
संभवः । हि यतो हेतोः उपचयापचर्यो मोदप्रमोदकौ, भेदे, चित्तशुद्धितारतम्येन भाते
भेदे, भातेते । यदा भेद एव न भातः, तस्य तयोपर्यभानात् मियशिरस्त्वादेरुपसंहार
इत्यर्थः । यदा हि यतो हेतोर्भेदे भाते चित्तशुद्धितारतम्येन तौ तदप्राप्तिश्च । यदा भेद
एव न भातः, तदा नोपचयापचर्यौ, नापि मियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः, किन्तु उपचयापचर्याभावः
मियशिरस्त्वाद्युपसंहारश्च भातीत्यर्थः ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थेसामान्यात् ॥ १३ ॥

पूर्वसूत्र उभयविधाधिकार्यर्थे छेपेण पक्षद्वयमुक्तमिति द्वयोर्हेतुव्यक्त्यः । तत्र पूर्व-
मुपसंहारे हेतुमाह इतरेत्यादि । इतरे पुरुषरूपपरिहृतत्वेन भासमाना अक्षुपच्छादयोपि धर्माः
पुरुषरूप उपसंहार्याः । तत्र हेतुः । अर्थसामान्यात् । अर्थः पदार्थ आनन्दमयत्वलक्षणः ।
तस्य सामान्यत्वेदकत्वात् । तुर्विरोधव्यवच्छेदाय । तथा च यथा संकर्षणस्वरूपोपवर्णने
'किरीटसाहस्रमणिप्रवेकप्रोवाचिनोद्दामफणसहस्रं मित्युक्तम्, तथा आनन्दमयमेकमेव रूपं
प्रकृत्याभययाप्युक्तत्वाद्भेदमप्राकृत्यानन्दमयोपासनेनोभयथापुष्टस्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

आध्यात्मनाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

अनुपसंहारे हेतुमाह आध्यात्मनेत्यादि । आनन्दस्वरूपस्यासामान्यात् ध्यानं तदर्थं
यावन्त उपयुज्यन्ते मियत्वाधान्यादयः, त एवोपसंहर्तव्याः, नेतेर शिरस्त्वादयः । तत्र
हेतुः प्रयोजनाभावात् । ध्यानपदार्थस्य तावन्ते सिद्धेरपिकोपसंहारे प्रयोजनाभावा-
दित्यर्थः ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

अत्रैव हेलन्तरमाह । 'आनन्द आत्म त्पनेन पूर्वोक्तानां मियप्राधान्यादीनामात्मा
स्वरूपमानन्द एवेत्यात्मशब्दादपि नेतेर उपसंहार्याः । आनन्दमयविवरणे 'तदात्मानं

स्वयमकुल्लु ' इत्यादिना आत्मरूपप्राकट्ये ' रसो वै स ' इति रसरूपताया बह्व्यमाणत्वात्, रसस्य च निरूपषिभियात्मरूपस्थितिभावात्मकत्वात्, तस्यैव परत्यात्मनो विवर्णाय प्रपाठकस्य प्रवृत्त्या, तस्यैवानन्दमयत्वाच्चोपक्रमदादिभिरुत्तरार्थलिङ्गैरवयवप्रायपाठपठितस्याप्यात्मशब्दस्यावयवे तात्पर्यरहात्त्वात्, तत्समन्विताद्यत्स्याप्यानन्दपरदस्य स्वरूप एव तात्पर्योत्पत्त्यर्थः ॥ १५ ॥ इति प्रथमं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥ (३-३-२)

तैत्तिरीयेऽन्नमयादिनिरूपणे तेषां पुरुषविधत्वं निरूप्य, ' तस्यैव एव शरीर आत्मा ' इति सर्वत्रोच्यते । तत्रानन्दमयपर्यन्तं शरीरात्मत्वकथनात्संशयः । किं सर्वत्र शरीराभिमानो जीव एव, उत ब्रह्मेति । पूर्वपक्षस्तु, सर्वत्र शरीरपदाजीवस्य प्राप्तेः, भार्गव्यां विद्यायामन्नमारम्यानन्दपर्यन्तं ब्रह्मत्वकथनात् ब्रह्मणोपि प्राप्तेः, उभयत्रापि श्रौतवाक्यविशेषादनिर्णय एव पर्यवस्यतीति प्रातः । एवं प्रात आह आत्मगृहीतिरित्यादि । इतरवदजीववत् या आत्मगृहीतिः ' शरीर आत्मा ' इत्यनेनात्मग्रहणम्, तत्, उच्चरात् सर्वेभ्य उच्चरो य आनन्दमयस्तस्मात् । अन्नमयातिरिक्तेषु सर्वेषु वाक्येषु ' यः पूर्वस्ये ' तिकथनात् सर्वेभ्यः पूर्वं योऽन्नमयस्तस्य पूर्वमाकाशादिजनकस्य परस्यैव ब्रह्मण उक्तत्वात्, तत्स्वरूपबोधनार्थमेवानन्दमयस्योक्तत्वादुपक्रमादिदिङ्गैः तत्रैवात्मत्वस्य पर्यवसानाद्ब्रह्मवाचोभ्यत इति सुखेन निर्णय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्नयादिति चेत्स्यादन्वधारणात् ॥ १७ ॥

नन्वेतदप्ये सर्वत्र ' अन्नोऽन्नर आत्मे ' ति पठ्यते, तत्रान्य इति श्रुत्या अन्नमयाचात्मनां भिन्नत्वनिरूपणाच्छरीरपदाश्च सर्वत्र भिन्नो जीव उच्यत इत्येव युक्तम्, आनन्दमये वा शरीरत्वोक्तिः, सा तु तत्र ब्रह्मत्वेन सर्वत्रान्नयादिति न तद्विरोध इत्याशङ्क्य परिहृति स्यादन्वधारणादिति । आनन्दमय एव सर्वशरीराभिमानो स्यात् । तत्र हेतुः । अन्वधारणात् । ' एष एव ' इत्येवकारेणैवनिर्णयपूर्वकमानन्दमयस्यैवात्मत्वनिर्धारणात् । तथा च पुरुषविषयब्रह्मणे उपक्रान्तस्यात्मनो ' ब्रह्म वा इदमत्र आसीत् ' इति ब्रह्मत्वं निगमयित्वा ' तदात्मनमेवावैदहं ब्रह्मास्मी ' तिवत् स्वस्य सर्वत्मकत्वे ' सर्वत्राहम् ' इति ज्ञानं न दोषः, तथात्र सर्वशरीराभिमानित्वेन ज्ञानमयदुष्टम् । अत आनन्दमय एव सर्वशरीराभिमानोत्तरः ॥ १७ ॥ इति द्वितीयमाल्मगृहीत्याधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्योक्त्यानादपूर्वेभ्य ॥ १८ ॥ (३-३-३)

अन्नमयादीनां कोशातिरिक्तत्वं निरूपयितुमुपसङ्गनेदेमाह कार्योक्त्यादि । तैत्तिरीयाणां ब्रह्मवित्प्रपाठके, ' तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संसृतः ' इत्युपक्रम्य महाभूतमुष्टिमुत्तवा, आभायते, ' पृथिव्या ओषधयः, ओषधिन्योऽन्नम्, अन्नान्युस्य स वा एष पुरुषोन्नर-

समनः ' इति, एतदप्ये चावस्योत्पत्तिलयहेतुत्वमुत्तवा ' येऽन्नं ब्रह्मोपासत ' इत्युच्यते, भृशुप्रपाठके च ' अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना ' इत्युच्यते । तत्र संशयः । ' स वा एष पुरुषः ' इत्यनेन किं पृथक् एव पुरुषः पराश्रयस्तम् । इति तद्विद्वि इति । तत्र ' स वा ' इति तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात्पूर्वं च ' अन्नान्युस्य ' इत्यन्नजन्यस्यैव पुरुषस्योक्तत्वात् ' स एव ' इत्युक्तम् । न च ब्रह्मत्वेन कथनस्यासङ्गतिः । तस्य तथाप्यसार्थत्वेन स्तुतिरूपतया सङ्गतैरिति प्राप्ते, आह । कार्योक्त्यानादपूर्वेभ्यम् । कार्येभ्य, ' अन्नं हि यतानां ज्येष्ठं मित्यादिना भूतजनकत्वतद्वर्षकत्वादिरूपस्य, आख्यानात् अन्नस्य ब्रह्मत्वेनोपासनायां ' अन्नार्द्रैः प्रजाः प्रजायन्ते ' इत्यादिना पूर्वं तस्मिन् ब्रह्मधर्मोक्त्यु त्वेन तावत्तेवोपासनायां सिद्धायां पुनः कथनप्रयोजनाभावेऽप्यासमन्तात्कथनात्, तत्रोच्यमानमन्नम्, अपूर्वम्, पूर्वजन्यत्वेनोक्ताद्वादतिरिक्तम् । तथा चैवमन्नयोर्भेदे सिद्धे, ' अन्नान्युस्य ' इत्युक्ताद्भौतिकान्युस्यार्द्रिश्च एव ' स वा एषः ' इत्यनेनोक्तोऽन्नसारमय आख्यात्मिकः । न च प्रत्यभिज्ञायोधकयोः ' स एष ' इत्यनयोर्विरोधः शङ्क्यः । स इत्सस्य ' स राजा तोयनीव्या भूमेः, कदा च ' सा कान्तिमती कलावत् ' इत्यादाविव प्रसिद्धार्थकतया ' एष ' इत्यस्य वक्ष्यमाणार्थकतया चोपपत्तावनयोः प्रत्यभिज्ञापकत्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् । अतः कार्योक्त्यानादन्य एवार्थमित्यर्थः । एतस्मादन्वयो यः स तु सर्वत्र विद्यमान आनन्दमय इति न काप्यनुपपत्तिः । तेनानन्दमयविद्यायानन्नमयादयो विंशतित्वेनोपास्याः, शान्तमयस्तु विभूतित्वेन पुरुषोत्तमत्वेति वाचितम् ।

यदा । वाजिनां वृहदारण्यके पुरुषविषयब्रह्मणे ' आत्मेत्येवोपासीत ' इत्युपक्रम्य, ' तदेतत्प्रेयः पुत्राप्रेयो विताप्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्नतरं यदयमात्मा ' इत्युक्त्वा, तद-
प्रेऽन्यस्य प्रियत्वं निराकृत्य, ' ईश्वरो हि तथा स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत ' इति पठ्यते । तत्र सर्वेषु प्रियत्वस्यात्मोपाधिकत्वादात्मपदेन जीवात्मन एव प्रियत्वेनोपासना विधीयते, उतश्वरपदात्परमात्मन इति भवति संशयः । तत्र यथा पत्यादेरात्मोपाधिकप्रियत्वोक्त्या जीवात्मन एव प्रियत्वं मेवैर्ष्याभाषण उच्यते, एवमत्रापि ' प्रियः पुत्रा ' दित्यादिकथनान्तोपात्मन एवेति युक्तम् । ' ईश्वरो हि तथा स्या ' दिति त्प्राप्तानाफलकथनीमिति न तद्विरोध इति प्राप्ते, आह कार्योक्त्यादि । कार्योक्त्यानां कार्योक्त्यानां कर्मनामकथनं तस्मात्, प्रियस्त्वकथनतः पूर्वं ' प्राणप्रेत प्राणो भवति, वदन् वाक्, पश्यंश्रुतुः, शृण्वन् श्रोत्रं, मन्वानो मनः, तान्ये-
तान्यस्य कर्मनान्मेव ' इतिवाक्ये प्राणादिभिः कर्मनामिभिरात्मन एकस्यैव कथनात्, अपूर्वेभ्य, पतिपुत्रवितानादिभिमानदशायामन्योऽप्येव यत्पूर्वं निरूपषिप्रतिप्रियत्वेन त्रात तस्मादतिरिक्तमत्रात्मशब्दाव्याच्यम् । लोके हि प्राणादिशब्दैः कौश्लयवाचिन्द्रियाण्येवो-
च्यन्ते, न तु आत्मा । अतो न जीवस्यैतानि नामानि । ईश्वरो तु सर्वरूपतात्सर्वकर्तृत्वा-
त्संभवतीति वाचनार्थैव ' ईश्वरो हि तथा स्या ' दित्युक्तम् । तथा ' प्रयोऽन्यस्माद् सर्वेत्मा-

दन्तरं यदयमात्वा' इत्यनेनान्यस्मादन्तर्जावाद्यतिशयेनान्तरत्वं बोधितम्, तेन पुरुषोत्तमस्वरूपमेव तथा भवितुमर्हतीत्यर्थः । अतो विग्रहस्यैवात्मस्वरूपत्वात्तत्राधिकृतत्वपरमानन्दत्वादयो धर्मा उपसंहृत्या इति बोधितम् ॥ १८ ॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

ननु विग्रहे चक्षुःश्रोत्रादीनां नामाकारत्वेन वैलक्षण्यप्रतीतेरात्मनश्चैकरसत्वादुक्त-
कर्मनामवत्त्वं ब्रह्मण्युपपन्नमित्याशङ्क्याह समान इत्यादि । चोऽप्यर्थः, एवं चैवमपि
चक्षुःश्रोत्रादीनां नामकर्मणोर्बैलक्षण्येऽपि, समानः एकरूप एव, न तु विषयः । कुतः ।
अभेदात् । न हि कटककुण्डलायाकारभेदे तत्तत्कार्यभेदे वा सुवर्णमयद्रवति । आहवैः
सुवर्णत्वेन ग्रहणात् । किंच, ब्रह्म ह्युपाधिपदेऽयम्, ताश्च 'प्राणञ्चैव प्राणो भवती'त्यादिरूपाः
प्रतिनियतेन्द्रियप्राधान्यार्थान् स्वरूपेणैव शुद्धब्रह्म तत्तच्छब्दवाच्यं भवतीतिवदन्ति, तद्वाच्यता
च व्यवहार्यत्वे, व्यवहारश्च 'तदेतत्प्रेयः पुत्रा'दित्यादिकाव्येकवाक्यतया निरुपधिप्रेयव-
तामापिभेदेऽन्तरारूप एव संभवतीति तादृशैर्भगवद्विग्रहे तदवयवेषु यथा यथा व्यव-
हियते, तथा तथा व्यवहियमाणं तदेकमखण्डसच्चिदानन्दरूपं ब्रह्मैवेति न काचिदनुपपत्ति-
रित्यर्थः । तेनानाविर्भूतरूप इवाविर्भूतरूपेऽपि ब्रह्मणि व्यापकत्वैकरसत्वाखण्डसच्चिदान-
न्दत्वाद्यः स्वरूपधर्मा उपसंहायाः । ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य प्रागेव साधितत्वाविति
स्थितम् ॥ १९ ॥

संबन्धादेवमन्यग्रापि ॥ २० ॥

साक्षादाविर्भूते पूर्णधर्मोपासपसंहारमुपस्था, किञ्चित्कार्यचिकीर्षया येनेन्द्र आविष्टः,
तथा काचिज्जीवे स्वयभाविशति, तत्र केयाचिद्धर्मोणां भाने, तत्रोपासकेनाखिलब्रह्मधर्मोप-
संहारः कार्यो न वेतिसाक्षायां विकल्पेन समाधानं सूत्राभ्यां वदन्नादौ विधिपक्षमाह
संबन्धादित्यादि । अन्यग्रापि, भगवदाविष्टे जीवेऽपि, एवम्, भगवतीव सर्वधर्मोप-
संहायार्थोपासना कार्या । तत्र हेतुः संबन्धादिति, अयोगोलके यद्वैरिव तस्मिन्ब्रह्मण आवे-
शलक्षणपालसंबन्धात् । तथा च यो जीवोऽत्राविष्टे भगवन्तमहत्प्रपास इति जानाति, यश्च तं
ब्रह्मत्वेनोपास्ते, तस्योपासना न जीवगामिनीति तत्रोपसंहारः कार्यः । 'तद्धैतान् भूत्वावती'ति
श्रुतिमुंवादी जीवबुद्धिनिषेधाच्च तत्फलदानार्थं तत्र तेन रूपेण भगवत आवेशादिति । अय-
मेव न्यायः प्रतिभायामपि वाच्यः ॥ २० ॥

न चाविष्टोपात् ॥ २१ ॥

यस्वन्तरङ्गं ह्याविर्भूतभगवत्कं ज्ञात्वा, एतद्भजनेनाहं भगवन्तं प्राप्स्यामीति ज्ञात्वा
तमेव भजते, स प्रेमविश्वासयोरुत्कर्षात् भक्तिमार्गीय इति भक्तह्याविर्भूतेऽपि रूपे तेनोपसं-
हारो धर्मोणां न कार्य इति निषेधपक्षमाह भवेत्यादि । न कार्यस्तेनोपसंहारः । तत्र हेतुः

अविष्टोपादिति, भक्तमक्तस्य तद्भजने रसास्वादानेन विस्मृततदाविष्टभगवत्कृतया तदाविष्टे
भावद्रोपे गुणानामुपसंहारेऽनुपसंहारे वा विशेषाभावादित्यर्थः । विशेषादिति पदच्छेदे तु,
नीरसोपासनापेक्षया भक्तिमार्गीयोपासनायां रसास्वादाविष्टोपादित्यर्थः ॥ २१ ॥

दर्शयन्ति च ॥ २२ ॥

अनुपसंहार एव हेतुन्तरमाह दर्शयन्तीति । एतद्विश्वासवते भक्तमक्ताय तु तद्भजनीये
भक्त एवालीकिकानुभावान् भगवान् दर्शयतीति तत्र सन्नियमाननिश्चये जाते तत्साधन-
भूतोपसंहारापेक्षैव नास्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

संभृतिषुञ्ज्यास्यपि चातः ॥ २३ ॥

ननु भक्तभक्तः स्वसंज्ञेऽत्यलौकिकं वीर्यं दृष्ट्वा तदाविष्टे भगवति वीर्यसंभारक-
त्वादेरुपसंहारं कारयितीत्याह संभृतीत्यादि । राणायनीयाजं खिलेषु पठ्यते । 'ब्रह्मज्येष्ठा
वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्ने ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनाहंति ब्रह्मणा
स्यार्द्धितुं क' इति । ज्येष्ठा वीर्या इत्यत्र बहुवचनस्य इदंशः । तथा च, ब्रह्म ज्येष्ठं पुरुषं
येषां तादृशानि वीर्याणि ब्रह्मणा संभृतानि, सम्यगन्यनैपेक्षेण स्वत एव धृतानि । किंच,
ज्येष्ठं ब्रह्माग्ने देवादिजननात्युर्भवेन, दिवमाततान, ध्रुलोके न्यासवत् । किंच, भूतानामा-
काशादीनानुत्पत्तेः प्रथममेव तु ब्रह्म जज्ञे आविर्भूतम् । तेनैतादृशमहिमवत्त्वेन, ब्रह्मणा साकं
स्यार्द्धितुं कोऽर्हतीत्यर्थः । अनेन पादेनाविर्भूतस्वरूपमेवावोच्यत इति ज्ञाप्यते । एवा-
र्थस्तु, संभृतिश्च पुण्यादिश्च तयोः समाहारः संभृतिषुञ्ज्याश्च, एतदपि, अतः पूर्वसूत्रो-
क्तादिष्टोपादेतोः नोपसंहार इत्यनुवर्तते । चकारेण दर्शयन्त्यस्य समुच्चयः । तथा चोक्तवि-
धाय भक्तभक्त्यानुभावात् दर्शयति, भजनरसं चातुभावयतीति, तस्यैहिकपारलौकिकोपे-
क्षभावाच्चैतदुपसंहारोपि तस्यावश्यक इत्यर्थः ॥ २३ ॥ इति तृतीयं कार्याख्यानादित्य-
धिकरणम् ॥ ३ ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाज्ञानात् ॥ २४ ॥ (३-३-४)

तैत्तिरीयारण्यके पुरुषसूक्ते, सहस्रशीर्षपुरुषविद्योच्यते । तत्रैव ब्रह्मवित्पटाके 'स
वा एष पुरुषोऽन्नमय' इत्यारण्य, प्राणमयमनोमयविविज्ञानमयानन्दमयात्मकं ब्रह्मस्वरूपं निरू-
च्यते, 'स वा एष पुरुषविच एवे'ति च पठ्यते । तत्र पुरुषसूक्तेऽन्नमयादिषु च पुरुषपदश्रवणा-
द्भवति संशयः । किमन्नमयादिषु सहस्रशीर्षत्वात्पुसंहारो भवति नेवेति । तत्र सर्वत्र ब्रह्मण
एवोपास्यत्वादात्राऽनुपासनेनोक्तैर्ब्रह्मत्वपुरुषत्वयोरविशेषेण वैशेष्ये विषैक्यात्कर्मण्य उपसंहार
इति प्रति, आह पुरुषविद्यायामित्यादि । अन्नमयादिषु चतुषु सहस्रशीर्षत्वादिंको नोपसं-
हायम्, कुतः । पुरुषविद्यायां पुरुषस्वरूपं निरूप्यते तथा, इतरेषामन्नमयादीनां चतुर्णां
स्वरूपस्यान्नमयादिश्रवणेऽनाज्ञानादकथनात् । पुरुषविद्यायां पुरुष इत्युच्यते, मुक्तिदातृत्वं

महामहिमत्वेन ज्यायस्त्वं च । तत्रकरणे तु न तयोच्यते, पुरुषविधेभ्योच्यते । अतस्तेषां विभूतित्वरूपत्वान्न सहस्रशीर्षेत्वादीनां मूळगुणानामुपसंहार इत्यर्थः ॥ २४ ॥ इति चतुर्थं पुरुषविधायामित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेधाध्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥ (३-३-५.)

निर्दोषत्वज्ञानपूर्वकं भजनं कर्तव्यमित्येतदर्थमधिकरणान्तरमाह वेधेत्यादि । बृहदारण्यके उदीयब्राह्मणे 'देवा ह प्राजापत्या' इत्युपक्रम्य, देवासुराणां मिथः स्पर्द्धासुत्वा, 'ते ह देवा ऊजुहेन्तसुरान्यज्ञ उदीयनात्ययामे'त्यादिना वागादीनामुद्रातुल्येन वरणे तेषामुपक्रम्यपाम्बेधुत्त्वोच्यते । अथैनमासन्ने प्राणयुक्त्युत्वं न उद्रायति, तथेति, तस्य एष आण उद्रायत्, ते विदुरनेन वै न उद्रात्राल्येष्यन्तीति, तमभिदृश्य, पाप्मना अविष्यन्, स यथा-श्मानमृत्वा लोष्टो विष्वंसैतव ५ ह वै विष्वंसमाना विष्वभो विनेशु' इति । छान्दोग्येऽप्येवम् । एतावान्परं विशेषो यद्वाजिनामासन्त्येद्वातुल्यम्, छन्दोगानामुदीयत्वेनोपास्यत्वमिति । तत्र देहसंविन्धिब्रह्मोद्रातुत्वोपास्यत्वानां सर्वत्र तौष्येऽपि वागादिषु पाम्बेधः, आसन्ने प्राणे कुनो नेति भवति संशयः । तत्रासन्योपासनाया अत्र विधेयत्वात् तदुत्कर्षबोधनाय वागादिषु पाम्बेधोक्तिः, वस्तुतस्तु सर्वे तुल्याः, यथा 'गोश्वा ए२ पशवोऽन्ये त्वपशव' इत्यत्र, यदि चैवमसदर्थबोधने वेदस्य प्रतारकत्वापत्तिराशङ्क्यते, तदा तु पाम्बेध हेतोरशक्यवचनत्वात्संशय एव पर्यवस्यतीति प्राप्ते, आह वेधादीत्यादि । वाक्प्राणादिषु यः पाम्बेधो दुष्टविषयसंबन्धश्च, वेधादि, तत्, अर्थभेदात्, अर्थो वस्तु ब्रह्म, ततो भेदात् । सर्व-वेदान्तप्रत्ययन्यायेन सर्वत्र ब्रह्मण एवोपास्यत्वाद्वासासन्त्यस्तदभिन्नत्वादेव छान्दोग्य उपास्यत्वेनोच्यते, अत एवापहतपाम्बेधं छन्दोगैरुच्यते । अपहतपाम्बेधं च ब्रह्मण एवासाधारणो धर्मः अन्तस्तद्गर्भाधिकरणे सिद्धः, स भगवत्सो मुख्यविभूतिरूपे तस्मिन्नपि तिष्ठतीति, न तस्य पाम्बेधः, न वा दुष्टविषयसंबन्ध इति सुखेन तद्देतुनिर्णय इत्यर्थः । एतेन यद्भिन्नरूपस्यासन्त्यस्य निर्दोषत्वज्ञाने ज्ञातुस्तथात्वं भवति, तत्र भगवत्स्तथात्वज्ञाने निर्दोषो भवतीत्यत्र किं वाच्यम्, तथा, भगवति ये दोषत्वेन मोहव्रणफलानवायाः, तेषि गुणत्वेनैव ज्ञेयाः । 'अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा । तथा प्राकृतदेहत्वं देह-त्वामादिकं तथा । असुराणां विमोहायै दोषा विष्णोर्निहि क्व' इति ब्रह्मण्डवाक्यादिति । तेन निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भवतीत्यमिति सिद्धम् ॥ २५ ॥

हानी त्पापयनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवचतुक्तम् ॥ २६ ॥

एवं भगवत्संबन्धाभावे दोषसंबन्धमुत्तवा, गुणहानिमपि वदन् भगवत्संबन्धे गुणप्राप्तिरूपं विशेषमाह हानावित्यादि । 'यदा पश्यः पश्यते स्वभवणं कतीरमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनियम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विभूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति मुण्डके पठ्यते । अर्थस्तु, पश्यः

द्रष्टा जीवः एतादृशमीशं पश्यते, तदा विद्वान् ब्रह्मज्ञानवान् सन्, पुण्यपापेऽविद्याकार्ये विभूय, ज्ञानेन विचार्य निरञ्जनः अविचारहितः सन्, परमं ब्रह्म उपैति प्राप्नोति । तदनन्तरं साम्यं ब्रह्मतीत्यमुपैतीति । तत्र 'न तत्समश्चात्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्यन्तरे ब्रह्म-साम्यस्य निषेधात् परमं साम्यं तु न भवत्येवेति ज्ञापनाय सूत्रे तुरुक्तः । किन्तु 'समो मशकेन समो नागोनेति यत्किञ्चित् साम्यं श्राव्यते, तदस्य द्रष्टृब्रह्मप्राप्त्यनन्तरं कैर्मर्भवंतीत्याकाङ्क्षा-यामाह हानावित्यादि । हानी, ओहाकृत्यागे, ब्रह्मणः मकाशाजीवस्य विभागो हानिविर्भा-स्य एवंस्थितित्युपायारूपत्वात्, तस्यं हानी सत्याम्, ये धर्मा जीविनिष्ठा आनन्दैश्वर्यादयो भगवदिच्छया जीवाचिरोहिताः, ते भगवत्संबन्धे सति पुनराविर्भवन्ति, तैरेव साम्यम्, न तु स्वार्थिकम् । तत्र हेतुः । उपायनशब्दशेषत्वादिति, श्रुती, उपैतीति य उपायनशब्द-स्तच्छेषत्वात्साम्यस्य, कारकाणां क्रियाशेषत्वादिति । ननु आनन्ददीनां ब्रह्मधर्मत्वात्सै-स्तत्साम्यकथनं तदभेदेवभावगमिष्यतीत्याशङ्क्य तदभेदमात्रसाम्यस्य न तदभेदसाधकत्वमित्येतदाह दृष्टान्तमुत्तेन । कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवचिति । कुशा औद्भयः सभिवा तथा प्रकृ-यन्धि यत् छन्दःस्तुत्युपगानम्, उपगीयतेऽननेत्युपगानं तत्साधनं तद्वत्, ज्योतिष्टोमादियोगेषु कुशाः प्रस्तोत्रा स्थापयन्ते, तत्राभि त्वा शूर नो तुमो दुष्भा इव धेनव' इत्यस्यासृष्टि ये वर्णात्सपामच एतेऽपसंहृत्य भक्तरण गानं क्रियत इति, तदाधिकरणधर्मोपायनस्युपसंहारो भक्तेर क्रुत इति किं भक्तरस्य तदगात्मकत्वं संबन्धितं, अपि तु न भवति, तथा प्रकृ-तेऽपि न धर्ममात्रप्राकट्येन जीवस्य तदात्मकत्वं संबन्धितं । ननु तत्त्वमस्यादिवाक्ये जीव ब्रह्मभेदबोधनादस्त्वभेद इत्याशङ्क्यामाह न मुक्तमिति । जीव ब्रह्मभेदबोधनस्य तात्पर्यं तु तद्गुणसारसूत्रेणैकोक्तम् । तथा च भगवत्संबन्धाभावे गुणानामपि हानिरित्यर्थः । न चोप-संहारप्रकरण एतस्य क्रुतः स्मरणमिति शङ्क्यम् । यथा पश्चान्मादिविद्यासु शास्त्रान्तरिया अन्यादाय उपसंहियन्ते, एवं ब्रह्मधर्मो अनया धृत्वा जीवे बोध्यन्त इत्यभेदोऽप्युपसंहार्य इत्याशङ्कनिरासाय स्मरणादिति ॥ २६ ॥ इति पञ्चमं वेधाध्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

संपराये तन्वेद्याभवात्पान्थाद्यन्त्ये ॥ २७ ॥ (३-३-६.)

पूर्वाधिकरणे जीवस्य भगवत्संबन्धे विशेषमुत्तवा, भगवत्संबन्धसाधनयोर्ज्ञानभक्तयो-र्मध्ये किं ज्याय इति विचारायाधिकरणं प्रणयति संपरायेत्यादि । बृहदारण्यके शारीर-ब्राह्मणे 'मनसैवातुद्रष्टव्यं' इति दर्शनसाधनमुत्तवा, 'विरजः पर आकाशा'दित्यादिना विरज-त्वादीन् धर्मात्तुत्तवा, 'स एष नेति नेती'त्युपक्रम्य 'न सन्नने न व्यथत' इत्यन्तेन ब्रह्मस्वरूप-मुत्तवा यत् एतादृशब्रह्म, अतस्तद्विदपि साज्जमायुक्रमरहित इति तन्माहात्म्यमुत्तवा, अन्ते पठ्यते 'सर्वपाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तरति य एवं वेदे'ति । तेन ज्ञानस्य संसारमुक्तिहे-तुत्वात्पापतारकत्वरूपं माहात्म्यमुक्तं भवति । गोपालनापनीयं च 'परं ब्रह्मैतयो धा-रयती'त्युपक्रम्य 'भवति सोऽमृतो भवती'ति मुक्तिहेतुत्वमुच्यते । एवं ज्ञानभक्तयोर्मु-

किहेतुत्वे समानेऽपि ज्ञाने 'पाप्मानं तरतीति वचनान्न ज्ञानदशयां पापसत्ता प्राप्यते, तथा भक्तिदशायामपि, अस्ति न वेति संशयः । तत्र पूर्वप्राश्नस्य ज्ञानेन नात्रे मुक्तिरिति शास्त्रार्थे सिद्धे, भक्त्यापि प्रारब्धनाशदेव मुक्तिरिति प्राप्तम्, तत्राह **संपरराय** इत्यादि । **संपररायः** परलोकस्तस्मिन्प्राप्तये सति, **तर्नन्याभावात्**, 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोभ्यान्तरसमाधिभिः, नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इत्यादिवाच्यैर्मुक्तोपपत्त्यव्यपदेशादिति सूत्राच्च पापनाशानन्तरमेव भक्तिः संभवेन भक्तौ तर्नन्यस्य पापस्याभावात् तथा पुरुषोत्तमज्ञानद्वारा साक्षादेव मुक्तिरिति प्राप्तव्यम् । ननु तर्नन्यलिङ्गकार्यां श्रुती 'य एवं वेद' इति सामान्यवचनात् तत्रापि पापं संभाव्यत इति चेत्, तत्राह **तथा श्रुत्ये** इति । तथा ज्ञानानन्तरमपि पापवन्तोऽन्ये, भक्तिमार्गीयेभ्यो भिन्नाः । ननु अत्र किं गमकम्, अत आह हीति, यतो हेतोः उक्तवाच्यैर्भक्तेः प्रागेव पापनिवृत्तिर्बोधयेत । अतस्तथैत्यर्थः ॥२७॥

छन्दन्त उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

ननु भक्तिमार्गीयाणामपि गोपस्त्रीणां 'दुःसहप्रैष्ठिरहतीव्रतापधुताशुभाः, ध्यानाप्राप्तान्धुताश्लेषनिवृत्त्या क्षीणमङ्गलाः' इति वचनेन लुकृतदुष्कृतयोर्हीनिरपि कथ्यते इति पूर्वोक्तवचनैर्विरोध इति नैकतरनिर्णय इति शङ्कयामाह छन्दन्त इत्यादि । छन्द इच्छा, भगवदिच्छातः उभयाविरोधात्, भक्तेः पूर्वं पापनाशानिरूपकं भक्त्यनन्तरं तत्रिरूपकं च यद्वाच्यं । तयोराविरोधात्, भगवता तद्विहातीयभाववतीनामन्यासासुत्कर्षपापनाय तासु पापादेः स्थापनाददोष इत्यर्थः । तेन भक्तेः पूर्वं तत्राद्य औत्सर्गिकः, स क्वचिद्विशेषेच्छयापानोद्यत इति ज्ञापितम् ॥ २८ ॥ इति षष्ठं समरायाधिकरणम् ॥ ६ ॥

गतेरथैवचस्वमुभयधान्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥ (३-३-७.)

ननु 'ब्रह्मविदोभोति परम्' 'तेनैव विद्वानद्यत इह भवति' 'नाम्यः पत्न्या विधत्तेऽयनाय' इत्यादी ब्रह्मज्ञाने सत्येव मोक्षः श्राव्यते, 'यंभैव वृणुते तेन लभ्यः' इत्यत्र तु वरणे सति आत्मलभरूपो मोक्षः श्राव्यते, वरणं च स्वीयत्वेनाङ्गीकारालम्कं भक्तिमार्गी भवतीति भक्तौ सत्यां तत्सिध्यतीति भक्तेः समुच्चयो विकल्पो वेतिसंशये, एकादशस्कन्धे 'मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबलाः, ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगच्छतसहस्रत्रय' इति भगवद्वाक्येऽविहितासक्त्या बोध्यत इति श्रुत्याः परस्य च विरोधात् भगवद्वाक्यस्य तदुभयविरुद्धत्वात् नैकतरनिर्णय इति प्राप्ते, आह गतेरित्यादि । गतेर्ज्ञानस्य, अर्थवचनं यमो-जनवत्स्वमुभयथा, मर्यादापुष्टधास्यमार्गद्वयेन । एष उ एव साधु कर्म कारयति तं प्रमेयो लोकेभ्य उन्ननीपती'त्यादिश्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टिपूर्वक एव, एतेनैतत् कारयित्वात्फलं दास्यामीति विचारितवान्, अतस्तथैव तेषां मुक्तिः, तत्र पूर्ववचनयोः करीत्या मुक्तिसाधनाननुगमऽयनुगमहेतारवश्यं वाच्यः । अन्यथा संदेहानपायान्मुमुक्षुमवृत्तियाघातापतेः । अतस्त-

दभावाय पुष्टिमर्यादारूपमार्गद्वयं हेतुत्वेन गम्यम्, तत्र शास्त्रविहितज्ञानभक्तिसाधनेन मुक्तिर्मर्यादा, तद्रहितानामपि कृपया तद्दानं पुष्टिः । इदं च 'लोकवतु लीलाकै-बल्य'मिति न्यायात् सिद्धम् । अतो य जीवं यस्मिन्मार्गेऽङ्गीकरोति, तं तत्र प्रवर्तयित्वा तद्रीत्या तस्मै तत्फलं प्रयच्छतीनां नानुगमदोषः, न वा मुमुक्षुमवृत्तित्याघातः । अधिकारमदादेव व्यवस्थितिसौकर्यात् । अत्रार्थोपतिं प्रमाणयति **अन्यथा हि विरोध** इति । हि यतो हेतोः अन्यथा मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन व्यवस्थाया अकथने विरोधः पूर्वोक्त-श्रुतिस्मृतीनामापतेत् । अतस्तदभावाद्यानुपपत्त्या एवमङ्गीकार्यमित्यर्थः ॥ २९ ॥ इति सप्तमं गतेरथैवत्वमित्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

उपपन्नस्तद्वृक्षणार्थोपलब्धेर्लोकावत् ॥ ३० ॥ (३-३-८.)

ननु 'तमेव विद्वानद्यत इह भवति' 'भजति सोऽमुगो भवति' इति च सर्वत्र मुक्तेरेव फलत्वमुच्यते, तथा, 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहासुत्रोपाधिर्नैराशयेनामुष्वात्मनः कल्पनेनैतदेव च नैकमर्थ्य'मित्युच्यते तापनीये । अत्र भक्तिशब्दाच्छान्दसः सोऽच्छिन्न, रहस्यभजनमित्यस्य विवरणं तदिहेत्यादि । अर्थस्तु, तत् भजनम्, असुष्य एतदीयस्य जीवस्य, इहासुत्रोपाधिर्नैराशयेनैव, ऐहिकामुष्मिकयावत्फलेऽप्याराहिल्येन कल्पनम्, तदीयत्वसमर्थनम्, अन्तर्गतिः सेवया तदीयत्वद्वीकरणमेव, एतदेव च नैकमर्थ्यं सत्यास इति । अन्ये तु 'भक्तिरस्य भजनम्, तदिहासुत्रोपाधिर्नैराशयेनामुष्मिन्मनःकल्पन'मिति पठन्ति । उपभिनृ कृष्णाख्ये ब्रह्मणि मनसः संकलनं प्रेरणा तन्मयत्वमिति चार्थं वदन्ति । एवं पादद्वये यावत्फलनैराशयस्य प्रतिषेधत्वादासुत्रिकमध्ये मुक्तेरपि प्रवेशात्तदनेष्वत्वं समा-नम् । एतदत्र विचार्यते । भजनमावस्य मुक्तेरेव फलं ज्ञानवत्, उत निरोपेक्षभजने भजनी-यत्वेन भगवत्स्वरूपलाभः फलम्, मुच्यतेष्वार्थां तु मुक्तिः फलमिति विभागः । यदि च विभागः, तदापि किं मुमुक्षुमको ज्ञायान्, अनपेक्षो वा, द्वापि समौ वेति । एवं संशये, मुक्तेः सर्वोत्कृष्टत्वस्य प्रसिद्धत्वात्, अत्रापि भजनेन मोक्षस्यैव फलत्वेनोक्तत्वात्, निरोपेक्षभज-नेऽपि स एव फलमिति युक्तम् । यदि च भगवत्स्वरूपस्य स्वतंत्रपुरुषार्थत्वमनुपपन्नं भज-तंस्तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्वैतान् भूत्वावतीति श्रुतेः 'ये यथा मां प्रपन्नन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति भगवद्वाक्याच्च तदेव स्वरूपं भजनीयत्वेन फलमिति विभागो विभाष्यते, तदापि द्वयोर्भक्तयोः श्रौतत्वस्य भगवत्संबन्धित्वस्य चाविशिष्टत्वादात्मयोः सम-त्वमेवावगाति । अथानपेक्षया कश्चित् विशेषो विभाष्यते, तदा तु कतमो गरीयानिति निर्णयमाशात्संशय एव पर्यवस्यतीति प्राप्ते, अभिधीयते उपपन्न इत्यादि । **मुमुक्षुमच्छा-द्रहस्यभजनकर्ता** अनपेक्ष एवोपपन्न आधिक्योपपत्तियुक्तः । तत्र हेतुः । **तद्वृक्षणार्थो-**

पलब्धेः । भगवलक्षणे योऽर्थः स्वतंत्रपुरुषार्थरूपः, तस्योप समीपे लब्धेः स्वाधीनतया तस्य प्राप्तेरित्यर्थः । यद्यपि पुरुषोत्तमप्रवेशरूपायां मुक्तौ तदानन्दानुभवं भवति, तथापि भक्तौ यथा भवति, तथा न । इदं च 'भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्व न भक्तियोग'मिति पञ्चमस्कन्धीयशुक्रवाक्यात्, 'दीयमानं न दृक्षन्ति विना मत्सर्वनं जनाः' इति तृतीये अर्षिण-वाक्यात्, 'नारायणपरा लोके न कुतश्चन विन्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुन्यार्थदर्शिन' इति षष्ठे शिववाक्याच्चावसंयते । अत्र दृष्टान्तमाह लोकावदिति । यथा स्वाधीनपतिका नायिका, तदवस्थाननुगुणं दृढविनादिकं दीयमानमपि नाङ्गीकरोति, तद्वदित्यर्थः । तस्मान्मुमुक्षुभक्तापेक्षया निरुपाधिभक्त एव गरीयानिति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इत्यष्टममुपपन्न-धिकरणम् ॥ ८ ॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥ (३-३-९.)

एवं पुष्टिभक्तेः स्वरूपं तादृशभक्तस्य स्वरूपं च निरूप्य मयोदाभक्तिसाध्यायं मुक्तौ सर्वा भक्तयः संनिपतन्ति, किञ्च प्रत्येकभेदेतरनिरपेक्षा मुक्ति साध्यन्तीति विचारयितुमाह अनियम इत्यादि । अथर्वणोपनिषत्सु गोपालतापनीये पठ्यते 'परं ब्रह्मैतथां धारयति रसति भजति ध्यायते प्रेमति शृणोति श्रावयत्युपादिशत्याचरति सोऽमृतो भवती'ति, प्रसिद्धपाठे तु 'ध्यायति रसति भजती'ति त्रयमुच्यते, तदापुण्यलक्षणाविधया अन्या अन्वेषात्का अपि समायाति । तत्र पूर्वोक्तरीतिके संशये, अत्र धारणादिध्यानादिसाधनकलापमुत्तमा मुक्तिरूपफलकथनात्समुदितानामेव मुक्तिसाधकत्वम्, एवं पुराणोक्तानु नवधाभक्तिष्वपि द्रष्टव्यमिति प्राप्ते, आह अनियम इत्यादि । अनियमः सर्वासाम् समुदितानामेव फलसाधकत्वमिति नियमो नास्ति । अत्रोपपत्तिमाह सर्वासामहिनोऽर्थ इति । 'चिन्तयन् चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संयुते'रिति चिन्तनस्य तथात्वमुच्यते, 'पञ्चपदी जपन्' इत्याशुक्त्वा 'ब्रह्म संपद्यत' इत्यनेन च कीर्तनमात्रस्य तथात्वम् । अतः प्रत्येकभक्त-एव श्रुतीनां सर्वासामविरोधः स्यात् । अतः 'परं ब्रह्मैतयो धारयती'त्यादिके वाक्येऽपि 'मोऽमृतो भवती'ति प्रत्येकमभिसंबन्धं काङ्क्षतीति ज्ञेयम् । ननु यथा दण्डादीनां कारणत्वेऽपि समुदितानामेव कारणत्वं तथात्राङ्गीकरो किं मानयं, अत आह शब्दानुमानाभ्यामिति । श्रुती तु प्रागेवोक्ते, 'केवलेन हि भावेन'त्युप-क्रम्य 'सिद्धा मामीशुरंजसे'ति, 'एतावान् सांख्ययोग्यान्'मित्युपक्रम्य 'अन्ते नारायणस्य-ति'रिति स्मृती च, एताभ्यां श्रुतिस्मृतिन्यां तथा, लौकिकप्रमाणापेक्षया अलौकिकस्य वल्लिख्यत्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति नवममनियमाधिकरणम् ॥ ९ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥ (३-३-१०.)

पूर्वं मुमुक्षुभिः क्रियमाणानां भगवद्भोग्यां मुक्तिसाधनत्वप्रकारो विचारितः । इदानीं यान् धर्मानैश्वर्यादीन् स्वविचारितकार्यकरणार्थं दत्त्वा तत्कार्यं येन जीवेन कारयति, स

जीवसैव धर्ममुक्तिमपि प्राप्नोति, न वेति संशये, जीवकृतभगवद्विषयकधर्माणां यत्र मुक्तिसाधकत्वम्, तत्र तेषां सुतरां तत्साधकत्वमिति कैमुतिकदाद्याति, मुक्तिसाधकत्वेना-विहितत्वात् तथात्वमित्यप्यातीति संदेह एव पर्यवसानमित्यत आह यावदित्यादि । यस्मिन्निवे यत्कार्यसाधनार्थं योऽधिकारो यथा भगवता दत्तः, तत्कार्यसाधनक्षमा ये भगवद्दत्ता धर्माः, यथा 'यदादित्यगतं तेज' इत्यादि, यथा च प्रतदनास्थाधिकार्याभिन्ने त्वा-द्भून्त्यादयः, तेऽधिकारसंबन्धित्वादाधिकारिका इत्युच्यन्ते । तेषां तत्कार्यसंपत्तिरेव योजनमिति यावदधिकारां तेषां तस्मिन्नवस्थितिः । तथा च तत्कार्यसंपत्तावधिकारनिवृत्त्या तेषामपि निवृत्तेन तेषां मुक्तिपर्यन्तो व्यापारः । ये पुनः ससर्पिभ्रतृयः, तेषां कस्यान्त-पर्यन्तोऽधिकार इति, 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रवि-शन्ति परं पद'मिति वाक्यं तद्विषयम्, तेषामपि 'कृतात्मानः' इति विशेषणाद्भगवति कृतचि-त्त्वादेव मुक्तिः, नत्वाधिकारिकगुणैरित्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति दशममाधिकारिकाधिकरणम् ॥ १० ॥

अक्षरधिचां स्ववरोधः सामान्यतद्भावान्धामीसद्वचनतुक्तम् ॥ ३३ ॥

(३-३-११.)

अथर्वेणनिषत्सु 'भजति सोऽमृतो भवती'ति भक्तेर्मुक्तिसाधनत्वं श्राव्यते, श्रुत्यन्तरे तु 'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादौ तु ज्ञानस्य । तत्र कस्य गुणभावः, कस्य मुख्यतेति संशये, श्रुतित्वाविशेषाद्युक्तयोः कारणत्वे हेत्वुपबद्धस्य कार्यवैजात्यस्यापातानुक्तौ च तदसंभवा 'इत्थया मामभिजानाती'ति भगवद्वाक्ये भक्त्या ज्ञान-संभवकथनेन भक्तेर्ज्ञानं जनयित्त्वैपेक्षयाऽज्ञानेनैव मुक्तिरितिप्राप्तम् । तत्राह अक्षरेत्यादि । तुः पूर्वपक्षनिरासे, अक्षरधिचाम्, 'एतद्वैतदक्षरं गार्गी अस्युलमनुषु', 'अथ परा यथा तदक्षर-माधिगम्यते यत्तददस्यमप्राहम्' इत्याशुक्तानामक्षरविषयकज्ञानानाम्, अचरोधो मुक्तिसा-धने प्रवेशः गणनं सः सामान्यतद्भावान्धाम्यम्, पुरुषोत्तमसंबन्धिसंबन्धे मुक्तिरिति पुरुषो-त्तमसंबन्धिसंबन्धित्वं सामान्यम्, तद्भावो ब्रह्मभावः, ताभ्यां हेतुन्याम् । अयमर्थः । ' ब्रह्मवि-दप्रोति परं मिलवाक्षरविदः परप्राप्तिः फललेनोच्यते । परश्च पुरुषोत्तम एव, 'अक्षरात्परतः पर' इत्यस्याः श्रुतेः 'अक्षरादपि चोत्तमः' इति गीतावाक्येनोपबृंहणात् भगवानेव पर इति तत्राप्तिरेव परमुक्तिः । ' अन्व्यक्तोऽक्षर इत्युक्तमहादुः परमां गतिम्, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्भ्रम परमं मम' इति गीतावाक्यादक्षरं तद्भ्रमत्वात्तत्संबन्धि, तद्विषयकं ज्ञानं च पुरुषो-त्तमसंबन्धिसंबन्धि । किंच, भक्तिस्तावद्ब्रह्मभावोत्तरं भवतीति गीतायामुक्तम् । ' ब्रह्ममूतः प्रसन्नान्ना न शोचति, समः सर्वेषु भुङ्क्ते मद्भक्तिं लभते परमा' इति । ब्रह्मभावश्चाक्षरज्ञानेनाविधानात् सति भवति । तथा च पुरुषोत्तमज्ञानव्यापारक-भगवत्प्राप्तिरुपमुक्तिकरणभूतायां स्वरूपयोग्यातामक्षरज्ञानानि संपादयन्तीति मुक्तिः

कक्षाविश्रान्तत्वान्मुक्तिसाधनेषु तदवरोधाद्भक्त्या मामभिजानातीति पुरुषोत्तमज्ञानमादाय पूर्वपक्षोऽसंगत इति । नन्वक्षरस्याविशिष्टत्वात्तदुपासकानां मध्ये केषांचिदक्षर एव लयः, केषांचित् गीतोक्तरीत्या भक्तिलाम इति फलज्ञेयत्वं कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्य तत्र हेतुं दृष्टान्तेनाह औपस्सद्बदिति । उपसद् इदमौपसद् तद्वत्, उपसदाख्ये कर्मणि ध्रौवाज्यात्सुचि चतुरत्वं चमसे वा पंचावत् तं यदाज्यं ततानूनत्प्रमित्युच्यते, 'अनाष्टमस्यनाष्ट्य'मिति मन्त्रेण 'षोडशलिजोऽनु मे दीक्षा'मिति मन्त्रेण यजमानश्च सव्यस्पृशन्ति तत् तानूनत्प्रस्य-शाल्यं कर्मापिसदम्, तत्र विशेषः श्रुतौ कल्ये चोच्यते । 'तत्समवष्टयन् यष्टुचित्वां कामयेतायं यज्ञयससृच्छेदिति तं प्रथममवमशये'दिति । अत्र सर्वेषाष्टुचित्वां तानूनत्प्रित्वे समानेऽपि यस्मिन् यजमानस्य स्नेहाविशयेन यज्ञयशोदन्तिष्ठा, तत्रैव तथाकृतिः, न सर्वेषु, तद्वत् । तथा च तत्र यथाविज्ञामविशिष्टत्वेऽपि यजमानेच्छा फलज्ञेयत्वात्प्रियामिका, तथात्र भगवदिच्छेति तथा तथेत्यर्थः । ननु श्रवणादीनां यथा पुरुषोत्तमसंबन्धिष्वे तस्यासिद्धेत्त्वम्, तथाक्षर-स्याप्यस्त्विति शङ्कायां सा न कार्यत्येतदर्थं संगतिमाह तदुक्तमिति । भगवद्गीतासू-क्तम् । तत्र हि 'यदक्षरं वेदविदो बदनन्ति' इत्यादिना 'स याति परमां गतिम्' इत्यन्ते-नाक्षरप्राप्त्युपायमुच्यते, 'अनन्यत्वेनाः सततम्' इत्यादिना स्वप्राप्त्युपायं स्वस्य तद्वै-क्षण्यं चोत्तवा, स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वं स्वरूपं च वक्तुं पूर्वं क्षराक्षरयोः स्वरूपं कथयन् 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इत्यनेनाक्षरस्य ज्ञानियुक्तिस्थानत्वं स्वधामत्वं चोक्तत्वा, 'पुरुष स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्वन्नन्यथा, यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' इति भक्त्येकलभ्यत्वं परत्वं सर्वभूताधारत्वं सर्वविस्तारकत्वं च स्वस्यो-क्तवान् । अतः पुरुषोत्तमसंबन्धिष्वेत्त्वमात्रं न तद्व्याप्तिहेतुतावच्छेदकम्, किन्तु तत्संबन्धिष्वेत्त्व-त्वम्, तत्राक्षरे नास्तीत्यतस्तथा नेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इष्टदानमननात् ॥ ३४ ॥

ननु संसारनिवृत्त्यानन्दाविर्भावयोरविशेषादक्षरब्रह्मणि लये पुरुषोत्तमप्रवेशान्मृतोक्तौ को हेतुरित्यत आह इष्टदित्यादि । इष्टदित्यस्य परिमाणवचनस्य तैत्तिरीयोक्तायामानन्द-मीमांसायां मानुषानन्दमारस्य शतानन्दिरगणेन 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति प्रजापत्यान-न्दादधिकतया आत्मनानन्द कथनात् । तथा च पुरुषोत्तमस्यानन्दमयत्वेन तदानन्दस्य च 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यनेन वाच्यनसागोचरत्वश्रावणादक्षरानन्दस्य न्यूनत्वं तत उच्यते इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इत्येकादशमक्षरविधायित्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

अन्तरा भूतप्राप्तमवस्थात्मनः ॥ ३५ ॥ (३-३-१६.)

ननु ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानम्, तथा भक्तिमार्गेऽपि भक्त्या पुरुषो-त्तमज्ञाने स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं भवति, नवेत्यक्षरस्मरणेनाभेदज्ञानस्युत्था संशये, बृहदार-

ष्यके कर्होऽप्रथे, उपस्तप्रथे च यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म 'य आत्मा सर्वान्तर' इति, एतदुत्तर-वाक्ये च याज्ञवल्क्येन 'एष त आत्मा सर्वान्तर' इति कथनादन्तर्यामिब्राह्मणे च सर्वान्तर-स्याप्यन्तरशाब्दान्तेर्णान्तःस्थापकत्वबोधनाज्जीवामान्तःस्थस्यपि जीवं व्याप्य वतैमानत्वा-धेनकेनापि श्रौतेन साधनेन पुरुषोत्तमेऽभिज्ञापयामो स्वात्मनस्तद्व्याप्तत्वेन भेदास्फुरणात् स्वात्मत्वेन ज्ञानमदण्डवतिरतम् । अतस्तद्व्रवतीति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते, आह अन्तरेत्यादि । अन्तरेति भक्त्यावाक्यमव्ययम् । भूतप्राप्तः संधातः शरीरात्मकः । तथा च स्वात्मनो भक्तस्य पुरुषोत्तमे यत्स्वात्मत्वेन ज्ञानं तत् संधातवद्ब्रजनानन्दानन्तरायभूतम्, अतो भक्त्या भजनं देदित्स्विते भगवान्स्तस्य तत्र करोतीति 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिज्ञानमेव तस्य भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्यथा अभेदानुपपत्तिरिति च्छेदोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

ननु स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानस्य भजनानन्दातुभवविरोधित्वेन जघन्यत्वे भक्ते-पुद्गवादिषु भगवान्स्तत्रोपदिशेत्, इत्यतं चोपदेश इत्यभेदज्ञानमेव मुल्यामिति भक्त्य-पेक्षया ज्ञानमार्गस्योत्कर्ष इति सूत्राशिनःशङ्क्य, अंशान्तरेण परिहरति अन्यथेत्यादि । अन्यथा भक्तिमार्गस्य ज्ञानमार्गात्तुच्छत्वे स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानस्य च जघन्यत्वे भगवदु-पदिशयमानत्वभेदात्तुपपत्तिरिति चेत्, न, न तदनुपपत्तिः, उपदेशान्तरवत् । यथा हि स्वर्गापवर्गादिकलकालौकिककर्मविकारसंप्रत्ययं गायत्र्युपदेशः क्रियते कर्ममार्गे प्रतिबन्धनिवारकः, यथा वा अज्ञस्य देहवतस्तद्विज्ञात्तोपदेशो ज्ञानमार्गे शरीरादौ त्रियत्वादिशुद्धिनिवृत्त्यर्थम्, तद्वदत्र भक्तिमार्गेऽपि सर्वेषामात्मनो ध्यात्वा 'य आत्मनि तिष्ठ'-त्रित्यादिशुद्धिसिद्धत्वात्स्वात्मत्वेनोपदेशो जीवात्मनः स्वात्मन्यपि निष्ठाभिधित्वबुद्धि-निवृत्त्यर्थं क्रियते । अतो न भक्तिनिकर्षः, नवा अभेदोपदेशानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

ननैतरेयके आदित्यमण्डलान्तःस्थं पुरुषमुपकम्य 'तपोहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽ-हम्' इति, तैत्तिरीयके वाचमपेणमु विद्यमानं ब्रह्मज्योतिरुपकम्य, 'अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि' इति ब्रह्मपदमुपयत्र संबन्ध्यमानं स्वात्मब्रह्मणोरभेदं प्रकटयति, तथा लीलास्या अपि 'कृष्णोऽहमहं कृष्ण' इत्येवं वदन्तीति तेषां ज्ञानं श्रौमागवत उच्यते, अतः पूर्वोक्ताभेदज्ञानं भक्तावापे फलत्वेन मन्तव्यम्, अतः पूर्वोक्तमनुकमित्याशङ्कायां भक्ते तत्स्वरूपबोधनायाद् व्यतिहार इत्यादि । व्यतिहारः 'कृष्णोऽहम्' इत्याद्युक्तो विशेषणविशेष्यभावव्यत्ययः, इतरवत्, भक्ते रसात्मकत्वेन संयोगविप्रयोगात्मयता द्विविधत्वात्तत्र द्वितीयमावीकृत्ये यथेतरं अश्रुतलापादयो व्यभिचारिभावा उच्यन्ते, तद्वत् अतिविगाढभावेन तदभेदस्यैति-

रभ्युत्पद्यते, न तु सर्वदा सा तिष्ठति येन फलत्वं स्यात् । वतु कथमेतदवगम्यते, तत्राह
विशिष्यन्ति इति । हि यतो हेतोः द्रष्टृत्वनाश्वत्वादीषात्त्वानं भगवत्त्वेन कदाचिदेव
विशिष्यन्ति, न सर्वदा । अतस्तथेति न पूर्वोक्तमुक्तमित्यर्थः ॥ इति ब्राह्मणन्तरामृतश्राम-
वदित्याधिकरणम् ॥ १२ ॥

सैव हि सत्पादयः ॥ ३८ ॥ (३-३-१३.)

पूर्वाधिकरणे ज्ञानापेक्षया फलतो भक्त्युत्कर्षः साधितः । अत्र साधनतत्त्वसाधयति ।
तत्र प्राप्तभक्तेः पुण्यस्य सत्यशमदमादयः कार्यत्वेन विधेया न वेति संशये, स्वस्यादीनां
फलोपकार्यन्तरङ्गसाधनत्वान्छुद्धौ सत्यामेव चित्ते भगवद्भादुभोः संभवति, आवश्यकत्वा-
द्विधीयन्त इति प्राप्तम् । तत्र सिद्धान्तस्तु, तादृशस्य न ते विधीयन्ते । तत्र हेत्वपेक्षायामाह
सैवेत्यादि । हि यतो हेतोः सैव भक्तिरेव सर्वसाधनरूपा, तस्यां संत्यां भक्त्यद्वि-
भगवदाविर्भावोत्सत्यादयः स्वत एव भवन्ति, न विधिभंगेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

कामादीन्तरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पूर्वस्यै शाश्वतोक्ताखिलसाधनरूपत्वं भक्तेरुक्तम्, तदाकर्षार्थमनुना मुक्तिप्रतिबन्ध-
कत्वेन हेयत्वेन चोक्तानां कामादीनामपि भगवत्संबन्धान्मुक्तिसाधनत्वमाह कामादी-
त्यादि । इत्तरत्र, माहात्म्यज्ञाननुताया ईश्वरत्वेन प्रभौ नियमपिज्ञेहरूपायाः शास्त्रप्राप्तत्वेन
विहितया भक्तेः सक्तशास्त्रज्ञायामविहितयां भक्तौ भगवद्विषयकं कामाद्येव मुक्तिसाधनम्,
भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात् । आदिपदाद्युत्पत्त्वसंबन्धित्वेदादीनां संग्रहः । तेन भगवत्सं-
बन्धमात्रस्य मुक्तिसाधकत्वमुक्तं भवति । तत्र च विहितभक्तावपि कामादिकं साधकम्,
ईश्वरत्वेन ज्ञानेऽपि भर्तृत्वेन ज्ञाने कामस्य पुत्रत्वादज्ञाने श्रेहस्यापि विलक्षणस्य संभवात् ।
अतो मुक्तिबाधकानामपि भक्तिमार्गे साधकत्वात् ज्ञानमार्गोपेक्षया साधनविधौऽपि
भक्तिमार्गे उल्लेख इति सिद्धमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति त्रयोदशं सैव हीत्यधिकरणम् ॥ ३९ ॥

आद्वारादलोपः ॥ ४० ॥ (३-३-१४.)

पूर्वं सात्त्विकानां वृत्तानामर्थे ज्ञानापेक्षया भक्तेरुत्कर्षः साधितः । इदानीं राज-
सानां वृत्तानामर्थे कर्मोपेक्षया भक्तेरुत्कर्षः साधनीयः । तत्र नित्यानां वर्णाश्रमधर्मोणां
भगवद्दर्शनां च परिचर्यादीनामेककाले प्राप्ती युगपदुभयोः करणसंबन्धान्यतरत्वाधे प्राप्ते,
स कस्य स्यात्, कस्य नेति संशये, कर्मणां स्वत्वकाले विहितानामकरणे प्रत्यवायश्रवणा-
दितरत्र तदश्रवणादन्यदापि तत्कृतिसंभवेन सावकाशत्वाच्च परिचर्यादीनामेव बाधो युक्तः,
नतु नित्यानां वर्णाश्रमधर्मोणामिति प्राप्तम्, तत्र सिद्धान्तमाह आद्वारादलोप इति ।
तैत्तिरीयायामारण्यके स्वाध्यायब्राह्मणे, 'ओमिति प्रतिपद्यत एतद्दे यजुष्यां विद्यां प्रति

एषा वागेतत्परममक्षरम्, तदेतच्चाम्बुक्तम्, ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अपि
विश्वे निषेदुः यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति, व इत्तद्विदुस्त इमे समासत' इति पश्यते ।
अत्र, ऋक्संयन्धित्वेन वर्णात्मके वस्तुस्तु परमव्योमात्मकं यदक्षरं ब्रह्म यस्मिन्
देवाः प्राप्तफला अधिनिषेदुरिति सकलदेवनिषेदनस्थानत्वात्कोक्यात्मकम्, तदालोकं उक्कारे
प्रतिपाद्यत्वेन स्वरूपेण च वर्तमानं 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम' इति श्रुत्यन्तरात्
तदोक्तदेवप्रसिद्धं परं ब्रह्म यो न वेद म किमृचा करिष्यतीति तदज्ञाने वेदाध्ययनस्य
निष्फलत्वमुच्यते । एवं सति भगवज्ज्ञानस्याभावे वेदोक्तकर्मणापि मुख्यफलाभावाद्द्वै-
त्यर्थं तेषामन्यथादिप्राप्तम् । परब्रह्मज्ञानं च 'अत्त्या मामभिजानाति' इति वाक्यात्
भक्त्यैवेति भक्ताः सन्तो धे पुरुषं विदुः, इदित्यवधारणे, त इमे गोकुलैरुक्तादिषु भगव-
च्चिकेतु समासते । सम्यक् सेवां कुर्वन्नास्तिष्ठन्तीत्यर्थः । तथा चात्राविदो निन्दया विदां
च सम्यगासनीचया ज्ञानजनिकायां भक्तावेवादरः सिध्यतीति तदादाराद्भगवद्दर्शना-
भेवालोपः अवाध इत्यर्थः । न च तद्वर्तकरणे प्रत्यवायश्रवणस्य का गतिरिति शंभयः,
भगवत्सेवातोऽवकार्यं प्राप्य गौणकालेऽप्यकरणे तस्य सार्थक्यात् । 'भक्तम् कुर्वन्तं पुंसो
काललोपो भवेद्यदि, तर्कम् तस्य कुर्वन्ति तिलः कोऽलो महर्षय' इति स्मृतीरिति ॥ ४० ॥

उपस्थितेऽनस्मन्नचनान्त् ॥ ४१ ॥

नतु यथेवं श्रुतेस्तात्यर्थं तदोपपन्ननादिवत् भक्तेस्तज्ज्ञानज्ञानस्य चावश्यकत्वात्
कर्मोपयोगित्वं स्यात्, न तु तथेति कर्मण एव प्राधान्यं युक्तम्, न तु भक्तेस्तज्ज्ञानज्ञानस्य
चेत्वाशङ्कायां तदादरोपचक्रथुतेस्तात्यर्थमाह उपस्थिते इत्यादि । भक्तिमार्गोऽनुगतपत् करण-
उपस्थिते बलावलविचारणार्थं अत आदरादतोऽनस्मन्नचनान्द्रागवद्दर्शनां बलत्वेनालोप-
चनान्तं मुमुक्षुणां भगवद्दर्शना एवावश्यकताः । कर्मणि तु 'तमेतं वेदानुवचनेनेति श्रुत्या विवि-
दिपायामेवोपेक्षणीनि, ज्ञानपर्यन्तत्वपक्षेऽप्यारादुपकारकाणीति दूरापास्तं तत्राप्राधान्यमि-
त्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति चतुर्दशमाद्वारादलोप इत्यधिकरणम् ॥ ४१ ॥

तस्मिन्निर्णयानियमस्तददृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥ (३-३-१५.)

नतु यदि कर्मणां न मुख्यता, तदा अप्रयोजकत्वात् परमहेतुसिद्धिं भक्तेत्यपि तत्प्राप्ते-
रसंभवाद्बह्वर्थः पूर्वो विचार इत्याशङ्कयामत्र पाक्षिकप्रसिद्धिं हृदि कृत्य सिद्धान्तमाह तस्मिन्नि-
रणेत्यादि । भक्तिमार्गे वरणे मूलकारणम्, तत्र भयोदायुष्येदेन द्विषेति भक्तिमार्गो
द्विषिः । 'एष उ एवेति श्रुतेर्भगवद्विच्छेद कर्मकरणे हेतुः, सा तु स्वरूपविक्रिज्ञायते भग-
वज्ज्ञानेन, अन्येषां फलबलकल्या, श्रुतिस्तु तैत्तिरीये 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वाज विभेति
कुतश्चन' इति विद्वत्समुपक्रमम्, 'एत-ह वा न तपति, किमह-ह साधु नाकरवं किमह पाप-

मकरमण्य इत्यकर्मणि विकर्मणि च तापाभावमाह । तथा गोपालतापनीये गान्धर्वीप्रभृतीनां ब्रजक्षीपां कर्म्यं ब्राह्मणाय भिक्षं दातव्यं भवतीत्यादिना धर्माचरणमाह । पूर्वकाण्डेऽपि 'प्रह्लादो ह वै कायाधव' इत्यादिना प्रह्लादस्याह । पूरणे च शुक्रजडदीनामकरणमाह, उद्ध-
वाभ्यपीयादीनां कर्मकरणमुच्यते । अतो भक्तानां द्विविधाचारदशोनादापुनिकानां तन्निर्ध-
राननियमः, भगवदिच्छानिर्धारणस्यानियमः । तथा चायं कर्म करोतु इतीच्छानिश्चयवता
तत्संदेहवता च कर्म कर्तव्यम् । ननु भक्ततत्करणे किं फलमिति शङ्कायां विभज्योभयोः फलं
वदन् प्रथममिच्छाज्ञानवतस्तदाह तद्दृष्टेः प्रथमिति । तस्या भगवदिच्छया दृष्टिर्ज्ञानं
यस्य स तद्दृष्टिः, तस्य, प्रथक् साधारणजीवकृतकर्मणो यत्फलम्, ततोऽतिरिक्तं वेदमार्ग-
रक्षा लोकसंग्रहश्च फलम् । तदुक्तं गीतायां 'यथादाचरति श्रेष्ठ' इत्यादिवाक्यैः । तद्व-
च्ये हिशब्देन सूच्यते । अतःपरमिच्छाज्ञानरहितस्याह अप्रतिबन्धः फलमिति । तस्य मध्य-
माधिकारात् कालमद्वादिजनितचित्तमालिन्येन भगवत्प्रतिषेधे प्रतिषन्धः स्यात् । अतस्त-
न्निवृत्तिरङ्गकृतकर्मणः फलमित्यर्थः । तेन कर्मकरणेच्छाज्ञानवता तत्संदेहवता च कर्म कर्त-
व्यमिति सिद्धम् । प्रासङ्गिकमेतत्सूत्रम् ॥४२॥ इति पञ्चदशं तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥१५॥

प्रदानवचदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥ (३-३-१३.)

एवं राजसानां कर्मासङ्गवाराणायाधिकरणद्वयमुक्त्वा, मुख्यमत्तसुकर्मज्ञानेन तद-
भिलाषोपजननाय तत्फलं चात्र दर्शितम् । अतः परमन्वयं वैराग्यार्थं मुख्यभक्तिः सर्वात्म-
भावरूपा किं विहितकर्मज्ञानभक्तिभिर्भवति न वेति विचार्यते । तत्रैकादशस्कन्धे, 'तस्मा-
त्सुद्वयोत्पत्त्यय नोदानां प्रतिनोदानम्, प्रशुचिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव
शरणमाल्मानं सर्वदेहिनाम्, याहि सर्वात्मभावेन यास्म्यसे ह्यङ्गुतोभयम्' इति भगवद्वाक्ये
सुचयारम्भाकृतोत्तोभयसाधनरूपे शरणगमनेन प्रकाशत्वेन सर्वात्मभावस्य कथनात्स्वप्रयत्नसा-
ध्यत्वं गम्यते । तत्र विहितस्यैव कारणता संभवति, 'दानव्रततोषोहेम'ति 'भक्त्या संजा-
तया भक्तयेत्यादिवाक्यात् । अतस्तत्साध्यत्वं गम्यत इति प्राप्तं, आह प्रदानवचदित्यादि ।
तदुक्तं भगवदुक्तम्, प्रदानवचदेव, प्रकृष्टं दानं प्रदानं वरदानमिति यावत् तद्वदेव, भगव-
दाप्तये हि 'अथेतत्परमं शुभं श्रवतो यदुन्दनं, सुगोप्यमापि वक्ष्यामि त्वं मे भूयः यद्वत्-
सखे'ति तदधिकारमनुष्य तदप्रष्टमपि भालस्वरूपादिकं स्वत एवोच्यता, ततः 'तस्मात्स्व'-
मित्यादिश्लोकद्वयेन सर्वात्मभावेन मां शरणं याहीत्यवदत् । अतस्तदुपदेशेन वरदानव-
देवेति सर्वात्मभावरूपा भक्तिकाष्टापि तथेति न विहितसाधनसाध्येत्यर्थः ॥४३॥ इति
षोडशं प्रदानवदित्यधिकरणम् ॥ १६ ॥

लिङ्गभूयस्त्वान्नाद्वि वलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥ (३-३-१७.)

पूर्वाधिकरणे सर्वात्मभावरूपपरमकाष्ठालया मुख्यभक्तेर्वर्णकलयत्वं स्थापितम् ।
वरणश्रुतौ तु परमात्मनो वरणमन्वयत्वमुच्यते, न तु सर्वात्मभावस्य तत्काष्ठालया भक्तेर्वेति

कथमस्य विचारस्य तत्परमत्वमिति शङ्कायां तस्य वरगौकलयत्वं दृढीकृतव्यम्, तत्स्वरूपं
च श्रुत्या विवेक्यम्, तदर्थमिदमत्र विचार्यते । किं कालादृष्टादिरूपप्रतिबन्धकसङ्गावेऽपि
वरणकार्यं स्यात्, किं वा तन्निवृत्ताविति, तत्र प्रतिबन्धभाववस्य हेतुतायाः सर्वत्र दृष्टत्वात्,
पूर्वाधिकरणे वरदानदृष्टान्तस्योक्तत्वेऽपि वरदानस्य तत्प्रभृतिभिस्तोष एव दर्शनात्, तत्र
कारणान्तरे मृत्ये प्रतिबन्धकाभावस्याप्युपलक्षणकारित्वात् तन्निवृत्तावेवेति प्राप्तम्, तत्राह
लिङ्गेत्यादि । हि यतो हेतोः, तत् वरणं वलीयः बलवत्तरम्, अतः प्रतिबन्धकसङ्गावेऽपि
तदुपदेशेन वरणकार्यं स्यात् । वलीयस्त्वं हेतुमाह लिङ्गभूयस्त्वचादिति, वरणस्य लिङ्गं सर्वा-
त्मभावस्तस्य सर्वतोऽधिकत्वात् । तथा हि, छान्दोग्ये नवमे प्रपाठके, 'अधीहि भगव इति
होपससाद सनत्कुमारं नारद' इति सनत्कुमारानारदसंवादादुपनिषत्सु, नारदेनाध्यापनायमुक्ते-
ऽपिकारणनिर्धार्यं प्रथमत एव मुख्यया ब्रह्मविद्या नोपदेशं सुकेत्यतो नारदादिकाज्ञानाय-
मीत्यादिना स्वाविदितं सर्वमुक्त्वा, 'सोऽहं भगवो मंत्रविदेवासां, नास्त्विति, श्रुतं श्रु-
तमेव भगवद्वद्वशेन्यस्तरति शोकमाल्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवांओक्तस्य पा-
रं तारयत्विति स्वाभिप्रायं निवेदयामास, तदा सनत्कुमारस्त्वदुक्तं सर्वं नामेत्युक्त्वा नाम्नो ब्रह्मत्वे-
नोपासने यावन्नाम्नो गतम्, तत्रास्य यथा कामचारा भवतीति तत्फलमुक्त्वा, ततस्तस्याद्ग-
नः प्रश्नं कृते, ततो वार्षं तादृशीमुक्त्वा, पुनस्तथा प्रश्ने मनःसंकल्पचित्तस्थानविज्ञानव-
लाञ्छाप्लेजआकाशस्पर्शास्तयैत्तत्त्वा, तेषां ब्रह्मत्वेनोपासने तत्फलं चोक्तवा, ततः प्राणसा-
धिक्यं तदुपासकस्य सत्येनातिशयादिवं तदधिकारपरिधायमाह, यथस्याधिकविज्ञासोऽप्यस्यते,
तदोपदेशयोग्योऽपि, नो चेदयोग्य इति । तत 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदतीति
सनत्कुमारोपेते, 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदतीति स्वाकाष्ठानां नारदोऽब्रवीत्, तदा
सनत्कुमारस्तस्य सत्यादिज्ञिज्ञासायुत्वाद्य सत्यविज्ञानमतिनिष्ठाकृतिसुखानि पूर्वपूर्वे कारण-
त्वेनावदत्, तत्र सत्यविज्ञानमतिनिष्ठाकृतीनां लौकिकसजातीयमेव रूपमुक्त्वा सुख-
विशेषं वक्तुं तस्य सुखस्वरूपजिज्ञासायामाह 'यो वै भूमा तसुखं नाल्ये सुखमस्ति
सुखैव सुखं भूमा त्वेव विविज्ञासितव्य' इति, तदा नारदस्तन प्राणस्य सत्यवदनादीनां
स एव कारणं तत्त्वं च, अतस्त्वेव कृत्यादिप्रणाङ्गा ज्ञात्वा सत्यवदनेऽतिवादित्वम्,
नान्यथेत्यवगत्य, 'भूमानं भगवो विविज्ञास' इति विज्ञापयामास, तदा सनत्कुमारः सर्वत
आधिक्यरूपं भूयस्त्वं भूमि सिद्धमिति नारदेनावर्णनं ज्ञात्वा, 'यत्र नान्यत्सत्यति
नान्यत्कृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमेति भूमस्वरूपमाह 'यस्मिन् दृष्टे श्रुते विज्ञाते' तदेक-
तान्तनान्यत्सत्येन सुखसाधनत्वेन च न भासते, किन्त्वत्येनाप्रयोजकमिति भासते,
स भूमेति तत्र फलति, तत्र श्रुतेऽपि भूमि स्वस्य तादृशभावाभावात्समुदितैर्दर्शनादिभिः
दृशभावं निश्चित्य पप्रच्छ 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति, स भूमा कस्मिन्प्रकारेण तिष्ठ-

नीति, तत्रोत्तरमाह 'स्ये महिम्नो'ति, ततः को महिमेल्यर्थं प्रथ्यसीति विचार्य गो अश्वदादीनां विभूतीनां महिमत्वमिह न विवक्षितम्, किन्तु ततोऽन्य इत्याशयेनाह 'अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित' इति, गो अश्वदिभ्योऽन्यो यो महिमा तस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यर्थः। ततस्तस्य महिम्नः स्वरूपं कौटशमित्याकाङ्क्षायाम्, 'स एवाप्रस्तात्, स उपरिष्ठान्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेदं सर्वं'मित्यारम्भ, अप्रेडंकारादेशमात्मादेशं च पूर्ववदाह। तथा च यस्य पूर्वं 'स एवाप्रस्ता'दित्याद्युक्तरीत्या सर्वदिक्षु भूमानं सर्वं भूमेति च मानं तदनन्तरं पूर्ववेदवाहंकारादेशेन भूमाभिन्नस्वमानं तदुत्तरं च पूर्ववदात्मादेशेन भूमात्माभिन्नस्वमानम्, एवंप्रकारकमानवान् यः पुरुषः स महिमा तस्मिन् भूमा प्रतिष्ठित इत्यर्थः फलति। तत्र भूमप्रतिष्ठायाम् गमकमाह 'स वा एष एवं पश्यत्येवं मन्वान एवं विज्ञानत्रात्मरतिरात्मक्रीड आत्माभिधुन आत्मानन्दः स स्वराइभवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति। तथा चोक्तिप्रकारकदेशेनादिमानुकरत्यादिमानु भवतीत्येते धर्मास्तत्र भूमप्रतिष्ठायाम्का इत्येतैर्लक्षणैर्भूमसमहिमरूपः पुमान् ज्ञातव्य इत्यर्थः। इदं च महिमस्वरूपमेवेजुचन्मादिद्वेषे स्फुटीभविविष्यति। एवं तत्स्वरूपं निष्कृष्य तादृशस्य शोक्तीर्णत्वं पूर्वश्रेष्ठोत्तरत्वेनाह 'स स्वराइ भवती'ति। स भूमात्मात्त्यादिमानु स्वस्मिन् राजमानः स्वस्मिन् भूमो रक्षयिता वा भवति, तस्य नामायाशाप्रणयन्तलोकेषु कामचारो भवति सर्वप्राप्त्या शोकपारतीर्णो भवतीत्यर्थः। इदमत्र बोध्यम्। व्याख्यातरीत्या भूमसमहिमरूपः पुमान् यः परिचायितः, तस्य या स्फूर्तिः, सा नाखण्डब्रह्मज्ञानरूपा, तत्केन कं पश्ये'दित्यादिवाकाराभावात्, किन्तु सखण्डतद्रूप, पण्णां दिशां परिदृश्यमानस्य सर्वस्य चातुर्बाहु-पूर्वकमात्मस्फूर्तिकथनात्, सापि न वामदेवादेरिव सर्वदा सर्वत्राहंश्रद्धरूपा, अहंकारादेशो-चत्मात्त्यादेशकथनेन तस्य व्यभिचारबोधनात्। अतः सा द्विविधया अपि ज्ञानिस्फूर्ते-र्विच्छन्नैति तद्वानपि ज्ञानिन्यो विलक्षणः। 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिवादेस्य कामानामकथनात् दहराद्युपासकेभ्योऽपि विलक्षणः। मर्यादुखानमि-भूस्वालोकोतोऽपि विलक्षणः। किन्तु सत्यवदानादिकाणभूतकृत्यादिजनकभूमात्मकसुखलाभवत्स्वस्योक्तत्वात्पूर्वं भूमलाभज्ञानं, अतो दृष्टश्रुतविज्ञातभगवत्कथः परमभक्तः। ततोऽन्यदेशेनादिरादि-त्यस्योक्तत्वाद्विरहभावे प्रपञ्चविस्मारकपरमासक्तिरूपातिविगाढभावेन सर्वत्र स्वासक्तिवि-षयभगवत्स्वरूपस्फूर्तिमान्, ततस्तद्रत्यादिमानिति तत्स्वरूपं फलतीति भूमसमहिमरूपस्य तादृशस्य या स्फूर्तिः, सा तु रसरूपं भगवन्तं भजतो य उकतीरतिर्बिगाढमात्मकसर्वो-त्समाभ्यामिष्टिचारिभावरूपैव, नात्यभिधेति, वरणादेव च भूमा प्रतिष्ठित इति तादृशस्फूर्त्ये-जुमेयस्य वरणलिङ्गभूतस्य सर्वात्मभावस्यैव सर्वस्मादाधिक्यमित्यर्थः। नन्वहंकारादेशस्या-न्नोक्तत्वात्स्य च ज्ञानमार्गायस्फूर्तिरित्युक्तत्वात्तत्र प्रतिबन्धोऽस्य संभाव्यत इत्यतः सूत्रांशेन समापत्ते नदपीति, 'अन्तरा भूतप्रापव'दित्युक्तं प्रतिबन्धित शेषः। तथा चैतादृशे मुख्यमके

भगवता तादृशज्ञानमेतच्छेषतयैव संपाद्यते, न मुख्यतयेति न तादृशस्फूर्त्यास्य प्रतिबन्ध इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणान् स्यात् क्रियामानस्य ॥ ४४ ॥

अत्र सूत्रद्वयेनाशंको पूर्वत्यादि। नात्र वरणलिङ्गभूयस्त्वमुच्यते, किन्त्वयं पूर्वविकल्पः पूर्वप्रपाठके श्वेतकेतुपाल्यात्म आत्मानं तद सर्वस्याभेदो यो वितिरूपित 'ऐतदा-त्यमिदं सर्वं'मित्यादिना नवकृत्वस्तस्य विकल्पः प्रकारान्तरं स्यात्। कुतः। प्रकरणान्। इदं ह्यात्मप्रकरणम्, अत एव नारदस्यात्मजिज्ञासिवोक्ता, 'सोऽहं भगवो मंत्रविदेवासि, नास्मि'दिति। अतः सनत्कुमारोक्तं तदुत्तरमपि तद्विषयकमेव भवितुमर्हति। अत उभयोः प्रपाठकयोरात्मप्रकरणत्वात् पूर्वत्र यदभेदः सर्वयोक्तः, तस्यैवात्मनः स्वरूपमत्र 'आत्मन एवेदं सर्वं'मित्यन्तेनोच्यत इति। अत्र सिद्धान्तिसंमतेमेव दृष्टान्तमाह 'क्रियामानस्य'इति। यथा पूजाप्रकरणे किर्यापूर्वं बाह्यं पूजनमुच्यते, आन्तरं च ध्यानात्मकमनोव्यापाररूपम्, नखे-तावता अन्यतरस्य पूजाभिन्नत्वम्, प्रकरणान्त्वात्, तद्विद्वापीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अत्रिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

हेत्वन्तरमाह। नामरूपात्मकं हि जगत् पूर्वप्रपाठके सर्वपदेनानुष्य तत्र ब्रह्मभेद 'ऐतदात्म्य'मित्वनेन निरूपितः। एवमस्मिन्नपि प्रपाठके नारदात्ता ऋषादिविद्या अनूष्य नामात्मकप्रभृत्त्वं तत्रातिदिश्यते। तथैव बाष्पन-प्रभृतिरूपात्मकं जगत् तत्तच्छब्देनानुष्य तत्र तददालकप्रभृत्वमतिदिश्यते। अतो यथा कौण्डपायिनामयने 'मासमशिशोत्रे ङ्घोती'त्यमिहोत्रनाम्ना प्राकृतायिद्योत्रधर्मास्तत्रातिदिश्यन्ते, तथापि नामादिषु नामाध्यात्मक-ब्रह्मत्वमतिदिश्यत इत्यतोऽपि हेतोर्ज्ञानप्रकारभेद एवात्रोच्यते इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

विशेष तु निर्धारणान् ॥ ४७ ॥

उक्तामाशङ्कां निराश्रेष्ठे विश्वेत्यादि। तुः शङ्कानिरासे। सनत्कुमारनारदसंबादे आत्मज्ञानप्रकार एवोच्यते इति यदाशङ्कते, तत्र, किं तर्हि, विधेवात्र सर्वात्मभावरूपा निरूप्यते, कुतः। निर्धारणान्। 'सुखं सैव विजिज्ञासितव्य'मित्युक्त्वा, 'यो वै भूमा तसुखं गाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इति सुखस्वरूपकथनेऽक्षरपर्यन्तं गणितानन्दत्वेनाल्पतया, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति निरवध्यानन्दमयस्य पुरुषोत्तम-स्यैव विजिज्ञास्यत्वेनात्र निर्धारणान्। अयमर्थः। गुण्डके उक्तायां वरणश्रुती 'नायमात्मा' इति पृथगेपि जीवकृतसाधनात्मव्यसुक्त्वात्तःपृथे वृत्तलम्ब्यत्वात्सो वदन्ती 'यं वृणुते' तस्यैव आत्मा सन् तं स्वं ततो वृणुते' इति तस्य स्वभावात्पत्त्या तनुत्वमाह। एतद्वे च, 'नायमात्मा बलहीनो लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वायुलिङ्गात्' 'ऐतस्मायैवते यस्तु विद्वान् न तस्यै आत्मा विशते ब्रह्मपाम' इति मधः पठ्यते। तत्र बलशब्देन भक्तिरेवाभिप्रेयते,

‘न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव, न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्मोक्षोक्तिं’
 त्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्येन, ‘अहं भक्तपराधीनः’ वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या’ इत्यादि-
 नवमस्कन्धीयभगवद्वाक्यैश्च भक्तेर्भगवद्दर्शिकारकत्वबोधनादर्शिकारस्य बलकार्यत्वाद्वा
 धलपदेन भगवद्दर्शिकारकसामर्थ्यविशेषरूपं भक्तिरेवोच्यते, अतो भक्तिहीनेन न लभ्यः ।
 किंच, प्रमादालिङ्गताभ्यामनलम्यत्वकथनेन भगवद्विष्णुरूपसेवादिकरणरूपो योऽ-
 प्रमादः, यश्च सर्वात्मभावात्मकलिङ्गसहितविरहभावरूपं तपस्ताभ्यां लभ्य इति बोध्यते ।
 उत्तरार्धे च, एतेरुपायैर्यतमानो यो विद्वान्तरस्य फलमुच्यते । तस्यैव यतमानस्यैव पूर्वोक्त
 आत्मनोऽप्यात्मा पुरुषोत्तमः, ब्रह्माक्षरात्मकमेतदाधिदैविकं धाम विशते प्रविशति, तद्-
 द्येऽक्षरं प्रकाशय स्वयं तत्र प्रविष्टत्वेन प्रकाशत इत्यर्थः । तैत्तिरीये च, ‘ब्रह्मविदामिति परम्’
 इत्युक्त्वा ‘सत्यं ज्ञानं’मिति तद्विरणचीं हृदयाकाशे निहितं यत्परमं व्योमाक्षरं तत्र ब्रह्मणा
 सह सर्वकाममोगरूपं फलं परमाधिपदार्यत्वेन विभ्रियते । एवं सत्येतच्छ्रुतिस्वारस्येन
 वरणजन्यभक्तिपरमकाष्ठामूर्तं भगवत्प्रापकं यस्तर्वात्मभावरूपं ज्ञानं सैव मुख्या ब्रह्मविद्यात्र
 भूसात्मनः पुरुषोत्तमस्य विजिज्ञास्यत्वेनावधारणादवसीयत इति फलति । तथा च श्वेत-
 केतूणाख्याने सर्वस्य जगतो जीवस्य च ब्रह्मभेदो यो बोध्यते, स परोक्षवादेन पुरुषोत्तमाधि-
 ष्टानत्वभोग्यताबोधनाय, सनत्कुमारानारदसंवादे तु, योग्यतामात्रेण न पुरुषोत्तमा-
 धिष्ठानरूपं फलम् । तथा सति ज्ञानिमात्रस्य स्यात्, किन्तु भगवदनुग्रहेण भक्तसङ्गेन
 च भक्तौ सत्यां तत्फलमिति ज्ञापयितुं भक्तस्य नारदस्य, भगवदादेशशुक्तस्य सन-
 तुकुमारस्य च संवादयुक्त्वा भूमपदेन निरवधिमुख्यात्कं श्रुतोत्तमं पराशुच्य तस्यैव सर्व-
 शोक्तत्वात्कामत्वं तदधिष्ठितस्यात्मनश्च पुरुषोत्तममहिमरूपत्वं बोध्यते । अतः प्रकर-
 विचारेऽपि पूर्वोक्तमेतच्छेव इति सर्वात्मभावस्यैव मुख्यं विधात्वमित्यर्थः । न च
 वरणश्रुतिः वाक्यत्वेन प्रकरणात् प्राबल्येऽप्यान्यविकल्पाज्ञैतन्निर्णायकत्वमिति शङ्कधम् ।
 ‘हानौ त्प्रायने’ति सूत्रे कुशाळन्तःस्तुल्युपगनेऽपि परशास्त्रोक्तवाक्यस्यैव सर्वभोग्यकारि-
 रादरणात्, जैमिनिनापि बाधलक्षणे ‘अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्त्याम्यात्वाद्दिकल्पस्य
 विधेनामिकेदेशत्वत्पि’तिसूत्रे, ‘नानुयाजोष्य’ति ‘वाक्यस्य, ‘अश्रावयास्तु औषधइयज्ये
 यज्ञाहम्’ इति दूरस्यवाक्यशेषत्वाद्वादर्णाञ्च । अत्राप्युपसंहारे ‘तस्यैव परयत एवं मन्वान-
 स्यैव विज्ञानत आत्मतः प्राण आत्मत आशा’ इत्यादिभिर्वाक्यैर्भगवतः सकाशादेव प्राणादि-
 कथनेन भक्त एव परिचाप्यते, अतो न शङ्कालेशः ॥ ४७ ॥

दर्शनाह ॥ ४८ ॥

दृश्यते च सर्वात्मभावतां ब्रजसीमन्तिनीप्रभृतीनां पूर्वमितरविस्मृतिर्यातिहास्य,
 पश्चाद्भवत्स्योदिना सर्वसामर्थ्यमिति व्यासः स्वानुभवमेव प्रमाणत्वेनाह दर्शनादिति ।
 योगेन समाधौ दर्शनादित्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रुत्यादिवद्वलीघरत्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

ननु सनत्कुमारानारदसंवादात्मकमान्तेमके वाक्यम्, तत्रोपक्रमे ‘मन्त्रविदेवास्मि
 नास्मवित्, श्रुतं...क्षवं मे भगवद्बुधेऽन्यस्तस्मिन् शोकमालम्बिवद्’ इति श्रावणादुपसंहारोऽपि तद-
 नुरोधेनैव व्याख्येयः, उपक्रमस्यासंज्ञातविरोधत्वेन प्रबलत्वात्, अग्रे चेदात्मपदानामीश्वर-
 परत्वमङ्गीक्रियते, तदा वाक्यभेद उपक्रमविरोधश्च स्यात्, अतो वाक्यानुरोधात् पूर्वोक्त-
 ज्ञानप्रकारविशेष एवात्रोच्यत इत्यङ्गीकार्यमित्याशङ्कयोरन्तं पठति श्रुत्यादीत्यादि । एवमुप-
 क्रमगतत्वात्वाक्यानुरोधाद्वारणजसर्वात्मभावलिङ्गभूयस्त्वस्य न बाधः । कुतः । श्रुत्यादिवाक्य-
 लीप्येव ॥ ४९ ॥ वाक्यपूर्वेष्वप्या श्रुतिलिङ्गयोः प्रबलत्वात्, तदुक्तं पूर्वतस्तु, ‘श्रुतिलिङ्गवाक्य-
 प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौषधमर्षविप्रकर्षा’दिति चात्र भूमपदेन लभत इति
 पदेन चोक्ते बोध्ये । निरोधकः शब्दो हि श्रुतिः । भूमपदं श्रुतमात्रमितरनिरोधकमेव निर-
 वध्यमृतसुखप्रमितिं जनयतीति श्रुतिरूपम्, ‘यदा वै सुखं लभतेऽथ करोती’ति सुख-
 लाभश्रुतिः स्वसामर्थ्येन तस्य सुखस्य वरणलभ्यत्वमच्यतात्मकबलबलभ्यत्वप्रमितिं जनयतीति
 पुरुषोत्तमलिङ्गरूपेति ताभ्यां तथैति । न चैवं सत्युपक्रमगतस्यात्मपदस्य पुरुषोत्तमपर-
 त्वनिश्चयानत् तस्याबाधः, नतु वरणलिङ्गस्य सर्वात्मभावस्येति शङ्कधम् । ‘नात्मवितरति
 शोकमालम्बिविदि’ति नारदावाक्ये ‘अथात आत्मादेश’ इत्यादिरूपे तदुत्तरवाक्ये च यदात्म-
 पदं तदपि भूयोभूय इत्युक्तप्रश्नतदुत्तरपर्यवसानानाम् । इति नाशुच्यत्, किन्तु
 तस्यान्वर्थमत्याली ‘स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित’ इत्युच्यत्, तदा सर्वात्मभावत्वेव प्रति-
 ष्ठित इत्याशयेन सर्वात्मभावलिङ्गात्मकं भावं ‘स एवापस्ता’दित्यारम्भान्त्युक्तवान् ।
 अतस्तस्यैव द्वितीयप्रश्नस्य तदुत्तरस्य च सर्वात्मभावलिङ्गत्वमिति ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टञ्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

नन्वत्रात्मपदस्य पुरुषोत्तमपरत्वेऽपि द्वितीयश्रोत्रार्यानां सर्वात्मभावसमर्थनममु-
 क्तम्, तदुत्तरे पुरुषोत्तमस्य स्वप्रतिष्ठताया एऽसिद्धा सर्वात्मभाववत्कृतस्य तदधिकर-
 णताया असिद्धौ विवक्षितसर्वात्मभावस्य तेन प्रतिपत्तुमशक्यत्वादिदयाशङ्कयागमाह अनु-
 बन्धेत्यादि । अत्रोत्तरे सर्वात्मलिङ्गात्मको भाव उच्यते इति ज्ञातव्यम् । कुतः । अनुबन्धा-
 दिभ्यः, अनु पश्चात्सङ्गीकृत्य वा ब्रह्मति पूर्वोक्तं नियमयतीत्यनुबन्धः । पचाधत् । ‘स एष
 एवं परयज्ञेवं मन्वान एवं विज्ञानं’ इति महिमप्रतिष्ठानियमनवाक्यानन्तरवाक्यस्यः ‘स
 एष’ इति पूर्वपरमशः, स च तदा यः ‘स एवापस्ता’दित्यारम्भान्तेऽज्ञानत्वात्वाक्योक्ता-
 स्त्रिविधा मावाशेति द्वन्द्वः । तेभ्योऽनुबन्धादिभ्यश्चतुर्थो हेतुभ्यः । तथा च यदि स्वम-
 द्विज्ञाति वाक्ये पुरुषोत्तमस्यान्तःप्रतिष्ठितत्वं चेदभिप्रेयात्, तदा ‘स एष’ इत्यनेन भूमश्रुतं

नानुबन्धीयात्, अहङ्कारादेर्ज्ञादिकं च न कुर्यात्, किन्तु 'कस्मिन्प्रातिष्ठित' इति प्रथे, न कापीत्येवोत्तरं वदेत्, वदति त्वेवम्, तस्मात्सर्वात्मभाववैलक्षण्यको भाव एवात्रोच्यते इति तस्य न बाध इत्यर्थः । न बाध इति पूर्वस्यैवाद्भवतीति । नन्वनुबन्धस्य तद्व्यापसाधकत्वेऽपि तदादीनां 'स एवाधस्ता'दित्यादीनोक्तानां भावानां कथं तद्व्यापसाधकत्वमिति चेत्, इत्थम् । पूर्वं ये भावा उक्ताः, तेषां स्वस्य 'मेव परमत्रेवं मन्वान एव' विज्ञान'त्रित्यनेन कस्मात्तुच्यते । तत्र हि पूर्वमतिविशालाभावेन तद्विदितारसफुल्लो तमेव सर्वत्र पर्यतीत्येतद्दर्शनं 'एवं परम'त्रित्यनेनोच्यते । अतः किंचिद्व्यापानुसंधानेऽहङ्कारादौ भवति पूर्ववत् संवेद्य सर्वरूपतया च स्वस्यैव भानत्, तदा स्ववले स्फुरितेऽहमेव सर्वैः प्रकारैः स्वसामर्थ्येन तं प्रकटीकरिष्ये इति युक्तिमिदं चिन्तयतीत्येत 'देवं मन्वान' इत्यनेन बोध्यते । तेन रासस्थानामिष विचयनगुणगानादिकरणवस्था ज्ञापिता भवति । ततो निरुपधिखेह-विषयः परमात्मा पुरुषोत्तम एवेति तद्विदेशो भवति । अतः पूर्ववत् तस्यैव सर्वात्मकत्वे ततो स्वकृतसाधनवैकल्यज्ञानेनातिदीन्युक्तस्वभावाविकलेऽहविषयभाववान् भवतीत्येतदेव 'विज्ञान'त्रित्यनेन बोध्यते । ततोऽतिदीन्यतो जाते भगवदाविर्भावे या अवस्थास्ता 'आत्मरतिरात्म-क्रोड' इत्यादीनोच्यन्ते इति । अतस्तज्जानीहि । ननु भवत्वेवमत्र सर्वात्मभावलाभः, तथापि तस्य मुक्तावेव पर्यवसानं वाच्यम्, अतो बुधेयं किन्तोत्थाशङ्कानिरासाय दृष्टान्तमाह प्रज्ञान्तरदृष्टकत्ववदिति । अन्यप्रज्ञा प्रज्ञान्तरम्, तत्कृततद्व्यभिक्तं प्रज्ञान्तरदृष्टकत्वम्, तेन तुल्यं पृष्ठघर्षे वति, सर्वात्मभाववद्भक्तप्रज्ञातोऽस्या विलक्षणया या मुमुक्षुभक्तप्रज्ञा, मोक्षदातुत्वेन भगवद्विषयिणी बुद्धिः सा प्रज्ञान्तरम् । तथया कर्मज्ञानवदितरभक्त-प्रज्ञाभ्यः पृथगेव फले साधयति, तथा सर्वात्मभाववतो भक्तस्य यादृशी प्रज्ञा भगवद्विषयिणी सापि तादृशं फलं तत्कृतनुत्थायास्तास्यपिच्यते । अतः सर्वात्मभावस्य न मुक्तो पर्यवसानमिति फलोऽपि न बाध इत्यर्थः । अत्र स्वानुभवं प्रमाणत्वेनाह दृष्टमेति, उक्तभाववतो भक्तस्य स्वरूपदर्शनाद्यतिरिक्तफलाभावोऽस्माभिरैव दृष्ट इत्यर्थः । शब्दमपि प्रमाणयति दर्शनापेक्षमाय तदुक्तमिति, 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिना भगवतैव दुर्वासंसं प्रति नवमस्कन्ध उक्तम् । तथा च यो यदर्धीनः, स तद्विच्छानुरूपमेव करोतीति लोके दृष्टम्, अतो भक्तवश्यस्तेषां भजनानन्दमेव ददातीत्यर्थः । भक्तानां मुक्त्यनिच्छुल्लं तु 'मत्संबन्धा प्रतीतं चे'त्यादिवाक्येषु स्फुटम्, अतो न सन्देह इत्यर्थः ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मुह्युत्पन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

ननु 'यत्र नान्यत्वस्यती'त्यारभ्य अस्य प्रयातकस्य सर्वात्मभावनिरूपकत्वोक्तिस्तत्रत्यात्मपदानां पुरुषोत्तमपरलोकेश्चानुपपन्ना, यतो 'मत्संबन्धा प्रतीतं चे'त्यादि पुराणवाक्येषु सर्वात्मभाववतो भक्तस्य मुक्तावपि कामाभावः प्रतिपाद्यते । श्रौते सनत्कामावाक्ये 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति तत्तल्लोककामनेव सूच्यते । अतः साधकत्वभाववैलक्ष्यादात्र न

सर्वात्मभावनिरूपणं शक्यवचनमित्याशङ्क्यामाह नेत्यादि । न, सर्वात्मभावानिरूपणमत्रेति यदाशङ्कितम्, तत्र । कुतः । सामान्यादप्युपलब्धेः । सामान्यमयोगादपि तच्छब्दप्रयोगस्य 'अजामकां लोहितगुरुकृष्णाम्' 'मृष्टीरुपदधाती'त्यादिश्रुतिवृत्तपुल्यमानत्वात् । तथा च यथा प्रकृतौ मृष्टमृष्टिर्घसं चाजामृष्टिदप्रयोगः, तथा प्रकृते कामचारवाक्येऽपि यो लोकप्रदप्रयोगः, स लोकानां सुखप्रधानत्वान्तेन सामर्थ्येण भगवत्संबन्धिषु रतिक्रीडादिषु प्रसुक्तः, ते च मुक्त्यन्तसर्वव्यतिरिक्ताः सर्वात्मभाववद्भक्तकामिता एवेति न तत्प्रयोगेण अत्र न सर्वात्मभावप्रतिपादनाभावः शक्यशङ्क इत्यर्थः । ननु यथाश्रुत एवाधः कुतो नाद्रियत इत्यत आह नहि लोकापत्तिः । सर्वात्मभाववत् आत्मनो 'नान्यत्वस्यती'त्यादिप्रतिविशिष्टत्वात् हेतोन लोकापत्त्युक्तिरसहा, तादृशस्य स्वरादत्वेन पूर्वोक्तत्वात्कामाभाव एव च स्वरादत्वादिति । किंच, एतदत्रे 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्युक्त्वा तेनेतरव्यवच्छेदं कृत्वा ततो 'न परयो मय्यु परयती'ति मुमुक्षुदर्शननिषेधः क्रियत इति बोधयितुं दृष्टान्तमाह मृत्युवदिति । तेन तादृशस्य मृत्योरिव लोकानामपि नापत्तिः । तथा चातो यथाश्रुतं न गृह्यत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विष्ये भूयस्त्वानुबन्धः ॥ ५२ ॥

लोकापत्तिरूपार्थस्याग्रहेण हेत्वन्तरमाह परेणेत्यादि । परेण 'सर्वमाप्नोति सर्वं' इत्येतेनैतच्छ्लोकपुरीयपदिनापि शब्दस्य 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति वाक्यस्य ताद्विषयम्, 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्येतद्व्यभिक्तसमानप्रकारकत्वम्, 'तदेच्छोको भवती'ति वाक्येन, परयच्छोकस्य पूर्वोक्तार्थसंग्राहकताया उक्तत्वात्, पूर्वं 'आत्मन एव सर्व'मिति निगमनात्, सर्वैः प्रकारैरात्मन एव. पूर्वोक्तसर्वप्रातिरित्यस्यार्थस्य सिद्धेः कामचार-वाक्यस्य लौकिककामपरत्वं न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । नन्यमर्थः 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्यनेनैव सिद्ध इति पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनम्, अत आह भूयस्त्वानुबन्ध इति । तुः शङ्कानिरासे, भूयस्त्वात्, उक्तेऽर्थे हेतुनां भूयस्त्वं षाहुल्यमनुसंधाय, स्वकृतयापनसाध्य-फलापेक्षया स्वमुमुक्षुस्य भगवता दत्तस्य फलस्य भूयस्त्वमाधिक्यं यानुसंधाय, पुनः श्लोके-नानुबन्धः, तल्लङ्घन्य संघन्यः कृत आदर्शेण बोधित इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एक आत्मनः शरीरे भवात् ॥ ५३ ॥

उक्तेऽर्थं श्रुत्यन्तरसंमतिमाह एक इत्यादि । एकं शास्त्रिनस्त्रीरियाः शरीरे भक्तानां हृदयाकार्ये आत्मनो भगवतो भावादाविर्भावात् तेन सह सर्वकामभोगबोधिकां श्रुतिं पठन्ति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं मुह्यत्यां परमे व्योमम्, सोऽश्रुते सन्तोऽकामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति । अत्र ब्रह्मणा सह सर्वकामभोग उक्त इत्येतेदेक-वाक्यतायां कामचारश्रुतावयवमेवासां ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति सप्तदशं लिङ्गव्य-स्त्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥

व्यतिरेकस्वप्नावभाषित्वात् नृपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥ (३-३-१८).

ननु 'ब्रह्मविदाप्रोतिपरम्' इति श्रुतौ अक्षरब्रह्मविदः परमाप्तिरुच्यते । सा किमि-
तरसाधननिरोधकज्ञानान्तरात्, किं वेतरसापेक्षादिति संशयः । तत्र श्रुतौ साधना-
न्तरस्यानुकलेनान्यनिरोधकद्वेषोपशब्द सिद्धान्तमाह व्यतिरेक इत्यादि । उक्तश्रुतौ
हि श्रुत्यां परमव्योम्नि यतिहिते तदेतदेने परमाप्तिरुच्यते, तत्र परमव्योमाविर्भावस्तु
ज्ञानिगुहायां दुर्घटः । अतस्तत्र परमव्योमो व्यतिरेकोऽभावः । कुतो दुर्घटं
इत्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाह मद्भावभाषित्वात्, वरणश्रुतौ यमेवेति यच्छब्दोपचयात्
कस्यचिदेव वरणमिति निश्चीयते । अतो यत्र वरणभावः, तत्र भगवद्भावस्यासंभवा-
ज्ज्ञानिनां तथा वरणाभावात् भगवद्विषयको भावा न भावी, तेन भगवद्विषयक-
भावाभावाद् दुर्घट इत्यर्थः । ननु परमव्योमोऽक्षरस्य ज्ञानिज्ञानविषयत्वं यथा जायते,
तथाविर्भावोऽप्यस्तु । किंच, व्यापकस्याक्षरस्य विस्तृतकण्ठमणः स्मरणादिविषय-
त्ववत् ज्ञानविषयत्वमेवाविर्भाव इति तस्य च जातत्वात् कथं नेत्युच्यत इत्याशङ्क्या-
माह न नृपलब्धवदिति । तुः शब्दानिरासे । उपलब्धिज्ञानमक्षरविषयकम्, तथा
ज्ञानिगुहायां जायते, तद्वत् अक्षराविर्भावो न भवति, स हि वरणहेतुकः, वरणं तु भक्ता-
नामेव, न ज्ञानिनामतो नेत्यर्थः । न च ज्ञानविषयत्वमावभाषिभावः, किन्तु चाधुपविष-
यत्वम्, तत्र तेषां न भवति । अथ साक्षात्कारविषयत्वमेव सः । साक्षात्कारश्च मानसः
तेषामस्त्वैवेति नोक्तं साधीय इति विभाष्यते । तदापि यस्मै यत्कलं प्रयुदित्वाति, तं प्रति
स्वभावाभूत् तत् तथा श्राद्धोर्भावयति, नान्यथा, ज्ञानिनां त्वय्यस्कासक्तत्वात् तान् प्रति
तत्कृतन्यायान्भावयति तस्याधुर्भावयति । भक्तानां तु तत्तल्लीलाविशिष्टस्वस्वरूपासक्तत्वात्
तान्प्रति तत्कृतन्यायिनो व्यापियेकृष्णकर्मरज्जोकाविषयिष्ठे श्राद्धोर्भावयतीति साक्षात्कारविषय-
त्वेषु तेषां रूपेण न तस्य तथात्वम्, अतो न केवलदक्षरज्ञानात् तस्यासिरित्यर्थः ॥५४॥

अज्ञात्वब्रह्मस्तु न शास्त्रासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

अस्मिन्नर्थे कैमुतिकन्यायकर्मार्थं निर्दर्शनत्वेनाह अज्ञेयत्वादि । तुः शब्दानिरासे ।
उक्तेऽर्थे कर्मभावशङ्कान्न कापि, हि यतो हेतोरज्ञत्वब्रह्मः अज्ञेयु अन्नाधानादिषु अन्वचद्वाः,
'अन्वर्थे त्वां वृणे, होतारं त्वां वृण' इत्यादिरूपवरणं नियमितः ऋत्विजः न शाखाद्य-
ते सर्वशाखाविदोपि न सर्वासु शाखास्तृकन्याजानि कर्तुं शक्ताः, किन्तु प्रतिवेदम्,
'सौत्रयथा, आचर्येवं यजुषा, औद्गायं साक्षा' इति तत्तद्वेदानियतमेव कर्त्तव्यकर्मकारतः
कुर्वन्ति, तत्र सर्वशाखोक्तसर्ववेदोक्तकर्मकुशलानां यत्तत्त्वमात्रककरणम्, तत्रावचन्व-
हेतुभूतयजमानेच्छेव नियामिका, लोकिकेऽपि स्वामिन इच्छा, यत्र वैदिकलोकिकर्त्तव्यम्,
एवं तत्रान्तर्कोटिब्रह्मण्डनियामकमेवेच्छेव नियामिकेति किं वाच्यम् । अत उक्तेऽर्थे कर्म-
भावशङ्कान्न न कार्येत्यर्थः ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

ननु पूर्वं कर्मज्ञाननिष्ठानामपि पुरुषाणामपि भक्तिमार्गायत्वं भवति, तत्र तथैव
भगवद्वरणमिति सिद्धान्तः कृतः, इह तु ऋत्विज एकस्मिन्कार्ये वृत्तस्य न कार्यान्तरे
वरणमिति विरुद्धो घटान्त इत्यरुच्या निदर्शनान्तरमाह मन्त्रेत्यादि । मन्त्र आदि यस्य
तन्मन्त्रादि, तद्गुणसंविज्ञानः । मन्त्राः कर्म च, तद्वत्, यथा देवस्य त्वे त्वपङ्कमशो बहुषु
कर्मसु संवच्यते, यथा वा गायत्रीमन्त्रः सर्वोपस्थाने मन्देहादिनिकारेण च, यथा च,
'अग्निष्टोत्रे जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादिकाभ्याग्निहोत्रे कामितार्थसाधकत्वे प्रत्यव्याप्यदिहोत्रे
चैकमेव विनियुज्यते, तथात्राचैकमेव वरणं तत्र तत्र चोपयुज्यते, तेन तत्राभिज्ञानन्तरं
भक्तिनिष्ठेति घटान्तस्याविरोध इत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इत्यष्टादशं व्यतिरेकाधिकरणम् ॥ १८ ॥

भ्रष्टः क्रतुवज्जपायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥ (३-३-१९).

ननु सुखस्वरूपजिज्ञासायां 'यो वै भूमा तल्लुव'मित्युक्तम्, भूस्वरूपविज्ञासायां 'यत्र
नान्यत्प्रत्ययती'त्यादिना यद्ब्रह्मस्वरूपं निरूपितं तत्सर्वात्मभावस्वरूपमित्युक्तम्, तत्रोपपद्यते,
सर्वात्मभावे दुःसहदुःखानुभवतो विरहभावस्य पुराणे कथनात्, 'यो वै भूमा तदद्भुत'-
मिति कथनात् । किंच, 'स वा एष एवं पश्य'जिज्ञासुकृत्वाद्ये तस्य 'सर्वेषु लोकेषु काम-
चारो भवति' इति फलमुच्यते । तत्र मोक्षानन्तरमसंभावितमिति सर्वात्मभावो वा मोक्षो
वा प्रतिपाद्य इति भवति संशयः । तत्र कामचारोक्तैर्मुक्तिपूर्वदर्शनां तन्माहात्म्येषोपनार्थ-
त्वादुत्तरान्वाद्ये च मुक्तिरेव भूयपदेनोच्यत इति प्राप्ते, आह भ्रष्ट इत्यादि । भूयश्चेन्न
सर्वात्मभाव एवोच्यते । कुतः । हि यतो हेतोर्भूयः क्रतुवज्ज्यायस्त्वम्, दर्शपूर्णमासवत्सर्वा-
धिक्यम्, तस्मात् । तैत्तिरीयसंहितायां प्रथमप्रकरणप्रपाठकनवमानुषाक्तं 'परमेष्ठिनो वा
एष यज्ञोऽग्र आसीत्, तेन स परमां काष्ठामगच्छत्' इत्युपकम्य, 'य एव विद्वान् दर्श-
पूर्णमासो जयते, परमामेव काष्ठं गच्छति' इति श्रूयते, तत्र यथा व्रतादिदुःखालोकलेऽपि
परमकाष्ठालक्षणफलगमकत्वेन दर्शपूर्णमासयोः सर्वकृतन्यो ज्यायस्त्वम्, तथा दुःखालोक-
विरहभावसंमिश्रत्वेऽपि अनन्यत्वंसाक्षात्पुरुषोत्तमानन्दप्राप्तिहेतुत्वेन सुखरूपत्वमुच्यत
इत्यन्येभ्योऽस्य ज्यायस्त्वम्, तस्मात् स एवात्रोच्यते, न तु मोक्ष इत्यर्थः । अत्रोपपत्ति-
माह तथा हि दर्शयतीति । हि यतो हेतोः श्रुतिरेव तथा दर्शयति । 'स एवावस्ता'दित्या-
नुक्त्वा, ततोऽहङ्कारदेशमात्मादेशं च कर्मणोक्तत्वा तत एव पश्यत पुरुषस्य 'आत्यतः प्राणः'
इत्यादिना प्राणाशास्परदादीन् सर्वात्मान्मत् एव दर्शयति । एतच्च सर्वात्मभाववत् एकोपपद्यते,
न मुक्तस्य, युक्तिरेवाभावात् प्राणावभावाच्च, नापि जीवन्मुक्तस्य तस्य प्राचीनानामेव प्राणा-
दीनां मत्वेन 'आत्यत एव प्राणा' इत्यादिशास्त्रावरोक्तित्वात्प्राणैः । तस्मात् सर्वात्मभाव
एवात्रोच्यत इति निश्चयः ॥ ५७ ॥ इत्येकोनविंशं भूय इत्यधिकरणम् ॥ १९ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥ (३-३-२०.)

पूर्वाधिकरणत्रयेण सर्वात्मभावस्वरूप तदुत्कर्षतत्फलतदधिकारिणां निर्णयं कृत्वा, इदानीममुल्याधिकारिणामर्थं मत्स्यादिरूपाणां भगवद्वतारत्वमविशिष्टं यथा सुतेजःप्रभृतीनां वैश्वानरवयवत्वम्, अतस्तोषामिवैषामपि समस्तोपासना कतेत्या, किंवा पार्थक्येनेति शङ्कयाम्, उपास्यब्रह्मणोऽभेदेऽपि रूपभेदस्य सत्यत्वेकरूपोपासकस्य रूपान्तरानुपासनेऽनुपासनलक्षणस्यावज्ञादोषस्य संभवेन, क्रियमाण्या अयुपासनायाः सिद्धव्यसंभवात्मस्यैव कार्येति प्राप्ते, आह नानेत्यादि । सर्वेष्ववतारेषु नाना, पार्थक्येनैवोपासना कार्या । कुतः । शब्दादिभेदात् ॥ तत्रप्रपञ्चकानां पररूपाणां तदोषकवाक्यरूपाणां च शब्दानामादिपदादाकारकमणां च भेदात्, वैश्वानरवयवत्वस्तोपासन इवात्र दोषाकयनाचेत्यर्थः । तेन यिषो विरुद्धानामाकारकमणांमेकत्र भावनाभावनाशक्यताऽयुक्तता न भवतीति गुणोऽपि बोध्यः ॥ ५८ ॥ इति विशं नानाशब्दादिभेदादित्यधिकरणम् ॥ २० ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥ (३-३-२१.)

पृथगुपासनानि कार्याणीति स्थिते चिन्त्यते, किमशिवोत्रदर्शपूर्णमासादिवत् समुच्चय उत विकल्प इति । तत्र विधिफलयोः समानत्वात्समुच्चय इति प्राप्ते, आह विकल्प इत्यादि । उक्त विधानामुपासनानां विकल्प एव । कुतः । अविशिष्टफलत्वात् । सर्वेषां तेषां मुक्तिफलत्वेन तथात्वात् । तथा च मुक्तौ विशेषामावेनैकमादेव तत्सिद्धावयवस्य प्रयोजनाभावेन अशिवोत्रादीनामिव तेषां नित्यताबोधकस्य प्रमाणस्याभावेन च तेषां विकल्प एव युक्त इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चोयेरत्र वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

पूर्वाक्तप्रत्युदाहरणतया आह काम्यास्त्वित्यादि । यास्युपासनासु भिन्नानि भिन्नानि फलान्युच्यन्ते, तत्र स्वनेकफलाधिनेस्तत्काममवततिकम्य तत्फलक्रोपासनाः समुच्चोयेरन्, समुच्चयेन कार्याः । कुतः । पूर्वहेत्वभावात् । अविशिष्टफलत्वरूपस्य हेतोरभावात् । नत्रा अत्र वाशब्दो विकल्पाधोऽपि अत्यर्थकत्वेन फलति, तथा च यत्र स्वैकस्यैवोपासनस्य स्वकामितानेकफलकत्वम्, तत्र चेत् तत्सर्वफलकाङ्क्षायां तामेवोपासनां कुर्यात्, तदा तथैव सर्वेषां कामितानां फलानां सिद्ध्या अन्यास्तत्फलेका उपासना न समुच्चोयेरन्नपि । अत्रापि स एव हेतुः । अत्र स्वकामितफलेषु तदितरवैशिष्ट्येन अविशिष्टत्वरूपविशेषणामात्रं विशिष्टफलत्वस्याभावेन हेत्वभावेन बोध्यः । तेन नानार्थत्वादिद्वयोऽयं प्रयोग इत्यर्थः ॥ ६० ॥ इत्येकविंशं विकल्प इत्यधिकरणम् ॥ २१ ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥ (३-३-२२.)

कर्मादेशोपलभावेन स्वतः फलजनकतया प्रथममृतोपासनासु निर्णयमुक्त्वा, अन्यशेषासु निर्णयं वक्तुमेकफलसाधकानामनेकेषामुपासनां रूपभेदाङ्गभेदाभ्यां भेदेऽपि

तेष्वेकतरोपासने क्रियमाणे तत्फलकोपासनान्तरोफाल्यज्ञानि समुच्चोयेरन्, न वेतिसंख्ये, फलेक्यास्तसमुच्चोयेरन्निति प्राप्तम्, तत्र निर्णयमाह अङ्गेष्वित्यादि । अङ्गेषु, तदुपासनाङ्गेषु । यथाश्रयभावः । आश्रयमनतिक्रम्य यथाश्रयं स्वाश्रयतृतोपासनामनतिक्रम्य भावः वर्तमानत्वम् । नान्यत्र तत्यागिरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

विशिष्टम् ॥ ६२ ॥

उक्ते नियमे हेतुमाह विशिष्टेति, तदुपासनस्य श्रुतौ तत्प्रत्ययिनियताङ्गवैशिष्ट्येनैवाश्रयशसनात् । चकारोपातिरिक्तकरणे प्रायश्चित्ताकारिणं वाधिकेति सापि संयुज्यते । तथाचात्थानुशासनादातिरिक्तकरणे प्रसक्तेश्च तत्रैव हिन्दुज्ज्ञानि कार्याणि, न त्वन्यत्र समुच्चोयेनीत्यर्थः । एतदुदाहरणं तु, अन्वयार्थं 'मनो तान्त्रिकारो वाक्प्रस्ताव' इत्यादिभेदशक्तिव्येगीयत्रादिनामग्रहणपूर्वकं विहितेषु दशसुपासनेषु 'सर्वमासुरेति ज्योत्स्वी जीवति' इत्यायुक्तानां सर्वोयुभंगादीनां फलानामिष्यत्वात्, तदुपासनाङ्गमूतानां क्रमेण तत्र तत्रोक्तानाम्, 'गहामनाः स्यात्प्रकृतम्' 'न प्रत्यङ्गमिमांसा' 'निर्धिवेत्प्रकृतम्' इत्यादीनां भिन्नानां श्रावणात् तानि ज्ञेयानि । एवमन्यान्यापि द्रष्टव्यानि ॥ ६२ ॥ इति द्वाविंशमङ्गेष्वित्यधिकरणम् ॥ २२ ॥

समाहारत् ॥ ६३ ॥ (३-३-२३.)

कर्माङ्गभूततया कर्ममार्गाविष्णुपासनेषु निर्णयमुक्त्वा, ज्ञानमार्गाविष्णुपासनेष्वङ्गनिर्णयमाह सूत्राभ्याम् । अत्र 'अङ्गेषु यथाश्रयभाव' इति पूर्वस्मादुत्पद्यते । अथर्वोपनिषदुक्तेषु श्रीरामानुजासनेषु तत्रतत्रका भयोः किं तत्र तत्रैव नियम्येरन्, उत समुच्चोयेरन्निति संशये, पूर्वोक्तन्यायेन तत्रैव नियम्येरन्नितिप्राप्तम् । तत्राह समाहारोदिति । तत्र हि यथा ते ते भर्मा उच्यन्ते, तथा 'यो वै रागचन्द्रः स भगवान् ये वै मत्स्यकूर्माधवतारास्तस्यै वै नमो नमः । यो वै शृङ्गिहो देवो भगवान् यश्च ऋषा तस्मै वै नमो नमः । नमस्ते रुद्रवर्षाय रावणान्तकराय च' इति रूपान्तरलेनापि स्तुतिः श्रूयते । सा च स्तुतिर्भगवत्त्वेनेति भगवत्सदादवगम्यते । पुराणे च प्रकथ्यते । एवं सति भगवत्प्रार्थनायेन तदुपासने समाहारस्य दर्शनादेकस्मिन्नपि रूपे तानि सर्वेषुपसंहृत्य सर्वरूपलेनोपासना कार्येति युक्तमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्च ॥ ६४ ॥

ऐश्वर्यवीर्यादिगुणानां तेषु साधारण्यश्रवणाच्च तथेत्यर्थः । एवं हेतुद्वयेनोपसंहार उक्तः । रूपभेदप्राधान्यं त्वनुपसंहारपक्षः पूर्वं 'नाना शब्दादिभेदा'दित्यत्रोक्त इति न विरोधः ॥ ६४ ॥ इति त्रयोविंशं समाहाराधिकरणम् ॥ २३ ॥

न वा तत्सहभावाद्युतेः ॥ ६५ ॥ (३-३-२४.)

ननु एवमुपासनमशिवोत्रदर्शपूर्णमासादिवन्नित्यं समुच्चयम्, उत यावज्जीवमेकमेव कार्यमित्येवं वैकल्पिकमिति संशयः सर्वेषां सर्वरूपलादिना तौषात्रित्यमिति प्राप्ते, समु-

त्रयनिषेधमाह नेत्यादि । न, समुच्चयो न कार्यः, किन्तु वा, ऐच्छिको विकल्प एव युक्तः । तत्सहभावाश्रुतेः । नियमतस्तेषां रूपाणां सहभावप्रवर्णनं चेत्स्यात्, तयोपासनस्य नित्यता स्यात्, न त्वेवम् । अत ऐच्छिक एव विकल्प इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

योऽपि रूपान्तरसमाहारपूर्वकमुपास्ते, सोऽप्येकं रूपमुपास्यत्वेन मत्वा तयोपास्ते, तस्य फले चैकरूपत्वेव दर्शनं भवति, न तु सर्वेषाम्, इतो हेतोः विकल्प एवेत्यर्थः । अत्रोपासननिर्णयान्ते दर्शनाच्चेति सूत्रयता भगवता व्यासेनोपासनानामुपास्यदर्शनं फलमिति स्यञ्चत इति बोध्यम् ॥ ६६ ॥ इति चतुर्विंश न वा तत्सहभावाश्रुतेरित्यधिकरणम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणैकतानश्रीब्रह्मनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥ श्रीः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥ (३-४-१.)

पूर्वस्मिन्पादे परमातेरन्तरङ्गसाधनमूलात् विद्यायां मर्यादापुष्टिभेदेन वर्णनैविव्यादानेकविधेष्वधिकारिप्रयुक्तानां विचारेण तत्र तत्र तद्विद्युत्तुगुणोपसंहारो विचारितः । इह तु पुष्टिमार्गीयविद्यायां बाह्यरङ्गसाधनानामपेक्षत्वेऽपि पुष्टिमर्यादासामर्गीयानां केवलमर्यादासामर्गीयानां च बहिरङ्गसाधनमूलाश्रमादिसापेक्षत्वात् तद्विचारेण कर्मणामुपसंहारो हीनमध्यमधिकार्यर्थं विचार्यते । 'क्षिप्रं हि यासुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा' इति वाक्यान्मन्दमध्यमयोः प्रायशस्त्रैवास्तेः । तस्य च हेतुः पूर्वमुपसंहारसूत्रे 'अर्थाभेदात्' इत्यनेनोक्तः । तत्रार्थशब्दो वस्तुवाची प्रयोजनवाची चेति यथा वस्तुवाचित्वमादायोपास्यभेदादुपासनानामुपास्यशाखात्तरोक्तगुणोपसंहारो भवतीत्युक्तम्, तथात्र प्रयोजनवाचित्वमादाय कर्मणामप्युपसंहारो भवति न वेति विचारयन्, कर्मणां शीघ्रं फलसाधकत्वाद्भवतीति प्राप्ति, सिद्धान्तमाह पुरुषार्थ इत्यादि । पुरुषार्थः फले भगवत्प्राप्तिरूपः । अतः सर्वात्मभावरूपविद्यते एव । कुतः । शब्दात् । 'नाथमाला प्रवचनेन लभ्यः' इत्यत्र प्रवचनादीनां कर्मणामेतदात्मलाभहेतुतानिचारणपूर्वकं वर्णनाद्यकारणताबोधकाद्यप्यरूपाच्छब्दात् । एवं 'ब्रह्मविदाम्पि परम्' इति 'तमेव विद्वानमृत इह भवति' इतिजातीयकाः केवलविद्याकारणत्वबोधका अपि शब्दाः हेतुत्वेन बोध्याः । श्रुतिप्रद-भनुत्सा शब्दप्रदप्रयोगात् 'केवलेन हि भावेनेत्यादयः साधनान्तराध्यायस्य भावमात्र-प्राप्त्यत्वबोधकाः स्युतिरूपा अपि शब्दाः संगृहीता बोध्याः । स्वनामग्रहणात्स्वस्यात्रैव भरो बोधितः ॥ १ ॥

शेषत्वात्पुरुषार्थवादा यथान्तेष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

सिद्धान्तं दृष्टीकर्तुं षड्विः सूत्रैर्जैमिनिमतेन पूर्वपक्षमुत्थापयति शेषत्वादित्यादि । वेदान्ते हि द्विविधानि विद्यावाक्यानि, जीवस्वरूपबोधकानि ब्रह्मस्वरूपबोधकानि च, तत्र जीवः कर्तृत्वात्कर्मार्यः । विष्णुभंगवानपान्यत्वात् कर्मशेषः । शेषलक्षणे 'पुरुषः कर्मार्यत्वा'दिति प्रयुक्तलक्षणे 'यजतिचोदनाद्रयदेवताक्रियासमुदाये कृतार्थत्वात्' इति सूत्रात् । अतः कर्मशेषत्वात् वेदान्तराक्येषु विद्यायां तद्वैद्ये च पुरुषार्थवादः पुरुषार्थरूपत्वमुच्यते । तत्र दृष्टान्तः । यथान्तेषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु, 'यस्य पर्यमयो जुहुर्भवति न पाप'श्लोक-श्रुणोति, 'यदाह्ने, चक्षुरेव तद्गतुष्यस्य वृक्षे, यत्प्रयाजानुयाजा इत्यन्ते वर्म वा

एतद्यज्ञस्य क्रियते वमं यवमानस्य भातुव्यामिप्यूलै' इत्यादिफलश्रुतिर्यैवादाः, तथा विद्यावेधयोरपि पुरुषार्थोक्तिर्यैवादाः । 'द्रव्यसंस्कारकर्मणु परार्थत्वात्फलश्रुतिर्यैवादाः सा'दिति प्रयुक्तिलक्षणे सूत्रादित्यम् ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

स्वोक्तोपोद्दलनाय हेत्वन्तराभ्याह आचारेत्यादि । ब्रह्मविदामपि वशिष्टादीनाम-
मिहोत्राचारस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेज' इति ब्रह्मविदोऽपि जनकस्य यज्ञ-
करणश्रुतेः ॥ ४ ॥

समन्वारंभणात् ॥ ५ ॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारमेत' इति श्रुत्युक्तादियत्कर्मणोः साहित्येनेव फलस्य
सम्यग् लक्ष्मीकृत्यारंभणादुत्पादनात् ॥ ५ ॥

तदन्तो विधानात् ॥ ६ ॥

'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोस्तं वृणीत' इति कल्पश्रुत्या ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेनार्त्विज्ये
वरणविधानात् ॥ ६ ॥

नियमाश्च ॥ ७ ॥

'आश्विनं धृषललामामलमेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेतु, यावज्जीवमग्निहोत्रं
लुडुय्यात्' इत्यादि श्रुत्युक्तकर्मकरणनियमात् । चकारेण 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो
नोपपद्यते, भोष्टात्स्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तित' इति स्मृतिः संगृह्यते । तथा च यदि
केवलया विषयैव पुरुषार्थः सिध्येत, तदा ब्रह्मविदो वशिष्टाद्या यज्ञादिकं नाचरेयुः, श्रुतिश्च
जनकादिज्ञानिनां यज्ञकरणं नातुवेदत्, फलसमारंभणे विद्याकर्मणोः साहित्यं च न
वदत्, ब्रह्मिष्ठस्यत्किञ्चलेन वरणं च न विदध्यात्, असोमपस्य दुर्ब्राह्मणत्वं अग्निहोत्रे
यावज्जीवाधिकारं च वदन्ती सर्वदा कर्मनियमं च न कुर्यात् । गीतास्मृतिश्च 'नियतकर्म-
त्यागस्य तामसत्वेन निन्दानं कुर्यात्, अत एतेन्यो बाधकहेतुभ्यो विद्यायाः फलसा-
धकत्वे वारिते तस्याः कर्मशेषमृतकृत्यस्वरूपबोधकतया इज्यस्वरूपमाहात्म्यबोधकतया च
कर्मशेषत्वमेवादर्णीयमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अधिकोपदेशात् वादरायणस्यैव तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

एवं षड्भिः पूर्वपक्षमूल्याय परिहरति अधिकेत्यादि । 'तु' शब्दः पूर्वपक्षं निवा-
रयति । यदुक्तम्, द्रव्यदेवतासंबन्धरूपे योगे द्रव्यदेवताया अपि तादर्थ्यादिज्यत्वे

कर्मशेषत्वं ब्रह्मणः इति । तदुक्तम् । कुतः । अधिकोपदेशात् । अधिकस्योपदेशोऽपि-
कोपदेशः 'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं
प्रसास्ति यदिदं किं च स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एव एवासाधुना कर्मणा' नित्या-
नुत्तया, अग्रे 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिपन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेना-
नाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रभाविनो लोकमभिसन्तः प्रवज्जन्ति' इति
वृहदारण्यकश्रुतौ कर्मपक्षया अधिकतयोपदेशस्तस्मात् । तथा च यज्ञादेर्यज्ञानसाधकता
श्रुत्याप्यन्ते, तस्य यज्ञादिकं निना दुर्ज्ञेयत्वादिज्यत्वेन यज्ञशेषत्वापादनमयुक्तम् । न च
वेदानुवचनेनेत्यादिभिस्तृतीयाश्रुतिभिर्ब्रह्मण इज्यत्वेन ज्ञानस्य यागपूर्वाङ्गत्वात्स्येव तज्ज्ञान-
नमिति तस्य कथं न यज्ञशेषत्वमिति शङ्क्यम् । स्वर्गं फलत्वेन ज्ञानस्य तथात्वेऽपि
स्वर्गस्य तच्छेषत्वाभावेनाप्रयोजकत्वात्, इज्येन देवताकृपेण यज्ञाथेत्वेऽपि मूलरूपेण
तथात्वाभावात्, न च विष्णुवादिनाम्ना भ्रमितव्यम्, विसृतिरूपस्य तस्य तन्निष्ठत्वात्,
अधिकोपदेशापदेन ततोऽप्याधिक्यबोधनाश्च । न च 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिपन्ती'-
तिवत् 'यदेव विषया करोति तत्तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवती'त्यपि श्रूयते, तथा सति पूर्वया
यथा यज्ञशेषत्वं प्रतिपाद्यते, तथात्तरया कर्मशेषत्वमप्यायातीति न पूर्वैकतरनिश्चय इति
शङ्क्यम् । 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इत्यादिके तुतुत्तरवाक्ये यज्ञेन ब्रह्मवेदोत्तरं
संन्यासश्रावणेन गार्हस्थ्यबोधनात्, तथा सति ब्रह्मवेदान्तरं यज्ञाभावेन ब्रह्मणस्तच्छे-
पताया बाधितत्वात्, 'यदेवे'ति श्रुतेरुदीयविद्यायां पठितत्वेन तन्मात्रविषयतया इतर-
विद्यासंग्रहस्य तथा कर्तुमशक्यत्वात् । न च ब्रह्मणः कर्तृत्वश्रावणादिश्रुतजायिनि ब्रह्मणो-
ऽपि कर्तृत्वात्कर्मशेषत्वं शङ्क्यम्, 'स न साधुर्न'त्यादिना कर्मकृतगुणदोषसंसर्गराहि-
त्यश्रावणस्य विरोधात् । अतः कर्मस्य इज्येभ्यः कर्तृभ्योऽप्यधिकस्योपदेशात् ब्रह्मणः
कर्मशेषत्वम्, नापि विद्यायाः । 'नायमात्मे'ति, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेके-
ऽमुतत्वमानानु'र्गित्यादिषु तस्या अप्याधिक्यबोधनादिति स्वमतमपि जैमिनिमतानुल्लङ्घ-
नित्वाहं वादरायणस्यैवमिति । वादरायणस्य मतमेवम्, सूक्ष्मदृष्टया विचारात्
स्थूलदृष्टया विचारकमततादधिकमित्यर्थः । एवं श्रुत्या पूर्वपक्षमतं निरस्य शिष्याविश्वासायै
प्रमाणत्वेन स्वानुभवमाह तद्दर्शनादिति । तस्य भगवतो भक्तिमार्गस्य च दर्शनात्,
इतरस्मादाधिक्येनानुभवविपर्ययः ॥ ८ ॥

तुल्यं दर्शनात् ॥ ९ ॥

एवं मुख्यतया ब्रह्मणस्तत्सङ्गेन विद्यायाश्च कर्मशेषत्वं परिहृत्य, विद्यायाः कर्मशेषत्वं
मुख्यतया परिहृतुं जैमिनीयान् कर्मावश्यकत्वबोधकत्वात्कान् हेतूनाभासोत्करोति ।
तुल्यं दर्शनमित्यादिभिः । यदुक्तमाचारदर्शनादिति, तन्न, यतो दर्शनामाचारवत्त्वयो-
स्तुल्यम्, शुक्रभरतसनकादीनां कर्मत्यागदर्शनात् । तथा चाचारदर्शनाभ्यानुपपत्तया

विद्यायाः कर्मशेषत्वं न कल्पयितुं शक्यम्, तदभावदर्शानान्यथानुपपत्त्या शेषत्वाभावस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वादित्यर्थः ॥ ९ ॥

असाधैत्रिकी ॥ १० ॥

ननु 'जनको हवैदेह' इति श्रुतिसाहाय्यादाचारदर्शनेन त्यागदर्शनालक्षलभितः श्रुतिमपि साधारणीकरोति असाधैत्रिकीति । ब्रह्मविदः कर्णबोधकश्रुतिर्ने सर्वत्रष्टाविद्विषया, 'एतदस्मि वै तद्विद्वांस आहु कृष्यः कावेषेयाः, किमर्थी वयमप्येषामहे, किमर्थी वयं यक्ष्यामहे, एतदस्म वैतल्यं विद्वांसोऽग्निहोत्रं न ब्रह्मवांचिन्ति, एतं वैतमाल्मानं विदित्वा पुत्रैषणायाश्च विनैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्पाय, अथ भिक्षार्चयं चरन्ति' इत्यादि तद्विरुद्धश्रुतीनां विद्यमानत्वात् । अस्तत्या श्रुत्यापि न विषयः कर्मशेषत्वसिद्धिरित्यर्थः १०

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

ननु मास्तु श्रुत्याचारार्थं शेषत्वनिर्णयः, तथापि ब्रह्मवित्त्वाविशेषे कथमेकेषां कर्मकरणमेकेषां तत्याग इति विभागः इत्यत्र हेतुवैकल्यं, नो चेत् कर्मत्यागिनां कर्मानविकारित्वमेवाङ्गीकार्यम्, तथा पूर्वोक्ताचारश्रुतिस्यां विद्याया वेद्यस्य च कर्मशेषत्वं दुरपेक्षमि-
त्स्यत आह विभाग इति । अयं यो विभागः सः शतवत्, शतानन्दिनां यथानन्द एक-
साहस्रतरोत्तरः शताधिकः, तद्वत्, तथा च तत्र यथा श्रोत्रियत्याकामहतरूपाधिकाराधिक्यादा-
नन्दाधिक्यम्, तथात्र प्रकृतेऽप्यन्यमावराहित्याधिक्येन भगवद्भावाधिक्यम्, अतोऽधिकार-
तारतम्यं विभागहेतुरित्यसाधारण्यत्र प्रत्यवस्थानावकाश इत्यर्थः । न चैतत्सूत्रस्यैवं
व्याख्याने समन्तरभणसुत्रस्यानुत्तरणात् तेन प्रत्यवस्थानं शङ्क्यम्, तद्विषयत्वाच्चोप-
संहरते 'इति तु कामयमान' इति कथनार्थकर्मज्ञभूतविद्याया एव तत्र विवक्षितत्वावगमेना-
शङ्काया एवानुदयेन प्रान्तिमूलत्वादिति ॥ ११ ॥

अव्ययनमात्रजननः ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'तद्वतो विधाना'दित्यनेनास्मिन्विशेषत्वं विद्याया इति, तदयङ्गतम् । तत्र
ब्रह्मशब्देन वेद एव बोध्यते, न चेष्टनप्रत्ययविरोधः । ब्रह्मत्वेनाविकृतत्वं ज्ञात्वा सततं
योऽधीति, ननु वेदात्कलं कामयते, सोऽतिशयेन ब्रह्मवानिति तत्र विवक्षणात् तादृशस्यव्यय-
नमात्रवतो ब्रह्मत्वात् आर्त्विज्येऽधिकारात् तद्वर्णं कल्पे विधीयते, ननु ब्रह्मज्ञानवतः । न च
साङ्गसारदस्यवेदाध्ययने वेदान्तार्थरूपब्रह्मज्ञानं तस्यानुक्तसिद्धिमिति वाच्यम् । विद्यापदेनापर-
श्चब्रह्मज्ञानस्य विवक्षिततया शाब्दस्याङ्गतायामपि प्रकृते दोषाभावात्, अपरोक्षज्ञानस्य
विवक्षितत्वं तु छान्दोग्यस्य सनत्कुमारनारदसंवादादेव स्फुटतीति नात्र शङ्कालेशः ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

यदुक्तम्, 'आश्विनं भूमलाममालमेत' इत्यादिषु कर्मकरणनियमात्यागप-
क्षापेक्षया करणपक्ष एव ज्यायान् । अतो विद्यायाः कर्माङ्गत्वं दुरपेक्षमिति । तत्र । कुतः ।

अविशेषात् । 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमुतत्वमानशुः' इति श्रुत्या कर्मादि-
भिर्गोक्षापासिषुक्त्वा, त्यागेन सा बोध्यते, तेन मुमुक्षोः कर्मत्यागावश्यकत्वात्तन्नियमः
सिध्यति । तेन कर्म कुर्वता जनकादीनामप्यन्ते मोक्षप्रश्नात् त्याग एव तात्पर्यमित्यर्थः ।
ननु तुरीयाश्रमे कर्मत्यागो द्वितीयाश्रमे तु तत्कर्तव्यम्, कर्मणि कर्ता शेषत्वादित्यर्थः ।
तस्य नित्यज्ञानभाववश्यकम्, अन्यथा स्वर्गादिभोगस्तस्य नोपपद्येत, तच्च ज्ञानं घष्य-
नुमानादिनापि भवति, तस्मापि यथान्यतः क्रतुज्ञानसंभवेऽप्यव्ययनोपात्तेवेदावकाशव्यवत-
कर्मस्वरूपाणामेव पुसां कर्मव्यधिकारः, तथैवाव्ययनोपात्तापिनिषेधव्यावधानात्मतत्त्वानामेव
कर्माधिकार इत्यध्ययनविधिवलादवगम्यते । अतो वेदान्तजन्यमालम्बानं तु कर्तृद्वारा
कर्मशेषमेवेति शङ्काप्येतेनैव निरस्ता बोध्या । नियमेऽविशेषवदाश्रमेऽप्यविशेषात्कर्तृत्वस्य
त्यागकर्मणोः साधारण्येन तद्वद्वारा ज्ञानस्य तत्रैकूपकत्रेदान्तभागस्य च कर्ममानशेषताया
नियन्तुमशक्यत्वात्, तत्राल्मनो देहादिभ्यो विविकृतस्य मोक्षोपयोगिन एव सिद्ध्या तार-
शसा ज्ञाने त्यागस्यैव सिद्ध्या तेन कर्मासिद्धेर्भेति । तस्मात्तदुक्ताः सर्वे हेतव आभासा
एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

स्तुत्येऽमुमतिर्वा ॥ १४ ॥

एवं पङ्क्तिः स्वैर्जैमिन्मुक्तान् हेतुताभासौकृत्य ब्रह्मिष्ठशब्देन ब्रह्मण एवोच्यत इति
तदीयप्रहिलवादमाशङ्क्य निराचष्टे स्तुत्यम् इत्यादि । दर्शयमाणसावेतादृशो यत्र ब्रह्म-
विदास्त्विकापिकारित्वेवं दर्शयमाणसास्तुत्यर्थम्, ब्रह्मिष्ठत्वात्कथनास्त्वित्यनुज्ञा क्रियत इति
ब्रह्मिष्ठपदादवगम्यते, अतिशयेन ब्रह्मवान् हि ब्रह्मिष्ठः, तत्र निष्ठावान्, स यदा कृताकृता-
वेक्षको भवति, तदा तत्कर्म साहं भवति, 'यत् तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवे'दिति
दर्शनमात्रेण व्यङ्ग्यतानिबुद्धिसरणादिति । अतः कर्मानुग्रहार्थं तथातुज्ञा, न तु ब्रह्मविदोऽपि-
कारबोधनार्थम्, पूर्वोक्तानुपपत्तिभिरैव पराहृतत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

ननु 'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणस्य न कर्मणा कथंते नो कर्नीयान्' इति
श्रुत्या, ब्रह्मविदः कर्मकृतगुणदोषी निषिध्यते । निषेधश्च प्राप्तिपूर्वक इति ब्रह्मविदः
करणभावस्यकमिति दिङ्गदर्शनात्त्याप्यत इति चेत्, तत्राह कामकारेणेत्यादि । कामे-
नेच्छया कर्णेण कामकारः । चकारेणशरेच्छया कर्णेण एके शशिनः पठन्ति, 'एष नित्यः'
इत्यादिना, 'सर्वस्य वशी सर्वस्वेशानः' इत्यादिना च । तथा च परानुग्रहेच्छया करणेऽपि
तत्कृतगुणदोषासंसर्गात् न पुंसस्य कर्मशेषत्वमिति, तत्र तादृशसामर्थ्यं त्रिनिष्ठाया विद्यायाः
कर्मशेषत्वं शङ्कितुमप्यशक्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

उक्तोपपद्यमान्य सूत्रान्तरं पठति उपेक्षया । एकं शास्त्रिन अखण्डद्वैतमाने कर्मतदधि-
कारयोः समर्दमभावमपि पठन्ति । 'यत्र त्वस्य सर्वमाल्लैशामृतं, तत् केन कं पश्ये' इत्यादि-
दिना । अखण्डब्रह्मभानं च ब्रह्मेति भानम्, न तु 'इदं सर्वं ब्रह्म' इति, उद्देश्यत्वेन पुरोवर्ति-
भानात्, तथा च तादृश्यस्य कर्मकृत्यत्वमभावात् क्व ज्ञानस्य कर्मशेषत्वसंभवात् नापीत्यर्थः ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतरस्तु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

एवं त्रिभिः सूत्रैर्ग्रहिलवाद् निराकृत्य, श्रुती ब्रह्मचर्यगाईस्थानेवाभिप्रेतो, चातुरा-
श्रम्यपक्षस्तु स्मार्तेत्वाच्चिर्बल इति, तदादाय कर्मत्यागादारो न युक्त इत्येवं ग्रहिलवादान्तरं
परिहरति ऊर्ध्व इत्यादि । च पुनः ऊर्ध्वरेतस्त्वाश्रमेषु कर्माभावभेके जाबालाः शास्त्रिनः
पठन्ति । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य युद्धोभवेत्, युद्धाद्वनीभूत्वा प्रवजेत्' इति क्रमेण चातुराश्र-
म्यपक्षमुक्त्वा, 'यदि वेतरया ब्रह्मचर्यादेव प्रवजेत् युद्धाद्वा वनाद्वा, अथ श्रुती वा, अत्र-
ती वा स्नातकोऽस्नातको वोत्सन्नाश्रिणयिको यद्दहदरेव विरजेत् तदहरेव प्रवजेत्'
इति । तथा चाश्रमचतुष्कस्यापि श्रौतत्वाच्च तस्य नैर्बल्यम् । तस्यायुर्भोगक्रमेणादरे
चतुर्ग्रामस्यस्याध्यादिकमपि क्वचित्संभाष्यत इति तद्धारणाय 'यदि वे' इत्यादिना पक्षान्तरं
तत्र वैराग्यस्यैव हेतुत्वं चाह । तेन स्वगो वैराग्यस्यैव हेतुत्वम्, न कर्माधिकाराभावस्येति
शेषयति । ब्रह्मचर्योन्नतरं केषांचिद् गाईस्थस्य, केषांचित्संन्यासस्य च कथनेन वैराग्यस्य
दुर्लभत्वं च सूचयति । अतो भगवदनुग्रहसाध्यमेव वैराग्यम्, अतो न नैर्बल्यसंभवा-
नापीत्यर्थः । ननु संन्यासेऽपि तदाश्रमीणं कर्म योगाभ्यासादिरूपं वर्तते । अतो वैराग्यसद-
कृतं ज्ञानं तच्छेषभूतम्, वैराग्यरहितं त्वसिद्धोपादेशेषुभूतमिते शङ्कायामाह शब्दे होति ।
हि, यतो हेतोर्ज्ञानस्वरूपं तत्कलं च न युक्तियोग्यम्, किन्तु शब्दे, वेदे, अतस्तन्नात्रागम्यम्,
तत्र तु, 'तमेवं विद्वानस्य इह भवति', 'ब्रह्मविदामोति परम्', 'एवं विदुरमुस्तासे भवन्ति'
इत्यादिवाक्यैर्मोक्ष एव फलं श्रूयते । सर्वेषां यागादिसाधनानां च तत्रैव पर्यवसानमिति
'नेतत् वेदानुचचनेन' इत्यादिविधुत्वावसीयते । अत उक्तश्रुतिविरोधात् संन्यासाश्रमी-
कर्माङ्गत्वमपि न विद्यायाः शक्यवचनमित्यर्थः । तेन 'वेदान्तिविज्ञानमुनिश्चितार्थोः संन्या-
सयोगाद् यतयः शुद्धसन्वा' इति तैत्तिरीयश्रुत्या संन्यासस्य सत्त्वशोधनद्वारा ज्ञानोपकार-
कत्वं वेदान्तिविज्ञानस्य चार्थनिश्चायकत्वात्कलसाधकत्वम्, फलं च ब्रह्मप्राप्तिरेव, यादुःखा-
भावपूर्वकप्रमानन्दरूपत्वात्, अतः कर्मविधिनापि परंपरया मोक्ष एव फलत्वेन परासुर्यत
इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

परामर्शो जैमिनिश्चोदना चापबदन्ति हि ॥ १८ ॥

तं परामर्शं पूर्वोक्तं श्रुतितात्पर्यनिश्चयं जैमिनिः कर्मस्वातंत्र्यवादी अपबदन्ति,
भाषते, स हि मोहकशास्त्रवादी, 'द्विजन्मना जैमिनिना पूर्ववेदमायायतः । निराश्रयेण वादेन

कृतं शास्त्रं महत्तर'मिते पाषाणवाक्यात् । अतः कर्मानधिकारे आयुस्तुरीये भागे आध्यादिना
संपन्ने संन्यासस्तादृशैः कार्यैः । अन्यथा 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते' इति
निन्दा न श्राप्यत । अतः कर्मण्येव श्रुतेस्तात्पर्यम् । अपि च, अचोदना, ज्ञानकर्मणोरलौ-
किकफलसाधकत्वे तत्त्वेन विहितत्वमेव प्रयोजकम् । अपरोक्षज्ञानवाक्यं च विद्यायको
लिङ्गादिप्रत्यया न श्रूयते, अतो न मुक्तिसाधकत्वं शक्यवचनम्, च 'य एनं विदुः'
इत्यादिस्तु यागेज्यविष्णुस्तुतिपरा । तस्मात्ज्ञानस्वातंत्र्यं न युक्तमिति ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

एवं तन्मतमनूय दूषयति । अनुष्ठेयं कर्म वादरायण आचार्योऽपवदतीति पूर्वो-
क्तस्यानुपपन्नः । तत्र हेतुः । साम्यश्रुतेः । निन्दासाम्यश्रवणात् । 'यथा वीरहा वे' इत्यादी
कर्मत्यागनिन्दा, तथा 'अयुर्यो नाम तं लोका' इत्यादि तमसावृताः, तांस्ते प्रत्यापि यच्छन्ति
अविद्वांसोऽपुधा जनाः' । एतदत्रे च, 'य एतद्विदुरस्तासे भवन्ति । अथेतेरो दुःखमेवापय-
न्ती'ति च भगवच्छानरहितस्यापि निन्दा श्रूयते । अतः श्रुतितौल्यादुभयमयवश्यकम् ।
अतो नानया प्रत्ययस्थातुं युक्तमित्यर्थः । न च रागिविरागिभेदाधिकारभेदादुभयसाम्यवि-
तिवाच्यम् । वीरहत्वदोषस्य ज्ञानिन्यसंसर्गात्, 'नेनं कृताकृते तपत' इति, 'य ए नित्यो
महिमा प्राणस्य न कर्मणा वषते नो कर्तव्यान्' इति श्रुत्या तथावसायात् । नैवमवि-
द्वत्कृतस्य दोषस्य कर्तव्यसंसर्गोपेक्षिता श्रुतिरुपलभ्यत इति साम्याभावात् । एताभ्यामेव
श्रुतित्वां ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमप्यभास्तुः । न च ज्ञानं चोदनाभावः शङ्क्यः । 'तस्मादेवं-
वित्' शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठतिः श्रद्धाचितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति
तस्या अपि सत्त्वात् । इतः पूर्वम्, 'एष नित्यो महिमा प्राणस्य' इति मन्त्रेण, तत् पूर्वम-
न्येन चात्मरूपस्य फलस्योक्तत्वात् । अतो ज्ञान एव प्रवर्तनीयम्, न कर्मणीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विधिष्वो धारणवत् ॥ २० ॥

ननु यदि ज्ञान एव श्रुतेस्तात्पर्यम्, न कर्मणि, तदा तत्प्रधानकर्तृकाण्डवैयर्थ्यापत्ति-
रित्याशङ्क्य समाधत्ते विधिधिरित्यादि । पूर्वकाण्डोक्तः कर्मविधिः धारणवत्, वा शब्दोवधा-
रणे । पुष्टिगर्गो तदनपेक्षणात्, मर्यादागर्गो एव तदपेक्षणादिति । तथा च यथा योगशास्त्रे
मानस्य मूर्तेधारेणं समाध्यङ्गत्वेन विधीयते, न तु स्वतंत्रफलसाधकत्वेन, तदत्त कर्मणि ज्ञान-
मत्तयोरङ्गत्वेन विधीयते । अतो न पूर्वकाण्डवैयर्थ्यमित्यर्थः । न च तत्र समाधिधिकृत्य तद-
ङ्गविधाने यमादिवद्धारणस्य विधानाद् युक्तं धारणस्य तदङ्गत्वम्, इह तु ज्ञानमत्तयोर-
प्रकृतत्वात् तदङ्गत्वं न वक्तुं शक्यम्, दृष्टान्तवैयर्थ्यादिति वाच्यम् । प्रकरणाभेदेऽप्यन्य-
थानुपपत्तिरुपया आवश्यकोपपत्त्या कर्मणा ज्ञानाङ्गत्वे श्रुतेस्तात्पर्यनिश्चायात् । अन्यथा-

नुपपत्तित्वेवं बोध्या । श्रुतिर्हि पूर्वकाण्डे ऐहिकसमुष्मिकतत्फलजनकानि काम्यानि कर्माणि विचार्य तेषां यन्मुख्यं फलं तन्नित्यकर्माङ्गेषु बोधयति । यथा 'चमसेनापः प्रणये-
द्रोदोद्देहेन पशुकामस्य' इत्यादि, तत्राङ्ग फलश्रुतेरर्थवादत्वेऽप्यसदर्थबोधकत्वं न वक्तुं युक्तम् ।
श्रुतेः प्रतारकत्वप्रसङ्गात् । अतो यजमानकामनार्यां तस्यामावृत्तौ प्रधानयागादेव तादर्थ्यं फलं
भवति, तदकामनार्यां तु प्रधानवाक्योक्तमेव । अतः काम्यादाधिक्ये नित्यस्य सिद्धे तत्र
तात्पर्यं श्रुतेः सिध्यति । ततः पुनरधिकविचारे स्वर्गस्यापि लोकाल्मुखभेदेन द्वैविध्ये
लोकस्य दुःखासंभित्त्वादात्मसुखे च तदभावात् तत्र तात्पर्यं पर्यवस्यति, पुरुषार्थसिद्धयेषु
श्रुतेः प्रवृत्तत्वात् । पुनस्ततोऽप्यधिकविचारे तु 'न कर्मणा न प्रजये'ति, 'नैनं कृताकृतो तपः'
इति, 'एष नित्यो महिमा' इत्यादिवाक्येषु कर्मणां तत्फलानां च जघन्यत्वबोधनात् त्यागस्या-
वस्यकत्वात् यावज्जीवाधिकारादिवाक्ये कर्मनिवृत्तायाश्च बोधनान्मुख्याधिकाराभावे फला-
पेक्षां कर्मासक्तिं च विहाय नित्यं कार्यमिति सिध्यति । अन्यथा द्विविधाक्यविरोधापरि-
हारात् दुःखासंभित्सुखस्य केवलकर्मणाङ्गीकारे ज्ञानवाक्यवैयर्थ्यस्यापातात् । अधिकाये-
दानङ्गीकारे ज्ञानकर्मणोरव्यवस्थितविकल्पप्रसक्तश्रेयते । तस्मात् स्वानित्यमेवमेव कर्म श्रुति-
विंदातीति ज्ञानं स्वतंत्रमेव फलसाधकम् । एवं भक्तावपि बोध्यम् । 'दानव्रततोहोमजप-
स्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे मक्तिर्हि साध्यत' इति मत्तौ कर्मफलत्वस्य,
'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभिश्चयः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेदितं जनाः, त एव पश्यन्त्य-
चिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पद्मभुजम्' इति साक्षाद्दर्शनसाधनत्वस्य चोक्तत्वात् । तेन
ज्ञानाङ्गताया भक्त्यङ्गताया वा मन्त्रमध्यमाधिकारिभिः कर्म कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २० ॥

स्तुतिभात्रमुपदानादिनि चेत्, न, अपूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति स्तुतीत्यादि । 'एव नित्यः' इति श्रुतौ ज्ञानवति
विहितनिषिद्धकर्मणोः फलजनकत्वेन साम्यं यदुच्यते, तज्ज्ञानस्तुतिमात्रम् । कुतः ।
उपादानात् । तत्रैव हि श्रुत्या कर्मकृतिस्वीकारात्, न हि कर्मकृत्यभावे तत्कृतगुण-
दोषौ निषेधं शक्येते, प्रसक्तेरवाभावात्, न च निषेधवैयर्थ्यं शङ्कनीयम् । ज्ञानिनीतर-
साधारण्यपरिजिहीर्षया तन्साध्यत्वात् । अतस्तया श्रुतितात्पर्यनिश्चयनस्य कर्तुंमशक्यत्वात्
कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य निःप्रत्यहमिति चेत् । न । कुतः । अपूर्वत्वात् । ज्ञाने कर्मफलसंभव-
रादित्यफलकत्वकथनस्य अन्यत्रानुक्तत्वेनार्पूर्वत्वात् । न हि कर्मणो वा ज्ञानस्य वा
यत्फलं यत्रोच्यते, तदुक्तिरपि स्तुतिरिति वक्तुं युक्तम्, तयोश्च्छेदापत्तेः । अतः प्रतितिष्ठन्ती-
ह वै य एता रान्नीरुषयन्ति' इत्यत्रैवापि तत्फलकत्वं विधेयत्वेनाङ्गीकार्यम्, न स्तुति-
मात्रत्वमित्यर्थः । एतदत्रे च भावशब्दादिति सूत्रं पठ्यते । तत्र च विधिशब्दादित्यर्थः ।
तथा चापूर्वत्वादेव न तथात्वम्, अपि तु तत्फलकतया विधीयते, 'अपि पदवित्या-

दिति, 'कुप्यात् कियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पश्ये । एतस्यात्सर्ववेदेषु नियतं
विधिलक्षणमिति न्यायविदां स्मरणादिति । तत्र विधिर्बैतित् सूत्रे एतच्छ्रुतिव्याख्याने
विध्यंकारादेव सिद्धमित्यत उपोक्षितमिति प्रतिभाति ॥ २१ ॥

पारित्यलाभो इति चेत् न चिद्विचिन्तत्वात् ॥ २२ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति त्रिभिः । पारीत्यादि । 'भृयुषे वासुणिवैश्वं
पितरनुपससार' इति, 'अर्धादि भगव इति होमसमाद सनत्कुमारं नारदः'
इति, 'प्रतदनी ह वै देवोदात्तरिन्द्रस्य मियं धामोपजगाम' इत्याद्युपाख्यानोर्हि
ब्रह्मविद्या प्रतिपाद्यते । उपाख्यानानि तु कर्माङ्गानि । सर्वेषुपाख्यानानि परि-
श्लेषे शंसन्तीति तेषां शंसनशेषत्वश्रवणात् । शंसने च शब्दमात्रप्राधान्येनार्थस्या-
प्राधान्यात् । अतः उपदेशाः पारिश्रवायोः, तथा सति उपदेशान्ताख्यानप्रतिपाद्यं ज्ञानं
मन्त्रार्थवादवदप्रयोजकमिति तत्राप्यान्यं दूरापेतमिति चेत् । न । एवं ज्ञानस्याप्राधान्यं न
शक्यवचनम् । कुतः । चिद्विचिन्तत्वात् । यत्राश्वमेधप्रकरणे 'मनुवैवस्वतो राजे'त्यादी-
न्युपाख्यानानि पठितानि, तत्रानेन याक्येन तेषां सामान्यतो विनियोगमुत्तम्य, पारिश्रवाख्य-
कर्मप्रस्तावे पुनर्विधेयतो विनियोगस्तोपायुक्तः 'पारिश्रवमाश्चति'ति, तत्र च प्रथमेऽहनि,
'मुनुवैवस्वतो राजा इति,' द्वितीये 'इन्द्रो वैवस्वतः' इति, तृतीये 'यमो वैवस्वतः'
इति । एवं विनियुज्यन्ते । अत आख्यानानां विशेषितत्वात्सर्वपदे विनियोगाङ्गसंको-
चात् तन्मात्रपरं सञ्चेतरापि संमदीतं शक्यम् । अतो नानेव ज्ञानप्राधान्यप्रतिषेधि-
दित्यर्थः ॥ २२ ॥

तथा वैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २३ ॥

हेत्वन्तरमेनेनाह । यथा केवले श्रुतौ विद्याप्राधान्यं श्रुतम्, तयोपाख्यानवत्त्वा-
मपि श्रुतौ, अत उभयोरर्थैक्यम् । च पुनरुपाख्यानेषु प्रश्नेतराभ्याम्, महतां पृष्टतिबोध-
नेन च विद्यामाहात्म्यज्ञापनं प्रसंचनं चाग्निः तत्र निरुपाख्यानवाक्यापेक्षितम् । एत-
दुक्तविद्यापेक्षा च सोपाख्यानवाक्यापेक्षितेत्युभयोरैकवाक्यता, सा चोपबन्धात् समीपे
कथनादवगम्यते । अत उपाख्यानवाक्यानामनुपाख्यानवाक्यैकवाक्यतयापि ज्ञानस्य
प्राधान्यमनिवार्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अत एव श्वाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २४ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह अत एवेत्यादि । यतो ज्ञानी ज्ञानेन स्वयमेव यज्ञात्मको भव-
तीति श्रूयते । 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरभिष्म्यम्' इत्या-
दिना । अत एव हेतोर्ज्ञानिनो जरामयंशिद्दोऽग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । अग्निहोत्रादिसाधन-
भूषणाद्यसाधनौ विनापि तस्मिन्निदुषो ज्ञानमात्रेण बोध्यते । तथा च यदन्त्यस्य यज्ञता-
संपादकं तस्य स्वकार्यसाधने कथं यज्ञोपेक्षा भवेदिति सूचितम् । तस्मात् उपक्रमे यदुक्तं

‘पुरुषार्थोऽतः शब्दा’दिति ज्ञानस्य स्वातंत्र्येण पुरुषार्थसाधकं तन्निःप्रल्यूहं सिद्धम् ॥ २४ ॥
इति प्रथमं पुरुषार्थोक्तं इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत्वम् ॥ २५ ॥ (३-४-२-)

अतः परमिदं चिन्त्यते । ज्ञाने कर्मणां फलेषुकारित्वाभावेऽपि स्वरूपोपकारित्व-
मस्ति न वेति । तत्र ‘आचार्यवान् पुरुषो वेद’ इति श्रुतेः गुरुपसत्तितदुपदेशान्नामेव
ज्ञानस्य सिद्धे बह्वायाससाध्यस्य कर्मणः किमर्थं साधनताङ्गीकार्याः । तस्मादिति प्राथमं ।
तत्र सिद्धान्तमाह सर्वैत्यादि । सर्वेषामपेक्षा सर्वापेक्षा । पुरुषोत्तमसाक्षात्काररूपायां
विद्यायां सर्वेषां वेदान्ताद्यज्ञानकर्ममत्कीनां साधनानामस्याकाङ्क्षा । कुतः । यज्ञादिश्रुतेः ।
पूर्वस्मिन्काण्डे यज्ञानाम्, उत्तरस्मिन्सर्वज्ञानभक्त्येवारादिपदसंगृहीतयोः श्रावणात् । नन्वेवं
सति ज्ञानद्वारा कर्मण एव कारणत्वं कृतो नोभ्यत इत्यत आह अश्वत्वमिति । यथा
स्वेष्टदेशेऽप्रासावेवाश्वपेक्षा, व्यवधानभूतेदेशान्तरातिक्रमस्य तत्साध्यत्वात्, न तु प्राप्ते
स्वेष्टदेशे । तथापि भौतिकादित्रिविधप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं क्रमेण कर्मज्ञानभक्तौनामपेक्षा, ननु
ज्ञानोत्तरमपि । पूर्वाधिकरण एवातुपपत्तीनामुक्तत्वात् । चकारेण केवलपुष्टिमागम्यस्य तद-
नपेक्षायै समुचीयते । वरणश्रुत्यल्लुपरोधात् । न हीनमध्यमयोरेषिकारिणोर्ज्ञानस्य स्वरू-
पोत्पत्तौ कर्मादीनामस्त्यपेक्षेति सिद्धम् ॥ २५ ॥

**शमदमाश्रुपेतः स्यात्, तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गताया
नेवामवदधानुष्ठेयत्वात् ॥ २६ ॥**

ननु यज्ञादिश्रुतेरित्यनेन यज्ञादीनां विद्यास्वरूपोपकारित्वत्वं साधितम्, तत्र सुकम् ।
यज्ञादीनां साधनताबोधिकायां ‘तमेतं वेदानुवचनेन’ इति श्रुतेः लिङ्गादिप्रत्ययान्नामेव
विधेः कल्पनं तृतीयाश्रुतिमात्रेण कर्तव्यम्, तदशक्यम् । विद्यास्तुत्यर्थं यज्ञादिषु तत्कारण-
तानुवादस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । ‘तस्मादेवंवितुं शान्तो दान्तः’ इति श्रुत्या
विद्यार्थं साधनान्तरविधानस्यापि दर्शनात् । भक्तिमार्गे तु तदपि न, ‘अङ्गारेणान्तरीतं
कृत्वा यो जपति गोविन्दस्य पञ्चपदं ननु तस्यैवासीत् दर्शयेदात्मरूपं मित्यादिसाधनान्तर-
श्रान्ता वा । अतो न पूर्वोक्तं साधयि इत्यत आह शम्मेत्यादि । शमदमाश्रुपेतो ज्ञानमार्ग
इव भक्तिमार्गे स्यादेव । इहामुत्रफलभेदाभेदेन भगवति मनोयोजने स्वभावादेव तस्मिन्नेः ।
तुः पूर्वपक्षनिरासे । यद्यप्येवं तथापि तद्विधेः शमादिविधेस्तदङ्गतायां ‘आत्मन्येवात्मानं
परयेत्’ इति ज्ञानमार्गीयज्ञानाङ्गतायां तेषां शमादीनां ज्ञानमार्गेऽबह्वयानुष्ठेयत्वात्, बुद्धि-
पूर्वकमनुष्ठेयत्वात्तद्विधानम् । तथा चानया श्रुत्या ज्ञानमार्गीयस्य साधनार्थमित्यं
बोध्यते । तन्मार्गे तेषां सन्निपत्योपकारकत्वादेवश्यानुष्ठेयत्वम्, भक्तिमार्गे च स्वाभाविक-
त्वम् । तावतापि यज्ञादीनामारादुपकारकात्प्रामाण्येनात्र निश्चिन्तिते तेऽप्यनुष्ठेया एव,
न च लिङ्गाद्यभावात् साधकः । ‘विविदिदन्ती’ति फलसंयोगस्याप्यस्यैव तत्र सत्त्वेन

रात्रियवत्रव दिष्टाग्निहोत्रे ‘उपारे हि देवेभ्यो धारयन्ति’ इति सभिद्धारणवचनं अपूर्वत्वे-
नैव विधेः कल्पयितुं शक्यत्वात् । अतो यज्ञादीनां हेतुत्वमदण्डकारितमिति पूर्वाक्तेहेतोर्न
बाधितत्वमित्यर्थः ॥ २६ ॥

सर्वाज्ञानमतिश्च प्राणात्म्ये तद्दर्शनात् ॥ २७ ॥

ननु यज्ञादेर्यदुपकारकत्वं तत् सत्त्वशोषनद्वारा वाच्यम् । तदयुक्तम् । ‘आहारशुद्धौ
सत्त्वशुद्धिः’ इति सत्त्वशोषनश्रुतिविरुद्धयोः ‘न ह वा एवंविदि किञ्चनार्थं भवति’
इति, ‘न ह वा अस्यानत्र जग्धं भवति’ इति छान्दोग्यवाजसनीयश्रुत्योः सर्वत्रभक्षण-
ानुमतिदर्शनेन सत्त्वशोषनस्यानावश्यकत्वेऽवगतये तदर्थं शमादीनां यज्ञादीनां च विधा-
नाङ्गीकारस्याप्रयोजकत्वात् । अतः ‘शान्तो दान्तः’ इति शमादिवाक्यं ‘तमेतं
वेदानुवचनेन’ इति यज्ञादिवाक्यं ज्ञानिस्तावकमेव, न तु विद्यायकमित्यत
आह सर्वैत्यादि । उक्तश्रुतेः या सर्वाज्ञानमतिः, सा प्राणात्म्ये प्राणनाशे उपस्थिते,
प्राणधारणस्य ज्ञानान्तरङ्गसाधनत्वेनावश्यकतया तदर्थस्य प्राणपोषकस्याहारास्य परिहृ-
त्वाद्गुमतिः कियते । तत्र प्रमाणमाह तद्दर्शनादिति । ‘चाक्रायणः किलधिर्मित्येन सामि-
खादितान् कुल्माषांश्चखाद’ इति छान्दोग्ये श्रावणात् । तथा चापथेवातुमतिः, न सर्वदा,
अतः सत्त्वशोषनस्यावश्यकत्वं न हन्यते, तेषामारादुपकारकाणां आहारशुद्धिं यज्ञादीनां
सन्निपत्योपकारकाणां शमादीनां विधेयत्वमेवावश्यकत्वादिति न तेषां वाक्यानां ज्ञानि-
स्तावकत्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥

अबाधाश्च ॥ २८ ॥

ननु भवत्वेवम्, तथापि अशुद्धाहारादिचाशुद्धिस्तु स्यादेव, द्रव्यस्याशुद्धत्वादि-
त्यत आह अबाधादिति । आपदि तथात्रभक्षणे तत्रनिप्रतिबन्धाभावात्त्र चिन्ताशुद्धि-
रित्यर्थः ॥ २८ ॥

अपि स्मर्यते ॥ २९ ॥

अत्रापि धीजमाह अपीति । ‘जीवित्वात्त्वयमापन्नो योऽन्नमति यतस्ततः,
लियदे न स पापेन पन्नपन्नमिवाभ्रमास’ इति स्मर्यते । तथा च यत्राविदुषोऽप्यदोषः, तत्र
विदुषः स कुतः शङ्कितुमपि शक्यते । तस्मात् तत्र तस्य ज्ञानसाधकमित्यर्थः ॥ २९ ॥

शब्दक्षानो कामकारे ॥ ३० ॥

मिद्धमाह शब्द इत्यादि । ‘यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मात्कृत्तेऽर्जुनं, ज्ञानाग्निः
सर्वकर्मणि भस्मात्कृत्ते तथा’ इत्यादिवाक्याद्यतो ज्ञानं सर्वकर्मदेहनसमर्थम्,
अतः फलदशायां कामकारे यथेष्टाचारे न दोषः । अतश्च अत एव साधनदशायामकाम-
कारे कामकाराभावात् शब्दः ‘शान्तो दान्तः’ इत्यादिरूपः श्रूयते । तथा च ज्ञानभक्तिमा-

गीययोः साधनदशायामारादुपकारकाणां सक्षिपत्योपकारकाणां च करणभावस्यकर्मिति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति द्वितीयं सर्वोपेक्षेत्यधिकारणम् ॥ २ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३१ ॥ (३-४-३.)

एवं ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वे सिद्धे जातज्ञानस्याश्रमकर्मात् कर्तव्यं न वेति चिन्त्यते । तत्र फलस्य जातत्वात् कृतस्यापि कर्मणो ज्ञानेन नाशयत्वात् न कर्तव्यमिति प्राप्ते, आह विहितेत्यादि । यथा ज्ञानिनाप्यन्नापेक्षितानामेवात्र भक्षणाय विहितत्वात्, तथाश्रम-
कर्मापि विहितत्वादेव कर्तव्यम्, तथा चानापक्षशिष्टाश्रमभक्षणवक्षित्यत्यागोऽपि दोषाय, निषिद्धत्वस्य तौल्यादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३२ ॥

श्रमदादीनामन्तःसहसाधनानां सहकारीश्रमकर्माणीति तद्राहितेः शमादिभिरपि ज्ञानं न स्थिरीकुतुं शक्यते । अतस्तानि कर्तव्यान्त्येतेत्यर्थः । अत्राश्रमवर्माणामां सहकारि-
त्वोक्त्या ज्ञानाभिस्यूते ज्ञानस्य कर्मणां यः संसारासधनाजनकरूपः स्वभावः, स एव नाशयते, न तु स्वरूपमिति ज्ञाप्यते, तेन न फसिद्भिरोप इति ॥ ३२ ॥

सर्वेष्वपि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३३ ॥

एवं पूर्वकक्षाविश्रान्तं ज्ञानमार्गीयज्ञानस्यैवसाधनमुक्त्वा, भक्तिमार्गीयज्ञानभक्ति-
स्यैवसाधनानि वदन् तेषामावश्यकत्वमप्याह सर्वैवेत्यादि । त एव श्रवणकीर्तनादयो भगवद्दर्शनी एव, सर्वेष्वपि वर्णाश्रमादिधर्मिणां भगवद्दर्शनां च युगपदुपस्थितौ वर्णादि-
धर्मिणामनुदोषमकृत्वापि कर्तव्या इत्यर्थः । तेषामावश्यकत्वे हेतुमाह उभयलिङ्गादिति । उभयोक्तं लिङ्गम्, उभयलिङ्गम्, तस्मात्, श्रुत्युक्तास्यस्त्युक्ताश्च लिङ्गादित्यर्थः । श्रुत्युक्तं लिङ्गं तु, 'तमेव धीरो विज्ञाय भ्रष्टां कुर्वन्त ब्राह्मणः, नातुध्यायाद्बहुञ्छब्दान् वाचो विगृह्णानं हित्' इति । अत्र प्रथमपाद एवकारेण भगवदतिरिक्तनिषेधपूर्वकं यत् तद्विज्ञान-
निधानम्, तद्विज्ञानसाधनीभूतश्रवणकीर्तनापारम्यकथनलिङ्गम् । द्वितीये पादे, प्रज्ञा-
पदोक्तं तत्स्मरणं यद्विहितं तदपि, तत् उच्यते तदतिदनेकशब्दविचारनिषेध इतरशब्द-
निन्दा च तद्बुद्धानस्य दुष्टत्वं बोधयन्ती भगवद्दर्शनामवश्यकतयत्वे लिङ्गम् । स्मृत्युक्तं तु, 'गुणवन्ति मायन्ति गृणन्ति अभिषण्य' इति, 'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ-
दत्ताः' इति, अत्र श्रवणादीनामोपेक्ष्यं सातत्यं चावश्यकत्वैव्यतलिङ्गम् । एतेन भगव-
द्दर्शनापारम्यधर्मत्वेनान्तरङ्गत्वात् आश्रमवर्माणामां देहधर्मत्वेन बहिरङ्गत्वात् भगवद्दर्शनी-
विरोधेनैव ते कर्तव्या इति स्थितम् । उक्तश्रुतौ भगवद्दर्शनी एवोच्यन्ते इत्यत्र लिङ्गं तु तद्ब्राह्मणसमाप्तौ 'अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्वेशानः' इत्यादिभगवन्माहात्म्यकथनम् । यद्यपि सृजे तच्छब्देन सन्निहितानां पूर्वोक्तानामाश्रमवर्माणामां परामर्शः संभाव्यते, तथापि हेतुबोधके विषयवाक्ये भगवद्दर्शनामेव परासृष्टया तेषामेवावश्यकत्वं साध्यवाक्यं

विवक्षितमिति तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वमेव बोध्यम्, साध्यसिद्धेर्हेत्वधीनत्वादिति न कोऽपि शङ्कालेशः ॥ ३३ ॥

अनभिभव्यं च दर्शयति ॥ ३४ ॥

प्राधान्येन भगवद्दर्शनी एव कर्तव्या इत्यत्र हेत्वन्तरमेनाह अनभिभवमिति । 'सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति' इत्य-
नेन भगवद्दर्शनीपुरोधादाश्रमकर्माकरणजदोषैरभिभवाभावं च श्रुतिदर्शयति, यतो भगवद्दर्शनी
एवोक्तमिति साधनानीति तान्येवावर्तनीयानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्तरा चापि तु लङ्घ्ये ॥ ३५ ॥

उक्तोपपद्यर्थ आश्रमवर्माणामां हीनतां दर्शयति । लङ्घ्येः, तस्मिन्भगवत्त्वेव दृष्टि-
स्तास्यै यस्य पुंसस्तस्य अन्तरा आश्रमधर्मां व्यवधानंभूताः इत्यपि श्रुतिदर्शयतीति
पूर्वेण संबन्धः । श्रुतिस्तु, 'एतद्द स्म वै तस्यै ब्राह्मण आनुचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते
किं प्रजया करिष्यामो येषां नो एवायमात्मा नायं लोक' इति, अत्र ऋणापाकरणेहेतुत्वेन
लौकिकोत्प्रेक्षेहेतुत्वे च प्रजाया अवीष्टत्वेऽपि तदुत्पादनव्यासङ्गेन भगवदानन्दात्तुभवेऽन्त-
रायो भविष्यतीति भगवद्दृष्टया प्रजायापुपेक्षां दर्शयति । तस्मादाश्रमधर्मां भगवद्दर्शिन्यो
हीना इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अपि स्मर्यते ॥ ३६ ॥

वैपुतिकेनापि तत् उक्तं भगवद्दर्शनाप्याह अवीत्यादि । 'तस्मान्भक्तियुक्तस्य
योगिनो वै भदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' इति वाक्ये भगवद्भक्ता-
पन्तरायता ज्ञानवैराग्यश्रेयोबोधनात्मस्यते । तथा सति बहिरङ्गानामन्तरायत्वे किं
वाच्यमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३७ ॥

ज्ञानादिमार्गेण्यो भक्तिमार्गस्य फलतोऽप्युत्कर्षमाह चिदोव इत्यादि । स्मर्यत
इत्यत्राप्यनुब्रज्यते । स च भगवतो भक्ताधीनस्वरूपः । ज्ञानिषु मुक्तिपर्यन्त एव, न ततो
विशेषरूपः । अनेषु तु 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्त्वं न इव दिव' इति नमस्कृत्ये, दशमे
च 'एवं संदर्शिता हरिणा भक्तवदवता, स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं संभरं वशः' इति
स्मर्यते । अतः फलतोऽप्युत्कर्ष इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अतस्त्विनरङ्गरागयो लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥

गूढामिसंधियुदाटयन् फलदार्थ्यमत्राह अत इत्यादि । अतः पूर्वोक्तश्रुतिरूपा-
द्धेतोः, इत्तरम्, भक्तिमार्गीयं भगवदीयत्वम्, ज्यायः, मुक्तिरूपात् फलादप्यधिकमिति
फलित्यर्थः । अत्र हेत्वन्तरमाह लिङ्गाच्चेति । मुक्तानां तु केवलं स्वरूपमेवास्ति निरुक्त-
मायम्, न तु देहेन्द्रियादिकं यजानान्दष्टुमवयमं निःश्वस्तत्वात्, भक्तानां तु देहेन्द्रि-

यादिकमपि मायातत्कार्यरहितत्वेनानन्दरूपत्वेन च भगवदुपयोगेयेवेति, तथा च तेषां भज-
नानन्दभावकायाः लिङ्गस्यूतदेहात्मकसाम्या आधिक्यादिर्दं ज्याय इत्यर्थः । भग-
वतो मुक्तोपसृप्यत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात्, श्रीभागवते च ' देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासि-
नाम् ' इति देहादिहीनत्वेऽपि पुरुवासित्वान्यथारुपपत्त्या जडात्मकदेहेन्द्रियादिभि-
ज्ञानान्तात्मकतत्सूचनाच्च तथेति हृदयम् । तेन स्वरूपतः साधनतः फलतश्च ज्ञानादिभ्यो
भगवद्भोगासुल्लङ्घत्वात् आश्रमभर्माणाम् तेषां चैककालोत्थिताते भगवद्भोग एव कार्या,
अन्ये तु गौणकाल इति सिद्धम् ॥३२॥ इति तृतीयं विहितत्वाच्चाश्रमकर्मैत्यधिकरणम् ॥३॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्प्रभाषाभ्यः ॥३१॥ (३-४-४.)

अथेदं चिन्त्यते । तदीयानां कचिसासृज्यमपि भवति, किं वा न भवतीति । तत्र
भक्तिमार्गस्यापि साधनरूपत्वात्तस्यापि मुक्तायेव पर्यवसानात् तदीयत्वस्यापि साधनाव-
स्थायासुल्लङ्घरूपत्वात् तस्यापि मुक्तायेव पर्यवसानमिति भक्तिज्ञानमार्गयोः फलतः न
कश्चिद्विशेष इति प्राप्ते, आह तद्भूतेत्यादि । तुशब्देन मर्यादामार्गीयतदीयत्वव्यच्छेदः ।
तद्भूतस्य पुष्टिमार्गीयभगवद्भाव प्राप्तस्य जैमिनेरपि कर्मजइत्यापि, नातद्भावः
न भगवद्भावतिरोधानम् । अत्र जैमिनिग्रहणं कैमुतिकन्यायसूचनार्थम्, जैमिन्सुपरि चेदनु-
ग्रहः स्यादप्यमत्यन्तहीनाधिकार्यपि तदीयत्वाच्च हीयेत, किमुत अन्यो मध्यमाधिकारी
ज्ञानादिनिष्ठ इति । तत्र हेतुनाह नियमेत्यादि । नियमात्, अतद्रूपात्, अभावाच्चैत्यर्थः ।
तत्र नियमस्तावत्, तैत्तिरीयके ' ते ते धामानि ' इत्यादिभन्नेषु गोकुलादीनि लीला-
स्थानानि निरूप्य, तत्र कृतानि भगवत्कर्मणि ' परवत् ' इत्यपि निरूप्य, पुनः ' तदि-
ध्याः परमं पदं सदा परयन्ति सूरयः ' इत्यनेन सूरीणां सदा तत्स्थानदर्शनमुच्यते ।
सुरिपदेन पुरुषोत्तमज्ञानवन्तो भक्ता उच्येते । अतस्तेषामेव सदा तदर्थनं नियम्यते । यदि
तेषां मुक्तिः स्यात्, तदा स नियमो भज्येत, अतो नियमाच्येति । भक्तिमार्गीयतदीयत्वसा-
धनरूपतावाराणयाह अतद्भूयेति । भावप्रधानो निवेदः । अतद्रूपत्वात् । उक्तभगवदीयत्वस्य
मुक्तिकलरूपत्वात्, ' मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा ' इति
श्रीभागवतस्थूतेः । ' यदा सर्वे प्रसृज्यन्ते क्रामा येऽस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्याऽसृज्यन्ते भव-
त्यत्र ब्रह्म समरन्तुते ' इति ब्रह्मदाराण्यकश्रुती पूर्वं ' ब्रह्मेव सन् ब्रह्माप्येतीति ब्रह्मणि
जडितस्य लयमुत्सवा, लयस्वरूपं विवेक्तुमासिन्मन्त्रे सर्वकामसिद्धिमोकेऽस्यामृतत्ववचनमुत्सवा,
' अत्र ब्रह्म समरन्तुते ' इति तुरीयापदेऽस्मिंल्लोक एव ब्रह्मभोग उच्यते, ' समरन्तुते '
इत्यस्य 'सोऽरन्तुते ' इतिवत् ' अश भोजन ' इत्यस्य प्रयोगात्, संबवति श्रुत्यन्तैरकनास्य-
त्वेऽध्वन्तैरस्थानान्यायत्वात् । अतो भक्तिमार्गीयतदीयत्वस्य मुक्तिकलत्वाच्च तस्य साधनरू-
पत्वमित्यर्थः । किंच, अभावात् । फलं हि साधनादुत्पन्नं भवति, मुक्तिस्तु न भगवदीयत्वत
उत्कृष्टा । तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे पूर्वं भक्तिमार्गं निरूप्य ' तथैव परया निवृत्त्या क्षापकंमा-

त्यन्तिकं परमुपार्यायैमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त-
सर्वायां ' इति । तथा चैतस्य भगवदीयत्वस्य मुक्तितोऽसुल्लङ्घत्वेन इत उत्कृष्टस्यान्य-
स्याभावादस्य न कदाप्यभाव इति सिद्धमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति चतुर्थं तद्भूतस्यैव-
धिकरणम् ॥ ४ ॥

न चाधिकारकमपि पतनानुमानान्तदयोगात् ॥ ४० ॥ (३-४-५.)

अथेदं विचार्यते । पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतं, अनुमान्यते श्रुतिरनेनेत्यनुमानं स्मृतिः,
पतनबोधकमनुमानं पतनानुमानम्, तस्मात् । ब्रह्मदालोकाधिकारं दत्त्वा अधिकारं
फलं ददाति, न वेति । तत्र श्रुत्यायेव ददातीति प्राप्ते, तथाह न चैत्यादि । आधिकारि-
कमपि अधिकारसम्बन्धकत्वं चकारादधिकारमपि न तेन्यो न ददात्येव । कुतः । पतना-
नुमानात्, ' आब्रह्मशुभवनाहोकाः पुः...नात्नोऽर्जुन ' इति पतनबोधकस्मृतोरित्यर्थः । किंच ।
तदयोगात् । तादृशे भगवदीये पतनयोगात् । तथाच ' नैष्कन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं पश्चात्पतु-
पेयिष्याम् ' इति वाक्येन ध्रुवस्य मर्यादासामर्थ्यात्वावगात् तादृशस्याधिकारोत्तरं तां
ददाति, ये पुनः पुष्ट्यावङ्गीकृताः, तेषां तु मुक्तावप्याकङ्क्षारहादित्यात् तामेव न ददातीति
दूरापेतमाधिकारिकमित्यर्थः ॥ ४० ॥

उपपूर्वमपि स्वके भावमज्ञानवत्तदुक्तम् ॥ ४१ ॥

हेलन्तरमाह उपेत्यादि । तु पुनः, एके भक्ताः उपपूर्वमपि, आधिकारिकं फलम-
धिकारं उपपूर्वकपतनमपि मन्यन्ते । तथाचाधिकारिकं फलेऽधिकारे च पतनमार्त्रं न
हेयत्वप्रयोजकम्, किन्तु उपपतनरूपत्वमपि तदप्रयोजकम्, भक्तिभावाच्छ्रुतेरित्यर्थः ।
अधिकारसमाप्तौ कदाचिदनुग्रहाशयाः संभवाच्च तस्योपपतनरूपत्वम्, मुक्तौ त्वपुनरावृत्त्योः
सापि नेति महापतनरूपत्वमिति भावः । तदुक्तं श्रीभागवते ' नारायणपरा लोके न कुश्चन
चिन्त्यति, स्वर्गोपगमनरैकेष्वपि तुल्यार्थेदधिःन ' इति किंच । भावमज्ञानवत्, भक्ति-
मार्गीयं भावं साक्षाद्भगवत्स्वरूपभोगवन्मन्यन्ते, तदुक्तं श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे नवमाध्याये
' अथ ह वाच तव महिमायुतविभूशा ' इत्यादिना गथेन । जीवस्य साक्षाद्भगवद्भोगोऽसंभावि-
इत्यशङ्क्यायामाह तद्भूकमिति । ' सोऽरन्तुते सर्वात्र कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ' इति,
' अत्र ब्रह्म समरन्तुते ' इति श्रुतिभ्याम्, तन् साक्षाद्भरसाधनमुक्तम् । तथा च एणांनुग्रह-
पात्रेषु आधिकारिकं फलमधिकारं च न ददातीति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इति पञ्चमं नचाधि-
कारिकाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वहिस्तु भगवत्यापि स्मृतेराच्चारञ्च ॥ ४२ ॥ (३-४-६.)

अथेदं विचार्यते । प्रचुरभगवद्भावमात्रवत्तः साक्षात्स्वरूपपरसंभोगवतो वा गृहत्यागः
कार्यो नवेति । तत्र ' भद्रतायातायामानं न वन्याय पृष्टा मतिः ' इति वाक्यात्, प्रचुरभावा-
वतो गृहत्यागं वन्यकत्वं न, साक्षाद्भगवत्सम्बन्धफलस्य जातत्वेन साधनभूतो गृहत्यागो न
११

कार्यं इति प्राप्ते, आह बहिरित्यादि । तुल्यम् उक्तं पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । उभयथापि भावभावे साक्षाद्भवत्संभवे वा, इति प्रकारद्वयेऽपि, बहिः गृह्णात् बहिर्गमनम्, गृह-
त्यागं इति यावत्, स कर्तव्य एव । कुतः । स्मृतेराचारारम्भ । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहे
स्वजनवन्धुषु, मयाविषय मनः सम्यक् समदण्डिचरस्व गाम्' इत्यादिशक्त्ये भगव-
द्वाक्यरूपस्मृतेः, उद्भवस्य तथाचाराच्च, उभयविषयस्यापि भक्तस्य गृहत्यागः कर्तव्य
इत्यर्थः । न चोच्येतेतस्मिन् 'यदहरेर्' इत्यादिश्रुतेर्गृहत्यागः प्रजाजात्मा विचरति एवेति,
किं पुनर्विचारेण इति शङ्क्यम् । अस्य तदतिरिक्तत्वात्, अत्र भक्तं प्रत्युद्देशेनाधि-
कारिभेदेता मार्गभेदेन तथा निश्चयात् । न च फलस्य जातत्वात् 'न बन्धाय गृह्याः'
इति वाक्याच्च यथायथं तयोर्गृहत्यागवैयर्थ्यं शङ्क्यम्, तयोर्गृहस्य मुक्तिप्रतिबन्ध-
कत्वाभावेऽपि तत्र व्यासज्ञान्तरावयकत्वात् गृहस्य प्रमुखरूपरसास्वादप्रतिबन्धसंभ-
वात्, तस्यागे च विप्रयोगेन तदनुभवस्य सुखेन संभवात् त्यागस्य तयोर्प्यावयकत्वा-
दिति । यद्यप्ययं भक्त्यौल्यस्यस्वभावादेव तयोः संभवति, तथाप्यस्याश्रमान्तरत्वाभा-
वेनावैयर्थ्यं शङ्क्येतेति तन्निरासायानुभवज्ञातः । एतस्मात्पि मूलमेकादशस्कन्धे 'ज्ञाननिष्ठो
विरक्तो वा भद्रतो वागपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः' इत्यादय एका-
दशश्लोका ज्ञेयाः । तेन यथा संवर्तादीनां ज्ञानिनाम्, तथायं भक्तानामिति ज्ञेयम् । एतस्यैव
प्रपञ्चं संन्यासनिर्णयग्रन्थ इति च ॥ ४२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्याद्येयः ॥ ४३ ॥

भवत्ययं संन्यासो वैषः, तथापि किं भक्त्यौल्यस्वभावादेव सिध्यति, उत
विहितत्वमवगत्य कार्यं ह्याकाङ्क्षायां सद्भवे व्यवस्थामाह स्वामिन इत्यादि । पुष्टि-
मार्गीयभक्तस्यास्मिन् विहितत्वाद्ज्ञानमप्रयोजकम्, तत्र हेतुः स्वामिनः फलश्रुतेरिति ।
'नायमात्मा' इति श्रुतेः स्वामिनो भक्तिमार्गीयिष्ठानुभवादेव गोक्षेत्रशादेव, 'यमेवैष ब्रुते
तेन उच्यः' इत्यनेन फलस्य भगवत्कारुण्यस्य श्रावणदिति आत्रेयो दत्त आचार्यो मन्यते ।
तथा च भक्त्यौल्यस्वभावादेव प्राप्तत्वात् न विहितत्वज्ञानमप्येक्षत इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

आर्त्विज्यमित्योद्बुद्धोभिस्तस्मै हि परिकीर्यते ॥ ४४ ॥

द्वितीयं पक्षमाह आर्त्विज्यमित्यादि । सर्वत्यागपूर्वकं यद्बहिर्गमनं भगवत्समीपममनं
तत् आर्त्विज्यं भक्तस्यत्किं कर्मैतीद्बुद्धोभिराचार्या भवत्येति । तस्यायमाशयः । यजमानो
हि स्वकार्यार्थमृत्विज आदौ वृणीते, तथा भगवानपि 'तस्मादेकाकी न रमत' इत्यादिश्रुतेः
स्वकीडायाम् जीवान् वृणीते इति 'यमेवैषः' इति श्रुत्युक्तं वरणं तदवैषम् । किंच, तत्र
यथा 'यूतः स्वविरान्वा' इति वाक्यादेकरूपाणमेव वरणम्, तथात्र सर्वात्मभाववत्सन्ने-
करूपाणाम् । कर्मणो बाह्यत्वादेवधर्मणं वयसैकरूपम्, अत्र च लीलायां मनस एव
प्राधान्यादान्तरं तत् । भक्तानामृत्विजत्वेन निरूपणे हेतुत्वेन वरणस्य तात्पर्यान्तरमाह तस्मै

हि परिकीर्यते इति । हि यतो हेतोः तस्मै यजमान आरम्भकर्मसांगत्यायत्किं परिकीर्यते,
वरणेन स्वीयः संपाद्यते । तथा च प्रकृतेऽपि स्वचिकीर्षितलीलासाङ्गत्याय तद्वरणम् ।
अतो भगवद्विच्छामवगत्य बुद्धिपूर्वकं प्रयत्नेन गृहत्याग इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

श्रुतेष्व ॥ ४५ ॥

आयवेणे गोपालतापनीये 'भक्तिरस्य भजनं तदिहाहमुपोपाधिनासुमिन् मनःकल्प-
नमेतदेव च नैकर्म्यमिति भक्तेः संन्यासरूपत्वश्रावणादपि स कार्य इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ इति
पठं बहिस्तूभयवैयर्थ्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

सहकार्यान्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४६ ॥ (३-३-७.)
ननु 'यमेव' इति श्रुतिवरणमात्रं साधनं दर्शन आह । 'शान्तो दान्तः' इति श्रुतिस्तु
भगवद्भारिदरूपं साधनान्तरमाह । एवं श्रुत्याविरोधे किमादरणीयम्, किं नेति भवति संशयः ।
तत्र श्रुतित्वाविशेषादन्यतरवाधायोगेन सद्युष्य एव युक्त इति प्राप्ते निर्णयमाह सहकारी-
त्यादि । वरणे सहकार्यन्तरस्य श्रमादयो विधिः, स पक्षेण, वरणं हि पुष्टिमर्त्यादोभेदेन द्विषो-
च्यते, तत्र मर्यादापक्षेण, पुष्टौ तु न तदपेक्षेति न श्रुत्योर्विरोधगन्धोऽपि, भिन्नाधिकारादित्यर्थः ।
ननु एतानि मानसाभ्यन्तरज्ञानि साधनानि कुतः पाक्षिकाणि क्रियन्त इत्यत आह तृतीय-
मित्यादि । श्रुतेः हि कायिकादिभेदेन साधनं त्रिविधं विधीयते । तत्र तृतीयं मानसिकं
मुख्यम् । तदपि तद्वतो मार्यादिकवरणजन्यसंश्लेषवतोऽपि तावदेव कर्तव्यम्, यावन्न एषेऽश्लेषो-
दयः । तत्र दृष्टान्तो विध्यादिवदिति । यथा तद्वतो विधित्वादिरिष्यवादो वा न प्रवृत्तिप्रयो-
जकः, स्वत एव संश्लेषस्वभावेन प्रवृत्तिसंभवात्, तथा विद्यात्मकफलाती श्रमादिकं मानसं
साधनमपि न प्रयोजकम्, संश्लेषादेव तत्संभवादिति । मानसिकस्यापि यथाप्रयोजकत्वम्,
तत्र कायिकाधिकार्योः किं वाच्यमित्याशयेनात्र तृतीयमेवोक्तम् । तेन पुष्टिमार्गे वरणेतरस्य
नायकत्वं, मर्यादाभ्यागं एव तु तदाकाङ्क्षेति सिद्धम् ॥ ४६ ॥ इति सप्तमं सहकार्यन्तरा-
धिकरणम् ॥ ७ ॥

कृत्स्नभावात् पुष्टिगोपसंहारः ॥ ४७ ॥ (३-४-८.)

ननु छान्दोग्यान्ते 'आचार्यकुलद्वेदमधीत्य, यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभि-
समावृत्त्य, युञ्जी देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्वयधर्मात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य,
अहिंसन् सर्वाणि भूतानि, अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसं-
पद्यते, न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इति श्रूयते । वाजसनेयिशिक्षायां तु, 'तद् स्म
वैतर्त्सुं श्रावणा अनुचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते' इत्युपक्रम्य, 'अथ भिक्षाचर्यं
चरन्ति' इति श्रूयते । एवमाश्रमद्वयेऽपि श्रौतत्वस्य मुक्तिकलकत्वस्य चाविशिष्टत्वात्
विकल्पो वा कालभेदादिना क्रमिकत्वं वेति सन्देहे, युक्तेरभयत्र तौल्यादिकल्पे प्राप्ते, उप-
संहारस्य तात्पर्याहकत्वाद् गृह्याश्रम एव श्रुतेस्तात्पर्यम् । त्यागोक्तिस्तु ब्रह्मैतदर्थं यदर्थं

सर्वं ल्यज्यत इति स्तुतिपरा । अतः पूर्वाधिकर्यैर्व्यतिपादितं त्यागावश्यकत्वम् तदयुक्तमिति प्राप्ते, गृहिणोपसंहारस्य हेतुत्वेन तत्तात्पर्यमाह क्लृप्तेत्यादि । त्यागे वाञ्छनसोच्ये भगवति विनियोगः, न सर्वेन्द्रियाणां । गृह्णित्य तु सर्वैः प्रकारैर्भजनं संभवति, परिजनमक्रुताद्यैर्भवतीति, भजने क्लृप्तभावो भवति, अतस्तेनोपसंहारः कृत इत्यर्थः । अत्र गमकं तु श्रुत्वा 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य' इति कथनम् । तदेतद्वृत्तिकृत्य कर्मउपगृह्णितं व्यावर्तयितुं सूत्रे तुष्यन्द्माह । श्रुतावात्मपदं च ब्रह्मपरम् । बाधकाभावे शक्तिसंकोचस्यान्यायत्वादिति । तथा च पञ्चभस्करभेदेऽप्येवाऽपि साधुः 'यो दुस्त्वजान् क्षितिसुतस्वजानार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सद्यवालोकारम्, नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विस्तेषानुरक्तमनसाममवोऽपि फल्गुः' इति भरतवृत्तान्तस्य श्रीशुकैरनुवादात्यागाधिकाराभावे 'एवं गृहे स्थित्वा भगवद्भजनं कुर्यात्' इति बोधनायेदं व्यासचरणैरुक्तमित्यर्थः ४७

मीनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥

गृहिणोपसंहारे हेत्वन्तरमाह मीनवदित्यादि । मीनवत्, मननशीला वेदार्थविचारका वा मुनयः, तेषां भावः कर्म वा मौनमिति योगः । वाङ्मयमो मौनमिति कृतिः । तत्र योगपक्षिणा रूढेर्बलवत्त्वात् 'मीनानीहानिलायामादण्डवाग्देहचेतसाम्' इति भगवतैकादशे रूढस्यैवायंस्यादरणात् मौनं वाङ्मयम्, तत्र त्रिदण्डिषमोपलक्षकम् । तथा च तद्वत् इतरेषां ततोऽतिरिक्तानामात्मनि सर्वेन्द्रियसंप्रतिष्ठापनादीनामपि श्रुत्या गृह्णित्य उपदेशात् युक्तो गृहिणोपसंहारः धर्मबाहुल्यादित्यर्थः । तत्र तु नित्यमनमार्तं वागादीनाम्, अत्र तु भगवति विनियोग इति तत आधिक्यमिति भावः ॥ ४८ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥

ननु भगवति सर्वेन्द्रियाविनियोगाद्गृहिणोपसंहार इति यदुक्तम्, तत्र युज्यते । इतः पूर्वं 'शुचौ देवे स्वाध्यायमपीयान्' इति कर्मणामपि साधनोपकमादित्याद्यङ्गं च, तत्तात्पर्यमाह अनाविष्टित्यादि । भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावकत्वात्तन्माविष्कुर्वन् प्रकटमकुर्वन् भजेतेति ज्ञापनाय तदुक्तिः । अन्यथा 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य' इति न वदेत्, अतस्तेत्यर्थः । मुख्यं हेतुमाह अन्वयादिति, त्यच्छोणे पञ्चमी, भगवता सह अन्यं संबन्धं प्राप्य इति । तथा च संबन्धाभाव एवाविष्करणम्, न तु संबन्धे । अतस्तथा भजनबोधनार्थं तथोपक्रम इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

पेहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥

वैदिककर्मकरणे तात्पर्ययुक्त्या, लौकिकतत्करणसमयमाह पेहिकमित्यादि । पेहिकं लौकिकं भोजनपुत्रोत्पादनादिकर्म, अप्रस्तुतप्रतिबन्धे, प्रस्तुतस्य भगवद्भजनस्य प्रतिबन्धविघटनं प्रस्तुतप्रतिबन्धः, तदभावे कार्यमित्येषः । न तु प्रतिबन्धसंभावना

यामित्यर्थः । तत्करणे कावश्यकतेत्यत आह तद्दर्शनादिति । 'आचार्यकुलात्' इत्युपक्रम्य, अत्र 'धार्मिकान् विदध'दिति श्रुतौ दर्शनात् । तथाच श्रुतौ वैदिकबलौकिकमपि भजनगोपनार्थमुच्यते, न तु तत्करणे तात्पर्यम्, तत्र श्रुत्युक्तत्वादौहिकग्रह आवश्यकताभ्रमेण मा करोत्यत्येतदर्थं तत्समयमत्रोक्तवानिति ज्ञेयम् । एवं च यस्य मर्त्यादायां वरणं क्वंति, तेन साधनापिषाकदशाभवेवं गृहे स्थित्वा भजनं कार्यं ततात्पर्यं गोपयति सिद्धम् ॥ ५० ॥ इत्यष्टमं गृहिणोपसंहाराधिकरणम् ॥ १८ ॥

एवं मुक्तिफलाभियन्तदवस्थाव्युत्पत्तेस्तदवस्थावधुतेः ॥ ५१ ॥ (३-४-९०)

'तस्य तावदेव चिरं यावत् विमोक्षेऽयं संपत्स्य' इति छान्दोग्यश्रुतौ मुक्तिर्मक्षसंपत्तिः फलमुक्तम् । सा च 'मुक्तोपसृष्यपदेशात्' इति सूत्रे भगवतो मुक्तोपसृष्यत्वबोधनेन भजनाभन्दानुभवरूपैव सिध्यति । सा च मर्त्यामसाव एवेति च त्याग एव, गृहस्थितस्य भजनश्रुतिस्तु पूर्वोक्ताधिकाराभावे । तस्य च फलं ब्रह्मलोकभिसम्पत्तिः पुनरावृत्त्यभावश्च श्रुत्या दर्शित इति मुक्तिपर्यन्तमेव फलम्, उत मुक्तिफलमपि भजनानन्दरूपं तस्य भवतीति संशये, मुक्तिपर्यन्ततया एव श्रुतौ तस्योक्तत्वात् नृतीयस्कन्धे च 'हतात्मनो हतप्राणंश्च भक्तिरिच्छते गतिमर्णवां प्रयुक्त' इति कथनाच्च गृहिणो मुक्तिपर्यन्ततेति प्राप्ते, निर्णयमाह एवमित्यादि । एषम्, उक्तरूपस्य गृहिणो मुक्तिफलस्य भजनानन्दानुभवरूपस्यानियमः कादाचित्कत्वम् । भगवता दीयते चेत्, प्राप्नोति, नो चेत्, नति, 'भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तिर्योग'मिति वाक्येन तस्य भगवदधीनत्वादिति अनियम औस्सार्गिकं हेतुमाह तदवस्थेत्यादि । 'न स पुनरावर्तेते' इति श्रुत्यावृत्त्या तस्य मुक्त्यवस्था एवावधुतेः निर्वाणम् । आवृत्तिः समाप्तिवदन्त्या । तथा च यथाप्यनया श्रुत्या मुक्तिफलनियमाभाव एव समायाति, तथापि 'तस्य तावदेवे'ति श्रुतेः 'आचार्येणान्, पुरुषो वेद' इत्यनया पठितया भक्तिमार्गे च भगवत् एवाचार्यतया तदयथा भजनानन्दोपि भवतीति सूत्रकारैस्तथोक्तम् । तेन मुक्तिपर्यन्तं भगवद्भावस्य साधनमित्यपि निर्णयितम् ॥ ५१ ॥ इति नवमं मुक्तिफलाभियम इत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसाम्भार्यचरणैकतानश्रीव्रजनायात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ श्रीः ॥

भावप्रकाशिका ।

शास्त्रवित्तमश्रीमद्गोस्वामिश्रीब्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रचरणविरचिता ।

(ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।)

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ (४-१-१)

पूर्वाध्याये साधनं निरूपितम्, इह फलं निरूपणीयम्, मुख्यमवान्तरं च । तथा-
स्मिन्नधिकरणेऽवान्तरं फलं निरूप्यते । आवृत्तिरित्यादि । तत्रार्थं संशयः । 'आत्मा घारे
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । तस्मिन् यदन्त-
स्तदन्तस्तदन्वेष्टव्यं' इत्यादिवाक्यैर्विहितं श्रवणादिकं सकृदुपदेशम्, उतावर्तनीयमिति । तत्र
तावत्सकृदेवेति प्राप्तम्, तावतैव शास्त्रार्थस्य फलत्वसिद्धेः । न च तण्डुलनिष्पातिफल-
कावघातवर्षानफलकानां श्रवणादीनामावृत्तित्यायप्रसिद्धिं शङ्क्यम् । तत्र वैतुष्यरूपस्य
द्वारस्य दृष्टत्वेनात्र च तादृशद्वाराभावेन तद्वैश्यात् । अतः सकृदुक्तेनापि श्रवणादिना
दर्शनसिद्धेरवृत्तिप्रयोजिकेति प्राप्ते, प्रतिवदति ।

आवृत्तिः श्रवणादीनां कर्तव्यत्वेव श्रुत्याभिमत्तम् । कुतः । असकृदुपदेशात् ।
छान्दोग्ये श्वेतकेतुपास्थाने 'पेतदात्ममिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'
इति वाक्येन जडजवियोगैर्मात्मकत्वस्य तत्रकृत्व उपदेशात् । यदि हि श्रवणादेः सकृत्क-
रणेनैव शास्त्रार्थः सिध्येत, एकस्मा एव पुनः पुनः किमिच्छुपदेशितम् । न चावघातवैष-
म्यम् । अत्राप्यसम्भावनाविपरितीतमानुपान्तःकरणत्वाच्चनिवृत्तिरूपस्य दृष्टत्वेव द्वारस्य
विद्यमानत्वात् ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

उक्त एवार्थेऽनेन हेत्वन्तरमुच्यते लिङ्गादिति । श्रुत्यनुमापकत्वात्स्थितिरत्र लिङ्ग-
पदेनोच्यते । सा च 'यथा ययात्मा परिश्रुयतेऽसौ मरुत्प्रणामाश्रवणाधिपानैः । तथा
तथा परयति वस्तु सुखं चक्षुर्धर्मैवाश्रयनसम्प्रयुक्तमिति । अत्राश्रयनदृष्टान्तेन परिभर्गस्य
दृष्टद्वाररूपत्वमेव बोध्यते । अत्र श्रवणादीनां स्वेन रूपेण साधनत्वेपि तेषामावर्तयमानत्वेन
रूपेण फलत्वम् । अत एव 'आत्मा घार' इति वाक्ये दर्शने पूर्वमुक्तञ्च, ततः श्रवणादिक-

मुच्यते, तेनात्मनः परोक्षज्ञानमप्यवान्तरफलमिति सिध्यति । तथा भक्तिमार्गेण 'सतामयं
सारभूतां निसर्गो यदर्थवाणी श्रुतिचेतसामपि । प्रतिक्षणं नव्यवदच्युत्स्य यत्किञ्चो विटा-
नामिव साधुवर्तेति स्युत्कृत्यायाद्बोधयम् । न चास्यार्थस्यादीप्रत्वं शङ्क्यम् । अध्यायस्य
फलविचारार्थत्वात् । श्रवणादीनामप्यवान्तरफलत्वेऽनभिर्सिद्धितेन न तदावृत्तिं विचारयेदिति ।
अतस्तदावृत्तेरवान्तरफलत्वं निर्वाच्यम् ।

किञ्च । श्रुतौ कर्मज्ञानमक्तीनानुक्तत्वेपि न त्रयाणां फलतस्तौल्यम्, किन्तु ज्ञानमक्ती
फलत उच्छुष्टे इति तत्रैव प्रयतनीयमिति बोधनायाव कर्मफलमपि बोध्यते । तथा चार्थ
सूत्रार्थः । आवृत्तिः पुनः पुनर्जन्म, तदप्यसकृत्, एतत्कर्मणां स्वतन्त्रतया करणे फलम् ।
तत्र हेतुः । असकृदुपदेशात् । वाजिनो बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे 'एवमेवायं शारीर
आत्माङ्गैः सम्प्रमुच्य प्रतिन्यायं प्रतिबोन्त्याद्रवते प्राणायैवे'ति । तत्रैव पुनः 'तेन प्रयो-
तेनैव आत्मा निष्कामती'त्युपक्रम्य, 'तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते पूर्वपञ्चा चे'ति, तत्रैव
तदुपदेशमेव, 'तद्यथा तृणजलायुक्तं'त्युपक्रम्य, 'एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहृत्वाविधां
गमयित्वाऽन्यत्रवतं कल्याणतं रूपं तदुत्ते विभ्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा
दैवं वा मातृपं वान्येषां वा भूतेभ्य' इति । तत्रैवमेव 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह
करोत्ययम् । तस्मात्तेकायुनेरत्वेस्ते लोकस्य कर्मण' इत्येवं पुनरुपदेशादित्यर्थः । असकृदिति
पदं देहलोदीपवत्स्याये हेतौ च सम्बन्धये । लिङ्गात्मिका स्मृतिरपि गीतायां 'त्रैविद्या मां
सोमनाः पूतपापा' इत्यारम्भ 'एवं ब्रवीधर्ममनुप्रपन्न गतावतं कामकामा लभन्त' इत्या-
दिरूपा दृष्टव्या ॥ २ ॥ इति प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

आत्ममिति नृपगच्छन्ति प्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ (४-१-२)

एवं विद्याया अवान्तरफलं स्वतन्त्रकर्मफलं च विचार्य ज्ञानमक्तयोः फलं विचार-
यति आत्मेतीत्यादि । तत्र ज्ञानमक्तयोरनावृत्तिसाधकत्वेनोत्तमत्वस्य यत्कर्मणो जन्मन्त्व-
मावृत्तिसाधकत्वाद्दुक्तं ज्ञानाच्च अतुत्कर्मणस्तच्छेत्त्वादानवर्तकत्वं च 'न स पुनरवर्तते'
इति श्रुतिबलेनोक्तम् । सा श्रुतिः किं साविधिकीमनावृत्तिं त्रिदशामरन्यायेन वदत्युत सर्व-
जडावृत्तिमिति संशये सावजिकीमिति प्राप्तम् । तथा हि सिद्धन्तिनापि छान्दावृत्तिवा-
क्यात्पूर्वी 'यावदायुषमेवं वर्तय'न्निति श्रुतिमनुसृत्य कर्मनैयत्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् ।
कर्मणां च प्ररोहैकस्त्वभावानां स्वभावस्य दुरतिक्रमत्वात्फलगतुमव आवश्यकः । किञ्च,
'य एनं विदुरस्ततस्ते भवन्ती'त्यादिश्रुतेः ज्ञाने सति मोक्षान्दानवृत्तिः, तत्र ज्ञानमतिदुर्लभम् ।
'यतो वाचो निवर्तन्ते' अगुह्यो न हि गुह्यत' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽज्ञेयत्वस्यश्रवणात् ।
एवं ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वे तत्र भक्तिरप्यसम्भवदुक्तिका, ज्ञानाविषये सेहासम्भवात्, अत
एवोपदेशासम्भवापि । एवं प्राप्ते अभिधीयते आत्मेतीत्यादि । तुयुच्यः पूर्वपक्षनिरासकः ।

इतिशब्दो हेतौ । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरं' इत्यन्तयोमिश्राद्ये भगवतः सर्वात्मत्वेन श्रावणाद्भगवान् सर्वेषामात्मा इति हेतोर्ज्ञानमार्गीयास्तमुपाश्रयन्ति 'आत्मत्वेवोपासीते'त्यादिश्रुतिमिरात्मत्वेनोपासीनाः 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतो'ति श्रुतेस्तदात्मकाः सन्तस्तं प्राप्नुवन्ति प्रविशन्ति । भक्तिमार्गीयास्तात्मात्मत्वेन तं भजन्तस्तस्योप समीपे गच्छन्ति । ग्राह्यमन्ति च स्वस्वमार्गीयरीत्या आत्मत्वेनात्मात्मत्वेन च स्वस्वशिष्यानुपदिशन्ति । तथा च श्रुतौ यथा अप्राप्यत्याग्राह्यत्वादिकं निरूप्यते, तथा आत्मत्वात्मात्मत्वादिकमपि निरूप्यते । अतो भगवतो विरुद्धसर्वेषामर्गीयारत्वात्प्राचीनसामर्थ्येनाप्राह्वयित्वा स्वसामर्थ्येन तं प्रत्यात्मत्वेनात्मात्मत्वेन च हृदि स्फुरति, यथाधिकारं बहिरपि प्रकटीभवति । आत्मत्वेन हितकारित्वात्प्राप्तत्वात् । कर्म च प्ररोहिक्स्वभावंमपि भगवदर्थं भगवत्समर्पितं वा सत् कर्मनाशाय भवति । यथा भक्षितनीषधं पूर्वभक्षितान्नरसपाचनाय । अतः श्रुतिविचारे कर्मस्वभावस्य च विचारे विरोधाभावात् ज्ञानभक्तयोस्तदङ्गतया क्रियमाणस्य कर्मणश्च सर्वथा अनावृतिः फलं निर्वाधं श्रुत्यभिप्रेतं चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥

न्यात्मात्मत्वेन ज्ञानस्याभेदे तादात्म्ये वा पर्यवसानात्तन्मार्गीरीत्या आत्मत्वेन ज्ञाने तत्तन्मार्गीया मोक्ष इति यदुक्तं तदसत् । 'आत्मत्वेवोपासीत एव म आत्मेति विद्या'दित्यादिषु वाक्येषु तदुक्तेरुपासनार्थत्वावगत्या 'आत्मनि तिष्ठ'दित्यादौ सर्वत्र तदुक्तेस्तत्तुल्यार्थत्वेन तस्याः फलार्थताया अयुक्तत्वादित्याशङ्क्यां सूत्रान्तरं पठति नेत्यादि । सत्यमात्मत्वात्किरुपासनार्थो, परन्तु तथा श्रुत्या आत्मत्वमवगत्योपासनीयमित्युच्यते, न स्वात्मत्वेन ज्ञानस्य फलमपोष्यते । ततः पूर्वं 'प्राणश्रेष्ठ प्राणो भवती'त्यादिना प्राणादिशब्दानां आत्मनः कर्मनामत्वं पाचकपाठकानिबद्धत्वात् । न योऽत एकैरुपास्ते न स वेदकृतो ह्येष एकैकेन भवती'त्युक्त्या, अकृत्वतावारणार्थमार्मात्मत्वेनोपासनं वदन् 'अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ती'ति आत्मनः सर्वतद्रूपत्वमिति स्वरूपमाह । तेन प्राणादिसर्वरूपस्यात्मनो यत्त्वात्प्राणदिना एकदेशरूपेणोपासनं तत्प्रतीकोपासनम्, यदि अतश्चेत् तत्त्वेनोपासनं तत्त्वतीकमित्युच्यते । तादृशेन प्रतीकेनोपासनेन सः मोक्षो न भवतीति श्रुत्येव, न स्वात्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षो न भवतीति । 'अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ती'त्यनेन कृत्वत्वरूपस्य फलस्यात्मोपासने वोपितत्वात् । कृत्वत्वं सर्वभावपूर्वकक्षा । सर्वभावश्च मोक्षपूर्वकक्षेति श्रुतिसिद्धत्वादिति । तथा च ज्ञानभक्तिमत्प्रतीकोपासने तदङ्गत्वेन नित्यनैमित्तिककर्मकरणे च सर्वथाऽनायुक्तिरूपं फलं निर्वाधमित्यर्थः ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरूपत्वात् ॥ ५ ॥

न 'न्यात्मेवैवं सर्वम्' इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यादौ ब्रह्मकार्यं सर्वस्मिन् प्रपञ्च आत्मदृष्टेः फलं मोक्ष एवोच्यते । 'तस्मै मुदितनक्षत्रायाम् तयस्यारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार' ।

इति 'एतावदेव खल्वमृतत्वमिति तत्रतत्र श्रावणात् । सा च दृष्टिः प्रतीकरूपैव । कार्यविषयककारणदृष्टिरूपत्वेनातस्मिंस्तद्दृष्टिरूपत्वात् । अतः पूर्वोक्तमयुक्तिमित्यत आह ब्रह्मेत्यादि । सर्वस्मिन् प्रपञ्चे या ब्रह्मदृष्टिः, सा न प्रतीकरूपा । कटककुण्डलदेः सुवर्णरूपत्ववत्सर्वस्य प्राप्रपञ्च ब्रह्मात्मकत्वात् । सा चाधिकारोत्कर्षेण सति तत एव भवतीत्येतोन्वयते । अतस्तस्या मुक्तिकर्मणेन न दोष इति प्रतीकोपासनात् मुक्तिरिति यदुक्तं तत्साध्येवेति पूर्वोक्तमद्युपमित्यर्थः ॥ ५ ॥ इति द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥

आदित्यादिभयश्चाह उपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४-१-३)

पूर्वाधिकरणे ज्ञानभक्तयोर्मुख्यं भगवत्यासिद्धिं कृपया सम्यदायवर्तनरूपमभ्यान्तरफलं तदङ्गभूतकर्मणां च ज्ञानाद्युपकाररूपं निरूप्यात्राज्ञोपासनफलं निरूप्यते आदित्येत्यादि । छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां 'अथ होवाच सत्ययज्ञं पीठुषि प्राचीनयोपस्य कं त्वमात्मानमुपासत इत्यादित्यमेव भगवो राजत्रिति होवाच'ेत्यादिना आदित्यनाम्नाकाशापःप्रभृतय आत्मत्वेनोपासनाविषयाः श्राविताः, तथा तत्रैव मधुविद्यायां 'असौ आदित्यो देवमायै'त्युक्तमप्य 'य एवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्त' इति श्रूयते । तत्र प्रतीकोपासनत्वमस्ति, न वेति संशये, तदावर्गोक्तमुपासनेन प्रतीकमिति युक्तम् । उक्तस्य आदित्यादीनां प्रत्येकमुपासत्वेन श्रावणात् । यस्तुनः पूर्वं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टेर्न प्रतीकमित्युपासदित्यत्, तदयुक्तम्, उक्तश्रुतिविरोधात् । न च तद्विरोधादिद्वेषाद्युक्तिमिति शङ्क्यम् । ब्रह्मण एकत्वादेकप्रकारेणोपासनेन सर्वेषां फलसिद्धेः एयम् एयमौ गौस्तावत्योजनविशेषाभावाच्च । अतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नामितम्, किन्तु यथा आदित्यादीनां प्रतीकत्वम्, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनादेव तत्फलमित्येव युक्तत्वादिति प्राप्तम् । एवमग्रासे उच्यते । आदित्येत्येत्यादि । आदित्यादिषु याः ब्रह्मत्वमतयस्ता अङ्गे अङ्गविषयिन्यः आदित्यादीनां वैश्वानरविद्यायां 'यदेव मुतेजाब्रह्मव्यिष्टरूप' इति वाक्ये भगवदङ्गत्वेन सिद्धत्वाद्भगवतः प्रत्येकमयङ्गमुपासितं फलयैव भवतीति भगवन्माहात्म्यबोधनार्थं ता विधीयन्ते । कुत एतत् । उपपत्तेः । उपपत्तं हि तेषां ब्रह्माङ्गत्वेन ब्रह्मत्वम् । नहि साकारव्यापकस्य ब्रह्मणेनं न ब्रह्म । अतो न तत्र प्रतीकोपासनत्वम् । अपि च । मधुविद्यायां 'मसौ वा आदित्यो देवमधि'ति तस्य मधुत्वं परोक्षवादेन निरूप्य प्रतिदिक्रम्यतीनां तत्कृपावलोकरुपाणां मधुनाडीलं ऋचां मधुकृत्वस्येदस्य पुण्यत्वं तासामेव ऋचाममृतादिरूपत्वं ताभिर्ऋग्वेदस्य तापं ताभिस्तस्यस्वन्देहस्य यश आदि रसजननं तत्क्षरणं तस्यादित्यमथितः श्रयणं तस्यादित्यरोहितरूपत्वमित्येवं प्रतिदिक्रम्यतीनां ये रसास्तेषाममृतं च निरूप्य, तदग्रे 'तथत्ययममृतं तदस्य उपजीवन्मथिना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति त एतदेवामितीविश्वन्त्ये-

तस्माद्राष्टुयन्तीति पठ्यते । तथा च दर्शनभाषेण प्राणधर्मोणां ध्रुवादीनां निवृत्तिस्तस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तत्रैव च विद्याभ्यासेन लयतदर्शनानन्दानुभवार्थं तत उदयस्थे-
त्येतत्सर्वमादित्यस्य भगवदह्नत् एवोपपद्यते, न तु ब्रह्मप्रतीकत्वे । प्रतीकभूतासु वाग्मे-
नूपासनादिषु तथाफलाश्रवणात् । इदमपि हेतुबोधकेनोपपत्तिपदेनैव बोधितं ज्ञेयम् ।
एवमत्र फलदानोपपादनेन भक्त्यङ्गभूतं माहात्म्यं ज्ञापितम् । तेन भगवत एव फलत्वमिति
सिद्धान्तो दृढीकृतः ॥ ६ ॥

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

स एव सिद्धान्तो ससाधनः प्रकाशयते आसीन इत्यादि । पूर्वोक्ताज्ञोपासना-
फलप्राप्त्या भगवति माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्य खेदस्य साधनसम्भवात् तदधीनः संस्तवो
भगवानासीनो भवति । एवं बहिः प्राकट्यबोधनेन भक्तवश्यता बोधिता । सा च श्रीभागवते
त्रयत्रय प्रसिद्धा ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अत्रान्तरं प्राकट्यमुच्यते । ध्यानात् । भावनौक्त्यदशायां सततस्मरणरूपात्
ध्यानात् ह्ययासीनो भवतीत्यर्थः । एतेन स्वैष्युक्तं भवति ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

एवं भक्तेच्छया स्वरूपप्राकट्यं निरूप्य तद्विच्छानुसारेण लीलाणामपि तदाह अच-
लत्वं चापेक्ष्येति । भक्तेच्छ्यापेक्ष्य अचलत्वं चक्राचलत्वं च प्रकटयति । अनायासेन
हि क्रियमाणं कर्म लीला । सा प्रसादेनैव कर्णे तथा भवतीत्यतस्तत्प्रेत्यर्थः ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

फलान्तरमाह । स्मरन्ति । चकाराच्छृण्वन्ति कीर्तयन्ति । श्रवणादिसङ्गदृश्व श्रीमा-
गवते 'अथ ह वाव तव महिमाश्रुतसमुद्रविष्का सकृद्वीक्ष्या स्वमनसि निष्पन्दमाना-
नवतसुखेन विस्तृतदृष्टसुखेलेशाभासाः परमभागवता' इति गद्ये महिमलेहनादाहतः ।
एवमत्राज्ञोपासनफलं निर्णयितम् ॥ १० ॥ इति तृतीयमादित्यापिकरणम् ॥ ३ ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशोषात् ॥ ११ ॥ (४-१-४)

पूर्वाधिकरणे द्विधाविभारूपफलकथनेन भक्त्योरपि भावद्विविधं सूचितम् । तत्र
तयोर्द्विविधं भावभेद एव हेतुरिति तयोस्तारतम्यमस्ति, किं वा भावविषयस्य रूपस्यैक्या-
त्तत्रास्तीतीह विचार्यते । तत्र विषयैक्ये प्राकट्यप्रकारभेदस्य भावभेदकृतात्वाद्दस्तीति
प्राप्ते, निर्णयमाह यत्रेत्यादि । उक्तभक्त्योर्भेदे यत्र यस्मिन् भक्ते एकाग्रता भगवत्स्व-
रूपविषयिणी ग्राहकचित्तवृत्तिधारा, न त्वन्तस्थलबहिर्दृष्टत्वकृतो विज्ञेयः, तत्र तस्मिन् भक्ते

अविशोषात् । तस्य भावे तद्दृश्ये भगवत्स्वरूपे च तारतम्याभावात्तयोरपि भक्त्योर्न तारत-
म्यम्, किन्तु तौत्थमेवेत्यर्थः । तथा चैकाग्र्याभावे भावतारतम्यम्, तेन च तयोस्तारत-
म्यम्, न तु प्राकट्यप्रकारभेदादिति भावः ॥ ११ ॥ इति चतुर्थं यत्रैकाग्रतापिकरणम् ॥ ४ ॥
आध्यायान्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ (४-१-५)

उक्त एवार्थेनुप्रसङ्गेनाप्यदिचारयति आध्यायणेत्यादि । अन्तःप्राकट्यवतो यदा
बहिः संवेदने सति बहिः पूर्वानुभूतभगवत्स्वरूपानुभवः, तदा पूर्वमन्तरन्वभूतमभुना बहि-
रनुभवामीत्यनुभव्यवसायो भवति न वेति । तत्र भगवतः सर्वत्र वर्तमानत्वेऽपि देशकाला-
त्मकविशेषणभेदानुभववैकल्यात्तदुभयविशिष्टानुभव्यवसायो न्यायात्प्राप्तो भवतीति प्राप्ते,
उच्यते । आध्यायणात् । श्रीभागवते 'प्राप्य हि सतामहमिति भगवद्वाक्यात् स्वतः
पुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिकं फलमुच्यते । तन्मर्यादाकृतस्य सैवावस्था सार्व-
दिकी, न तु बहिः प्राकट्येऽपि बहिर्द्वानुसन्धानम् । ननु तर्हि तस्याप्यनन्तरं तस्य तत्र-
सायुज्यं तु भविष्यतीत्यत आह तत्रापि हि दृष्टमिति । तत्रापि प्राप्येण प्राप्तेऽपि दृष्टं
तद्वरणकमलस्यशीर्षवाहनावलोकनादिरूपं दृष्टमेव फलम्, न त्वदृष्टं सायुज्यम् । हि यतो
हेतोः प्राग्दर्शनेऽङ्गीकृतः, अन्यथा पूर्वोक्तभाव एव न स्यात् । अतस्तस्य भावस्य सार्वदि-
कत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः ॥ १२ ॥ इति पञ्चमप्रायणापिकरणम् ॥ ५ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाद्ययोरश्लेषविनाशौ तदयपदेनात् ॥ १३ ॥ (४-१-६)

अज्ञोपासनां प्रस्तुत्य तदीयपरमफलविचारे पुष्टिमार्गीयाणां फलमतीतविकारेण
निरूपितम् । इदानीं मर्यादामार्गीयस्य फलं विन्यसेत । तस्य ज्ञाने सति कर्म फलं भव-
तीति । तत्र मर्यादामार्गी ज्ञानानन्तरं भक्तेर्भवनात्तेन पूर्वं ज्ञानं सम्पादनीयम् । मध्यमाध-
धिकारिणा कर्मोपि कर्तव्यम्, कर्म तु 'भाभुक्तं श्रमेत कर्म कल्पकोटिशतैरपीति वाक्या-
न्नाशुक्तं श्रमेत इति भोगो भवत्येव । तदा भोगानुभूतकर्मणा स्वजातीयं कर्मोपि जन्यत इति
तत्सन्तानेनोत्सीयमाने चित्तशुद्धयभावाच्चानन्दो दुर्घटः, तदभावे च भक्तेरप्यनुभवे
तन्मार्गे मुक्तिरूपं फलं न शक्यवचनमिति प्राप्ते आह तदधिगम इत्यादि । तस्य ब्रह्मणोऽ-
धिगमे ज्ञाने सति ज्ञानस्वभावादेव उत्तरपूर्वाद्ययोरश्लेषविनाशौ उत्तराधस्याश्लेषोत्पत्त्यादः,
पूर्वाधिस्य च विनाशश्च भवति । तत्र हेतुः । तद्व्यपदेशात् । छान्दोग्ये उपकोसलविषयार्थं
'पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवेदिति पापं कर्म न श्लिष्यत' इति, तत्रैव वैशानर-
विद्यायां 'तद्येषीकालानुमौ प्रोतं प्रदुर्देत' इत्यस्य सर्वं पाप्मानः प्रदुर्देत' इति तयो-
रश्लेषविनाशयोर्विशेषण कथनादित्यर्थः । . च कर्मणां प्रारोहेकस्वभावत्वान्मध्यमाधि-
कारिणां ज्ञानोदयदौर्घ्यं शङ्क्यम् । तैरपि फलाभिसन्धिर्वाहित्येन परमेश्वरार्पणेन कर्मणां
क्रियमाणत्वात्ताद्येन तेन शक्यकस्यभावकर्मणोत्पत्त्यादनात् । यथा मध्यस्थेऽविशिष्टेलेपि

अत्रादजीर्णोत्पत्तिः, न तु तत्पाकार्यं भिक्षितादौषधादपि, मात्रया तस्य भक्षणपात्, तद्वत् ।
तथा च ततो यथा आरोग्यम्, तथात्र ज्ञानप्रतिबन्धाभाव इत्यदोपादिति ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

ननु मास्तु पापसम्बन्धो ज्ञानिनिः, पुण्यसम्बन्धस्तु भविष्यत्येव । तस्य विहितत्वे-
नाविरुद्धत्वादित्याशङ्क्य तत्रापि पूर्वोक्तहेतुमतिदिशति इतरस्येत्यादि । इतरस्यैव पुण्य-
स्यापि । एवम् । 'उभे क्षेत्रे एते तस्यमृतः साध्वसाध्वसाधुनि' इति । 'क्षिपन्ते चास्य
कर्माणी'ति तरणक्षययोर्व्यपदेशात् । असंश्लेषः असम्बन्ध इत्यर्थः । ननु मर्यादाभागीयस्य
ज्ञानानन्तरं भरतवत् सङ्गदोषेण भगवद्भावात्पुनोत्तौ सङ्गदोषवत् विहितनिषिद्धकर्मसम्बन्धोपि
शक्यवचन इति ज्ञानस्य न सर्वोत्पन्ना कर्मविरोधित्वमित्याशङ्क्य, तत्रापि नियममाह पाते
स्त्विति । नुरप्यर्थे । पाते भगवद्भावात् 'व्युत्पत्तिपुण्यपापयोरेषे इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्य एव तु पूर्वं तद्वचने ॥ १५ ॥

ननु देहस्य कर्मजन्यत्वात् ज्ञानेन कर्मनाशे देहनाशस्याप्यवश्यकत्वाद्दुर्वभावे
प्रवचनानुपपत्तिः, तदभावे च ज्ञानभक्तयोरेप्यनुत्पत्तिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य समापत्ते अनारब्धे-
त्यादि । नारब्धं भोगायतनमङ्गलं कार्यं याम्नां ते अनारब्धकार्ये एव पापपुण्ये । पूर्वं ।
पूर्वसुखद्वये ज्ञाननाशयत्नेनोक्ते । न तु यावत्तत्वाच्छिद्यते । तथा च देहजनकत्वाप्यकर्मसङ्गा-
त्रात्र प्रवचनानुपपत्तिरित्यर्थः । ननु 'क्षिपन्ते चास्य कर्माणी'ति श्रुत्या 'ज्ञानाधिः सर्व-
कर्माणि भस्मसात्कुरुत' इति स्पष्ट्या च सर्वकर्मनाशस्यैव बोधितत्वाच्छ्रुतोर्यं सङ्गोच इत्यत
आह तद्वचनेरिति । तुः शङ्कानिसे । आरब्धकार्यस्य कर्मणो यत् ज्ञानेनादहनं तत् ।
अवधेः अखिलकारणकारणत्वेनाखिलशुभाविभूतो यो भगवदिच्छाकारो हेतुस्तस्मात् ।
तादृशी तदिच्छा तु पञ्चमस्कन्धे भरतचरिते 'भृगुदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भ-
णतो विभ्रंशित' इति 'उपभोगेन कर्मरस्यं व्यपन्याय' इति वाच्याम्यामुक्ते ये योगविभ्रंशान-
भोगरूपे प्रारब्धकार्ये ताभ्यामनुमेयेति सर्वमनवचम् ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

ननु प्रारब्धकर्मासुक्तं न नश्यतीति ज्ञानिना तरेव भोगेन नाशनीयम् । न त्वन्य-
द्विहितं कर्तव्यम्, प्रयोजनाभावात्, दृश्यते तु तास्यामपि वशिष्टादीनां तत्करणम्, अत उत्त-
रस्य कर्मणः संश्लेष आवश्यक इत्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह अग्निहोत्रादीति । अग्निहोत्र-
दिरूपविहितकर्मकरणं तत्कार्यायैव । तस्य भोगस्य यत्कार्यं प्रारब्धकर्मनाशस्तदर्थमेव ।
तुशब्दः शङ्कानुदासाय । येषामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धमस्ति, तैरेव भोगवत्तत् कियते,
नेतैः सनकादितुल्यैः । ननु कुत एवं ज्ञायत इत्यत आह तद्दर्शनादिति । 'पुण्यः पुण्येन

कर्मणा भवति पापः पापेने'ति श्रुतिः पूर्वकर्मणोऽग्निमकर्महेतुत्वं दर्शयति तस्मात् । तथा च
न तेनादृष्टान्तरसंश्लेष इत्यर्थः ॥ १६ ॥ इति षष्ठं तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अतोऽन्यापि क्षेत्रेषामुभयोः ॥ १७ ॥ (४-१-७)

पूर्वाधिकरणे मर्यादानाभागीयस्य मर्यादयैव मुक्तिप्रतिबन्धस्तयैव तत्राशयेति निरू-
पितम् । अत्र तु पुष्टिभागीयस्य प्रारब्धनाशः किं भोगेनोत भोगं विनेति विचार्यते ।
तत्र प्रारब्धस्य भोगैकनाशस्यैवभावस्य पूर्वं सिद्धत्वाद्भोगं विना पुष्टिभागीयस्यापि प्रारब्धं
न नश्यति । मार्गभेदमात्रेण प्रारब्धस्य भावनाशस्याशक्यवचनत्वादिति प्राप्ते, अभिधीते
अतोऽन्येत्यादि । क्षेत्र्यां पुष्टिभागीयाणां भक्तानां उभयोः शुभाशुभप्रारब्धयोः प्रारब्धाप्र-
रब्धयोर्वा भोगं विनेव नाशो भवति । कुत एवमित्यत आह अतोऽन्यापि हीति । हि
यतो हेतोः अतोऽन्यापि कर्मणो ज्ञाननाशयत्वरूपिकायाः ज्ञानानाशयप्रारब्धाक्षेपिकायाश्च
श्रुतेः सकाशादन्यापि शाटव्यापिनां श्रुतिरस्ति । 'तस्य पुत्रा दायपुण्यनि सुहृदः सापु-
कृत्यां द्विपतः पापकृत्या'मिति । तथा ज्ञानभोगाभ्यां कर्मनाशिनिरूपिकायाः श्रुतेरेत्याश-
परस्परविरोधपरिहाराय द्वयोर्विषयभेदस्यावश्यं वाच्यत्वादन्यनुग्रहभाजनमेतस्या विपयस्त-
द्रहितस्त्वन्यस्या इति सिद्धयति । तेन पुष्टिभागीयस्य भोगं विनेव कर्मनाश इत्यर्थः ॥ १७ ॥

यथैव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

ननु 'यदेव विद्यया करोति अद्वयोपनिषदा वा तत्तदेवास्य वीर्यवचरं भवती'ति
श्रुती ज्ञानयता कृतस्य कर्मणो वीर्यवोत्तपाया ज्ञानिनेोपि कर्मफलस्यावश्यं वाच्यत्वेन कर्म-
श्लेषसिद्धेर्न पूर्वोक्तं सार्थाय इत्यत आह यथैवेत्यादि । हि यतो हेतोः विद्यावत् प्रार-
ब्धक्षययैव कर्म करोतीति तत् अन्वयेः कृताकर्मणो वीर्यवचरम् । अतस्तत्कर्मोत्तरं निवार्य
स्वयमपि निरिन्धनबह्विचरस्यतीति न तेन श्लेष इति पूर्वोक्तं साध्वैवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

भोगेन स्वितरे क्षययित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥

पुष्टिभागीयफलप्राप्ती प्रतिबन्धाभावमुक्त्वा तत्रासिधकारत्वाह भोगेनेत्यादि । इतरे
अथे प्राथम्यलौकिकदेहाद्भिन्ने स्थूललिङ्गशरीरे क्षययित्वा पूर्वोक्तरीत्या कर्मनिवर्तनेन दरी-
कृत्य, अथ भगवद्दीर्घयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते । सोऽस्तुते सर्वान्का-
मान्सह ब्रह्मणे'ति श्रुत्युक्तेन परप्राप्तिरूपेण भोगेन सम्पन्नो भवतीत्यर्थः । अलौकिकत्वं
विना अलौकिकदेहं विना चोक्तफलव्यवच्छेदाय तुशब्द इति सर्वमनवचम् ॥ १९ ॥ इति
सप्तममतोऽन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसाम्बायैचरगैकतानश्रीब्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचि-
तायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

लोच्यक्षे तनुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ (४-२-१)

पूर्वपादे ब्रह्मज्ञानवत्तत्तन्मागर्भेदात्कारभेदेन कर्मक्षये स्थूलसूक्ष्मशरीरक्षपणोत्तरं ब्रह्मप्राप्तिरुक्ता । तत्र स्थूलशरीरत्यागः स्फुट इति तदनुक्तत्वा सूक्ष्मशरीरत्यागप्रकारोस्मिन् पादे प्रदर्श्यते । तत्र केवलभगवत्कृपास्वरूपस्य साधनधारकद्रव्यस्य वा साधनस्य पूर्णत्वे मार्गभेदेन सद्यो मुक्तिः यथायथं शारीरकब्राह्मणे आर्तमात्रब्राह्मणे चोक्ता । ' न तस्य प्राणा उक्तामस्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्मायै'तीत्यादिना, 'यत्रायं पुरुषो ज्ञियते उदस्मात्प्राणाः कामनस्थाहो नै'स्यातेमागप्रभेदेति 'होवाच याज्ञवल्क्योत्रैव समवनीयन्ते स उश्चयस्याध्मायत्याध्मत मृतः शेत' इत्यादिना च । तत्राचार्यां किं प्राणाः युगपक्षीयन्ते, उत क्रमेणैति संशये, युगपदेवेति । साधनसम्पत्तौ विलम्बे हेत्वभावादिनि तावत्प्राप्ते, तत्राह वागित्यादि । वागिन्द्रियं मनसि सम्पद्यते, पूर्वं लीयते, तत्र हेतुः दर्शनाच्छब्दाच्चेति । भगवद्दर्शनाद्विज्ञानादादिरूपाच्छब्दाच्च । सूत्रे चोपपत्त्यं । यं पृष्ठिमार्गे भगवानङ्गीकरोति, तस्यान्तःकालेपि दर्शनं ददाति । यथा वृषस्य । वेणुनादं वा श्रावयति, यथान्तर्गृह्यताभ्यः, तस्यैकज्ञानत्वाय । तदा नामादिग्रहणं कुर्वतो वाक् भगवदेकज्ञाने मनसि लीयते । यद्यपि युगपदपि वक्तुं शक्यते, तथापि तस्यैतस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवताया'मिति छन्दोगेयं क्रमशःआगत्या आश्रितय इत्यर्थः ॥ १ ॥

अत एव सर्वोपयुक्तु ॥ २ ॥

इन्द्रियान्तरलयप्रकारमाह अत एवेति । अत एव पूर्वोक्तार्शनादेरेव हेतोः सर्वाणीन्द्रियाणि अनु वाचं सन्निहितां लक्ष्मीकृत्य मनसि सम्पद्यन्ते । पश्चान्मनसि सङ्गतापि भगवदाज्येन सम्पद्यन्त इत्यर्थः । एतेन श्रुतौ वाक्पदमिन्द्रियान्तराणामप्युपलक्षकमिति बोधितम् ॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उन्तरात् ॥ ३ ॥

तत् पूर्वोक्तसर्वेन्द्रियविशिष्टं मनः प्राणे आसज्ये लीयते । तत्र हेतुः । उन्तरादिति । ' स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलञ्छत्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलञ्छत्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धन' इति सौम्य मन' इति मनसः प्राणोपश्रयणवाक्यादुत्तरं यत् प्राणबन्धनवाक्यं तस्मादित्यर्थः ॥ ३ ॥

सः सर्वेन्द्रियविशिष्टोविशिष्टः प्राण अर्धक्षये पुनो हृदि वा प्रत्यक्षविषये भगवति सम्पद्यते । तत्र हेतुमाह । तनुपगमादिभ्य इति । तस्य उपगमः अत्युपगमः 'यमेवैव' इति श्रुत्युक्तोक्तीकारः, आदिपदात् 'नायमात्मा बलहीनेने'ति श्रुत्युक्तं भगवद्दर्शकणसमर्थं भक्तिरूपं बलम्, भगवदनिश्चितार्थत्यागरूपः प्रमादाभावः, सर्वात्म्यभावरूपं सलिङ्गं तपश्च, तेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः । एवं पृष्ठिमार्गीयसद्योमुक्त्यर्थं वागादिलयप्रकार उक्तः । तेन शारीर-ब्राह्मणे यदुक्तं 'मयाक्रममयमानं' इत्यादिना तत्र यत्प्रतिपादितं 'अत्रैव समवनीयन्त' इति तस्य आत्मकामशब्दस्थाल्यात्पदनिर्देशो व आत्मा तस्मिन्नेव प्रकारेण समवनीयन्त इति बोधितम् ॥ ४ ॥ इति प्रथमं वाङ्मनोपिकरणम् ॥ १ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ (४-२-२)

एवं पृष्ठिमार्गीयस्य वागादिलयप्रकारमुक्त्वा भवामादामार्गीयस्य सद्योमुक्तौ तद्वागादिलयप्रकारमाह । तत्र तस्य प्राणाः किं भगवति नीयन्ते, उत प्रकारान्तरमिति संशये, भगवतीत्येव युक्तम् । प्राणुरेकाशयत्वादेरत्रापि तुल्यत्वादिनि प्राप्ते, निर्णय उच्यते भूतेष्विति । तस्य ते भूतेषु लीयन्ते । कुतः । तच्छ्रुतेः । 'यत्रास्य पुरुषस्य सृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राण-भक्षुरादित्येन मनश्चन्द्रः इति श्रोत्रं पृथिवी' शरीरमाकाशमारघोषधीर्मानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतं । न चैयमविद्विद्विषयेति वाच्यम् । 'यत्रायं पुरुषो ज्ञियते' इति पूर्ववाङ्मनोक्तप्राणानुक्तमणरूपसद्योमुक्तिविरोधात् । न चाग्निं वागिति लयवाक्योत्तरं 'काऽयं तदा पुरुष भवती'त्यातंमागप्रभे 'तौ ह यद्बुद्धः कर्मैव तद्बुद्ध' - रित्यादिना 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'त्यन्तेन भूतलीनप्राणकस्य कर्माश्रयत्वश्रावणत्वस्वाविद्वेत्ते निश्चिते प्राणानुक्तमस्य विद्वद्विद्वत्स्यापारण्याच्च तस्य सद्योमुक्तिरहितमिति वाच्यम् । तत्र कर्मपदस्य कर्मप्रधानकर्मयोदात्तमार्गपरत्वात् । अन्यथा कर्मणः प्ररोहैकत्वभावतया संसारजनकत्वेन मोक्षमार्गे नित्यत्वादेव 'कर्मैव तस्य-श'सत्तु'रित्युक्तमप्रशंसानिविरोधात्पतेः । न च 'पुण्यो वा पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'रिति तत्र वाक्यश्रेयावुप्युगमादय सा प्रशंसति वाच्यम् । तथा सति तत्र गोप्यश्र-स्याभावा'दाहर सौम्य हस्त आवाभवेतद्विद्वत्त्वा' इत्युक्त्यैकान्तमनादिविरोधात्पतेः । किञ्च, विदुषः काममयतया आवश्यकत्वात्कामयमानस्य 'तनुक्तामन्त'मित्यादिनोक्तस्योक्तमस्यापि तत्पृष्ठमलत्वेन तदभावे हेतोर्वक्तुमशक्यत्वात् । न च तस्य तदानीं मोहवश-गत्वात् कामाभाव इति वाच्यम् । तदापि सुपुण्येव वासनावशेषस्य कामस्य सत्ताया आव-श्यकत्वात्, अन्यथा 'यदा सर्वे प्रलीयन्त' इति श्रुत्या मुक्तोत्पत्तेरिति । तस्माद्विद्वद्व-वशैवात्रोच्यत इति निश्चयः ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नन्वयं प्राणलयप्रकारो ज्ञानिनोस्तु, न तु भक्तस्यापि, तृतीयस्कन्धे कापिलेये 'मध्यपितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः । न पश्चापि परमेष्ठतमकृतैः समदर्शना'दिति मर्यादाभक्ते उल्लेखविश्रान्तेरुक्तत्वात्तदिन्द्रियाणां तु भगवत्सेव लय उचित इत्याशङ्क्यायामाह नैकस्मिन्निति । एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादाविषयो न, किन्तुभयोरपि समानः । तत्र हेतुः । दर्शयतो हि । हि यतो हेतोः अर्तभागयाञ्चक्यौ 'अत्र पुरुष' इति सामान्य-निर्देशेन विशेषाकथनात्कर्मोक्तिर्भ्रंशसंभवात् मर्यादासामर्थ्येव विशेषाकरणेन सामान्यत एव निर्णयं दर्शयतस्तस्मात् । तथा च यद्यवान्तरो ज्ञानभक्तिकृतो विशेषो विवक्षितः स्यात्, तदा सामान्येन न वदेताम्, अतस्तथैत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

समाना चास्त्युपक्रमादस्त्यत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ (४-२-२)

एवमधिकरणद्वयेन पुष्टिमर्यादास्ययोः क्रमेण वागादिलयं द्युत्साय इत आरभ्य नवभिः सूत्रैस्तादाकार्यं तास्ता शङ्का अपनुदन्ति । तत्र पूर्व मर्यादापुष्टयोर्न कदाचिदन्य-याभाव इत्यत्र को हेतुरित्येतां निराचष्टे समानेत्यादि । आस्त्युपक्रमात् सृतिः संसरणं जीवानां स्वसात्त्विककृतानामविषयाहंताममतासम्बन्धस्तस्य य उपक्रम आरम्भः सत्युपक्र-मस्तं मर्यादीकृत्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तदारभ्य साधनक्रमेण मोचनेच्छारूपा या मर्या-दासामर्थ्यमर्यादा सा समाना, चोवधारणे, मुक्तिपर्यन्तमेकरूपैव । अस्त्यत्वं चानुपोष्य । उप पूर्वं वसिरनशनार्थको नियमान्तरस्याप्युल्लेखकः । चोप्यर्थः । यथा मर्यादासामर्थ्य-मर्यादा सदा तुल्या, तथा उपवासादिरूपवहितसाधनामकृत्या यदस्त्यत्वं तदपि पुष्टिमार्गे समानम् । तथा च मर्यादापुष्ट्योर्नान्यथाभावात् 'एष उ एवे'ति श्रुत्युक्तैश्चाविषयं 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यविषयं तत्तन्मार्गस्वरूपमेव हेतुरित्यर्थः ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

एवं प्रासङ्गिकत्वा पुनः प्रकृतं पराश्रुति । ननु यथातभागवत्प्रणेय सद्योमुक्तिप्रकार एव निरूप्यः स्यात्तदिन्द्रियलयकथनोत्तरं कृते 'काऽयं तदा भवेतीति' प्रश्ने मुक्तो भवती-त्येवोक्तं स्यात्, न तु कर्मप्राशस्त्यमनो न तत्र सद्योमुक्तिप्रकार उच्यत इत्याशङ्क्यायामाह तदाऽपीतेरिति । तदा नित्यलीलाप्रवेशलक्षणपुष्टिमार्गाथिमुक्तिसंशयिचारे अपीतेः मर्या-दामार्गाथिमुक्तेः संसारव्यपदेशात् संसार इति व्यपदेशः संसारव्यपदेशस्तस्मात्, तस्याः संसारत्वाभावेपि तस्यां भगवद्भ्रजनानन्दानुभवाभावेन संसारतुल्यतया कथनादि-त्यर्थः । तदुक्तं श्रीभाषवते श्रीशिवेन 'नारायणरः सर्वे न कुतश्चन विभ्यति । स्वर्गापव-र्गनरकेषुचि तुल्यार्थदर्शिनं इति । तथा चात्र तद्भूतनाशोपनाथं श्रुतो कर्माश्रयत्वकथनं मुक्तिप्रकारहेतुत्वाच्च कर्मप्रशंसोति तस्य सद्योमुक्तिप्रकारबोधकमुष्णमित्यर्थः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

ननु मुक्तेः संसातुत्यलोकिः पुष्टिमार्गस्तुतिमात्रपराङ्गीकार्यो, अन्यथा मुक्तिबो-धकश्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेरित्यत आह सूक्ष्ममित्यादि । ये हि मर्यादासामर्थ्यास्तेषां मुक्ति-वेद्येति तेषां पुष्टिमार्गाथिं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम्, यथा कर्मगतानां मोक्षतत्त्वम् । अतो यथा मोक्षमवानतो मोक्षानिर्व्यूष्या प्रति कर्मनिरूपकश्रुतेर्न प्रतारकत्वं तदमोक्षफलप्रापकत्वात्, एवं मोक्षबोधकश्रुतेरपि तदिच्छप्रति तथात्वाच्च प्रतारकत्वम् । तदुपदिष्टतापनाचरणं तदुक्तफल-प्रतिः । पुष्टितत्त्वंस्यैतादृशत्वेपि त्रेच्छभावस्तु तादृशाधिकारामावात् । अतोनुपपत्त्यभावात्सु-दृष्टित्वबोधकश्रुतिवाक्यस्य न स्तुतिमात्रपरत्वमित्यर्थः । नन्वेवंविधार्थस्य श्रुत्युक्तत्वात्किं तत्सत्त्वं मानमित्याकाङ्क्षायामाह प्रमाणतश्च तथोपलब्धेरिति । प्रमाणं श्रुतिः । सा च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्मन्न विभेति कुतश्चने'ति तस्याः सकाशात् । अत्र पूर्वार्थं दुर्ज्ञेयत्वमुत्तरार्थं तत्सत्ता च बोधोत्तरे । अन्यथा मनसो-ध्याप्यस्य वेदनकथनं विरुद्धं स्यादतोधिकारिणामेव तज्ज्ञेयम्, न सर्वेषाम् । तदाह उपलब्धेश्च तथेति ॥ ९ ॥

नोपमर्देनात् ॥ १० ॥

ननु यथेवं तदा ब्रह्मविद इव तादृशा भक्ता अन्यधिकारिषु कुतो नोपदिशन्ति, तत्र हेतुर्विषयः । अन्यथा सर्वमेतदनुपपत्तमेवेत्यत आह नोपमर्देनेति । पुष्टिमार्गे तेषां भगवद्विरहभाषो वा भगवत्सङ्गो वेति दशदशयमेव । तत्राप्ये उपमर्देनास्वास्थ्येन कृत्वा न उपदेशः कर्तुं शक्यः, न द्वितीये त्वतो भगवत्सन्निधानात् । अतोतुपदेशे हेतुसद्भावा-ज्ञानुपपत्तमित्यर्थः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरुत्तमा ॥ ११ ॥

ननु 'रसो वै सः रस्य'क्षेवायं लब्धवान्दीभवती'त्युपक्रम्य 'एष ह्येवानन्द्या'-तीतिश्रुत्यानन्दप्राप्तेः श्रावितत्वाद्दुःसहविरहभावस्तेषामशक्यदबन्धनः । अयं स कथञ्चि-दाद्रियते, तदानन्दतिरोभाव एव सिद्ध इति नित्यनिरतिशयमुद्यताभित्यक्तिरूपादश्रैक्य-रूपाद्वा मोक्षालक्यं तस्याधिक्यमतः पूर्वोक्तमनुपपत्तमेवेत्यत आह अस्यैवेति । आनन्दा-त्मकरूपस्य भगवत एवायं धर्म ऊत्तमा विरहतापः । कुतः । उपपत्तेः । व्यापकस्य भगवतः सर्वत्र सत्त्वेपि मायया तिरोधानात्तद्विरहः सर्वसाधारणस्तथापि न सर्वानुभवगोचरः, किन्तु रत्याव्यस्थायाभावात्पकरसरूपभगवदार्तिमार्गो यस्य हृदि तस्यैव तदप्राप्तिवस्त्यापी-नुभवगोचरीभवति, नान्यथेत्येवत्यन्यत्तिरेकरूपाया उपपत्तेः । तथा च रसरूपस्य वस्तुन एव तथात्वात्स तापो रसात्मक, एतैति तदानन्दतिरोभावाभावाच्च तस्य न्यूनतेति मुक्त्य-पेक्षया तदाधिक्यं दुरूपोहमित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीररात् ॥ १२ ॥

ननु 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोमं नोत दुःखता'मिति श्रुत्या तादृशे भक्ते दुःखप्रतिषेधः क्रियत इति तादृशे कथं दुःखालम्बो विरहतापः शक्यवचन इति सूत्रशिक्षिना-
शङ्कयांशान्तरेण समापते प्रतिषेधादिति । नशब्दः 'अत्येवोन्मे'ति च पूर्वसूत्रइयादयदुवर्तते ।
विरहतापो रसात्मकस्य भगवत एवोन्मेति न युक्तम् । 'न पश्य' इति श्रुत्या भगवत्कं-
नवतो दुःखप्रतिषेधात् । इति चेन्न । शारीररात् । शरीरसम्बन्धिनः कर्मणः सका-
शात् य ऊम्ना तापः तस्यैव प्रतिषेधात् । विरहतापस्य कर्माजन्यत्वात्तस्य न प्रतिषेध
इत्यर्थः । अत्रापि उपपत्तेरिति पूर्वोक्त एव हेतुः । अन्यथास्य दुःखत्वेन कर्मजन्यत्वाद्भुमाने
मोक्षसुखस्यापि सुखत्वेन कर्मजन्यत्वग्रहणा मोक्षसुखमपि विन्त्येत । अतस्तत्र यथा
लौकिकत्वरूपोपाधिप्रासादेतुर्दुःखः, तथान्नाप्रतिषेधं बोध्यः ॥ १२ ॥

स्पष्टो बोधोवाच ॥ १३ ॥

ननु लौकिकत्वस्वोपाधित्वं तदा स्याद्यदा भगवद्विरहतापस्य कर्माजन्यत्वं प्रमाण-
सिद्धं स्यादित्याशङ्क्यामाह स्पष्ट इति । एकेषां शश्विनां तैत्तिरियाणां 'रसो वै सः
रसश्चोवायं लब्धवानन्दीभवति को बोवान्यात्कः प्राण्यात् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्
एव बोवानन्द्याती'ति श्रुती भगवत्स्वरूपलाभानन्तरं दुःखतत्त्ववर्तनलक्षणोपार्थः स्पष्टः ।
तथाहि । अत्र रसालम्बकभगवत्स्वरूपलाभे सत्यानन्दवस्तुमुक्त्या तस्यैव जीवनहेतुत्वं
व्यक्तं, तन्मरणहेतुत्वपुष्टितावसङ्गतं सम्मरणहेतुमूर्तं दुःखसुखस्थापयति । तदत्रे आनन्द-
जननकथनं च सुखविशेषम् । रसस्तु शृङ्गारालम्ब, संयोगविश्रयोपान्यामेव पूर्णोत्पन्नो
भवति । अतस्तदनुभाववार्थं भगवानेव तान् रक्षतीति रसप्रकरणात् प्रतिवाक्यं 'बोव'शब्द-
योरारुत्या चावस्यते । तस्माद्यमर्थस्तत्र स्पष्ट इति विरहतापस्य भगवद्धर्मत्वे कर्माजन्य-
तायाः प्रमाणसिद्धत्वाद्यौक्तिकस्वोपाधित्वं दुरपोहमिति पूर्वोक्तं निर्विचिकित्समित्यर्थः ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

उक्तं दृढीकर्तुमुपबृंहणमाह स्मर्यते इति । श्रीभागवते दशमस्कन्धे 'ता मन्म-
नस्का मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदृष्टिकाः । ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं ता विभर्म्य'हमित्युपक्रम्य
'धारयन्त्यतिक्रान्तेण प्रायः प्राणान् कथंचने'ति भगवतोक्तम् । एतस्य भावस्य परमसुखा-
र्थत्वं दुरापत्वं च तत्रैवोद्भववाक्ये । 'एताः परं तनुभृतो ननु गोपवज्जो गोविन्द
एवमखिलात्मनिरुद्धभावाः । वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्म जन्मभिरन-
न्तकारसस्ये'ति ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ब्राह्म ॥ १५ ॥

नन्वेतादृशस्य रसात्मकस्य फलकोटौ कृषिपददर्शनमादब्रवणाभैतस्य साधनकोट्य-
वेव निवेद्योस्त्वित्यशङ्क्य च तस्य फलकोटिपातित्वे प्रमाणमाह तन्मीति । तानि रसात्मक-

भगवत्कटच्छतदर्शनजदुःखतत्कृत्तरगादिनिवृत्तितत्कटच्छतदर्शनाभ्यानन्दस्वरूपरसात्तु-
वादीनि वस्तूनि परे प्रकृतिकालाद्यतीते श्रीगोकुले सन्तीति तथा फलकोटिपालेन हि यतो
हेतोः । आह ऋग्वेदश्रुतिः पठति । 'ता वां वास्तुन्पुष्पसि गमथ्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा
अयासः । अत्राह तदुक्तायस्य वृष्णः परमं पदमथमिति मूर्तिः । अर्थस्तु, ता तानि
वां वसुवोः भगवत्तदन्तरात्मकयोः सम्बन्धीनि वास्तूनि वर्णविक्रमेवस्तूनि स्थानानि वा
गमथ्यै प्राप्तुं उष्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायामाह । यत्र गोकुले वृन्दावने
गावः भूरिशृङ्गा रुरुःमृतयो गृध्राश्च सन्तीति शेषः । क्रूरशृङ्गवारणावाह । अयासः शुभा-
वहाः । तस्थानं कुन्दास्तौल्य आह । अत्राह अत्रैव भूमानिव तस्यूर्वोक्तगुणविशिष्टम् । तर्हि
भूमिद्वलान्मुस्यं तत्र भवंप्रतीति शङ्कानिरासायाह । उरुगायस्य वृष्णः परमं पदमिति,
उरुभिर्गीर्यते, उरु यथा स्यात्तथा वा गीर्यत इत्युक्तायस्तस्य वृष्णः गोपीजनने कामवर्षुकस्य
भगवतः परमं वैकुण्ठप्रदंवाधिकं तस्थानं भूरि बहुतरुभवमातीति । तथा चात्रोष्मसीति काम्य-
स्वलिङ्गं फलकोटित्वगमकमित्यर्थः ॥ १५ ॥ इति तृतीयं समानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ (४-२-४)

एवं मर्यादामार्गतत्वात्पुष्टिमार्गीयतत्त्वस्योत्कर्षस्य दुर्ज्ञेयत्वं चोपपायेदं विचारयति ।
किमाधुनिकं कंचन कृपया नित्यलीलास्थाने नीतं ततः कदाचिद्विपोजयति न वेति । तत्र
तोषस्य कादाचित्कत्वात्साध्या स्थितिरपि कादाचित्कैवेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह अविभाग
इति । तत्र नीतस्य भक्तस्य ततोऽविभागः अविभाग एव । कुतः । अथचनात् । तैत्तिरीयके
उक्तर्गनन्तरं 'विष्णोः कर्माणि परयतेऽशुचा तत्र कृतानि कर्माण्युक्त्वा, तदत्रे पठति
'तद्विष्णोः परमं पदंशुदा पश्यन्ति सरय' इति । अत्र सूरिपदेनाशुना भक्त्या पुरुषोत्तम-
विदो भक्ता उच्यन्ते । 'भक्त्या मामभिजानातीति' वाक्येन भक्त्यैव तज्ज्ञानम् । तेषां
च सदा दर्शनमुच्यते । अन्यथा लीलानित्यत्वेनैव तत्र स्थितभावादीनां भक्तानां च सदा
दर्शनस्यार्थदेव पूर्वैर्मर्यादां प्राप्तत्वात्सदा दर्शनं पुनर्न वदेत् । अतः पुनस्तद्वचनादाधुनिक-
स्यापि कृपया तस्याप्यनन्तरमविभाग एव । लीलानित्यत्वेन तु विद्वन्मण्डने प्रसुचरुणैरुपा-
दितं ततोवगन्तव्यम् । न च तस्य स्थानस्य परिच्छिन्नत्वात् भक्तानां च नानादिश्यत्वेन
तत्र तत्र मरणे ततो निर्गत्यात्रागमनस्यावश्यकत्वात्सवो मुक्तिप्रसङ्ग एतद्विचारो न युक्त
इति शङ्क्यम् । दहराधिकरणन्यायेन तन्नित्यत्वस्य परिच्छिन्नत्वेपि व्यापकत्वस्य एतस्य
वजस्य तद्द्वितीयाभस्यानतायाश्च श्रुत्यादितत्वात् तादृशभक्तस्य यत्र कचन मरणेपि तदानीं
लीलादिसहितस्य भगवतो हृदि वा चरिष्यं प्राकट्ये तत्स्थानादरेपि तत्रैव प्राकट्येन तत्रैव तस्य
तस्मातोर्विद्वन्मण्डन एवोपादितत्वेन संयोगोक्तविचार एतद्विचारस्य युक्तत्वादिति ॥ १६ ॥
इति चतुर्थमविभागधिकरणम् ॥ ४ ॥

तदोक्तोऽज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्यूतियोगाच्च
हार्दानुग्रहीतः शताधिकव्या ॥ १७ ॥ (४-२-६)

एवं पुष्टिमार्गीयव्यवस्थां द्विविधं सद्योमुक्तिप्रकारं च दर्शयित्वा ज्ञानमार्गीयस्य
कममुक्तौ निर्गमनप्रकारं दर्शयति तदोक्तोऽप्रेति । स च प्रकारो बृहदारण्यके भ्रूयते । 'स
यत्रायं शारीर आत्मा अवल्यं नीत्य समोहमिहिव न्येत्यैतमेते प्राणा अभिसमायात्यसि एता-
स्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्वककामति स यत्रैव चाक्षुषः पुरुषः पराह पर्या-
वर्ततेऽथारूपज्ञो भवति न पश्यतीत्याहुः' रित्यादिना करणप्रामाण्यपीडोभासमुक्त्या, ततः 'तस्य
हृदयस्यास्यं प्रयोतेते तेन प्रयोतेतैव आत्मा निष्कामति चक्षुष्टो वा मूर्धो वान्येभ्यो
वा शरीरदेशेभ्यस्तमुक्तामन्तं प्राणोन्मुक्तामति प्राणमनुक्तामन्तं सर्वे प्राणा अनुक्तामन्ती'-
त्यादिना 'इति तु कामयमान' इत्यन्तम् । अर्थस्तु, यः पूर्वत्राक्षणे एरण्योऽभ्यः सम्प्रमुच्ये-
त्यादिना त्रियमाणावस्थ उक्तः सोयं शारीर आत्मा जीवो यत्र यस्यां त्रियमाणावस्थायां
अवल्यं नीत्य बलभावं नितरां प्राप्य संमोहमिव न्येति संमोहः संमूढता विवेकाराहित्यं तु
नितरां प्राप्नोति अथ एतं करणस्वामिनं एते प्राणा वागादयोभिसमायात्येति आभिमुख्येन
निकट आयात्येति । स एतास्तेजोमात्राः विषयप्रकाशकानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि समभ्या-
ददानः समभ्याभिमुख्ये घृह्णान उपसंहरमाणो हृदयं स्वायतनमेवावककामति तल्लक्षी-
कृत्यायाति स यत्र वर्तते तत्र एव चाक्षुषः पुरुष आदित्योऽस्यभ्रुद्वैवतारूपः पराह
पर्यावर्तते स्वकार्यान्द्रियुषो भवति अथ तदा स एव इत्यनेनोक्तं भक्षुः श्रुतिप्रमाणेन अरुपज्ञो
भवत्येकीभवति करणप्रामेणं । तदा न पश्यतीत्याहुः पार्श्वस्थाः न पश्यतीत्याहुः । एवमप्रेति ।
तदुत्तरावस्थामाह । तस्येत्यादि । तस्य डिङ्क्षेपाधिकस्य ह एतस्य मुष्पोर्हृदयस्य एतं
स्थानस्य अग्रं नाडीमुखं प्रयोतेते, पूर्वमप्रकाशमपि तदानीं प्रकाशते, तेन प्रयोतेतैव आत्मा
शरीराश्लिष्कामति निर्गच्छति चक्षुःशरण्यवर्त्मभ्यः शरीरदेशेभ्यः । तदुत्तरावस्थामाह । 'तदु-
क्तामन्तं'मित्यादि । तं जीवत्वानाम् । प्राण आत्मन्ः । प्राणा इन्द्रियाणि । अयं च निष्क-
मणप्रकारो यमगतिरहितानाम् । यमगतीनां तु 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं विश्वं कर्षं यमो बलदि'-
त्यादिवाक्यात् पिण्डितकरणप्रामस्य जीवस्य बलाद्विक्रामणम् । एवं सति यययित्वावत्
ओक्तोऽज्वलनादिकं यमगतिरहितचर्पणीजीवानां विदुषां च साधारणम्, तथापि विद्वस्तु नेतर-
वदितनाम्ना निष्कामति, किन्तु शताधिकयत्नेऽप्युक्तमणम् । श्रुतितु छान्दोग्ये दहन्वि-
द्यास्था । शेषं स्फुटम् । तथा च हृदयाप्रयोजनपर्यन्तं विद्वद्विदुषोस्तुल्यम् । निर्गमनमार्गः
प्रकारश्च विदुषोतिरिक्त इति सिद्धम् । तथा चायं सूत्रार्थः । तदोक्तोऽज्वलनं
तस्य जीवस्य यदोक्तो हृदयं तस्य यदग्रं नाडीमुखं तस्य ज्वलनं उक्ताभित्तेजोमात्राभिः
प्रकाशयं तदानीं ताभिः स्वस्वकार्यं विद्वाय पराङ्मतेतैर्लक्षीमूयेदमेव कार्यं कियते ।
अन्यथा तेषां तेजोमात्रात्वकथनमर्थकं स्यात्, तदा तत्प्रकाशितद्वारस्ताभिः प्रकाशितं द्वारं

निर्गमनमार्गो यस्य तादृशः सन् देहाद्विक्रामति चक्षुष्टो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ।
एतावत् विदुषावामिदुषां च सर्वेषां मनुष्यां जीवानां साधारणम् । अथ विदुषो विशेषमाह
विशेषेत्यादिति । विद्या प्रथानमृता उपासना तस्याः सामर्थ्यात्, तच्छेषवगत्यनुस्यूति-
योगाच्च तस्याः विद्यायाः शेषमृता तदर्थो या गतिः संन्यासरूपा तदङ्गमृता या अनुस्यू-
तिर्भवत्स्मरणं तस्य योगो वैरन्त्यं च, एताभ्यां हेतुभ्यां हार्दानुग्रहीतः इति बतुमानेन
परमात्मनातुग्रहीतः कृपाविषयकृतः सन् शताधिकव्या 'शतं चैका च पुरुषस्य नाभ्यस्तासां
मूर्धनमनिःसूत्रैका तयोर्धर्मस्यवस्यतत्वमेति विश्वछान्या उल्कमणे भवन्तीति छान्दोग्यस्थवह-
विद्यागततथ्युक्तया एकशततन्मा मूर्धन्यया नाभ्या निष्कामतीति । तस्मादस्ति विद्वद्वि-
दुषोः निष्कामणे विशेष इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं तदोक्तोपिकरणम् ॥ ५ ॥

रदम्यनुसारी ॥ १८ ॥ (४-२-६)

ननु यथा उल्कमणे विशेषः, तथा 'या एता हृदयस्य नाभ्यस्ताः पिङ्गलस्यापिप्रसि-
ष्टन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्येता वा आदित्यः पिङ्गल' इति छान्दोग्ये यदु-
क्तमुक्तमनो रदम्यनुसारित्वम्, तदपि विदुष एव, उत साधारणमिति संशये, 'तमपि
आसीना आहुर्जानसि मां जानासि मा'मिति श्रावणात्तदत्र उक्तं 'अथैतैरेव रियमिहूर्ध्वं
आक्रमत' इति प्राप्ते, आह रदम्योति । यथा हार्दानुग्रहाद्दिदुषो गतिरन्यमार्गेण, तथा
रदम्यनुसारीपि विद्वानेव, नान्यः । ऊर्ध्वक्रमणशुल्यनन्तरम् । 'स ऊर्ध्वमिति वाह उदा
मीयते स यावत्स्थियेन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतेदं खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरो-
धोऽविदुषा'मित्यादित्यस्य विद्वद्भारताया अविद्वान्निरोधतायाश्च श्रावणात्तत्त्वर्थः ॥ १८ ॥
इति षष्ठं रदम्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

निशि नेति चेश सः इत्यस्य यावदेहभावित्वाद्दोषयति च ॥ १९ ॥ (४-२-७)

विदुष उल्कमे यथा हार्दानुग्रहकृतो विशेषस्तथा कालविशेषकृतोपि विशेषोस्ति
न वेति संशयेऽस्तीत्याशङ्क्य निषेधति निशि नेत्यादि । निशीतिपदं मुक्तिप्रतिबन्धककाल-
विशेषोपलक्षकम् । तत्र न आदित्यदारेण गमनमिति चेत् । न । कुतः । सम्बन्धस्य
यावदेहभावित्वात् । अनुग्रहेहेतुभ्यो यः पूर्वोक्तो गत्यनुस्यूतिसम्बन्धस्तस्य यावदेहभा-
वित्वादेहस्थितिपर्यन्तं सत्त्वात्कार्यस्यानुग्रहस्यापि तथात्वाद्भवेदादित्यदारेण गमनम् ।
तथा च हार्दानुग्रह एव बलीयानिति कालोऽप्रयोजकत्वाच्च प्रतीक्षणीय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

अतश्चापनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥

चोवधारणे । अतः उक्तसम्बन्धादेव हेतोः दक्षिणेऽप्यने अपिष्वन्दात्कृष्णपक्षेपि
सूर्यदारेण विदुषो गमनं निःप्रत्यहमित्यर्थः ॥ २० ॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते ष्वेते ॥ २१ ॥

ननु 'यत्र काले त्वनाद्युत्तिमानवृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामी-'
त्युपक्रम्य 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्रः पण्मासा उत्तरायण'मिति गीतायां भगवद्वाक्यात् ऋषि-
दापि कालः प्रतीक्ष्य एवेति शङ्क्यायामाह योगिन इति । एते कालप्रतीक्षावल्यौ योगिस्मार्ते
गती । न श्रौतसाधनवतः । तत्र हेतुः ॥ योगिनः प्रति तादृशः कालः स्मर्यते । तत्र
योगिनामैवोपकान्तत्वात् । अतो न दोषः । अथ कालमुखेन तत्रापि देवयानपितृयागे
एवोच्येत इत्युच्यते, तदा त्वन्प्यादिशब्दैर्मार्गस्था आतिवाहिकयो देवता एवोच्यन्ते, न
काल इत्युभययाथाविरोध इत्यर्थः । तस्माद्विधावतः क्रमेण शुक्ति प्रासवतोपि न साधना-
न्तरापेक्षेति सिद्धम् ॥ २१ ॥ इति सप्तमं निन्द्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसंहितायां चरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविर-
रचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य त्रितीयः पादः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथिते ॥ १ ॥ (४-३-१)

पूर्वस्मिन्यादे प्रथमं पुष्टिमार्गीत्यस्य मर्यादामार्गीत्यस्य च सद्योमुक्तिप्रकारं दर्शयित्वा
ततः क्रममुक्तौ निर्गमनद्वारादिकं दर्शितम्, इह तु तेन द्वायेण निःश्रुतस्य ऋषाप्रसिद्धस्तल्लो-
कस्तत्त्वाप्रकारश्च दर्शयते । तत्र स मार्ग किं ज्ञानिमत्कसाधारणः, उत ज्ञानिमात्रविषय
इति संशय, यथा ज्ञानिनो नियमाभावः, तथा मर्यादामार्गीत्यस्यापीति प्राप्ते, निर्णयमाह
अर्चिरादिनेति । छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायां 'तथ इत्यं विदुषं चैमरण्ये अद्भूताप इत्यु-
पासते तेष्विषयमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह आर्ष्यमाणं पश्चमाप्यमाणपश्चाद्यत्र एवदुर्भेति मार्गा-
स्त्वान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याब्दप्रसप्तं चन्द्रमसो विद्युतं तस्युर्योऽमानवः
स एतान् ऋषय गमयत्येष देवयानः पन्था' इति भक्तातिरिक्तानैवोपक्रम्य गतिश्रावणात्
गीतायां च 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्रः इत्युपक्रम्य 'गच्छन्ति ऋषयश्चादिदे जना' इत्युपसं-
हारे निगमनेन । तत्प्रथितेः, तेषां भक्तातिरिक्तानामपि प्रसिद्धेस्त एवार्चिरादिना मार्गेण
गच्छन्ति, भक्तास्तु प्रायशः सद्य एव मुच्यन्ते इत्यर्थः । यद्यपि क्रममुक्तिबोधेषु तत्तदु-
पासनावाचयेषु 'स एतं देवयानं पन्थानामपराधिलोकभागच्छति स वायुलोक'मित्येवं
भिन्नानि भिन्नानि पर्वोण्युच्यन्ते इति नानामार्गात् सम्भाव्यते, तथापि सूत्रे 'अर्चिरादिने'ले-

कवचननिर्देशान्मार्गैकत्वमात्मत्वं । तत्र तत्र श्रुतौ देवयानपदेनैव मुक्तिमार्गस्य निर्देशो
द्वितीयस्मिन् पितृयाण इति 'जायस्व त्रियस्ये'त्यस्मिन् तृतीयनिर्देशश्च बीजम् । तस्मा-
न्नापवर्षविशिष्ट एक एव क्रममुक्तिमार्ग इति सिद्धम् । तत्र तत्र पर्वभेदकृपेन तु तस्य तस्य
तत्र तत्रैव भोग इति बोधनार्थम् । यथैकस्मिन् महापथेऽजानन्तवसतिप्रामेडु बहुषु सस्त्वपि
न सर्वेषां सर्वत्र भोगः, किन्तु कस्यचिच्छक्तिकस्यचिदन्वयेति तद्वदिति न तेन मार्गेण-
दापत्तिरिति च ॥ १ ॥ इति प्रथममार्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वायुमन्दाद्विशेषविद्योपाध्याम् ॥ २ ॥ (४-३-२)

ननु छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायागुपकोमलविद्यायां च वायुर्न पठ्यते, वाजसनेयके
पञ्चाग्निविद्यायां मासानन्तरं संवत्सरो न पठ्यते, तस्मात्तस्य देवलोकः पठ्यते, आदित्यानन्तरं
चन्द्रमा न पठ्यते । कौपीतकिपर्यङ्कविद्यायां 'स एतं देवयानं पन्थानामपराधिलोकभाग-
च्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमिति वाष्वाद्य-
पठ्यन्ते । एवं सत्यर्चिरादिमार्गे वायोऽस्तु क्त्वास्त कुत्रापि निवेशयितुं न शक्यः, एवमप्रेपीति
मार्गभेदपक्ष एव युक्तः इत्याशङ्क्यां पूर्वं वायुनिवेशमाह वायुमन्दादिति । संवत्सरो-
कानन्तरं वायुलोको निवेशनीयः । तत्र हेतुमाह अविशेषेत्यादि । भूलोकसंबन्धित्वमर्चि-
रादीनां संवत्सरादीनामस्त्याविशेषः, अन्तरिक्षे लोकसंबन्धित्वं वायोरस्तीति विशेषः
ताभ्याम् । अयमर्थः । अग्निहोत्रादिकर्मभिहितशुद्धावरासनाभिज्ञानोदये क्रममुक्तिं
प्राप्नोति । अविश्वामिने भिषत इति अधिलोकस्य प्राथम्यम् । कर्म भूलोक एव भवति ।
'पृथिवी दीक्षा तथा अग्निदीक्षया दीक्षित' इत्यादियुक्तिभिः पृथिव्यग्निप्रधाना, अतः पूर्वं
तल्लोके भोगस्तस्य भवति, तथा अद्भूतादिसंवत्सरान्ते काले कर्मण उपासनयाश्च प्रायशो
विद्यानाचतस्तल्लोके भोगः । एवमेतेषां संवत्सरात्तानां भूतसंबन्धित्वम् । अतस्तन्मध्ये वायोर्न
प्रवेशः । किन्तु 'वायुन्तरिक्षस्याधिपति'रिति श्रुतेर्वायुन्तरिक्षसंबन्धीति तदुत्तरं वायो-
र्निवेशस्तत्तल्लोकभोगादिति । तत उपर्यादित्यलोकः 'सूर्यो दिवोधिपति'रिति श्रुतेः
अतस्तस्मादवांगेव युक्त इत्यर्थः । एवं च वाजसनेयसुक्तो देवलोकोपि वायोऽर्चयदित्यात्पूर्वं
निवेशनीयः । 'सूर्यो दिवोधिपति'रिति श्रुतेरिति बोध्यम् ॥ २ ॥

तद्धितोऽपि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

पूर्वदेवाशङ्क्यामाह तद्धित इत्यादि । तद्धितः तद्धिलोकस्यापि उपरि वरुणलोको
निवेशनीयः । तत्र हेतुः । संबन्धात् । 'विशाळ हि विद्युतो नृत्यन्ति तीव्रस्तनितनिर्योषो
जीमूतोदरेष्विति ऋषिणेन लोकेपि तद्धितामसंबन्धदर्शनेनाप्यंबन्धद्वारा वरुणसंबन्धात् ।
अतो वरुणस्य तद्धितन्तरं निवेशो युक्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

वरुणाद्याधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥

स्पष्टार्थं सूत्रम् ॥ ४ ॥ इति द्वितीयं वाचिन्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

आतिवाहिकास्तद्विज्ञान् ॥ ५ ॥ (४-३-३)

ननु छान्दोग्ये विद्युदनन्तरं पठते 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयतीति । तत्र संशयः । पूर्वं मायैक्यस्य साधनेपि यस्य वरुणादिलोकसंबन्धो विद्युदनन्तरं तं स पुरुषो ब्रह्म प्रापयत्युत नेति । तत्र वचनस्य यावद्ब्रह्मन्त्वाद्वरुणलोकोऽदिगतात्र प्रापयतीति श्रौते, आह आतिवाहिका इति । कौपीतकिश्रुती प्रजापतिलोकोत्तरं ब्रह्मलोकस्य पठितत्वात्तत्रां ब्रह्मप्राप्तिरावश्यकी । सापि मायैक्यात्प्रापकमानवत् पुरुषमपेक्षते । अतो यत्र स नोक्तस्तत्रापि सोऽवगन्तव्यः । तादृशाश्च बहवः सन्तीति ज्ञापयान् बहुवचनम् । अतिवहनमतिवाहः भावे यम् । तत्सबन्धी आतिवाहिकः । अतिक्रम्य प्रापयिता, ते बहव आतिवाहिका भगवत्सेवकाः सन्ति । तत्र हेतुः । तद्विज्ञानादिति । 'तत्पुरुषोऽमानव' इति वाक्योक्तामानवत्वलिङ्गान् । तेनेदं ज्ञाप्यते । यथा विद्याबलाद्दक्षिणदिलोकमारम्य प्रजापतिलोकपर्यन्तप्राप्तिसंस्थानं ब्रह्मप्राप्तिः, किन्तु भगवदीयपुरुषानुप्रेक्ष्यैवेति । तथा च यद्यपि श्रुतावमानव इत्येकवचनं तथापि प्राप्याणां बाहुल्येन प्रापकाणां बहुत्वमपि लिङ्गादेवावगन्तव्यम् ॥ ५ ॥

उभयव्यामोहात्प्रतिरिद्धेः ॥ ६ ॥

ननु छान्दोग्य उपकोसलविद्यायां बृहदारण्यके पश्चाद्विद्यायां वाचिणारादिमार्गगतानां अपुनरावृत्तिः श्राविता, 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति, किञ्च, देवयानः पन्था ब्रह्मविदा-मेवाथ इति तेषां साक्षाद्वा परंपरया वा ब्रह्मवित्त्वमव्यवश्यं वाच्यम्, एवं सति तेन ब्रह्मज्ञानेन सर्वो मुक्तो संभवत्यां क्षयिष्णानां छुद्रानन्दानां लोकानां परमाप्तिविरुद्धजनकानामर्क्षि-रादिलोकानां प्राप्तिः कुतः । किञ्च, 'यत्कर्मभिर्यत्सया ज्ञानवैराग्यतत्त्व य'दित्युपक्रम्य 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽजसा, स्वर्गापवर्गमद्दाम कथञ्चिदपि वाञ्छतीति भगवद्भक्त्ये भक्त्यात्मन्यवच्छाफले उक्ते इति तथापि भक्तियुत्वं कृत्वा तादृशवाञ्छायां हेतुश्च वाच्य इत्याकाङ्क्षायामाह उभयेत्यादि । देवयानस्यापि भगवन्वैव सृष्टत्वात्त्र ब्रह्मविदो भक्तस्य च ज्ञानभक्तयोस्तर्कवैज्ञानान्तेन मार्गेण गमनाभावे तत्सृष्टिवैयर्थ्यं स्यादिति भगवानेव कांश्चित् ज्ञानिनो भक्ताश्च व्यामोहयति । 'संसारमोक्षस्थितियन्हेतु'रिति श्रुतेः 'भक्तः सृष्टितज्ञानमपाहनं चेति स्मृतेश्च । अतः उभयैः कथञ्चित् ज्ञानिभक्तयोर्मगवत्कृताद्वाच्यमोहात्प्रतिरिद्धेः तादृशवाञ्छाफलयोः सिद्धेस्तद्वाच्योऽह एव हेतुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

वैद्युतेनैव तत्तस्त्वद्युतेः ॥ ७ ॥

ननु तद्विद्योकाद्वरुणलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिस्तस्य तल्लोकसंबन्धी पुरुषोऽस्ति ब्रह्मप्रापक उत नेति संशये, अस्तीति पूर्वं पक्षः, ब्रह्मप्राप्तेः प्रापकपुरुषार्थिनत्वात् विद्युलो-

कस्य चातिक्रान्तत्वाद्वरुणादिलोकस्थस्यैव ब्राह्मत्वादिति श्रौते, आह वैद्युतेनेति । विद्यु-लोकस्थब्रह्मपुरुषेणैव वरुणादिलोकगतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः तल्लोकस्थात् नापि पुरुषं विना कुतः । तच्च श्रुतेः । 'तान् वैद्युताद्युक्तो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयतीति वाजसनेयिनां पश्चाद्विद्युतास्थश्रुतेः । अत्र हि एत्य वैद्युताद्रमयतीति पदसंबन्धः । तस्मात्तयैत्यर्थः ॥ ७ ॥ इति तृतीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ (४-३-४)

क्रममुक्तौ मार्गं विचार्य तत्फलं विचारयति । किं कार्यं ब्रह्मलोकप्राप्तिस्त परस्य । तत्र वादरिमतं पूर्वपक्षत्वेनाह पक्षमिः । तत्र 'स एतान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र ब्रह्मपदेन किं परमेव ब्रह्मोच्यते उत कार्यो ब्रह्मलोक इति संशये, ब्रह्मपदेन परं ब्रह्म न वक्तुं शक्यम् । परस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगमयित्रीरनपेक्षितत्वात् । अतः कार्यं ब्रह्मलोकमत्र वादरि-चायां मन्यते । तत्र हेतुः । अस्य गत्युपपत्तेः । तस्य लोकस्य परिच्छिन्नत्वे अस्य जीवस्य गतेरुपपत्तत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

विद्योपितत्वाच्च ॥ ९ ॥

हेतुवन्तरमाह विद्योपितत्वादिति । वाजसनेयके 'ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्म-लोकेषु पराः परावतो वसन्तीति श्रुतौ बहुत्वेन वायाधिकरणत्वेन च विशेषितत्वात्तयैत्यर्थः । न च छान्दोग्ये ब्रह्मोत्पत्त्येकवचनशुक्तम् । लोकपदस्य तद्व्यभिचारपरत्वेन तत्र बहुत्वस्य कथनेपि तदधिकरणस्यैकत्वे तदविरोधात् ॥ ९ ॥

सामीप्याच्च तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥

ननुपासनप्रार्थं चेत् कार्यं तदा तत्र ब्रह्मशब्दः कुतः प्रयुज्यत इत्याकाङ्क्षायाम् ब्रह्मपद-योगे हेतुमाह सामीप्यादिति । तल्लोकस्थितानां ब्रह्मप्राप्तेः मान्यलोककथनधानमतः परब्रह्म-सामीप्याद्ब्रह्मत्वेन तद्व्यपदेशः श्रुतौ कुतः । तद्व्यपदेशेन तस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वं व्यवच्छिद्यते ॥ १० ॥

कार्याभ्यस्ये तद्व्यपदेशेन सहानः परमभिधानात् ॥ ११ ॥

न 'त्रात्रब्रह्मसुवनल्लोकाः पुनरावर्तिनाऽऽजुनेति वाक्यात्ततः कार्याल्लोकात्पुनरावर्तन्ते । अत्र तु 'न तेषामिह पुनरावृत्तिरस्तीति पठ्यत इति तस्य कार्यत्वं न वक्तुं शक्यमित्यत्र आह कार्याभ्यस्य इति । कल्पस्य समाप्तेः कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य अत्यये नाशे सति तद्व्य-पदेशेन कार्यलोकपतिना चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह जातो हित्येवमर्थोत्तरं ब्रह्म ईश्वरं प्राप्नोतीति अपुनरावृत्तिश्रुतिर्न विरुध्यते । अत्र प्रमाणाह अभिधानादिति । 'वेदान्तविज्ञानसुनि-श्चितायाः संन्यासयोगाद्यतः शुद्धसत्ताः । ते ब्रह्मल्लेके तु परान्तकाले प्राश्रुतात्परि-मुच्यन्ति सर्वे' इति श्रुतौ परस्य चतुर्मुख्यायुः समाप्तिकाले परं यददृष्टं ब्रह्म तत्वात्प-क्षेण परिरुक्ता भवन्तीति कथनात् । तथा च न विरोध इत्यर्थः ॥ ११ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥

अत्र स्मृतिमपि प्रमाणयति स्मृतैरिति । सा च 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति संचरे । परस्मान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पद'मिति वदति । अत्रापि तथेत्यर्थः । तेन बादरिभते कार्यस्यैव प्राप्तिरिति सिद्धम् ॥१२॥ इति चतुर्थं कार्यं बादरिभित्यधिकरणम् ॥४॥

परं जैमिनिर्मुक्त्यवत्त्वात् ॥ १३ ॥ (४-३-६)

अत्रापि 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्येव विषयवाक्यम् । पूर्ववदेव सन्देहस्तद्विज्ञं च । पूर्वपक्षस्तु बादरिभतेन । तथा च कार्यमेवैव्यत इति प्राप्ते आह 'परमिति । अस्मिन्वाक्ये ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यते, न कार्यमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । मुक्त्यवत्त्वात् । ब्रह्मपदेन हि बृहत्त्वादिधर्मविशिष्टं वस्तुच्यते । तादृशं च परमेव ब्रह्म भवतीति ब्रह्मपदस्य मुख्य्या वृत्तिः परस्मिन्नेव, तस्मात् । तथा चोपासकस्याविद्यादिदोषाभावेन ब्रह्मप्राप्तिप्रतिबन्धाभावेपि भोजकाद्येन प्रतिबन्धादस्त्युपपत्तौ, सुखभोगे ब्रह्मण एव कारणत्वात्सुखबाहु-स्येन लोकपदे बहुत्वस्याप्युपपत्तौ सामीप्यनिबन्धनगौण्या अयुक्तत्वेनानुपपत्त्यभावे मुख्या-धैत्यागामोपागतधेत्यर्थः ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥

कार्यालयादिसुब्रह्मयोस्तरमाह दर्शनादिति । कौपीतकिश्रुती 'स एतं देवयानं पन्थानेमापये'त्यादिना अहमादिलोकवत्सजापतिलोकप्राप्तिमुक्त्वा अत्र 'स ब्रह्मलोक'मिति दर्शयति । न हि तत्र ब्रह्मलोकपदे कार्यो लोक आदत्तुं शक्यते । पार्थक्येन प्रजापतिलो-कस्याक्तत्वात्, अतस्तदतिरेकेण ब्रह्मलोकस्य दर्शनाल्लोकात्कथुतिस्मृतयोः प्रलयविषयत्वेनात्र तद्विषयाभावात् तान्यां प्रकृतश्रुतिविधेयः परिहर्तुं शक्यं इति बादरिभतमुक्तमित्यर्थः ॥१४॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिस्सन्धिः ॥ १५ ॥

सुक्त्यन्तरमाह नचैत्यादि । 'ब्रह्मविदामोति पर'मिति यजुषि या परप्राप्तिः फल-त्वेनोक्ता तद्विवरणं 'सोऽस्तुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति ऋग्भागेन क्रियते । तत्र चोपक्रमानुरोधात्परेणैव ब्रह्मणा सह कामभोगलक्षणा प्राप्तिरुच्यते । अतः परप्राप्तिरेव श्रुती फलत्वेनाभिप्रेता । तथाच संसारगतितप्रतिकूलपत्तिः प्रतिपत्तिः तस्यामेव श्रुतेरभि-स्सन्धिप्रतिपत्तिः । न च कार्ये । नैव कार्ये क्वापि दृष्टः । अतो 'ब्रह्म गमयती'त्यत्रापि या गतिर्ब्रह्मप्राप्तिरुच्यते, सापि परब्रह्मविषयैव युक्तेति ब्रह्मपदेनात्र परमेव ब्रह्ममित्यर्थः ॥१५॥ इति पञ्चमं परं जैमिनिरित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

एवं चात्र व्यासपादेः स्वनामग्रहणेपि पूर्वं बादरिभतमुक्त्वा तस्यानुपपन्नत्वयोचकं जैमिनिमतं यत्स्राद्दुक्तं तेनेदमेव व्यासचरणानामभिप्रेतम् । तेनेदं पूर्वोत्तरपक्षभेदेनैकमेवा-धिकरणमिति ज्ञेयम् ।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उच्यथा दोषान्तत्कतुश्च ॥१६॥ (४-३-९)

क्रममुक्त्यधिकारिणः प्रारब्धं युक्त्वा अमानवेन पुरुषेण प्रापिताः परमेव ब्रह्म प्राप्नु-वन्तीति सिद्धम् । तत्रेदं सन्दिग्धते । क्रममुक्त्वावतिवादिकलेनाधिकृतः अमानवः पुरुषः किं सर्वानेवोपासकान् ब्रह्म प्रापयत्युक्तं कश्चिदेवेति । तत्र येचिदादिमार्गास्तावच्छेत्तु स नियुक्त इत्यविशेषेण सर्वानेव नयतीति प्राप्तम् । तत्राह अप्रतीकालम्बनानिति । श्रुती सर्वत्र ब्रह्मत्वेनैवोपासनाया उक्तत्वाद्वाप्येव भगवद्विभक्तिरूपत्वेन बुद्धब्रह्मरूपेण तयात्वं ज्ञात्वा ये उपासते, ते अप्रतीकालम्बनास्तान् सः अमानवः पुरुषो नयति ब्रह्म प्रापयति, नेतरानिति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । उच्यथा दोषान्तः । ये हि श्रुतिर्ब्र-ह्मत्वेनोपासनायाः फलसाधनत्वं वक्ति, न तूपास्येव ब्रह्मत्वं वक्तव्येवं ज्ञात्वा ये उपासते, ते प्रतीकालम्बनाः, अतद्रेषु तद्व्युत्पत्तेनोपासने हि प्रतीकमित्युक्तं तेषां तदालम्बनत्वात् । तेषु च ब्रह्मरूपाणां अब्रह्मत्वेनासत्ताज्ञानमेको दोषः, 'असन्नेव स भवति असन्नस्येति वेद'चेदिति श्रुतेः । असत्त्वमनुसन्धायाप्युपासनायाः फलत्वं ब्रह्मत्वं भावनमित्यपरः । 'योग्या-सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरिणाभापहारिणे'ति श्रुतेः । एव-मुभयप्रकारेण दोषात् । अत एतादृशान् विहाय पूर्वोक्तानप्रतीकालम्बनान्नयतीति । एवं ज्ञान-मार्गाप्यवस्थायुक्त्वा भक्तिमार्गाप्यस्य तामाह तत्कतुश्चेति । भगवद्भजनलक्षणकतुश्च 'कथंचिद्यदि वाञ्छन्तीति वाप्योक्तवाञ्छितभोगोत्तरममानवेन नीयत इत्यर्थः । यद्वा । पूर्वो-क्तस्तन्कृत्यमानवपुण्येक्षारहित एव स्वात्मानं ब्रह्म नयतीति । अस्मिन् लकारप्रयोगवि-परिणामाभावादयं पक्ष उच्यते । न च मन आद्युपासनानां अप्रतीकत्वं न युक्तम्, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीति'ति प्रकारवाचीतिद्वन्द्विरुक्तम् । स्वयमेवेण तस्योपासनप्रकारावच्छेदकताया एव मानेन उपास्यरूपब्रह्मत्वयोपनाशमत्वादिति वाच्यम् । तत्रैतिशब्दस्य हेत्वर्थकत्वात् । न च विनिगमकभावाः । मनो हि ब्रह्म मन उपास्येत्वाय । पूर्वोक्तवाक्यस्यैव विनिगमकत्वात् । उपसंहारापेक्षया उपक्रमस्य प्रबलत्वादिति ॥१६॥ इति षष्ठमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥६॥

विद्योषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ (४-३-७)

पूर्वाधिकरणे उपास्यानां लिङ्गभेदेन ब्रह्मत्वम्, तथा तदुपासने परंपरया साक्षाद्ब्रह्मस्मिन्निरिति सिद्धम् । तत्रेदं सन्दिग्धते । ज्ञानमार्गाप्याणां भक्तिमार्गाप्याणां चाविशेषेण ब्रह्मप्राप्तिकृत कश्चिद्विशेषोऽस्तीति । तत्रोभयोरपि परब्रह्मोपासकत्वेनाविशेष इति प्राप्ते, आह विद्योषमित्यादि । 'ब्रह्मविदाप्रोति पर'मित्यस्य व्याख्यानभूता या ऋक् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽस्तुते सर्वान्कामासह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति, सा ज्ञानभक्तयोः फले विशेषं दर्शयति । तथा हि । 'ब्रह्मविदाप्रोति पर'मिति व्याख्येये वाच्ये ब्रह्मवित् अन्नज्ञानवान् आप्रोति, सात्रिभ्यादन्नज्ञानाप्रोति, एतस्याथो 'यो वेदे'त्यन्तेन साधनविवरणोद्दिष्टः । अथ 'निहितं गुहायां'मित्यादिना 'आप्रोति पर'मित्यस्यार्थो ब्रह्मणा

सह कामभोगरूपो विव्रीयते । तस्मादस्ति विशेष इति । न च व्याख्यानहेशादयमर्थो न युक्त इति शङ्कथम् । 'नायमाल्सा प्रवचनेने'ति श्रुतौ भगवन्नामो वरणातिरिक्तसाधननिषेधादत्राक्षरज्ञानेन तल्लाभाङ्गीकारे तद्विरोधापत्तिरिति तदभावायैवं व्याख्यानस्य युक्तत्वादिति । चकारात् 'एवं सततयुक्ता य' इति प्रश्नमारभ्य 'मन्योवेव्य मनो ये माम्' 'येवक्षरमनिर्देश्य' इत्यक्षरमाप्तिपर्यन्ता स्मृतिः संगृह्यते इति । तस्मादस्ति विशेष इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति सप्तमं विशेषाधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्रङ्गभाचार्यचरणैकतानश्रीब्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितानां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ४ ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ (४-४-१)

द्वितीयपादे सद्योयुक्तिक्रममुक्तयोः प्रकारं दर्शयित्वा तृतीये क्रमयुक्तौ प्राप्यस्वरूपं प्रातिप्रकारश्च दर्शितः, समारौ च ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोः सद्योयुक्तावपि तत्कृतन्यून्यादाक्षरप्राप्तिरूपमोच्यप्राप्तिरूपो विशेषः फलेस्तीति दर्शितम् । अत्र तु तत्कलं कथमनुभवतीत्यतस्तत्त्वकारो विचारयते, मोक्षस्य निःसम्बोधतानिराकरणाय । सद्योयुक्तिस्तद्वद्बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे अकामयमानमधिकारिणं प्रकथ्योक्तम् । 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आत्मकामो भवति न तस्मात्प्राणा उल्लामन्त्यत्रैव समवीनयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माच्येती'ति । अत्रात्रिं 'स विश्वकुल हि विश्वस्य कर्ते'त्यारभ्य 'सर्वस्यापिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ती'त्यादिभिः सर्वकर्तृत्वादिधर्मवत्तया ब्रह्मणो विव्रीयमापतया ब्रह्मणस्तद्वास्त्यादस्य जीवस्यापि ब्रह्मभावे सति तादृशत्वान्युक्तस्यापि संबोधयता । तदेतन्मनसि कृत्य 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समरनुत' इति श्लोके ब्रह्मसमश्रुतरूपो ब्रह्मबोधप्रकारः सूचितः, स्वप्रतिज्ञानुरोधानु न सम्यन्वितः । पुष्टिमयोदाभेदेन सद्योयुक्तः सङ्कीर्णत्वाच्च । स चातुभवप्रकारो 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र विवृत इति तं मनसि कृत्य सन्दिह्यते । किमनन्तः स्थित एवाश्रुत उत पुनर्जन्म प्राप्येति । तत्र क्रमेण ब्रह्मलोकं प्राप्तानामपि 'न स पुनरावर्तते' इति 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'त्यादिश्रावणानुत्पत्तयामपि चेदनावृत्तिः, तदा साक्षाद्ब्रह्मसायुज्यं प्राप्तानां सा दूरनिरस्तेत्यन्तःस्थित एवाश्रुत इति प्राप्तम् । तत्र प्रतिवदति सम्पद्येत्यादि । ब्रह्मसम्पद्यापि स्थितस्य जीवस्य अत्रानन्दे दिव्यते भगवत्कृपावाश्रयानुनराविर्भावो बहिःप्राकट्यं भवत्येव । तत्र हेतुः । स्वेनेति । सख्यदो भगवद्वाचकः । भूमवित्यायां

'आत्मन आविर्भावतिरोभावा'विति श्रावणात् । न चापुनरावृत्तिश्रुतिविरोधः । तत्रेहेतिपदेन प्रपञ्च एव तन्निषेधेनाविरोधात् । लीलायास्तु प्रपञ्चातीतत्वात् । ननु तथापि प्रकृते स विवक्षित इत्यत्र किं मानमित्यत आहुः शब्दादिति । 'सोऽश्रुते सर्वान्कामान्' इत्यत्र ब्रह्मणा विपश्चिते'ति ब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह जीवस्य भोगबोधकात् वाक्यरूपाच्छब्दात् । तथा चात्रोक्तो भोगो विग्रहमन्तरेणासम्बन्धवर्धतस्तं बोधयतीति स एव शब्दोत्र मानमित्यर्थः ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

ननु ब्रह्मसंपत्तिरेव मुक्तिरिति तत्संपन्नस्य मुक्तत्वम् । आविर्भावस्तु विभागे सति व्युत्तरणाद्भवति । तथा सति सृष्ट्यादाविव वन्धोपि संभाव्यत इति कथमाविर्भावस्य मुक्तित्वमित्याकाङ्क्षायां तदर्थं हेत्वन्तरमाह मुक्त इत्यादि । अत्र 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति वाक्ये मुक्तिः प्रतिज्ञाता । सा च 'सोऽश्रुते' इत्यादिना विव्रीयते इति तस्याशनस्य मुक्तत्वम् । अतः प्रतिज्ञानादाविर्भूतो मुक्त इति तस्याविर्भावस्य न बन्धकत्वं न वा आवृत्तिरूपत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

मन्वत्र ब्रह्मणा सह कामभोग उच्यते, भोगस्तु गुणसाध्य एव प्रायो दृष्ट इति 'ब्रह्मणा सह'ति ब्रह्मपदं सगुणपरमेव शुकमिति न तस्य शुकमित्याशङ्क्यामाह आत्मेत्यादि । अत्र ब्रह्मपदेन आत्मा व्यपको मायागुणसंभन्धरहित एवेत्यन्ते, न तु सगुणः । कुतः । प्रकरणात् । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य तस्याज्ञानं गुणातीतस्यैव तत्त्वकरणम् । न ह्यक्षरात्मकः सगुणो भवति । अतो ब्रह्मपदेनात्र गुणातीतमेवोच्यतेऽतो न तस्य शुकित्वमङ्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अविभागो न दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति भिन्नार्थप्रतिपादकं वाक्यम्, क्वचच तदतिरिक्तार्थप्रतिपादिका, परस्यराकाङ्क्षाबोधकं पदं च नास्तीत्येकवाक्यत्वाभावाच्चैकं प्रकरणमतोत्र ब्रह्मपदं सगुणवाक्यमित्याशङ्क्य समाधत्ते अविभागोनेत्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मितिपूर्ववाक्याविभागेनैवेयमुच्यते । कुतः । दृष्टत्वात् । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति पूर्ववाक्यायानन्तरं 'तदेवायुक्ते'तिवाक्ये तच्छब्देन पूर्वोक्तमर्थमभियुक्तीकृत्या ऋगुक्तेति दृश्यते । अत एवमेकवाक्यत्वस्य दृष्टत्वादत्रार्थे गुणातीतमेव प्रतिपाद्यम् । अथ च 'तस्मादा एतस्मा'दित्यादिना मान्यवणिकमेव सर्वस्मिन् प्रपाठक उच्यत इति प्रकरणस्यैकमेवेति नात्र सगुणं वक्तुमुचितमित्यर्थः ॥ ४ ॥ इति प्रथमं संपद्याविर्भाव इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणेन औमित्यनिरूपन्यास्तादित्यः ॥ ५ ॥ (४-४-२)

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मसायुज्यं प्राप्नोत्यतिक्रमया बहिराविर्भूतो भगवता सह सर्वात् वामानश्रुत इति पूर्वसूत्रवदे सिद्धम् । तत्रानन्वयसूत्रवदे च भगवतः परमात्मत्वत्वम् । तत्र

पूर्वसूत्रद्वयविषय इदं चिन्त्यते—आविर्भूतो जीवः किं प्राकृतेन शरीरेणाश्नुते, उताप्राकृतेनेति । तत्र भोगस्य लौकिकताया एव दृष्टत्वादयमपि भोगस्तादृश एवेति तदायतनमपि लौकिकमेव मन्त्यमिति प्राप्ते तत्राह ब्राह्मेणेत्यादि । ब्राह्मेण ब्रह्मण इदं ब्राह्मं ब्रह्मणा भगवत् स्वभोगानुरूपतया संपादितं सत्यज्ञानानन्दस्वकं यच्छरीरं तेन शरीरेण पूर्वोक्तान् भोगानश्नुत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तत्र हेतुः । उपन्यासादिभ्य इति । उप समीपे न्यासो व्युत्पादनं विवरणमिति यावत्, स अ'दर्थेषां तद्गुणसंविज्ञानः ते उपन्यासादयस्तेभ्यः । तथा च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय तद्विरणमस्यामृषिच 'सोऽश्नुत' इत्यादिना कियते, स उपन्यासः आदिपदेनाग्रेऽन्यमार्गानां विभूतिरूपाणां बहुनां कियते तेभ्यो हेतुभ्यः । यदि हि मुक्तानां ब्राह्मं शरीरं श्रुतिर्नाभिप्रेयात्, तदा परप्राप्तिमेवं विवशु-यात्, अन्नमयादीनां चोपास्यत्वादिना विभूतिरूपतां न स्फुटिकुर्यात्, अतस्तेष्वर्थः । एवमेकं मतपुक्तम् ॥ ५ ॥

चिन्ति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादिदौषुलोमिः ॥ ६ ॥

अत्र मतान्तरमाह चिन्तीत्यादि । 'स यथा स्नेहवचनोऽनन्तरोऽन्नाद्यः कृत्स्नो रसपच एव वा अरे अयमात्मानन्तरोऽन्नाद्यः कृत्स्नः प्रज्ञानपच' इति श्रुतौ घनपदेन अकृ-त्स्नत्वनिवारकेण कृत्स्नपदेन च ज्ञानात्मकविग्रहत्वात्कस्त्वं ब्रह्मणो बोधयेते, अन्यथैतत्पदद्वयं न बदेत्, प्रयोजनाभावात्, अतस्तादृशेन सह भोगकर्त्रा तादृशेनैव भवितव्यमिति चिन्ति विश्वे ब्रह्मणि तन्मात्रेण चिन्त्यायेण रूपेण कामान् शुद्धे, भगवतः पूर्णानन्दत्वात्सर्वभवेन तदानन्दाननुभवति । न तु विग्रहेण । श्रुतौ जीवस्य विग्रहवताया अनुकल्पात् । अत्रोपपा-दकं हेतुमाह तदात्मकत्वादि । प्रथमे भैत्रेयीब्राह्मणे तस्यापि विज्ञानपचत्वश्रावणेन जीवस्य स्वभावात् एव चिदात्मकत्वादिदौषुलोमिराचार्यो मन्यते । कामपदेन चेच्छेच्छयेते, 'सोकामपते'त्यादेः तथादर्शनात् । तथा चैतज्जातीयकानन्दानुभवसोऽयं भवतिस्वीच्छानुभवते तद्विषयानन्दानुभवोपि तस्य चिन्त्यायेणैव रूपेणेत्यस्तस्य मते संपद्यते ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवं मतद्वयमुक्तवान् भगवान् व्यासः स्वमतमाह एवमपीत्यादि । सत्यं जीवचि-न्मात्रः, परन्तु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मेतस्य विवरणं च एवमप्युपन्यासात् 'यो वेद निहितं गुहाया'मिति विश्वं विनानुपपद्यमानया हृदयाकाशबोधकगुहाया उक्त्या । 'सोऽश्नुत' इति जीवस्य भोगे स्वतन्त्रतायाः 'ब्रह्मणा सह' इति भोगे ब्रह्मणो गुणभावस्य, 'विश्रिते'ति भोगवातुर्वस्य च तादृशस्योक्त्या विग्रहवत्त्वेनाप्युपन्यासात् । पूर्वभावात् । भक्तस्य तस्यापि पूर्वमेव भगवद्विस्तृतभोगानुरूपविग्रहाणां सत्त्वात् । जीवचिन्मात्रताया अबाधे-नाविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते । तथा च चिन्मात्रत्वं ब्राह्मशरीरत्वं चोभयमप्य-विरुद्धमित्यर्थः ॥ ७ ॥

सङ्कल्प्यादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

अत्र हेत्वपेक्षायामाह सङ्कल्पेत्यादि । जीवस्य भजनानन्दं दातुं यो भगवतः सङ्कल्पः विचारस्तस्मादेव हेतोः स एव विग्रहं प्राप्नोति, न तु सर्वः । तत्र प्रमाणापेक्षायामाह तच्छ्रुतेरिति । 'नायमारभे'त्युपकल्प्य 'यमेवैव वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । आत्मा हि परस्वल्प लाभः प्राप्तिस्वरूपेण सङ्कल्प एव हेतुतया श्राव्यत इति तथेत्यर्थः । चकारात्प्रज्ञानता तदनुरूपा परमातिरिपि संगृह्यते ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

पुष्टिभार्गावित्यैव तथाकरणे हेतुमाह अत एवेत्यादि । यतो हेतोः पुष्टिभार्गायाणां वर्णादिरूपं साधनं स्वस्वरूपात्मकं फलं च स्वयमेव अत एव हेतोः अनन्याधिपतिः न विद्यते साधनं च फलं च भगवदतिरिक्तं येषां तेऽनन्यास्तेषामधिपतिः स्वामी । तथा च तत्स्वामित्वमेव हेतुरित्यर्थः । चकारेण 'मदन्यत्से न जानन्ती'त्यादिवाक्यं संगृह्यते ॥ ९ ॥

अभावं वादरिराह होवम् ॥ १० ॥

मुक्तस्य देहाङ्गीकारे बादरिः प्रत्यवतिष्ठत इत्याह अभावंमित्यादि । मुक्तस्य देहेन्द्रियाभावं वादरिराचार्यो मन्यते । तत्र हेतुः । अहं ह्येवमिति । हि यतो हेतोः श्रुतिः एव ब्रह्मप्राप्तरीत्या देहाद्यभावात्माह । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरदितरे पश्यती'त्याद्युक्त्या 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवावृत्तकेन कं पश्ये'दित्यादिना ब्रह्मविदो द्वितीयज्ञाननिषेधमाह । तथा च तस्य कामभोगवार्ता दूरतरेति तदाक्षेपो देहापि न वक्तुं शक्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्तु तदुक्तं न मन्यत इत्याह भावंमित्यादि । जैमिनिस्त्वाचार्यो मुक्तस्य पुंसो देहादेर्भावं सत्त्वं मन्यते । तत्र हेतुः । विकल्पामननात् । विरुद्धं पक्षान्तरं विकल्प-स्तस्यमननात् आसमन्ताद्विचारया, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतिः परप्राप्ती ब्रह्मज्ञानस्य हेतुत्वमाह, 'नायमारभे'ति श्रुतिस्तु वर्णमात्रस्य हेतुत्वमिति साधने विरुद्धं पक्षद्वयम् । तथा 'सोऽश्नुत' इत्यत्र परप्राप्त्युपन्यासः कियते, 'इहैव समवनीयन्ते ब्रह्मेव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र तु लय उच्यते इति फले विरुद्धं पक्षद्वयम् । अतः श्रुत्येवैरोधे सति तदभावाय ज्ञान-भार्गावित्यैव ब्रह्मज्ञानाक्षरप्राप्तिस्वभावात्पर्याया, पुष्टिभार्गाविकल्पस्य तु 'सोऽश्नुत' इत्यादि-नोक्ता पुरुषोत्तमभजनानन्दप्राप्तिरव्यातत्साहाय्यद्विदि व्यवस्था श्रुत्यभिप्रेतैति तस्य व्य-स्थितविकल्पस्य सम्पत्तिव्यवहारपुष्टिभार्गाविकल्पस्य भोगसाधनमूतविग्रहवत्त्वं निःप्रत्युहं मन्यते, 'तत्केन कं पश्ये'दित्यादिना तु मर्यादाभार्गावित्यैव ब्रह्मज्ञानसामयिकी व्यवस्थेय्यत इति न दोषः । एवं विषयत्वपक्षेपि तत्र पूर्वकक्षेप्यत इत्यदोष इति न किमप्यनुप-पन्नमित्यर्थः ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः ॥ १२ ॥

एवं मतद्वयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तमाह द्वादशाहवदित्यादि । बादरायणस्तु परमाचार्य-
स्तस्य शरीरसुभयविधं भूताजन्यत्वभोगायतनत्वाभ्यां धर्मभोगां शरीरत्वाशरीरत्वोभयप्रकारकं
मन्यन्ते, तत्र हेतुः अन्त इति । भूयविधयां तस्य केवलं नित्यनिरवस्थानन्दरूपभूमात्म-
जन्यत्वश्रावणात् । तत्र हि 'यत्र नान्यत्परयती'त्यादिना केवलभावविषयत्वं भूम्नः पुरुषो-
त्तमस्य दृष्टानुमुक्त्वा, केवलभाववतो भक्तस्य विप्रयोगसामर्थिकां श्रवणं च 'स एवाधस्तात्स
उपरिष्ठा'दित्यादिनोक्त्वा, ततः 'स वा एष एवं परशुन्नवं मन्वान' इत्यादिना तदनुवा-
दपूर्वकं भक्तस्य संयोगवत्त्वमाह 'आत्मरतिरात्मकीड आत्ममिश्रुण आत्मानन्द' इति
वाक्येन । सा चावस्था 'सोऽश्नुत' इत्युक्तार्थसंवादिनीति रत्यादिभिर्देहेन्द्रियादिकं
भक्तस्याक्षिपति । ततस्तत्कीदृशमित्याकाङ्क्षायां 'तस्य ह वा एतस्यैवं परशत एवं मन्वान-
स्यैवं विज्ञानत आत्मतः प्राण आत्मत आशे'त्यादिना प्राणाशास्मरकाशशतेजोविधिर्भावति-
रोभाषान्नवलज्ञानध्यानचित्तसङ्कल्पमनोवांशाममन्त्रकर्मतत्सर्वान्तानामुक्तत्वात्केवलानन्दप्र-
धानभूजन्मत्वमाह । तत्रा 'प्यात्मत' इत्यव्ययप्रयोगेणाविकृतत्वमात्मन आह, तेनै-
तादृशादात्मन उत्पन्नमेतादृशमेव तद्भवतीत्यर्थः संपद्यते । अतो मुक्तस्य यच्छरीरं तदे-
वमात्मजन्यत्वेन भूताजन्यत्वाद्दशरीरम्', 'आत्मरति'रित्यादिना 'सोऽश्नुत' इत्यादिना च
भोगश्रावणेन तदायतनत्वाच्च शरीरमित्युभयविधमित्यर्थः । नन्वानन्दमयधिकरणे विषय-
श्रुतो एवैविदो भक्तस्य एतल्लोकत्यागः 'अस्माहोकाजोत्यै'त्यनेनोक्तः, सोऽत्र 'ब्रह्मनसी'-
त्यादिना 'सोध्यक्षे तदुपगमादिभ्य' इत्यन्तेन द्युत्पादितः । या मुनस्तदप्रे 'एतमन्नमयमा-
त्मानमुपसङ्गामती'त्यादिना विभूतिरूपाणां प्रतिरुक्ता फलानुभोगोयोगिनी, सात्र 'संप-
वाचिर्भावा'दिसूत्रान्यामुक्त्वा 'ब्राह्मणे'त्यादि 'द्वादशाह'सूत्रान्तैः श्रुत्याद्यते । फलानुभवस्त्विति-
विगाहभावेन सर्वोत्समाधे सत्येन भवतीति तदोपनिर्णयं या पूर्वं विरहदश, सा तत्र ब्रह्मवि-
त्पपाठकश्रुती 'यतो वाचो निर्वर्तन्त'इत्यारभ्य 'ओ' ध्रैष्व एते आत्मानःश्रुयन्त' इत्यन्तेन
भृगुप्रपाठके च 'हातुहातु'इत्यारभ्य 'अहं विशं भुवनमभ्यन्तं सुवर्णा ज्योती'रित्यन्तेनोक्ता ।
तथा सति यस्तादृशः स आनन्दमयं ब्रह्मस्वरूपमात्मादेशोक्तकारोणाहंकारदेशोक्तप्रकोण-
शानुभवतीति सिद्धयत्यतो विभूतिरूपाणां प्राणादीनां लयाङ्गीकारोनुपपन्न इति चेत् ॥ १ न ।
अहंकारदेशे आत्मादेशे च सर्वस्मिन् स्वामेदस्यात्माभेदस्य च भांनोत्पत्त्या लयस्याधोव-
धोपितत्वात् । अथ तत्र तेषां भक्तानां पार्थक्येन प्राणाद्यभागमेवाभिप्रेतम्, न सर्वोत्पन्ना लय
इत्युच्यन्ते, तदापि तस्यां दशायां ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूपस्यास्मरतिरित्यादिनोक्तस्या-
नुभवस्याभावात् फलतस्तौल्यमेवेति तथाङ्गीकारो नानुपपन्न इति जानीहि । एकस्य मुक्त-
जीवदेहस्य विरुद्धोभयधर्मवत्त्वमन्वानमुच्यन्तं बोधयितुं वैदिकं दृष्टान्तमाह **द्वादशाह-**
वदिति । 'यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशराजेण यजेते'ति यजतिचोदनया द्विरात्रादिव-

दहीनत्वम् । तथा 'द्वादशाहसृष्टिकामा उपेयु'रित्युपैतिचोदनया च सत्रत्वं द्वादशाहस्य
गम्यते, तदत्र, षष्ठयथै वतिः । एवमेतैरुग्रभिः सूत्रैः संपद्याविर्भावसूत्रोक्तो मुक्तस्यावि-
र्भावो विचारितः ॥ १२ ॥ इति त्रितयं ब्राह्मणेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ (४-४-३)

अतः परं 'आत्मा प्रकरणा'दित्यादिसुषय्ये यद्ब्रह्मस्वरूपमुक्तं तदत्र विचारयति तत्त्व-
भाव इत्यादिद्वाभ्याम् । तत्रावतारकाहीनेरुग्रभिः परैरैरवतीर्णं भगवति व्रणश्रमगलान्याद्यव-
स्था दृश्यन्त इति तस्य स्वरूपस्य कथमप्राकृतत्वमित्याशङ्क्य तत्रिवारणाय तादृशदर्शनं तद-
भावेवीत्यत्रोपपत्तिमाह तत्त्वित्यादि । तुः शङ्कानिरासे । तत्र भगवत्स्वरूपे व्रणश्रमादिदर्शनं
व्रणायभावे, अविद्यमानानां दर्शनं कथमुपपद्यत इत्यत आह सन्ध्यवदिति । स्वामिकपदा-
र्थवत् । 'न तत्र रथान रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान रथयोगान् पथः यजत' इति
श्रुतौ मायामाश्रयाः सृष्टेरुक्तत्वात्तस्या यथा अविद्यमानाया एव वासनवाशादर्शनं, तथा
तेषामपि दर्शनमुपपद्यते । अत एवं दर्शनस्योपपत्तेः स्वरूपस्याप्राकृतत्वमप्रत्युहमित्यर्थः ।
एतच्च ब्रह्माण्डपुराणे नारदं प्रति ब्रह्मणोक्तम् । तथा हि । 'निर्दोषश्रेष्ठकथं विष्णुर्मुमुक्षुषु
प्रजायते । चिन्ताश्रमव्रणानुदुःखयुग्दश्यते कथम् ॥ एवं मे संशयो ब्रह्म हृदि शस्य
इवापि न' इति नारदप्रश्ने, 'स्त्रीमुपलानुपह्लात्मा देहो नास्य विजायते । किन्तु निर्दोष-
चैतन्यसुखनिरयां स्वाकां तनुम् । प्रकाशयति सैवैवं जतिविष्णोर्नो चापरा । तयाप्यसुरमोहाद्यै
पेरयां च क्वचित् कञ्चित् । दुःखाज्ञानश्रमादींश्च दर्शयेद्ब्रह्मसद्गुणः । क म्रणादि क चाज्ञानं
स्वतन्त्राचिन्त्यसद्गुणे । दौर्लभ्याचैव दौर्गहस्य दर्शयेत्सानजो हरिः ॥ कृष्णो ह्यत्यकदेहोपि
त्यक्तदेहस्य देहवत् । लोकाणां दर्शयामास स्वरूपसदृशाकृति मिति ॥ १३ ॥

भावे जाग्रदन्त ॥ १४ ॥

एवं दोषदर्शन उपपत्तिकथनेन ब्रह्मत्वं निर्णयि गुणदर्शने तत्त्वकथनेन ब्रह्मत्वं निश्चा-
ययति भाव इत्यादि । अत्रापि पूर्वसूत्रानुपपत्तेरित्यनुवर्तते । तथा च रिङ्गाणादिलीलासु
परिच्छिन्नत्वादिना लौकिकत्वद्वासमाने मुग्धत्वादिभावो च यद्भक्तानां तद्वत्तया दर्शनं तसु
भावे विद्यमान एव तादृशे धर्म भवति । तत्र दृष्टान्तः । जाग्रदन्तदिति । मोहाभाववतः पुंसो
जाग्रदशायां यथा विद्यमानानामेव दर्शनं चक्षुःसन्निकर्षेण भवति तथेति । अत्रापि उप-
पत्तेरित्येव हेतुः । 'तेन लोकवतु लीला कैवल्य'मिति न्यायेन या लीलाः करोति, ता भगवतो
नैसर्गिकधर्मरूपानन्दमत्त्वकत्वेन विद्यमाना एव भक्तानां दर्शनगोचरतां प्राप्नुवन्ति । धर्मध-
र्मिणांभिन्नत्वेपि प्रकाशाश्रयादिन्यायेनानभेदात् । अत एव लीलानां कैवल्य एव प्रवेशान्
'सांशी चैता केवलं तिरुणध' 'स यथा सैषधवचन' इत्यादीनामपि न विरोध इति
ब्रह्मत्वं तदापि निःप्रत्युहमित्यर्थः । एवं द्वाभ्यां भगवत्स्वरूपं फलमूतं विचारितम् ॥ १४ ॥
इति तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

प्रदीपबद्धावेशान्स्था हि दर्शयति ॥ १५ ॥ (४-४-४)

एवमधिकरणत्रयेण फलप्राप्तिं सपरिकरं फलस्वरूपं च विचार्येदानीं फलानुभवोपकरणं विचारयति । तत्र भगवद्भोगरूपोत्पन्नो जीवस्य संबन्धो न वेति संशयः । तत्र 'सोऽस्तुत' इति श्रुत्या भोगस्योक्तत्वेपि जीवस्य पूर्वाज्ञानक्रियाशक्त्योरभावेन योग्यत्वाभावात् 'न तत्सम' इति श्रुत्या साम्यस्य बहुमुखस्यैवात्र संबन्धतीति प्राप्ते तद्वरणणयोपपत्तिमाह प्रदीपबद्धित्यादि । सत्यं जीवसामर्थ्येन न संबन्धति, किन्तु प्रदीपबद्धावेशः, यथा प्रकृष्टः प्राचीनो दीपोऽर्वाचीनायां श्लेष्मोक्त्यायां बर्त्या प्रविष्टः स्वसामर्थ्येन तां स्वसमानकार्यशक्त्यां करोति, स्वयं च श्लेष्मार्थीनस्थितस्तस्यां भवति, तथात्रापि स्वावेशेन तीव्यसंपादनान्तर्वर्षं संपद्यते इत्यर्थः । आवेशे प्रमाणमाह तथा हि दर्शयतीति । तैत्तिरीयारण्यके भर्तृसूक्ता-रम्भे 'भर्ता सन् त्रियमाणो विभर्ति एको देवो बहुधा निविष्ट' इति श्रुतिस्तथा आवेशं दर्शयति । न चायं निवेशोन्तर्पामिरूपेण यः प्रवेशस्तदात्मक इति वाच्यम् । तस्यैकविधत्वेन बहुधेति पदकोपप्रसङ्गात् । अतः 'सोऽस्तुते सर्वोक्त्या' नित्युक्तत्वायस्य कामस्य यथा भोगो भवति, तदनुरूपो यस्तत्र तत्र प्रवेशः, स एव बहुधेति पदेऽभिप्रेत इत्यर्थः । 'सर्वस्वेशान' इति श्रुत्या सर्वेश्वरत्वेपि तत्पदं विद्यायात्र श्रुती भर्तृपदप्रयोगात् यं जीवं स्वीयत्वेन ब्रूयते, तस्य विद्याहितः पतिरिव भर्ता भवतीति बोध्यते । तथा च स्वयं भर्ता सन् वरण-जश्लेहातिशयेन भक्तैर्त्रियमाणः सन् त इव स्वयमपि तान् स्वामिन्निभर्ति । अत एव प्रदीप-घटानुसुकत्वात् व्यासः । श्लेहराहित्ये त्वयोगोलाकादिकमेव घटान्तिकुर्पात्, तादृशप्रवेशस्य तत्रापि सत्त्वादिति । अतोयमेवामिप्राय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

नन्वस्थूलादिश्रुती न तदश्रोति कंचन न तदश्रोति कश्चनेत्यनेन भोगाभाव उच्यते, 'सोऽस्तुत' इति श्रुती च भोग इत्युभयोर्विरोधाभावाय सगुणनिर्गुणभेदेन विषयभेदोऽजस्य वाच्य इत्याशङ्क्याप्यमाह स्वाप्ययत्वेत्यादि । आविष्कृतं आविष्कारः प्रादुर्भवनामिति यावत् तत् हि यतो हेतोः स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षं स्वाप्ययः सुषुप्तिः संपत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिस्तदन्य-तरापेक्षमिति सुषुप्ती संपत्तौ च भवति । तेनाथे प्रकारे यो भोगाभावः, स 'न तदश्रोति कंचने'त्यादिनोच्यते, यः पुनर्भोगः स द्वितीय प्रकारे 'सोऽस्तुत' इत्यादिनोच्यते इति विरोधाभावात्सगुणनिर्गुणविभागकल्पनं ब्रह्मणि न कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥ इति चतुर्थे प्रदीपबद्धित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

जगद्भावारवर्जं प्रकरणादसन्नहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ (४-४-५)

एवं भोगोपकरणं विचार्य भोगप्रकारं विचारयितुमधिकरणान्तरमारभते । तत्र ब्रह्मणा सह भोगकरणे भक्तस्य लौकिककल्याणोक्तिं न वेति संशये भोगस्य सर्वत्र लौकिककल्याणारु-क्तादादस्मिन्नपि सोस्तीति प्राप्तम्, तत्राह जगदित्यादि । प्राप्तसातुज्यभक्तस्य यद्ब्रह्मणा सह

भोगकरणम्, तत् जगद्भावारवर्जं जगतो लोकस्य संबन्धी यो व्यापारस्तदहितम् । तत्र हेतुः प्रकरणादसन्नहितत्वाच्चेति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परमिष्यत्र हि मुक्तिः प्रकृता, अत इदं मुक्तिप्रकरणम्, मुक्तौ च सर्वव्याप्तिन्द्रियाणां ब्रह्मणि लये सति तेषां भजनानन्द-रूपाणीन्द्रियादीनि दीयन्तेऽनस्तानि भजनार्थान्येति तेषां लौकिककल्याणोत्पत्तिसंभवात् । किञ्च, 'क्षयन्तमस्य रजसः परकं इत्यादिश्रुती 'न यत्र कालोऽजनिमिषां परः प्रसुः कुतो तु देवा जगतां य ईषिरे । न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान्प्रधानम्, परं पदं वैष्णवमामन्ती'ति द्वितीयस्कन्धे द्वितीयध्याये वाच्यम् 'न यत्र माया किमुता परे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता' इति नवमाध्याये लोके प्रकृत्य वाच्यत्वात् भगवद्भक्तोऽक्षरस्य काल-मायाघर्तातत्वे तत्रत्यलीलाया अपि तथालेन प्राकृतस्य जगतो दूरतरत्वेनासन्नहितत्वमत-स्त्येत्यर्थः । किञ्च, छान्दोग्ये 'भूमैव मुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्युक्त्वा 'यत्र नान्य-त्वस्यति नान्यच्छ्रुणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति भूमलक्षणमुच्यते । तत्र 'नान्यद्विजा-नाती'त्येतावतेव चरितार्थेपि यत्पर्यतिश्रुणोतिभ्यां यद्विन्द्रियान्तरस्यापि व्यापारोऽप्यविष-यको निषिद्धः, तेन भगवद्विषयक एव सर्वेन्द्रियव्यापारः सिद्धो भवति, तेन भगवत् एव सर्वे-न्द्रियव्यापारविषयस्य स्वतन्त्रफलमुक्तं भवति । तस्य सुखस्य प्रयोजनान्तराभावादिति १७

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ॥ १८ ॥

ननु छान्दोग्ये मुक्तिप्रकरणे एव 'सर्वेऽपि परयः परयती'ति सर्वविषयकं प्रत्यक्षमुप-दिश्यते, सर्वं च जगदेत 'सर्वं सत्त्वं'त्यादिश्रुतीं सिद्धम् । अतस्तद्विषयकप्रत्यक्षोपदेशानुसक्त्य-जगद्भावारराहित्यं नोपपद्यते । किञ्च, 'सर्वं हि परयः परयती'ति श्रुतावेकत्वमेव यदुप-दिश्यते, तेन भक्तेन सह क्रियमाणानां लीलानां तु देशकालभेदेन नैकत्वम् । तासां च सवि-शेषप्राप्तित्वत्वं भगवद्भक्तत्वात् पूर्वमुक्तम्, तथा विशेषणमृतस्य भक्तस्थानेकदेहत्वे सिद्धयति, न त्वेकदेहत्वे विशेषणविषयनात् । अतो भक्तैकत्वस्य प्रत्यक्षोपदेशालीलानित्यत्वं नोपपद्यत इति च सूत्रभागेनाशङ्क्य भागान्तरेण परिहरितं नैत्यादि । इयमाशङ्का न कार्या । तत्र हेतुः । आधिकारिकेत्यादि । अधिकारो लीलानुभवयोग्यता तस्येदं आधिकारिकं तेषां मण्डलं चक्राकारेण परिणतः समूहस्तस्मिन्निष्ठान्तर्त्याधिकारिकमण्डलस्यं तस्योक्तिस्तस्याः सकाशात् । तथा च 'सर्वेऽपि परयः परयती'त्युक्त्वा अग्रे 'सर्वमाप्नोति सर्वत्र' इति कथनादर्शनविषय-वाचकं सर्वदेऽर्थं सद्ब्रह्मणो लीलासंबन्धि यत्सर्वं तदेवोपदिश्यते, न तु जगदतो नानुपपन्नं जगद्भावारराहित्यम् । किञ्च, तस्यैवाग्रे 'एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनर्भेकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति' इत्यनेकरूपत्वं भक्तस्य पञ्चते इत्याधिकारिकदेहसमूहस्य एव भक्तः 'सोऽस्तुत' इत्यादाद्युच्यतेऽतो विशेषणविष-यतनाभावाल्लीलानित्यत्वमपि नानुपपन्नमित्यर्थः ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

ननु लीलाविशेषणीभूतानां तद्वेशतत्कालतत्तद्रुद्धेदहानां नित्यत्वे सति 'श्वस्वद्देह-
मायास्य' इति प्रमुणोक्ते तदाशया तस्य भक्तस्य स्थितिर्नोपबधते । लीलानां नित्यत्वेन
द्वितीयदिनरूपस्य कालस्य तदागमनस्य पूर्वदिवस उक्तिसमयेपि विद्यमानत्वात् । तथा
'श्व' इति प्रभृत्किरणं तत एव नोपपद्यत इत्याशयश्च समाधत्ते विकारेत्यादि । ब्रह्मणा सह
भोगकरणं विकारावर्ति । भगवल्लीला हि कारणरूपा विकृतिभिरनुक्रियते, 'तमेव भान्तमनु-
माति सर्व'मिति श्रुतेरित्यनुकृत्यधिकरणे साधितम्, अतो भगवल्लीला प्रकृतिः । तद्विरुद्धः
प्राप्यिकः पदार्थो विकारः कार्यत्वात् तस्मिन् विकारे न वर्तते । चकारात्सलक्षणमपि ।
तथा च यं प्रति श्व इत्यादिकं वदति, तस्य वदनादिवसे भगवत्स्थितिज्ञानं न भवतीत्येता-
वृतेव तदुपपत्तेर्न लीलानां तद्विशेषणानां कालादीनां च नित्यत्वमङ्ग इत्यर्थः । अत्र प्रमाणा-
पेक्षायामाह तथा हि स्थितिमाह्वेति । 'सर्वमाश्रितं सर्वय' इति श्रुतिरेकस्यैव भक्तस्य
सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसमाप्नोतीति वदन्ती उक्तरीत्यैव भक्तस्य लीलायां स्थिति-
माह । अत एव 'आत्मत आशा आत्मत आविर्भावविरोधाभावा' वित्युक्तम् । यतस्तप्राकृत्यावैव
रसोदयोतो रसस्वरूपमभ्यधातिस्वालीलाया रसस्य च भगवदात्मकरत्वात्सर्वैरुपपद्यत इत्यर्थः ।
एवं च 'रसो वैश्व' इति श्रुतेर्लीलाविशिष्ट एव प्रसुः सुकृतत्वश्रावणाद्रसरूप इति तादृश एव
परमं फलमिति ज्ञापितं भवति ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

भगवदीवार्येषु श्रुतिविरोधो भूयमेव मन्त्वयो न तु दूषणमित्येतद्विद्विदाय चोव-
यन्नाह दर्शयत इत्यादि । एवं लौकिकमुक्त्याविरोधस्याकिञ्चिद्वरत्वं यथास्माभिर्हक्तं तथा
प्रत्यक्षानुमाने । 'नैया तर्केण मतिरापनेया' । 'परास्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभाविकी
ज्ञानबलक्रिया चे'ति प्रत्यक्षं श्रुतिः, 'अलौकिकारुणे ये भावा न तांस्तर्केण योजये'दिति स्थितिः,
'न हि विरोध उभयं भगवत्परिगणितगुण ईश्वरे'जनवगाह्यमाहात्म्ये उवाचो'नविकल्प-
वितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकालिलान्तःकरणशयदुर्बलप्रवृत्तादीनां विवादानवसर'
इति श्रीभागवतपञ्चमस्कन्धवाक्यस्थितिश्रानुमानम्, ते उभे दृशोभानो बोधयत इत्यास्तिकेन
श्रौतवादिना दुस्तर्केनो न भेतव्यम्, किन्तु स्वचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव
लीलाविशिष्टस्य परमफलमवधेयमित्यर्थः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्पत्तिज्ञाच्च ॥ २१ ॥

लीलाविशिष्टस्य भगवत एव परमफलत्वे हेत्वन्तरमाह भोगेत्यादि । यतः 'सोऽनुवे
सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति श्रुतौ भक्तस्य सर्वकामभोगे ब्रह्मणः सहभावः श्राप्यते,
स च भोगमात्रे भोग एव यत्साम्यं भक्ताडुरुपत्वेन तवीत्यं तस्य लिङ्गं ज्ञापकम् । तस्मादपि

हेतोर्लीलाविशिष्टं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमं फलमिति मन्त्वमित्यर्थः । अत्र मात्रपदे 'न
तत्समश्चात्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुतिविरोधपरिहारार्थम् । 'सोऽनुवे' इति श्रुतौ कामानामशनी-
यत्वेनोक्तत्वात्तत्रामेव फलत्वमिति न शङ्कनीयम् । एतस्याः श्रुतेः 'रामोति पर'मिति यदुवाचैक्य-
विवरणरूपत्वात् कामभोगस्य स्वरूपानुभवरूपत्वाच्च । तथा चानुभूयमानस्यैव सुखस्य
लेके पुरुषार्थत्वेनोक्तत्र भूमीपि सुखस्यानुभूयमानत्वं एव परमफलत्वं सिद्धयतीति ज्ञाप-
नायानुभवं प्रति द्वारतया कामा अत्रोच्यन्ते इति बोध्यम् ॥ २१ ॥

अनाद्युत्तिः शब्दादानाद्युत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

एवं पञ्चम्या भगवतः परमपुरुषार्थरूपत्वात्तुक्तं कर्मफलभोगानन्तरमाद्युत्तिवदत्राप्या-
द्युत्तिर्भविष्यतीति शङ्कानिगारायाह अनाद्युत्तिरित्यादि । भक्तानां ज्ञानिनां चानाद्युत्तिः
संसारे पुनरगमनम् । तत्र हेतुः । शब्दादिति । 'यद्योर्ध्वमायन्नसूतत्वमेति' 'न तेषां पुनरा-
द्युत्ति'रित्यादिकाक्यरूपशब्दात् ज्ञानिनाम्, तथा भक्तानां तु 'यमेवैव वृणुते तेन लभ्य' इति
श्रुतेर्वरणलभ्यः पुरुषोत्तम एव फलम्, स च 'अक्षरात्परतः पर' इति श्रुतेर्'यस्मात्क्षरमतीतोह'-
मित्यादिगीतावाक्याच्चाक्षरात्परतस्त्यातिरेव 'ब्रह्मविद्याप्रोति पर'मिति श्रुत्या बोध्यते । अत
इदं वाक्यं परमातिप्रकाशनसामर्थ्येन भक्तानामनाद्युत्ति बोधयतीति लिङ्गरूपशब्दात्-
शेय्यर्थः ॥ २२ ॥ इति पञ्चमं जगद्वापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

एवमस्मिन्पदे सपरिकरं पुष्टिमार्गाधिपानां फलं विचारितम् । मर्यादामार्गाधिपा-
ननाद्युत्तिरूपं च । तेनाक्षरोपासकानामक्षरे लयः, सविशेषोपासकानामक्षरे साष्टिमिकं,
ज्ञानिभक्तानां भगवत्सेवनम्, पुष्टिभक्तानां तु स्वरूपानन्दानुभव इत्यस्मिन्नप्याप्ये फलमेव
सिद्धमिति ज्ञेयम् ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणान्तरजोधनः ।

कृष्णचन्द्रस्तच्चसूत्रवृत्तिं तत्पदयोर्भ्रमं ॥ १ ॥

ममभस्ते'नेन तुष्यन्तु मयि ते दीनवत्सलाः ।

ततोतिरिक्तं न मम काङ्क्षितं कापि विद्यते ॥ २ ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीत्रजनायात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविर-
चित्तार्यां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थोऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥